रांगेय राघव की सम्पूर्ण
'औपन्यासिक जीवनियाँ'

2

रांगेय राघव की सम्पूर्ण 'औपन्यासिक जीवनियाँ'

2

सम्पादक

अशोक शास्त्री

अलीक प्रकाशन, जयपुर

अनुक्रम

जब आवैगी काल घटा

लखिमा की आँखें

लोई का ताना

रत्ना की बात

रांगेय राघव की सम्पूर्ण
'औपन्यासिक जीवनियाँ'
2

जब आवेगी काल घटा

भूमिका

प्रस्तुत उपन्यास लिखते समय मेरे सामने तीन दृष्टिकोण थे।

एक। मुझे नाथसंप्रदाय का वह रूप दिखाना था जो गोरखनाथ और कबीर के बीच में था। इसमें गोरखनाथी संप्रदाय का विस्तृत रूप और साधनाएँ आईं।

दो। तत्कालीन युग का चित्रण करके योगियों की परिस्थिति दिखानी थी। इसमें विदेशियों की वास्तविकता और इस्लाम को प्रगट करना पड़ा।

तीन। सिद्धियों वाले योगियों का जनता में प्रभाव, उससे संबंध, जीवित बने रहने का कारण, रूप बदलने का कारण तथा सांस्कृतिक परंपरा को निर्वाह करने का कारण दिखाना था। इसमें हिंदी साहित्य को नाथसंप्रदाय की देन दिखानी पड़ी।

इन तीनों का निर्वाह कर दिया और इसलिए बहुत बड़े पट को अंकित करना पड़ा, जिसके लिए शैली भी नयी अपनानी पड़ी। इस दृष्टिकोण से चरित्र-चित्रण में यह प्रयत्न अभी तक नया है।

चर्पटनाथ को मैंने ज्ञानेश्वर और उनके बाद तक माना है। बहुधा चर्पट को गोरख का समकालीन माना जाता है। किंतु मैं इस परंपरा को नहीं मानता। मेरी राय में चर्पटी और चर्पट दो व्यक्ति थे। चर्पटी थे पा संप्रदाय के और थे पुराने व्यक्ति। चर्पटनाथ थे परवर्त्ती। बाद में दोनों मिला दिये गये। सिद्ध और नाथ बाद में बहुधा मिला दिये गये हैं। जो चर्पटी पा थे वे सम्भवतः गोरख युगीन थे, या कुछ बाद में, उनमें शाक्त प्रभाव रहा होगा, वज्रयानी भी। चर्पटनाथ रसेश्वर मत के थे। चर्पटनाथ का कार्य विवरण नहीं मिलता उनकी रचनाएँ मिलती हैं, जिनकी भाषा सधुक्कड़ी है और भाव दृष्टि से भी वे गोरख के बहुत बाद की लगती हैं। चर्पट ने योगी के वाह्यवेश को ही अस्वीकृत किया है, जो प्रकट करता है कि वे गोरख से काफी दूर थे, क्योंकि गोरख के युग में योगी वेश धारण करना ब्रह्मचर्य्य के कारण गौरवास्पद विषय था।

ज्ञानेश्वर की गुरु परंपरा में यह बताया गया है—(ज्ञानेश्वर चरित्र—पं० लक्ष्मण पौगारकर)

आदिनाथ सर्वप्रथम हुए। उनके दो शिष्य हुए—मत्स्येन्द्रनाथ और जालंदर-नाथ।

इनके बाद परंपरा का यह रूप है—
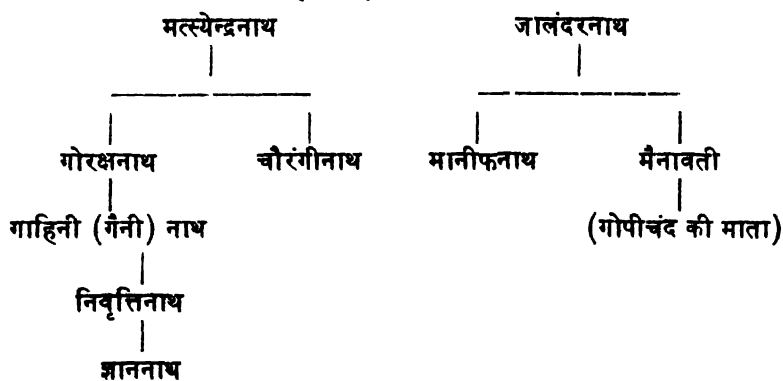
स्पष्ट ही मत्स्येन्द्र नवीं शती के थे। गोरख उनके शिष्य थे। चौरंगीनाथ पूर्व के थे जो गोरक्ष के समकालीन थे। किंतु जो पूरन भक्त भी चौरंगीनाथ कहलाते हैं, वे चौरंगी पा थे, जो गोरख के पूर्ववर्त्ती थे और बाद में चौरंगीनाथ से मिला दिये गये। इसके उपरांत गैनीनाथ का नाम आता था। यह योगमार्गी थे, परंतु कृष्ण के उपासक थे और इन्होंने ज्ञानेश्वर को सहायता दी थी। ज्ञानेश्वर अलाउद्दीन के समय में स्वर्गवासी हुए थे। एक मतानुसार उनका यह समय 1296 ई० है। यह समय गोरखनाथ से कई वर्षों बल्कि शतियों बाद है। उस समय तक नाथ सिद्धों की कोई सूची नहीं बनी थी, सिद्ध होते जा रहे थे। जालंधरनाथ के शिष्य मुख्य थे कण्हपा या कानोपाव या कृष्णाचार्य या कानीफनाथ। पता नहीं मानीफनाथ कौन थे। मैनावती गोपीचंद की माता थी, जो जालंधर की समकालीन नहीं, वरन् कई वर्षों बाद जन्मी थी।

पंडित हजारी प्रसाद ने ईसवी सन् की 13वीं शती तक ही सिद्धों नाथों को समाप्त कर दिया है। उनके मतानुसार यह सब लोग 1399 ई० तक हो चुके थे। यह ठीक लगता है। यही समय है जब अलाउद्दीन ने इन योगियों का गोरखपुर का मन्दिर ढहाया था।

नवनाथों के नवनारायणों के रूपों में अवतार लेने की कल्पना परवर्त्ती है, उसमें भी गोपीचंदनाथ काफी परवर्त्ती है—जिसे द्रुमिलनारायण कहा गया है। अतः उस सूची में चर्पट या चर्पटीनाथ अथवा पिप्पलायन नारायण का नाम मिलना कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं माना जा सकता। परंतु हजारीप्रसाद जी ने जो चर्पटनाथ और चर्पटी पा को एक में मिला दिया है, वह ठीक नहीं लगता। उन्होंने चर्पटनाथ के रसेश्वर वाद को तो देखा है, परंतु इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया कि योगीवेश के बाह्यरूप के विरोध के लिए गोरख से कितनी दूरी की आवश्यकता है। जहाँ तक चर्पट के स्वरों का भाव है वह भी परवर्त्ती ही है।

कल्याण के संत अंक में पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे ने 'महाराष्ट्र में नाथ पंथ' में यह परंपरा दी है : (पृ० 483---) "मराठी के आदि कवि और संत श्री मुकुन्दराज से भी पूर्व महाराष्ट्र में नाथ पंथ ही सर्वमान्य था।···निवृत्तिनाथ-ज्ञानेश्वर नाथ पंथ मे ही दीक्षा प्राप्त हुए थे। ज्ञानेश्वर के प्रपितामह त्र्यम्बक पंत को गोरखनाथ ने संवत् 1264 में दीक्षा दी थी। ये वे ही गोरखनाथ हैं जिन्होंने अवंत्तिराज भर्त्तहरि को दीक्षा दी या कोई दूसरे, इसका उत्तर ऐतिहासिक और संत संप्रदाय भिन्न-भिन्न ढंग से दे सकते हैं। ज्ञानेश्वर के पितामह को गैनीनाथ ने दीक्षा दी थी। इन्हीं गैनीनाथ ने ज्ञानेश्वर के बड़े भाई निवृत्तिनाथ को उपदेश दिया, जो निवृत्तिनाथ से ज्ञानेश्वर तक पहुँचा। नासिक में त्र्यम्बकेश्वर के पिछवाड़े ब्रह्मगिरि पर्वत पर गोरखनाथ की गुहा है और इसी पर्वत की परिक्रमा के रास्ते में गैनीनाथ का मठ है। अनेक परंपराओं से पता चलता है कि मत्स्येन्द्र और गोरख महाराष्ट्र में रहे अवश्य थे। निवृत्ति नाम को 'शाम्भव अद्वयानंद वैभव' और 'सम्यक् अनंतता' देने वाले गैनीनाथ कृष्णोपासक थे।
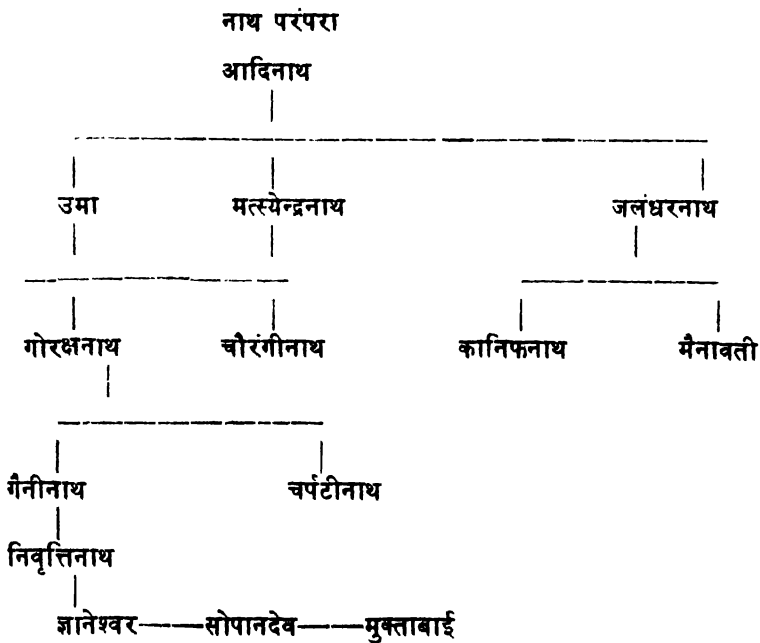
इस परंपरा में चर्पटीनाथ को गैनीनाथ का समकालीन कहा गया है। गैनीनाथ का कृष्ण भक्त होना प्रगट करता है कि नाथ पंथ कितना रूप बदल गया था। उसी समय संभवतः चर्पटनाथ भी थे जिन्होंने योगियों के बाह्यवेश का विरोध

किया था, जो कि महाराष्ट्र की संत परंपरा से स्पष्ट होता है।

सुधाकर चंद्रिका, नेपाल की परंपरा, तारारहस्य, कौलावली तंत्र और श्यामा-रहस्य की गुरु परंपराओं में चर्पटनाथ का नाम भी नहीं मिलता। सन् 1300-1321 ई० की वर्णरत्नाकर नामक रचना में जो 76 नाथ गिनाये गये हैं, उनमें चर्पटी भी है। इसमें गाहिनी, ज्ञानेश्वर आदि नहीं हैं जो दक्षिण में हुए थे। फिर यह दक्षिण के महाराष्ट्र सन्त नाथ पंथ में सीधे-सीधे थे भी नहीं। अतः वे शायद नहीं गिनाये गये। चर्पट का संप्रदाय से सीधा सम्बन्ध था अतः संभवतः वे मान्य हुए। या यह पूर्ववर्त्ती चर्पटी पा का ही नाम है, क्योंकि वर्ण रत्नाकर की सूची में अनेक नाम ऐसे हैं जो वज्रयानी-सहजयानी-सिद्धसूची में भी मिल जाते हैं। अतः इससे भी चर्पटनाथ का समय पूर्ण रूप से निश्चित नहीं हो जाता। सारी सूचियों को मिलाने पर 137 नाथ सिद्ध बैठते हैं, जिनमें बहुत से सहजयानी भी लगते हैं। अतः हम अंतिम छोर पर अलाउद्दीन काल तक इन्हें खींच सकते हैं। दूसरी ओर नाथ सिद्धों में प्रथम मत्स्येन्द्र मिलते हैं जिनके शिष्य गोरखनाथ और समकालीन जालंधर नाथ और कानीपानाथ थे। चर्पटनाथ का समय काफी परवर्ती प्रतीत होता है। प्राण सांगली एक सिख ग्रंथ है। उसमें जिन परवर्त्ती नाथ सिद्धों के नाम आते हैं, जिनका नानक से साक्षात्कार बताया जाता है, वे हैं—परवतनाथ, ईश्वरनाथ, चरपट नाथ, घुघूनाथ, चंपानाथ, खिथडनाथ, झंगरनाथ, धूर्मनाथ, धंगरनाथ, मंगलनाथ, प्राणनाथ। यह आवश्यक नहीं है कि यह नाथसिद्ध नानककालीन थे, परंतु इससे अधिकाधिक यही सोचा जा सकता है कि यह सिद्ध स्मृति में उतने पुराने नहीं पड़े थे। इनकी शिष्य परंपरा संभवतः तब तक मौजूद थी। गोरखनाथ की किंवदंतियों में चर्पटनाथ कहीं दिखाई भी नहीं देते। बल्कि एक धारणा तो यह है कि गोरखनाथ ने ही नौ बार नव नाथों के रूप में अवतार लिया था।

चर्पटनाथ को रज्जबदास ने चारणी के गर्भ से उत्पन्न माना है। डॉ० पीतांबर दत्त बड़थ्वाल ने लिखा है कि चर्पट का नाम चंबा रियासत की राजवंशावली में आता है। वोगेल और ओमेन के अनुसार चंबा के राजप्रासाद के सामने जो मंदिर हैं उनमें चर्पट का भी मंदिर है। डॉ० बड़थ्वाल मानते हैं कि राजा साहिल्ल-देव सचमुच चर्पट का शिष्य था। उधर तिब्बती परम्परा में वे मनिपा के गुरु थे। कहीं वे गोरख के शिष्य हैं, कहीं वे गोरख के प्रसाद से जन्म लेते हैं।

हमारा निष्कर्ष है—

1. चर्पट दो थे।

2. चर्पटीपा सहजयानी थे।

3. चर्पट नाथ परवर्त्ती रसेश्वर संप्रदाय में थे, जो गोरखपंथ में थे परंतु योगिवेश के विरोधी थे।

4. बाद में यह दोनों मिला दिये गये।

अतः हमारे चर्पटनाथ परवर्त्ती हैं। हमने उन्हीं को कथानायक बनाया है। उनका समय गोरख और कबीर के लगभग बीच में पड़ता है। इनके समय में खिलजी प्रभुत्व था जब गोरखनाथी मंदिर तोड़ा गया था। योगियों के आडंबर से वे उनके वाह्यवेश के विरोधी हो गए थे।

चर्पटनाथ के समय में सहजयान और नाथ संप्रदाय की स्थिति पर थोड़ा विचार कर लेना अच्छा होगा। चर्पटनाथ का नाथ सिद्धों में व्यक्तिगत प्रभाव था। उनके नाम का कोई सम्प्रदाय हमें नाथ पंथों में नहीं मिलता।

गोरख के सहजयान का धीरे-धीरे लोप हो गया (ब्रह्मचर्य्य की लहर और इस्लाम के आक्रमण ने बौद्ध परम्पराओं को खोद डाला। वे परंपराएँ इस्लाम में, या ब्राह्मण धर्मियों में, या योगमार्गियों में लुप्त हो गई, मिल गई। किंतु उनके विचार, पद्धतियों, और शब्दावलियों का प्रभाव बाकी रहा। शून्य, नाद, बिंदु, निरंजन, ज्ञान, वज्र, ख-सम, सहज, परम तत्त्व, परमपद, सहज समाधि, इत्यादि शब्द अर्थ बदलकर प्रयुक्त होते रहे: गुरु, सिद्ध पीठ, देहस्थ पीठ, देह में अध, ऊर्ध्व, चक्र, नाडी, चंडाग्नि, सहजजप, सुरति, निरति, उल्टी-साधना, गंगा-यमुना और चंद्र, सूर्य्य संगम, मुद्रा, योगिनी, अमृतत्व आदि शब्दों की परंपरा, बौद्ध, शाक्त, और शैव परंपराओं में घुलमिल कर अपना रूप बदल गई। उनके अनेक काव्य प्रतीक रूप बदलकर प्रयुक्त होते रहे।

नाथ सम्प्रदाय में गोरख के बाद यह सम्प्रदाय मिल गये जो पंथ कहलाये— मत्स्येन्द्रनाथी, गोरखनाथी, हेठनाथी, कास्काई, भ्रप्टाई, चाँदनाथी, वैरागनाथ, पावनाथी, धजनाथी, आईपंथी (यह दत्तात्रेय और गोरख के मतों के बीच का मार्ग था—मातापंथ) जालंधरपावंथ, कानिया पथ, कालबेलिया (सँपेरे), वामारग (वाममार्गी), सिद्धसाँगरी (सर्पेलिया), भरथरी पंथ, माईनाथी, रतननाथी, प्रेमनाथी, कायानाथी, कपिलानीपंथ, गंगानाथी पंथ, कायानाथी, नीमनाथी (जैन), पारसनाथी (जैन), मस्तनाथी, माईपंथ, बड़ी दरगाले वाले, छोटी दरगाह वाले, लक्ष्मणनाथी, दरिया पंथी, नाटेसरी, राँझापंथी, संतोषनाथी, जाफ़रपीर पंथी, कंठरनाथी, पागलनाथी, रावल (नागनाथी), पंख पंथ, वन पंथ, गोपाल राम के पंथी गलपंथी, मोदिया पंथ, राजारसालू पंथ, मीननाथी, अरजननगा (रावल) पंथ (नागार्जुन पंथ का अपभ्रंश), सतनाथी और धर्मनाथी। इनमें प्रत्येक की अपनी परंपरा है और प्रवर्त्तकों के नाम हैं। इन सबको देखकर यही लगता है कि अनेक—वेदवाह्यशैव, वेदवाह्य वैरागी, वेदवाह्य योगी, तथा सहजयानी और शाक्त आदि ही गोरखनाथ के झंडे के पीछे खड़े हुए थे, यद्यपि इनमें अंदरूनी तौर पर फ़र्क ज़रूर था। इनका प्रसार सारे भारत में है। मुख्य मंदिर बने है इनके, निम्न स्थानों में—उदयपुर, बंगाल, मद्रास, पूना, सारमौर स्टेट, गिरनार, दमदम बंगाल, बंगाल चंद्रनाथ, चंचुल गिरिमठ मदरास, नासिक, आगरा,

पुरी, थानेसर, बीकानेर, बम्बई, जम्मू, सतारा, ग्वालियर, बर्दवान, जोधपुर, करनाल, दिनाजपुर, क्वेटा, मेदिनीपुर, अफगानिस्तान, मैसूर, जैपुर, इत्यादि। इनमें हिंदू भी हैं, और मुसलमान भी। इनमें से कुछ में शाक्तपद्धतियाँ भी प्रचलित हैं। रावल संभवतः लकुलीशों का परिवर्त्तित रूप है।

चर्पटनाथ का महत्त्व इसमें लगता है कि इन्होंने सहजयानी सिद्धों तथा अन्य परंपराओं की रसेश्वर सम्प्रदायी परंपरा को नाथ सम्प्रदाय में मिलाया। चर्पटनाथ के कई नुस्खे मैंने देखे हैं, जो बड़े अजीब लगते हैं। उनमें मध्यकालीन रसायन शास्त्र है और सोना बनाना इत्यादि कीमियागरी अधिक है।

चर्पट विद्रोही था और यही मैंने स्पष्ट किया है।

इस्लाम का रूप दिखाते समय मुझे सत्य को प्रगट करना ही श्रेयस्कर लगा। मैंने समन्वय के नाम पर विदेशी साम्राज्यवादी शोषक को किसी प्रकार भी बदल कर नहीं रखा। इस्लाम के क्रोड़ में जो तीन वर्ग थे उन्हें मैंने उपन्यास में स्पष्ट कर दिया है—

1. शासक वर्ग
2. मुल्ला वर्ग-पुरोहित वर्ग
3. तथा जनता

इस जनता में दो तरह के मुसलमान थे—देसी लोग जो मुसलमान हो गए थे, और वे जो बाहर से आये थे। बाहर से आने वालों में ही सूफी भी थे, जो आगे चलकर हमें प्रेममार्गी कवियों के रूप में दिखाई देते हैं; किंतु वे सहसा ही खड़े नहीं हो गए थे। उनके पीछे भी एक परंपरा विद्यमान थी।

इतिहास और व्यक्ति, समाज और विचारधाराएँ इनको मैंने समान दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है। यदि मेरा यह प्रयास पाठकों को रुचिकर लगता है तो मेरा श्रेय सफल होगा—

—रांगेय राघव

पुनश्च:

यहाँ हमने गोरख के नाम से विख्यात पदों को प्रयुक्त किया है, क्योंकि इस समय तक यही पद गोरख के नाम से चल पड़े थे।

भाग-1

चर्पटनाथ की खोज : विद्रोह का प्रारंभ

1

करनाल। पंजाब की धरती पर।

पंजाब 300 वर्षों से तुर्कों के पाँवों और तलवारों के नीचे पड़ी धरती, जिसकी नदियों में लहू गिरा है और बहा है सिंधु तक।

एक अधेड़ व्यक्ति। कानों में बीच में बड़े-बड़े छेद हैं और पहने है उनमें कुण्डल, जो लटक रहे हैं और ज्यों-ज्यों वह खल्लड़ में पड़ी दवाएँ घोटता है, हिल रहे हैं।

खल्लड़ में अजीब-अजीब जड़ी-बूटियाँ हैं, पारा है गंधक है, और हाथ बड़ी तन्मयता से चल रहा है। देह पर कुछ नहीं है, कटि के नीचे एक धोती है। सिर के बाल लंबे है, परंतु जटा नहीं हैं। रंग है गेहुँआ, कंधे हैं मजबूत और चौड़े। मुख पर न दाढ़ी है, न मूंछें फिर भी लंबी नाक के कारण वह पुरुष ही लगता है और लंबी मगर पतली आँखें चौड़े माथे के नीचे चमकती हुई लगती हैं। वह गंभीर है।

बाहर दालान के एक कोण और है। उसके बाहर चार-पाँच कनफटे ज्वान बैठे हैं और दम लगा रहे है गाँजे में और बातें भी करते जाते हैं। उनकी बातों की ओर दवा घोटने वाले का कोई ध्यान नहीं है।

"अलख निरंजन ! आदेश !"

"अलख निरंजन ! आदेश !"

दवा घोटने वाले का ध्यान हटता है। देखता है सिर उठाकर ! कौन ! अरे !

उठता है वह।

आगंतुक भी लगभग उसी आयु का है।

दोनों एक-दूसरे को देखकर मुस्कराते हैं।

आगंतुक कहता है : "जोगी चर्पटनाथ ! कब से हो यहाँ ?"

दवा घोटने वाला कहता है—"अभी दो महीने हुए यहाँ आये। और तुम जोगी ?"

"गिरनार से आया हूँ।"

रम्मत से लौटा है, भंगरनाथ। कहता है—"कच्छ भी गया था।"

दोनों बैठते हैं।

और युवक भी आ जाते हैं।

"चिलम !"

"नहीं, मैं नहीं।"

"तो बिल्कुल जोगी चर्पट की तरह ?" पूछता है एक।

वह है काल बेलिया पंथी।

"हाँ, नागनाथ। मेरी ही तरह।"

"इसमें दोष नहीं झंगरनाथ। अवधूत को चाहिए।"

"स्वयं महादेव भी पीते हैं।" कहता है भोटकनाथ। वह है वामारग पंथी।

"हम गुरु गोरख के शिष्य हैं," कहता है झंगरनाथ।

"हम भी नाथ ! किंतु हमारा तो पंथ स्वयं शिव ने चलाया था। इसलिए हमें तो आज्ञा मिली हुई है।"

झंगर देखता है चर्पट की ओर। एक अव्यक्त कथा और व्यंग्य की हल्की झलक आँखों में आती है, पर बाकी लोग उसे नहीं देख पाते, वे गाँजे की दम लगाने में लगे है। झल्ल उठती है···

"यह क्या है ?" झंगर पूछता है।

"औषधि सिद्ध कर रहा हूँ।" चर्पटनाथ कहता है।

भीतर की तरफ मंदिर है। उधर भी कुछ लोग हैं। उधर घना एक ऊँचा वृक्ष है। उसके नीचे भी दो-तीन जोगी हैं। चारों ओर संयम का सन्नाटा है। शांत। सब कुछ बड़ा शांत है।

ऊँची भीत पर बैठी चिड़िया बोलती है तो सुनाई देता है। पश्चिम की तरफ जो समाधियां हैं उन पर वृक्षों की छाया हो रही है। छाया धरती पर गिरती है और हवा से खेलती है। सबकुछ साफ़-सुथरा है। इधर जो भैंसें और गायें हैं, वे इस समय पगुरा रही है। भैंसों की ओरी बड़ी है, प्रगट होता है कि दूध खूब होता है। जोगियों के चेहरों पर गुलाबीपन है, प्रगट होता है, दूध ही आगे चल-कर गुलाबी हो जाता है।

उत्तर की ओर लँगोटे बाँधे कुछ युवक हैं। उनके कानों में कुण्डल पड़े हैं, पर वे घुटमुण्डे हैं। एक-एक की देह देख कर लगता है कि नितार कर धर दी गई है। उधर वाला जाट है, इधर वाला पठान। वह जो काला सा है, है बंगाल का—चौड़े दाँत हैं। उसके सिर पर भी उस्तरा फिरा हुआ है और गले में रुद्राक्ष की माला पड़ी है। वे लोग शांत मन से आसनों में लगे हैं। अब एक ने पाँव ऊपर उठा लिये हैं और सारे बोझ को गर्दन पर साध लिया है। यह ऊर्ध्वसर्वांगासन है। दोनों हाथ उसने फैला कर धरती पर चिपका दिये हैं और अपनी नाक की नोंक पर वह आँखें गड़ाये है।

सन्नाटा भी अजीब चीज है। आस्मान में उड़ते पक्षी देखते रहो, या मंदिर के सामने के घने पेड़ की छाया को, या मुती पुँछी धरती की धूल को, जिसमें शायद एक आध जोगी के निकल जाने मे पाँवों के निशान बन गये हैं, या इसे भी छोड़ो और सुलगती धूनी को देखो, जिसके चारों तरफ राख है, सफ़ेद सफ़ेद···यह सब काम यहाँ होते हैं, फिर भी कोई त्वरा नहीं है, बड़ी शांति है, यहाँ हलचल नहीं, क्योंकि किसी के गृहस्थी नहीं, और औरत के न होने से मर्द को यहाँ बेफ़िक्री है, गोया दुनिया में चिता और काम, रहस्य और शिष्टाचार की मर्यादा तब प्रारंभ होती है, जब स्त्री आती है। स्त्री के विना पुरुप संसार में ऐसे रहता है, जैसे रहता है, मगर नही रहता। वह किसी खूँटे से बँधा हुआ नहीं है।

समय एक व्यापक प्रसार है। फिर भी उसे शून्य की भाँति यहाँ देर तक देखने का आराम है, क्योंकि काम कोई नही है। यह अखाड़ा है नाथों का। यहाँ वड़ी-बड़ी दूर से तीर्थ-यात्री बन कर घुमक्कड़ नाथ जोगी आते हैं। ऐसे ही बहुत से अखाड़े हैं। यहाँ आने वाले को अपना ही समझा जाता है, क्योंकि सारे जोगी ही इस बिरादरी के लोग हैं। बिलोचिस्तान से कामरूप तक, पेशावर से मदरास (तब कुछ नाम था इस स्थान का) तक, कच्छ से पुरी तक, कौन सी जगह से जहाँ से स्त्री का जाया यहाँ नही आया और आया, और आकर चला नहीं गया···जो इस धरती में नहीं गड़ा···वह आगे या उत्तर या दक्खिन या ऐसी ही किसी दिशा की धरती मे नहीं गड़ गया।

अलख निरंजन !

यहाँ जीवन का आदर्श है कि अदेख को देखंत करो, अलेख को लेखंत। अरस-परस मे दरस 'जाणा' जाता है। सुनि तो गरजंत है, नाद बाजंत है, तब प्रमाण से ही अलेष को लेपंत किया जाता है।

निहचल धरि बैसिबा पवन निरोधिबा
कदे न होइगा रोगी
बरस दिन मे तीनि बार बाया पलटिबा
नाग बंग बनासपती जोगी ।[1]

1. निश्चल होकर घर बैठो, पवन का निरोध करो, योगी इससे कभी भी रोगी नहीं होगा। नाग (सीसे का भस्म), बंग (टिन का भस्म) और बनस्पति के प्रयोग से वर्ष-भर में तीन बार काया-कल्प करो।

2

अँधेरा हो गया है।

नगर के बाहर एक तेली का निवास-स्थान है।

नागनाथ धीरे से दरवाजा थपथपाता है।

दरवाजा खुलता है।

एक स्त्री है।

मुस्कराती है।

"जोगी, तेली नहीं है।"

जोगी ओसारे में बैठता है।

पास आती है।

"पाँचो !"

"हाँ जोगी।"

"तेरा तेली कहाँ गया है ?"

"आज गाँव गया है।"

घानी तभी शांत है। बैल चुप खड़े हैं।

जोगी कहता है : "आया था साँप पकड़ने।"

पाँचो बैठती है। पूछती है : "कुछ खाया है जोगी ?"

"नहीं।"

तब वह मुसलमानिन भीतर जाती है।

"रोटी है और अचार है।"

"ला मुझे दे।"

"अचार मैंने ही डाला है।"

"अच्छा है।"

जोगी के कुण्डलों पर दीपक का हल्का प्रकाश पड़ रहा है। दाढ़ी घनी है, मूछें हल्की हैं। चौड़ी कलाई है। हाथ में कड़ा है। कंधे की झोली बगल में रखी है।

"पीर की दरगाह पर मुझे एक जाटनी मिली थी। हिंदुन थी। उसी ने बताया था।"

"हूँ, ठीक है।"

स्त्री पजामा पहने है।

"जोगी, साँप कैसे पकड़ा जाता है ?"

"वह बड़ा मुश्किल काम है।"

"जहरीला नाग ?"

"हाँ ।"

"काटता नहीं ?"

"देवता की आन लगानी होती है उसे ।"

"और कभी काट ले तो ?"

योगी हँसता है ।

"क्यों हँसते हो ?"

"मंत्र से दब जाता है । फिर हम सिद्धियों से जहर निकाल सकते हैं ।"

"कैसे जोगी ?"

"तू नहीं समझेगी ।"

"पानी लाऊँ ?"

"ले आ ।"

जोगी पानी पीकर कहता है : "मैं थोड़ी देर लेट लूं, फिर चला जाऊँगा ।"

स्त्री कहती है : "किधर ?"

"उधर जंगल में ।"

"वहाँ तो बहुत अँधेरा है । डरावना है । तुम्हें डर नहीं लगता ?"

"डर किसका ? भैरव साथ है ।"

"पड़ोस में एक नाइन है, वह कहती थी, जोगी अधरम करते हैं ।"

"क्यों ?"

"कहते है मुसलमान का तुम खा लेते हो ।"

"खाने में क्या है ?"

"कुछ नहीं ?"

"तेरा तेली पहले कौन था ?"

"वह तो देवी पूजता था । उन्होंने कहा, मुसलमान होजा । पंडत से चिढ़ा था, सो हो गया । उसी के साथ मैं भी हो गई । अब राजा हमारी तरफ़ हो गया ।"

"पर मुसलमान तुर्क अच्छे लोग नहीं हैं ।"

"काजी कहता था कि जोग बुरा है, देवी-देवता बुरे हैं । यह कैसे हो सकता है जोगी ?"

"मूर्ख है ।"

स्त्री कहती है : "तेली तो बाहर नमाज पढ़ता है, भीतर तो वही साधना करता है ।"

"अब तूने कभी सिद्धि कराई है या नहीं ?"

"तुम करोगे ?"

"सोचता हूँ । इधर कई दिन से सुखमन नहीं चलाई ।"

"जोग क्यों छोड़ते हो ? नागदेवता फिर बस में न होगा। गोरख पंथी कुछ आते हैं। एक मुझे देखकर बोला : यहाँ अखाड़े मंदिर में औरत क्यों आई। निकल जा यहाँ से। खबरदार जो आई। यह गुरु गोरख का ठाँव है। जोगी ! वह क्यों कहता था ? तुम भी तो जोगी हो !"

"वह गोरख के चलाये पंथ में है। हम शिव के चलाये पंथ में हैं। गुरु गोरख ने हमें जोग दिया। बड़े पहुँचे सिद्ध थे। मगर हमारा मारग शिव का है न ? हमें बामाण साधना भी स्वीकृत है। भोटकनाथ तो है ही वामारगी।"

योगी उठता है।

"कहाँ चले ?"

"जंगल !"

"बड़ा अँधेरा है।"

"उससे क्या डर ?"

"भूत पिशाच ?"

"भैरव के आगे ?"

"मैं अकेली हूँ। मुझे डर लगता है।"

"चल मेरे साथ, तुझे साँप पकड़ कर दिखाऊँ।"

स्त्री के नेत्र चमक उठते हैं।

कहती है : "हाय कहीं डस गया ?"

"मैं यंत्र मे कील दूंगा उसे।"

स्त्री को कौतुक है।

"चल ! डर मत।"

बाँह पकड़ कर उठाता है। स्त्री झुकी-सी उठती है।

भयानक वन है। स्त्री पत्थर पर बैठी है। बीन बजने लगती है। काल बेलिया पंथी नागनाथ के गाल फूल कर कुप्पा हो गये हैं।

निर्जन में वह सम्मोहक स्वर दूर-दूर तक इन्द्रियों को शिथिल करता सा गूंजने लगता है। नागनाथ बड़ा पहुँचा हुआ व्यक्ति है। 'यंद्री का लड़बड़ा' नहीं, न जिह्व्या का चूहड़ा' है। कभी-कभी साधना के लिए स्त्री से आलिंगन करता है, वैसे सदैव योग साधना में लगा रहता है। तेलिन के नयन फट गये हैं आश्चर्य से।

नाग ! भयानक नाग को नागनाथ ने पकड़ लिया है।

अब वह मंत्र पढ़ कर उसको बांध रहा है। बाँये हाथ से उसने नाग को पकड़ रखा है···

"चल !" नागनाथ उठ खड़ा हुआ है।

"क्या करोगे नाग का ?"

"गूगा पीर की सौगंध ! इसे एक राजपूत को देना है। मैं इसकी चर्पटनाथ

से कुछ दवा बनवाऊँगा।"

"काहे की दवा?"

"उसके पाँच स्त्रियाँ हैं। और वह अकेला है। उससे अपार बीरज पैदा होगा।"

स्त्री के नेत्र आश्चर्य, संकोच और लज्जा से फैल जाते हैं और कहती है: "अरे वह कुछ भी कर ले। मैं जानती हूँ पाँचों किस-किस घाट जाकर लगती हैं।"

नागनाथ कहता है: "अलेस को लेसूँ···"

3

झंगरनाथ को गिरनार की यात्रा से आने पर भी अभी तक याद है।

गुहा में वृद्ध गैनीनाथ ध्यान में तल्लीन थे।

बाहर बैठे थे—निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर, सोपानदेव, मुक्ताबाई, चाँगदेव, गोरा कुम्हार, विसोबा खेचट, नामदेव दर्जी, साँवता माली, चोखा मेला मेहार, मेना नाई, जनाबाई दासी, कूर्मदास ब्राह्मण, और न जाने कितने थे वे···

ब्राह्मण वत्सगोत्री त्र्यम्बक पंत देशाधिकारी था। अकाल में लोक सेवा में अपना सब कुछ लुटा बैठा। आपे गाँव में उसका पुत्र हरिपन्त राजा सिंघण देव वाले युद्ध के बाद नाथ पंथ में दीक्षित हुआ। उसका पुत्र विठ्ठलपंत संन्यासी हो गया और श्रीपाद स्वामी की आज्ञा से गृहस्थ धर्म में लौट आया। उसी की संतान थी यह—निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर, सोपानदेव और मुक्ताबाई। उपनयन नहीं हुआ—समाज से तिरस्कृत के पुत्र थे न? ब्राह्मणों ने पुनः गृहस्थाश्रम में लौटने वाले को त्याग दिया। विठ्ठलपंत और पत्नी रुक्मिणी ने दुःख से प्रयाग में नदी में कूद कर आत्महत्या कर ली। सिद्ध गैनीनाथ ने बच्चों को सँभाला। सिद्ध की करुणा जागी। अब यह चारों अत्यंत प्रसिद्ध थे।

ज्ञानेश्वर ने ब्राह्मणों को योग का गौरव दिखाया, गीता का भाष्य लिखा। वे सब तीर्थ यात्रा पर गये थे। वहीं मिला था भामदेव दर्जी और वहीं मिले चाँग देव···

पण्ढरपुर, उज्जैन, प्रयाग, काशी, गया, अयोध्या, गोकुल, वृन्दावन, द्वारका, गिरनार···

वहीं मिले थे वे झंगरनाथ को···

यह थी मुक्ताबाई। एक बार नंगी नहा रही थी। चाँगदेव ने देखा तो मुंह ढँक कर लौट चला। मुक्ताबाई ने फटकारा: "वृद्ध हो गये, आत्मतत्त्व नहीं जाना। स्त्री पुरुष का व्यक्ति-भेद है ही क्या?" चाँगदेव को फिर तत्त्व बोध हुआ···[1]

1. नाथपंथ में एक और परिवर्तन।

चाँगदेव भी कम नहीं था। शुक्लयजुर्वेदीय ब्राह्मण पुणतांबे क्षेत्र का? योगी। सिद्धियों का गर्व था उसे···सिद्धि से ऊपर मिली भक्ति···

गोरा कुम्हार था। दो पत्नी थीं। दोनों को छुआ भी नहीं···कच्चा घड़ा और कच्चा संत उसने परखा था। संत का रोष उसका कच्चापन था···

द्वादश ज्योतिर्लिंगों में से एक का स्थान औंढिया नागनाथ का था। बिसोबा खेचर, यजुर्वेदी ब्राह्मण था···काम करता था सराफी का···ज्ञानेश्वर ने खेचरी मुद्रा दी···वृद्ध हो गया था···

यह नामदेव था। गृहस्थ। ब्राह्मण इसके विरुद्ध थे, परन्तु यह दर्जी दबा नहीं···

इसी को ब्राह्मण परिसा ने घृणा से देखा था, अब बैठा था शिष्य बनकर परिसा भागवत्···

नामदेव ने झंगरनाथ से पूछा था—पंजाब में तुर्कों का अत्याचार बहुत है, हो सका तो वहाँ जाऊँगा···शायद आयेगा वह···उसी ने तुर्कों की गौहत्या की तृष्णा देखकर विद्रोह किया था और तुर्कों को हराया था···

अरणभेंडी का साँवता माली···ज्ञानदेव ने उसे जगाया था···

मुर्दा जानवर उठाने वाला मेहार चोखा मेला···इसे पण्ढरपुर के विट्ठल के मंदिर में प्रवेश कराया गया था···

सेना नाई जिसने राजा को उपदेश दिया था···हजामत बनाता था, फिर उपदेश देता था···

जनाबाई थी नामदेव की नौकरानी···मंदिर में गई तो ब्राह्मणों ने उस पर चोरी लगा दी···इसे उन्होंने मार डालना चाहा था, परन्तु उसके अभंग सुनकर प्रजा ने इस दुष्कर्म को रोक दिया था···

और हाथ-पैर से लाचार था वह कूर्मदास···फिर भी उसका चरित्र अटल था···[1]

सोच रहा है झंगरनाथ।

वहीं आया था दत्तात्रेय का एक शिष्य। काला कंथा पहने। बोला था: मैं कौन? मैं ब्रह्मा, विष्णु, महेश का पुत्र···मेरा गुरु दत्तात्रेय···ब्राह्मण कहते हैं मैं हूँ म्लेच्छ···

हाँ वह मुसलमान था···

"मेरे हाथ का खा सकते हो?" पूछा था उसने।

गुहा से निकले थे गैनीनाथ। सबने प्रणाम किया था।

और गैनीनाथ ने कहा था: "गोरखनाथ के योगमार्ग में शिव और कृष्ण एक ही हैं। उनके सामने सब बराबर हैं। कोई जाति नहीं, सब कुछ वही हैं, एकमात्र।

1. यह था नाथ संप्रदाय, नीच ऊँच सबका सम्मेलन।

हिंदू हो या मुसलमान···"

उन सबने खाया था साथ। झंगरनाथ ने भी।

झंगरनाथ को याद आ रहा है···

नामदेव ने कहा था—"पंजाब में तुर्कों का उपद्रव है···"

"हाँ," झंगर ने कहा था—"वे योगियों को भी काटते हैं, हिंदुओं को भी··· वे हमारे मंदिरों और ग्रन्थों को भी नष्ट करते हैं। परन्तु उनकी चाल कम चलती है।"

"क्यों ?" पूछा था नामदेव दर्जी ने।

"अनेक योगी मुसलमान हैं। वे हमें बता देते हैं।"

"परन्तु अत्याचार के सामने सिर नहीं झुकाना होगा झंगरनाथ। तुर्कों के धर्म से भी श्रेष्ठ है हमारा मार्ग। सब एक ही जगह पहुँचते हैं, चाहे किसी भी मार्ग से···"

ज्ञानेश्वर ने कहा था—"किसी को भी किसी का दमन करने का अधिकार नहीं है। न ब्राह्मण को, न मुल्ला को···"

वही झंगरनाथ को याद आ रहा है···

"तुर्क योगी को हिन्दू समझे तो क्या दोष ?" कहा था, "नामदेव ! योगी सब में समाया है। उसे मुसलमान से घृणा नहीं, वह जाति नहीं मानता, परन्तु मुसलमान यदि हमला करता है तो उस हमले को रोकना होगा। मैं आऊँगा पंजाब···"

"कब···"

"शीघ्र ही, एक बार पण्ढरपुर लौटने के बाद···"

फिर हुआ था कीर्त्तन···

झंगरनाथ विभोर हो उठा था, उस कीर्त्तन में सब जातियां विभोर होकर मिली थीं। ब्राह्मण नहीं रोक पाये थे, न उस वेगवान शब्द का दमन कर पाये थे मुल्ला और तुर्क ! आयेगा नामदेव···

झंगरनाथ पुलकित हो रहा है···

4

झंगरनाथ सुन रहा है। चर्पटनाथ दवा घोट रहा है।

गाहिनीनाथ और ज्ञानेश्वर की कथा चल रही है।

चर्पट कहता है : धन्य गाहिनीनाथ। सारे महाराष्ट्र में फिर जीवन की लहर दौड़ रही है।

नागनाथ एक राजपूत के साथ आता है।

परिचय होता है। राजपूत हाथ जोड़ता है।

"सिद्ध हैं चर्पटनाथ," नागनाथ कहता है। "योगीराज ! यह बहुत दुखी है, इसके लिए औषधि बना दीजिये।"

"पाँच स्त्रियों से रमण करने को ?" चर्पट के मुख पर व्यंग्य खेलता है। वह मुड़कर झंगरनाथ से कहता है : "अवधूत ! सुनते हो ! विषहर देवता ! पारा शिव का वीर्य है, और अभ्रक पार्वती का रज। इन दोनों को मिलाकर ऊर्ध्व पतित करने से शरीर को अमर बना देने वाला रस तैयार होता है। पारद संसार सागर से पार कराने वाला है। यह रस मृत्यु और दरिद्रता का नाश करता है। इसी से सोमेश्वर, गोविंद नायक, कपिल, व्याडि, कन्दलामन आदि जीवन्मुक्त सिद्ध हो गए थे। रस और वायु दोनों ही मूर्छित होने पर व्याधि दूर करते हैं और मृत होने पर जीवन दान देते हैं। यदि यह बद्ध हो जायें तो आकाश में उड़ने की शक्ति देते हैं।"

झंगरनाथ सुन रहा है।

चर्पट कहता जा रहा है : "महादेव, चन्द्रसेन, नित्यानंद, गोरक्षनाथ, कपालि, भालुकि, और माण्डव्य आदि ने योगबल से इस रस को सिद्ध किया था। नागार्जुन, शालिनाथ और काकचण्डेश्वर और मंथान भैरव भी इसी को सिद्ध करके जीवन मुक्त हो गए थे। उसी का प्रयोग इस व्यभिचारी के लिए मैं करूँ ? असंभव ! नाथ मंदिर में तुम ऐसा व्यापार प्रारंभ कर रहे हो नागनाथ। गुरुदेव के आने पर इसका निर्णय किया जायेगा।"

नागनाथ का मुख रोष से तप्त हो जाता है। वह क्रुद्ध सा चला जाता है।

"तू जा !" चर्पट चिल्लाता है।

राजपूत भयभीत सा चला जाता है।

जैसे कुछ नहीं हुआ, चर्पट कहता है : "आ अवधूत ! तू योग्य पात्र है। तुझे मैं रससिद्ध कराऊँगा।"

झंगरनाथ दण्डवत् करके कहता है : "जीवन सफल हुआ। आज से आप ही मेरे गुरु हुए ! गुरुदेव ! किन्तु एक बात कहूँ ?"

चर्पट देखता है।

"नागनाथ क्रुद्ध हो गया है।"

"तो क्या हुआ ?"

"आप यहाँ की बातें जानते नहीं। मैं यहाँ पहले भी रह चुका हूँ।"

"क्यों ?"

"नागनाथ गुरुदेव का मुँह चढ़ा है।"

"नाथ मंदिर के महंथ का ?"

झंगरनाथ कुछ लज्जित सा सिर झुका लेता है।

"तुम चिंता न करो। चर्पट किसी से नहीं डरता। गुरु गोरक्ष का शिष्य है

वह ! और किसी का उसे भय नहीं। तुम बैठकर मुझे सुनाओ कि नाथों ने दक्षिण में क्या किया है ? मैं तुर्कों के अत्याचार से विक्षुब्ध हो उठा हूँ, मैंने जीवन्मुक्त रस पाया है। मैं संसार का दुख मिटा सकता हूँ, परंतु मुझे इस बर्बरता का अंत नहीं मिल सकता। जिधर जाता हूँ उधर ही मुझे हाहाकार दिखाई देता है। गोरक्षनाथ स्वयं शिव के अवतार हैं। अत्याचारियों का उन्होंने भी दमन किया था, और पथ भूल जाने पर गुरु तक को मार्ग पर वापिस ले आए थे।"

झंगरनाथ बैठता है।

दुपहर ढल चली है। त्रोटकनाथ मठ में आया है। उसके पीछे एक भंगिन आई थी, जो बाहर के पेड़ों के पीछे ही बैठ गई थी।

चर्पटनाथ झंगरनाथ को जड़ीबूटी दिखाने वन की ओर ले जा रहा है। भंगिन को देखता है तो पूछता है : "कौन तू ? योगिमठ के पास क्यों आई है ?"

भंगिन मुस्कराती है।

झंगरनाथ धीरे से कहता है : "त्रोटक वामारगी है। वही इसे लाया है।"

घृणा से चर्पट का मुख विकृत हो गया है। वह कहता है : "सिखवंती लौट जा। पतिवंती है ?"

"हाँ अवधू।"

"फिर क्यों आई है ?"

स्त्री सिर नीचा कर लेती है।

"कौन जाति है ?"

"भंगी !"

"त्रोटक ने धन का लोभ दिया है ?"

"हाँ अवधू ! मैं बहुत गरीब हूँ।"

चर्पट कहता है : "अच्छा, कल दिन में अपने पति के साथ आना। मैं तुम्हें धन दूंगा। योगी के पास अधिक नहीं है। परन्तु एक गुणी का इलाज किया था। वह दे गया था। सोचा था उसे मठ को दे दूं। पर वह मैं तुझे दे दूंगा। जा। पति से बढ़कर तेरे लिए कुछ नहीं। वामारगी साधु आए तो उसे दण्ड देना न भूलियो।"

स्त्री रोती हुई दूर से ही दण्डवत प्रणाम करती है और चली जाती है। त्रोटक आता है तब देखता है स्त्री नहीं है।

"झंगरनाथ !"

"क्या है, अवधू !"

"एक स्त्री आई थी !"

"हाँ।"

"कहाँ गई ?"

"घर !" चर्पट कहता है।

"घर ! कैसे ?"

"मैंने भेज दी !"

"वह बहुत गरीब थी। मैं उसे दया से कुछ देना चाहता था।"

"किस कीमत पर ?"

"अवधू ! तुम साधना का मखौल उड़ा रहे हो ?"

"साधना ? यही है यतिराज गोरक्ष की साधना ? पाप मुँह खोलकर पुकारता है और उसे लज्जा नहीं आती।"

"गुरुदेव के आने पर···"

"तुम्हारे पाप को दण्ड दिया जाएगा।"

चर्पट निर्भीक है।

त्रोटकनाथ फुफकारता हुआ चला जाता है। चर्पट कहता है : "क्या हो रहा है। नाथ पंथ को ! तुर्क सब नष्ट किए दे रहे हैं। केवल ब्राह्मण लड़ते हैं उनसे ! योगिमार्ग ही हिन्दू और मुसलमानों में भेद नहीं करता। दक्षिण के इन संतों ने अलख जगाई है झंगरनाथ ! समस्त प्रजा के लिए यदि यह त्रिशूलधारी योगी नहीं उठेंगे तो शीघ्र ही यह बर्बर तुर्क नाथ-मंदिरों को भी धूल में मिला देंगे। वे योगी और हिन्दू का कोई भेद नहीं करते। क्या आदिनाथ का बताया मार्ग, यह जीवन्मुक्त सिद्धियाँ यों ही नष्ट हो जायेंगी ?"

झंगरनाथ देखता है। वही दिव्य चमक है चर्पट के मुख पर जो गैनीनाथ के मुख पर थी जब सब जातियों ने एक साथ भोजन किया था।

5

भरथरी के शिष्य रतननाथ मुसलमानों में प्रिय योगी थे। उनकी काबुल और जलालाबाद में बड़ी मानता थी। उन्हीं के पथ के एक व्यक्ति के साथ महंत लौट आए हैं।

चर्पटनाथ प्रणाम करता है।

"आदेश अवधू ! नागनाथ और त्रोटकनाथ तुम्हारे विषय में कहते थे कि तुम साधना में अड़ंगा डालते हो !"

चर्पट कहता है : "गुरुदेव ! नागनाथ ने कहा था कि मैं एक व्यभिचारी को औषधि दूँ और त्रोटक ब्रह्मचर्य पर व्याघात करने को एक स्त्री को लाया था।"

गुरु कहते हैं : "सांसारिक गृहस्थ तो माया और विषय में फँसे ही रहते हैं। योगियों को उन पर दया करनी चाहिए चर्पट नाथ ! जानते हो वह नाथों का कितना श्रद्धालु भक्त है ! मठ को कितना दान करता है ?"

चर्पटनाथ को लगता है कि धरती पर नहीं खड़ा है।

गुरु कह रहे हैं : "साधना के अनेक स्तर हैं जिनके विभिन्न अधिकारी हैं। बज्रोली के लिए मध्यम अधिकारी को स्त्री की आवश्यकता पड़ भी जाती है। उससे ब्रह्मचर्य नहीं बिगड़ता। आदिनाथ स्वयं पार्वती के साथ रहते हैं। जाओ ! अब ऐसी बात हमारे कान में न आए।"

चर्पट चलता है। तभी भंगिन आकर चरणों में प्रणाम करती है। साथ है उसका पति।

गुरु देखते हैं और माथे पर बल पड़ जाता है।

"यह कौन हैं ?"

"दीन दुखी हैं गुरुदेव !"

"क्यों आए हैं ?"

"मेरा एक भक्त आया था। मैंने उसका रोग दूर किया था। वह गुणी मुझे मठ के लिए कुछ सोना दे गया था। वही उनकी दरिद्रता देखकर मैंने इन्हें देने को बुलाया था।"

हठात् गुरु का स्वर उठता है : "चर्पटनाथ ! यह दया तो गृहस्थ के लिए है। नाथों का मन्दिर दान लेता है , देता नहीं, क्योंकि यहाँ सांसारिक विषयों को छोड़ने वाले त्यागी रहते हैं। वह धन तुम्हारा नहीं, मन्दिर का है। उसे देने वाले तुम कौन होते हो ?"

"गुरुदेव ! यह अत्यंत दरिद्र हैं।"

"वह विधाता का लेख है चर्पट ! उसे तुम मिटा सकते हो ?"

गुरु देखता है अपने साथी की ओर। वह उदासी है। कहता है—"सब विषय है। मोह है। योग साधना ही मुक्ति का मार्ग है। उसके बिना कोई उपाय नहीं।"

चर्पट देखता है और सहसा ही वह कहता है : "कितने ही व्यक्ति विकारों में नष्ट हो चुके हैं। विषयों की डोरी जगत की फाँसी बनी हुई है। कितने ही कच्चे घड़े उदासी बने फिरते हैं। असली अर्थ को नहीं खोजते और चौरासी लाख योनियों में भटकते फिरते है। बार-बार वे यम की फाँसी में बाँधे जाकर नरक को भेजे जाते हैं।"

उदासी का मुख तमतमा जाता है।

गुरु चिल्लाता है : "चर्पट, बंद कर यह बकवास !"

उस कठोर स्वर को सुनकर दो-चार तगडे जोगी आ जाते हैं और गुरु की ओर उत्सुकता से देखते हैं।

निकाल दो इस नीच भंगी को और इसकी इस स्त्री को।

भंगी और भंगिन काँपते हुए भागते हैं। वे आर्त्त से चिल्ला रहे हैं। हवा में स्तब्धता छा गई है।

मंगरनाथ पास आ रहा है।

चर्पट छूट जाता है।

गुरु का क्रोध भभकता रहता है।

रात हो गई है।

अंधकार में चर्पट गा रहा है—

साधो आवहि से घरि बारी !

सेवा करहिगे हमारी !

हेठि विछावहिगे तुलि तुलाई।

ऊपर ऊँचा करि बैठाई।

स्वर अँधेरे में फैल रहा है। गुरु जाग रहा है। झंगरनाथ अपनी मृगछाला पर करवट बदल रहा है। उसका कंधा सिरहाने है।

चर्पट गा रहा है—

जति कति की माइआ लइ आइआ।

फूलि बैठा निरंजनु पाइआ।

सिखि की घरिनी लागे पाइ।

उसि का रूप देखि उसका कामु ढलि जाइ।

गुरु के कानों में वे शब्द पड़ते है। शिष्य की स्त्री पाँवों से लगती है और गुरु का काम उसका रूप देखकर ढल जाता है। किस पर है यह आक्षेप ! उसी राजपूत पर ! जो अपनी पाँचवीं स्त्री को संतान के लिए लाकर गुरु के चरणों पर बैठा था। गुरु को क्रोध आ रहा है। स्वयं गुरु से !

गुरु ने उसके लिए एकांत में मंत्र किया था। उसी पर आक्षेप !

और चर्पट गा रहा है—

सिखि की घरनि का मुख ले चचोलै।

जैसे कुत्ता हाडिकिउ बिरोलै।

वह शिष्या का चुंबन ऐसे करता है जैसे कुत्ता हड्डी छिछोंडता है ! झंगरनाथ घबरा रहा है। क्या कर रहा है चर्पट यह !

परन्तु चर्पट गा रहा है—

सिखि मरै गुरु रोवै,

निर अपराधि सोगीहोवै।

एक घरु तिआगिआ

सि घरि लिआ इआ,

छुटिकिया सा परु

वहुरि भरमाइया !

गुरु नहीं बैठ सकता। यह नहीं सहा जा सकता। यह स्पष्ट आक्रोश है। त्याग पर लांछन है। यह गुरुमार्ग पर प्रहार है। सीधे गुरु ही भरमा गया है। यदि

यह नहीं रोका गया तो पंथ ही नष्ट हो जायगा।

परन्तु चर्पट गा रहा है--

दइया न उपजा अरु गुरू कहाइआ।
प्रणिवै चरपटु ते नरकि सिधाइआ।

दया नहीं उपजी और गुरु कहलाता है। चर्पट विनम्र कहता है कि वह नरक ही जायेगा।

नागनाथ धीरे से कहता है : "सुना गुरुदेव !"

गुरु अवरुद्ध क्रोध में है, बोल नहीं पाता।

इसे दण्ड दें गुरुदेव !

त्रोटक झाँककर देखता है और कहता है : "नहीं। समय नहीं है। चर्पट के पास तो तरुण जोगी मस्त होकर बैठे सुन रहे हैं।"

"वे भी विद्रोही हैं।"

"क्षमा करिये। अवसर ठीक नहीं है। इसको यहाँ से किसी बहाने से दूर कर देना ही ठीक होगा।"

गुरु बैठ जाता है, अवरुद्ध-सा।

परन्तु अब बाहर पहले की भाँति फिर चर्पट का स्वर उठा है। "चर्पट का अर्थ ही धूर्त्त है।" नागनाथ कहता है—"शायद फिर गा रहा है।"

त्रोटक कहता है : "अब वह वैसा नही गायेगा।"

परन्तु स्वर सुनाई देता है। पहले स्पष्ट नहीं सुनाई दिया। अब दे रहा है इस बार क्योंकि चर्पट ने जो गाया है उसे बाकी तरुण जोगी मिलकर गा रहे हैं—

सति गुरु एसालो,
प्रतिरीआ कामु बिबरजितु लो !

काम विवर्जित सद्गुरु हो, ऐसी हमारी खोज है। कैसी तन्मयता से गा रहे है वे !

मारीले सगलि कामना, धामु सदा द्रिडु असतति लो।
संतोख जावै नाही कबहु अरथि बिहुना सतु भाखी लो !

तो क्या गुरु ने अभी कामना का नाश नही किया ? क्या वे धर्म में दृढ़ नहीं हैं ? क्यों वे संतोषी नहीं ? क्या वे सत्य-भाषी नहीं हैं ?

और स्वर उठ रहा है --

परि सुआरथु अपुना नहीं सुआरथु
मन चेला नहीं भटकीलो !

परस्वार्थ है। अपना नहीं साधो ! मन भटक रहा है।

नागनाथ पुकारता है : "गुरुदेव !"

त्रोटक कहता है : "असह्य है गुरुदेव ! गुरु गोरक्ष तो स्त्री देश में 16000

स्त्रियों में से विषय में डूबे गुरु को लाये थे, ऐसी भक्ति थी वह, और यह···"

उधर स्वर उठ रहा है—

मैले पाणी कपड़े धोवै

लोभी गुरू मुकति कउ होवै···

मैला पानी है गुरुदेव ! काया वस्त्र है शिष्य। लोभी हैं गुरुदेव ! तो यह शिष्य कहता है कि गुरु की ही मुक्ति नहीं होगी ?

अब स्वर जोर से उठ रहा है—

गिआनी बिगिआनु सदा ततु सारु,

ऐसे सति गुरि ले उतरिगे पारि···

दइआ न उपजा गुरू कहाइआ···

प्रणिवै चरपटु ते नरकि सिधाइआ···

"चर्पट !" गुरु सामने पुकार उठा है। उसके पीछे और दोनों ओर अधिकांश शिष्य हैं।

"गुरुदेव !"

"यह क्या गा रहा था तू ?"

"गुरुदेव ! सद्गुरु महिमा।"

"और बुरा गुरु कौन है ?"

"यह मैं क्या जानूं ?"

"किन्तु मैं जानता हूँ। शिष्यो !"

"आज्ञा गुरुदेव !"

"इसे बाहर निकाल दो। आज से यह पंथ से वहिष्कृत हुआ।"

"पंथ से वहिष्कृत !" झंगरनाथ पुकार उठता है—"गुरुदेव ! क्रोध न करिये। चर्पट अभी नादान है।"

परन्तु चर्पट ठठाकर हँसा है। तरुण योगी उसके साथ हैं। कहते हैं—"चलिये गुरुदेव ! चलें।"

चर्पट हँसता है। झंगरनाथ कहता है: "चर्पटनाथ ! तुम सचमुच गुरु होने के योग्य हो। तुम्हें पंथ से कौन निकाल सकता है। चलो। आदिनाथ के मार्ग को फिर से शुद्धि की आवश्यकता है। उसके लिए जीवन की बलि देनी होगी।"

द्वार बन्द हो गया है। बाहर त्रिशूलधारी जोगी अंधकार में गा रहे हैं और बढ़ रहे हैं एक ओर···

चर्पट गा रहा है और फिर वे समवेत स्वर उठाते हैं—

सरिवाना नादि रागि नहीं जाहि,

नेत्रि रूपु ना देखि लुभाहि।

नासिका गंध परसु नहीं होइ,

खटि रसि को जिह्वा मरै न रोई···

तो क्या अब योगियों में जिह्वा षट्रस के लिए रो-रोकर मरती है? नयन रूप के लोभी हो गये हैं?

दूर से मंदिर तक स्वर पहुँचता है—

जीती नहीं काइआ

अरु सिध कहाइआ

चरपटु प्रणिवै ते नरकि सिधाइआ···

काया नहीं जीती और सिद्ध कहलाते हैं, वे क्या नरक के अतिरिक्त कहीं और जा सकते हैं?···

वह स्वर गूँजता जा रहा है वन में···

झंगरनाथ कहता है : "गुरुदेव ! किस ओर !"

"उधर चलो झंगरनाथ, जिधर लोगों को जोगियो की आवश्यकता है। यहाँ बैठे-बैठे नहीं रहना है। मन को बाँधने से मणि प्राप्त होगी अन्यथा सब ही भ्रम है। मनसा नागिन है। उसे ही ठहराना होगा। मणि की गति उसी से जानी जाती है। मनसा मन के आगे ही बसती है और सर्पिणी बन-बन कर वह मणि को डसा करती है।"

झंगरनाथ आत्मविश्वास से विभोर हो उठता है।

6

भोर हो गई है।

वन के किनारे गाँव है जहाँ चर्पटनाथ की धूनी लगी है! शिष्य पास बैठे हैं। झंगरनाथ आग सुलगा रहा है।

चर्पट कह रहा है : "आत्मब्रह्म बाहर नहीं भीतर है अवधू। बाहर संसार में परमात्मा नहीं मिलता। जो वन-वन फिर कर कन्द आहार करते हैं, तप में जलते हैं, और शरीर को क्षीण करते हैं, हठ से निग्रह करते हैं, वे मणि को भूलकर यह सब बातें करते हैं।"

"तो गुरुदेव !" झंगरनाथ कहता है—"फिर मुक्ति कैसे हो?"

"पावन को सिद्ध करो अवधू ! पवन को ! पवन और रससिद्धि से ही मुक्ति होती है। खा-पीकर जोग करना तो योग को बिगाड़ना है। तत्त्ववेत्ता बनो। मान-अपमान का अहंकार छोड़कर इन्द्रियजित बनो। यही सिद्धमत है।"

फटकनाथ, तरुण जोगी है। पहले मुसलमान मनिहार था। बाद में पंथ में आ गया। कहता है—"गुरुदेव ! मैं भिक्षा माँग लाता हूँ।"

"भिक्षा !" चर्पट कहता है—"नहीं फटकनाथ । भिक्षा मत माँगो । मैं तुम्हें रससिद्धि दूंगा । योग्य, दुखी और सज्जन का उपकार करो और जो श्रद्धा से दे उससे पेट भरो । जीभ की तृष्णा छोड़ दो । रस का व्यापार मत करो । जो कमण्डलु में जो कुछ दे जाये, वही खाओ । संग्रह मत करो । जो अधिक हो वह दरिद्रों को बाँट दो ।"

और चर्पट गाता है—

फोकिटि फोकिटि कथे ज्ञान ।

फोकट में ज्ञान कहाँ ?

ऐमा तो सदा मडी धरे ध्यान ।

अरे ऐसा साधु तो कलि का साधु है । स्वारथ छोड़ो । यह लोक स्वारथ में जंजाल है । काया एक वृक्ष है और चित्त मानिक है । दस दिशा में भटकते मत फिरो । इससे सिद्धि नहीं मिलेगी । ढीला कछोटा न पहनो । घर-घर नैन न पसारो । उससे तो न खाया पचता है और न वाणी स्फुरित होती है । फोकट रहना और ज्ञान यह दोनों साथ कैसे रह सकते है ? यह तो कलयुग के चिन्ह है ।

शिष्य मस्त होकर गाते है—

कथे ज्ञान अरु फोकुट रहिना,
चरपट कहे कलिजुगि के चिहिना···

संध्या हो गई है ।

योगी फिर मिले हैं । इस समय वे गुरु गोरख और सिद्धों की पवित्र कथाएँ कह-सुन रहे हैं ।

चर्पट कहता है—"जिसका जो काम है वह उसी को सुन्दर लगता है । और कोई करे तो वह ठगाई है । कनक और कामिनी के मेल में जो रहता है, उस योगी का सब कुछ ऐसा समझो जैसे फोकट में आया, फोकट में गया । फोकट में जो बैठा विवाद करता है, उसे मैं उपाधी कहता हूँ । केवल नाम धारण है वह । गुरु गोरख कह गए हैं कि तृष्णा और लोभ का परित्याग करो । सहज युक्ति से आसन करो । तन, मन और पवन को दृढ़ करो । तन्त्र, मन्त्र, जन्त्र, गुटिका और धातु के पाषंडों को छोड़ दो । भैरूँ मंत्र वीर वेताल इत्यादि की सिद्धि का अंधकार छोड़ डालो । जड़ी-बूटी का नाम मत लो । इनसे सिद्धि नही मिलती । यह तो लोकोपकार मात्र कर सकती है । राजद्वार में मत जाओ, वहाँ योगी को सुवर्ण बांध लेगा, स्तंभन, मोहन और वशीकरण और उच्चाटन निंदित कर्म हैं । पवन के टूटने से काया छीजती हैं । तीर्थों और व्रतों से कोई लाभ नही । गिरि पर्वत पर चढ़-चढ़ कर इस तरह अपने प्राणों का नाश मत करो । बनिज व्योपार मत करो । माँस और मदिरा मत छुओ । नारी की चोरी मत करो । सुरापान और भङ्ग को पास न आने दो ।"

चर्पट कहता है। झंगरनाथ सुन रहा है, सुन रहे हैं शिष्य।

अँधेरे में धूनी जल रही है।

और चर्पट धीरे-धीरे गा रहा है—

तत् वेली लो, तत बेली लो,
अवधू गोरषनाथ जांणीं
डाल न मूल, पुहुप नहीं छाया
विरधि करै बिन पाँणी···

किंतु दूर ग्राम में अब कोलाहल सुनाई दे रहा है। योगी उठ बैठते हैं।

कोलाहल भयानक होता जा रहा है। चीत्कार सुनाई दे रहे है। योगी समझ नहीं पा रहे हैं।

फटकनाथ कहता है : "लगता है गाँव पर किसी ने आक्रमण कर दिया है।"

"कौन करेगा इस समय ?"

"वही तुर्क होगे। कोई सुन्दर स्त्री होगी। उसे पकड़ने आए होगे। और गाँव वालों ने रोका होगा।"

चर्पटनाथ नहीं बोल रहा। स्तब्ध बैठा है। झंगरनाथ कहता है : "नासिक से आते में देखा था, जहाँ-जहाँ इनके पाँव गए है, वहाँ इन्होंने मन्दिरों को भग्न कर दिया है। गाँव-गाँव उजाड़ दिए हैं। जगह-जगह स्त्रियों को छीन ले गए हैं।"

"क्या महमद (मुहम्मद) ने ऐसा कहा है ?" फटकनाथ विक्षुब्ध-सा पूछता है।

"नहीं," चर्पटनाथ कहता है। "काजी मुला कहते हैं। मैंने देखा है वे ग्रंथों का नाश करते हैं।"

"नाथों से नही बोलते।"

चर्पट धूनी की अग्नि को देखता रहता है। और कह उठता है : "जो दूसरे के मन्दिर और धर्म ढहाता है वह अच्छा आदमी नही है। महमद मनुष्य ही तो था। वह क्या योगी था ? नही। घरगिरस्ती था। वह क्या सहजानन्द, ब्रह्मानन्द प्राप्त कर सका था ? क्या योगी जो कि ब्राह्मण से भी श्रेष्ठ है, वह अपना योग छोड़ देगा ? जैसे हिंदू माया ग्रस्त हैं वैसे ही मुसलमान भी संसारी हैं। योगी के लिए दोनों पशुभाव में बद्ध हैं। क्या योगी अब इनसे पराधीन होकर रहेगा ?"

"नहीं।" झंगरनाथ कहता है।

हाहाकार शांत हो चला है। शायद लुटेरे चले गए हैं।

"झंगरनाथ !"

"गुरुदेव! "

"अब गाँव में लाशें पड़ी होंगी ?"

"हाँ गुरुदेव !"

"उनका रक्षक कौन है ?"

"कोई नहीं गुरुदेव !"

"योगी का काम क्या है ?"

"दया गुरुदेव।"

"रुद्र को क्रोध क्यों आता है ?"

"राक्षसों और असुरों को मदांध देखकर।"

"तो चलो ! फिर गुरु गोरक्ष की यही आज्ञा है।"

योगियों का दल उठ पड़ता है।

गाँव लुटा पड़ा है। गाँव वाले देखते हैं। त्रिशूलधारी योगी आ गए हैं और तब चर्पटनाथ कहता है : "अलख निरंजन का ध्यान करो संसारियो ! गुरु की आज्ञा है, अत्याचार से युद्ध करके लोक की रक्षा करो···"

गाँव वाले त्रिशूलों को देखते हैं और पास आ जाते हैं।

भाग-2

ऐसा चर्पटनाथ के सिद्धिकाल के प्रथम चरण में देखा और देख रहा है—

1

सुल्तान बल्बन की मृत्यु के उपरान्त साम्राज्य में झगड़े प्रारंभ हो गए। 17 वर्ष का कैक़ोबाद, दिल्ली के कोतवाल फख़रुद्दीन के षड्यन्त्रों के फलस्वरूप सम्राट घोषित हुआ। आजीवन कठोर देख-रेख में पला बुगराखाँ हठात् अब नासिरुद्दीन महमूद बुगराशाह बन बैठा और कैक़ोबाद और बुगराखाँ दोनों सुरा-सुन्दरियों के ढेर में डूब गए। फख़रुद्दीन का भतीजा निजामुद्दीन दिल्ली में राजकाज सँभालता था। बल्बन द्वारा राज्यसिंहासन के निर्वाचित उत्तराधिकारी क़ैखुसरू को निजा-मुद्दीन ने रोहतक में छल से मरवा डाला। मलिक घबरा गए। फिर निज़ामुद्दीन ने सुल्तान के पुराने वजीर ख्वाजा खतीर को गधे पर बिठा कर राजधानी में निकलवाया। फिर मंगोलों के सरदारों पर राजद्रोह का लांछन लगाकर प्रासाद में कत्ल कराके नदी में फिकवा दिया। उसने भीतर ही भीतर पलते असन्तोष को नहीं देखा। खिलजियों ने तुर्कों के विरुद्ध संगठन किया और आरिजेममालिक जलालुद्दीन फीरोज खिलजी को अपना नेता बना लिया। किन्तु खिलज़ियों ने ऐयाश कैक़ोबाद को शीशमहल में मारकर नदी में फेंक दिया और जलालुद्दीन फिरोज किलूगढ़ी की गद्दी पर चढ़ा। कुछ ही दिन में वह अपने शत्रुओं को मिटा कर सुल्तान बन गया। किंतु वह सादगी से रहता था, जिसके कारण उसके सर्दार दुखी थे। बल्बन के भतीजे छज्जूखाँ ने विद्रोह भी किया किन्तु वह पराजित हुआ।

हाथ-पाँव बँधे हुए छज्जूखाँ को देखकर वृद्ध जलालुद्दीन रोने लगा। उसने काँपते शब्दों में कहा : "यह है उस सुल्तान का कुल ! आज इसकी ऐसी अवस्था ? यह मुसलमान रक्त है। इसे मैं नहीं बहा सकता।"

सुल्तान जलालुद्दीन का भतीजा अलाउद्दीन अपने कमरे में बैठा था। उसके पास एक व्यक्ति और था।

अलाउद्दीन एक सुदृढ़ व्यक्ति था। अन्त में उसने कहा : "तो यह सुल्तान कमजोर है। फिर ?"

"उन्होंने चोरों को सजा नहीं दी।"

"तो क्या किया ?"

"उनसे कसम ले ली कि वे आयन्दा चोरी नहीं करेंगे।"

अलाउद्दीन मुस्कराया। दूसरे व्यक्ति ने कहा : "और शायद आपने भी सुना हो ?"

"क्या ?"

"ठगों को ले जाकर नावों में भेजा गया और बंगाले में आजाद कर दिया गया।"

'तो यों बागियों को एक जगह से दूसरी जगह भेजने से क्या कोई हल निकल आएगा ?"

"सुल्तान से डरता ही कौन है ?"

"क्यों ?"

"आये दिन सरदारों के यहाँ सुल्तान के खिलाफ़ नयी-नयी बातें सुनाई देती हैं।"

"वह मुझे बताओ।"

"अभी एक महफ़िल में लोग शराब पीते हुए सब भूल गए। एक ने कहा : सुल्तान तो अहमद छाप ही होने के लायक था। उन्होंने सुल्तान न कह कर फ़िरोज कहा !"

"अच्छा !"

"हाँ। शराब के नशे में एक कह उठा कि वह ककड़ी की तरह सुल्तान के टुकड़े-टुकड़े करके ताजुद्दीन कूची को तख़्त पर बिठा देगा। इसका पता सुल्तान को चल गया।"

"तब तो सजा दी होगी !"

"सुनिये तो।"

"अच्छा ! फिर भी नहीं ?"

"सुल्तान बहुत नाराज़ हुए। उन बागी सरदारों को बुलाकर सुल्तान ने अपनी तलवार उनके सामने डाल दी और कहा—"हिम्मत है तो उठा लो और मुझे मारो !"

अलाउद्दीन आश्चर्य्य से देखता रहा।

"किसी ने साहस नहीं किया। वे सब चुप खड़े रहे। आख़िर मलिक नुसरत शाह ने सुल्तान के गुस्से को ठंडा किया और उन लोगों को माफी दिलायी। और यह डर दिखाया गया कि आयंदा अगर कोई बात सुनी गई तो उन्हें अरक़ाली खाँ की मातहती में रखा जायेगा। अरक़ाली को तो आप खूब जानते हैं। बड़ी ज़बर-दस्त सज़ा देता है।"

अलमखाँ ने यह कहकर मलिक अलाउद्दीन की ओर देखा।

"जानता हूँ ।" उसने मुस्करा कर कहा : "और सिदी मौला दरवेश का क्या किस्सा है ?"

"तो भनक आ गई है ?"

"क्यों नहीं ?"

"आप तो जानते ही हैं वह सुल्तान ग़यासुद्दीन बलबन के ज़माने में आकर दिल्ली में बसा था ।"

"हाँ हाँ, वह पाक पत्तन के शेख़ फ़रीदुद्दीन गंजेशकर का मुरीद था । उसको उसके उस्ताद ने मलिकों और अमीरों से दोस्ती बढ़ाने के ख़िलाफ़ समझाया भी था । लेकिन वह नहीं माना ।"

"आदतें मगर उसकी मादी थीं । उसकी ख़ानक़ाह में बड़ा रुपया ख़र्च होता था । उसकी सी दावतें तो कोई ख़ान और मलिक भी नहीं देता था ! गरीबों को बड़ा दान देता था ।"

"कहाँ से आता था उसके पास पैसा ?"

"ख़ुदा जाने ! पारस पत्थर उसके पास था या जिन्नात दे जाते थे ।"

"छोड़ो भी !"

"लेकिन हुज़ूर ! सुल्तान के बड़े बेटे ख़ानख़ाना उसके मुरीद हो गए और कई अमीर उसके चेले बने ! लेकिन फिर काज़ी जलाल काशानी ने खेल खेला ।"

"यह मुझे बताओ ।"

"हुआ यह कि काज़ी ने षड्यंत्र रचा कि नमाज़ में सुल्तान को मारा जाये । इरादा था कि सिदीमौला को ख़लीफ़ा घोषित किया जाये और काजी को सुल्तान की हुकूमत मिल जाये । लेकिन भेद खुल गया । सारे षड्यंत्रकारी पकड़े गये । सुल्तान ने कहा कि इन्हें आग छुला कर इनकी सचाई की सनद ली जाये । पर मौलवियों ने कहा कि यह इस्लाम के ख़िलाफ़ था । शेख़ अबू बक्र तुसी के मुरीदो की मौजूदगी में सुल्तान के सामने सिदी मौला पकड़ कर लाया गया । सुल्तान ने उन मुरीदों की तरफ देखकर कहा : 'आप दरवेशो ! क्या इस मौला से मेरे लिए तुममें से कोई बदला नहीं ले सकता ?' सुनते ही एक दरवेश ने मौला पर उस्तरा लेकर हमला किया और उसे कई जगह ज़ख्मी कर दिया ।"

"उस्तरा लेकर !" अलाउद्दीन मुस्कराया ।

"हाँ हुज़ूर ! अरक़ाली ख़ाँ को चैन कहाँ ! फ़ौरन एक फ़ीलवान को हुक्म देकर हाथी मँगवाया और मौला को उसके पैरों तले कुचलवा दिया । काज़ी चुप-चाप भाग निकला और बदाओं में जा छिपा । उसके साथियों को चुन-चुन कर मारा गया । पर मौला के मरने से रिआया बहुत नाराज़ रही । उस रोज़ एक तूफ़ान भी आया । बड़ा भयानक था वह !"

"वह सब चलता है ।"

"उसके बाद अकाल पड़ा हुजूर !"

"और गेहूँ एक जीतल का सेर तक मिलने लगा।" अलाउद्दीन ने व्यंग्य से कहा।

"तो सुन चुके हैं ?" अलप खाँ ने कहा।

"सुन तो यह भी चुका हूँ कि बहुत से हिंदू सिवालिक से दिल्ली आकर जमुना में डूबकर मर गए क्योंकि वे भूखे मर रहे थे !"

"यह दुरुस्त है।"

"अच्छा रणथंभौर की घटना का खुलासा सुना है कुछ ?"

"झाँई में सुल्तान ने बुतों को तोड़ा, मन्दिरों को गारत किया और रथभँवर घेर लिया। वहाँ का राय अपने रावतों को लेकर किले में जा घुसा। राजपूतों की बहादुरी के सामने सुल्तान की एक न चली !"

"राजपूत बहुत बहादुर होते हैं ?" अलाउद्दीन ने ठंडे स्वर से पूछा।

"हाँ, सुल्तान को तो हार कर लौटना पड़ा !" अलप खाँ ने कहा। "अहमद छाप ने तो लौटने का विरोध किया, लेकिन सुल्तान ने कहा—मैं बुड्ढा हूँ। क्या करूँ ? मैं मुसलमानों का खून बेकार नहीं बहाऊँगा।"

अलाउद्दीन ने कहा : "अजीब बात रही ! इससे तो काफ़िरों का हौसला बहुत बढ़ गया होगा !"

"अभी आपने हाल की बात नहीं सुनी।"

"कहो।"

"हलाकू के नाती अब्दुल्ला के हमले को तो आप जानते हैं ?"

"न क्यों जानूँगा ?"

"वह डेढ़ लाख फौज लेकर दिल्ली की तरफ बढ़ा। सुनम में दिल्ली की फ़ौज ने उसे घेर लिया। संधि हुई। अब्दुल्ला तो लौट गया मगर चंगेज खाँ का नाती उलगू रह गया। सुल्तान ने अपनी बेटी उसे ब्याह दी।"

"वह मैं जानता हूँ अलप खाँ ! वे मंगोल मुसलमान हो गए और काफ़ी लोग लौट गये कि हिंदुस्तान की गर्मी बर्दाश्त नहीं होती। फिर भी कुछ नौमुस्लिम तो रह गये हैं ?"

"जी हाँ ! कुछ तो हैं ही।"

अलाउद्दीन उठकर घूमने लगा। उसने सोचते-सोचते अपनी मुट्ठियाँ बाँध लीं। अलप खाँ को कोई निश्चय होता हुआ सूझ पड़ा।

2

मलिका जहान एक कुटिल प्रकृति की स्त्री थी। वह अपने को सबसे ऊँचा समझती थी। उसकी पुत्री जो कि अलाउद्दीन की पत्नी थी, अपनी माँ की तरफ़ थी। अलाउद्दीन इस विषय में दुखी था। उसे न पत्नी का विश्वास मिलता था, न प्यार। वह इन दोनों से दूर रहना चाहता था, किंतु मलिका जहान का अपना प्रभाव था।

अलप खाँ को यह पता था। परंतु वह अलाउद्दीन का व्यक्तिगत विषय था। आखिर अलाउद्दीन ने तंग आकर घर से बाहर रहने के लिए अपनी महत्वाकांक्षा के अनुकूल ही एक मार्ग खोज निकाला। उसने भेलसा (प्राचीन विदिशा) को जीत लिया।

रात हो गई थी। भेलसा की अनिद्य सुन्दरी कन्याएँ पकड़ लाई गई थीं। बाहर सैनिक अनेक स्त्रियों के साथ नगर में बलात्कार करते घूमते थे। आग लगाई जा रही थी। अलाउद्दीन उन सर्वश्रेष्ठ सुन्दरियों को बलपूर्वक अपने आनंद का साधन बना रहा था।

खेमे के बाहर अलप खाँ के विश्वस्त सेवक पहरा दे रहे थे और अन्यत्र अलप खाँ भी व्यभिचार में मत्त था।

दीपालोक में जब अलाउद्दीन ने तातारी दासियों द्वारा नंगी की हुई सुकुमारी चंपा को देखा, चंपा मुस्करा दी। निर्लज्ज-सी थी वह।

एक दासी ने कहा : "मलिक ! यह नाचती अच्छा है। यह भेलसा की मशहूर तवायफ़ है।"

अलाउद्दीन ने उसे देखा। वह दूध में धोई सी लगती थी।

उसने दासी को बाहर भेजकर शराब से भरा प्याला मुँह से लगाकर कहा : "तेरा नाम क्या है ?"

चंपा ने मोतियों-से दाँत दिखाते हुए हँसते हुए कहा : "चंपा !"

"तू हँसती क्यों है ? तुझे हम लोगों से डर नहीं लगता ?"

"डर ? क्यों ? तुम लोगों में क्या खास बात है ?"

"हम विजेता हैं।"

चंपा खिलखिला कर हँस पड़ी।

अलाउद्दीन को आश्चर्य हुआ।

"क्यों ? क्या बात है ?" उसने पूछा।

"तुम समझते हो तुम विजेता हो !"

अलाउद्दीन ने आश्चर्य से प्याला रख दिया। वह उसे घूरने लगा।

चंपा ने कहा : "हो कोई ! मुझे क्या ! मुझे तो तब भी यही गंदी ज़िंदगी

बितानी थी, अब भी बितानी है। तुम लोग तो मुसलमान हो ?"

अलाउद्दीन ने गर्व से कहा : "हम काफिरों को हराकर दीन के झंडे को उड़ाते हैं।"

चंपा ने हँसकर कहा : "दीन के झंडे से मेरी जिंदगी बदल जायेगी ? मझे मुसलमान बना लो। फिर मैं तवायफ़ नहीं रहूँगी !"

अलाउद्दीन की भौं संकुचित हो गईं।

"तू बड़ी चंचल है।" शराब के नशे ने कहा।

स्त्री ने कहा, "राजा ऐसे ही जीतते हैं, हारते हैं। तलवार की लड़ाई में धरम की आँट क्यों लगाते हो तुम लोग !"

अलाउद्दीन ने देखा। वह निर्भीक थी।

स्त्री ने फिर कहा : "तुम सचमुच अपने को विजेता समझते हो ?"

अलाउद्दीन के माथे पर बल पड़ गये।

"अकेली स्त्री से बलात्कार करने वाले लोग विजेता होते हैं ?"

अलाउद्दीन चिल्लाया : "चुप रह औरत ! तू जानती है तू किससे बातें करती है ? तू पराजित है। तू लूट का माल है। फ़तह हमारी है। हमारे साथ खुदा है।"

"और हमारे साथ ?"

"कुफ्र !"

"तभी तो औरतों की इज्ज़त बिगाड़ते वक्त तुम्हारा दीन फैलता है।"

अलाउद्दीन का हाथ सहसा ही कमर में बँधे खड्ग पर गया। स्त्री हँस दी। अधनंगी ! फ़िर भी निर्लज्ज ! रूप की पुतली ! अलाउद्दीन की आँखें उसके मांस की स्निग्धता को देखकर फिसलने लगीं।

स्त्री ने शय्या पर अधलेटे हुए दोनों हाथ ऊपर उठाकर सिर के पीछे बाँध लिये और विषभरी दृष्टि से देखने लगी। उसके बाल पीछे बिखरे हुए थे। उठे हुए हाथों के कारण उसके वक्ष का नग्न उभार और उठ गया था और उसकी काँखों की रोमहीन मांसलता उस व्यभिचारी के हृदय को मँथने लगी।

स्त्री ने कहा : "तुम समझते हो तुमने भेलसा जीता है, नहीं।" सहसा स्त्री ने मुड़कर कहा : "एक बात जान लो कि मैं कुल-नारी नहीं हूँ। मैं वेश्या हूँ। तुम स्त्रियों की इज्जत बिगाड़ कर अपने पशुत्व की तृप्ति करके दीन की विजय का अभिमान करते हो, सो मेरे साथ वह नहीं हो सकेगा। मैं तो वेश्या हूँ। मेरी इज्ज़त ही कहाँ है ! भाग्य ने मुझे वेश्या की पुत्री बनाया है, अतः मैं वही काम करती हूँ। पर तुमने भेलसा जीता नहीं, भेलसा स्वयं हारा है।"

अलाउद्दीन ने कहा : "क्यों ?"

"क्योंकि यहाँ आपस में फूट थी।"

"यह तो हारने वाले हमेशा रोते हैं।" अलाउद्दीन ने स्त्री के पास शय्या पर

बैठते हुए कहा। उसने धीरे से उसके नग्न कंधों को सहलाया। स्त्री उठकर बैठ गई और उसने अपनी कुहनी तकिये पर टेककर अपनी हथेली पर अपना गाल रख लिया। उसने उसकी आँखों में आँखें डालकर कहा : "मलिक ! तुम तो सुल्तान नहीं हो ?"

"नहीं !"

"अभी तक सुल्तान भी नहीं ?" स्त्री हँस पड़ी।

अलाउद्दीन के मर्म को जैसे किसी ने छू लिया। उसने धीरे से बुदबुदा कर कहा : "मैं ही सुल्तान बनूँगा। मैं ही बनूँगा।"

"बनूँगा !" चंपा ने व्यंग्य से कहा।

"क्यों ?"

"क्या है तुम्हारे पास ! भेलसा तो भूखा नगर है।"

अलाउद्दीन ने अपनी लूट को बहुत बड़ा समझा था। उसको धक्का लगा।

चंपा ने कहा : "इस छोटे-से राजा को जीतकर तुम मदमस्त हो रहे हो ? अभी तुमने देवगिरि के राजा को देखा नहीं। वह तो मुसलमानों को भुट्टे की तरह काट कर फेंक देगा। उसकी दौलत इतनी है कि तुम्हारी सारी फ़ौज को तो वह रुपयों के बोझ में गाड़कर मार डालेगा।"

अलाउद्दीन ने होंठ चबाया। पर उसके भीतर अब दुधारा चल रहा था। एक ओर महत्वाकांक्षा इतना सिर उठा चुकी थी कि वह और भी जानना चाहता था।

उसने कहा : "चंपा !"

"क्या है मलिक ?"

"तू मेरे साथ चलेगी ?"

"कहाँ ?"

"देवगिरि !"

वह हँसी। उसने कहा : "वह देवगिरि का राजा है न ? वह सारा दीन भुला देगा। उसकी तलवार इतनी लम्बी है, इतनी !"

चंपा ने हाथ से दिखाया।

इसी समय बाहर मारपीट का कोलाहल सुनाई दिया। अलाउद्दीन उठकर शिविर द्वार पर गया। तभी कोई भीतर घुसा। हठात् एक छुरा उस आगंतुक के वक्ष में गड़ गया। अलाउद्दीन चंपा के फेंके छुरे से बाल-बाल बच गया था।

अलाउद्दीन ने क्रोध से होंठ काट लिया। नंगा खड्ग चमका और उसने बढ़कर चंपा को दो टुकड़े कर दिया। बाहर शत्रुओं ने आक्रमण किया था। युद्ध हो रहा था।

अलाउद्दीन शिविर से निकला। उसको देखकर उसके सेनापति एकत्र होने लगे।

विद्रोह कुचल दिया गया।
धरती रक्त से भीग गई।
अलाउद्दीन ने तलवार म्यान में रखी।
भेलसा खूब लूटा गया।

3

अलाउद्दीन लूट का माल देख रहा था।

अलपखाँ पास खड़ा था।

उसने प्रसन्न होकर कहा : "भेलसा अच्छा रहा। कितना माल है! यह काफ़िर होते हैं पैसे वाले। खुदा इन्हें इतना क्यों देता है?"

"ताकि यह लोग जमा करें और हम लोग उस इकट्ठा हुए माल को जीतकर ला सकें।"

अलपखाँ हँसा। अलाउद्दीन मुस्कराया।

"इसको ख़जाने में भेज दूं?" उसने पूछा।

"नहीं," अलाउद्दीन ने कहा।

"तो?"

"इसे सुल्तान को भेज दो।"

"अलपखाँ समझा नहीं। उसने पूछा : "सब?"

"हाँ, बचत नही है।"

"क्यों?"

"क्योंकि मलिका जहान इस सबको देख चुकी हैं।"

"मलिका जहान!" अलपखाँ ने दाँत भीचकर कहा।

अलपखाँ चला गया।

रात को अलाउद्दीन जब सोने गया शीशे के बर्तन में उसने अपनी पत्नी को कुछ देखते हुए पाया। वह निकट जा खड़ा हुआ। उसने देखा। बर्तन में चंपा का कटा हुआ सिर था। उसे आश्चर्य हुआ।

पत्नी मुस्कुराई। कहा : "देखती थी मलिक को जो स्त्री पसंद आई थी, वह कैसी थी!"

अलाउद्दीन खीझ उठा।

पत्नी ने फिर कहा : "इसी स्त्री ने मेरे पति की जान लेने की कोशिश की थी क्योंकि वे उस समय शराब के नशे में थे।"

अलाउद्दीन सिर झुकाये लौट आया।

कई दिन बीत गये।

अलपखाँ ने एक खलीता अलाउद्दीन के हाथों में पेश किया। और कहा : "मुहर तोड़ कर देखें हुजूर !"

अलाउद्दीन ने पढ़ा और मुस्कुरा दिया।

दूसरे दिन उत्सव मनाया जाने लगा। सुल्तान ने भतीजे की बहादुरी से खुश होकर उसे अवध का प्रांत दे दिया था।

उत्सव समाप्त हो गया।

अलाउद्दीन और अलप खाँ अपने उसी कमरे में बैठे थे जहाँ पहली बार बातें हुई थीं।

"अवध मुबारक !" अलपखाँ ने कहा : "भेलसा की जीत रंग लाई !"

"लेकिन भेलसा में था ही क्या ?" अलाउद्दीन ने लम्बी साँस लेकर कहा।

"क्या कहते हैं ?" अलपखाँ चौंका।

"देवगिरि में दौलत है, देवगिरि में।"

"मरहठों के पास ?"

"हाँ।"

"लेकिन देवगिरि के राजा के पास ताक़त बहुत है। उसे जीतना आसान नही है।"

अलाउद्दीन ने तलवार निकाल कर कहा : "कहते है देवगिरि के राजा का खाँडा इससे भी बड़ा है।"

"क्या वह इतनी ही तेज़ी से भी चलता है ?"

"यह मैं नहीं जानता।"

अलपखाँ का हृदय गुलग उठा, किन्तु अलाउद्दीन का हृदय तो भीतर महत्त्वाकांक्षा की तपिश से पिघलने लगा था। उसने कहा : "अलपखाँ ! मेरी ज़िंदगी बेकार है।"

"मलिक !" अलप खाँ ने फूत्कार किया।

"सच कहता हूँ।"

"लेकिन क्यों ?"

"इसलिए कि यह औरत मलिका जहान मेरे रास्ते का रोड़ा है।"

"मलिका जहान ?"

"हाँ, वह सुल्तान की जासूस ही है। मैं उससे दूर हो जाना चाहता हूँ।"

"मगर यह हार है।"

"मैं जानता हूँ। लेकिन जीत के लिए पीछे हटना जरूरी है।"

अलपखाँ ने स्वीकार किया।

कई दिन फिर बीत गये।

अलपखाँ ने नया खलीता अलाउद्दीन के सामने खोला।

उसने पढ़ा।

सुल्तान ने कैफ़ियत माँगी थी कि कड़ा और अवध की मालगुजारी शाही खजाने में दाखिल क्यों नहीं की गई थी।

सुल्तान ने सिर हिलाया।

"क्या लिख दूँ ?" अलपखाँ ने पूछा—"वैसे शायद आपको भी पता न हो, मलिका जहान तो हैं ही क्या।"

"क्या हुआ ?" मलिक को आश्चर्य हुआ।

"जो माल मैंने भेलसा की लूट से परभारे बचा कर छिपा लिया है, वही मालगुजारी चुका देने को काफ़ी है।"

अलाउद्दीन ने स्नेह से उसका कंधा पकड़ कर कहा : "तू मुझे नहीं बताता तो भी तेरा क्या बिगड़ता !"

"इसलिए कि वह मेरे लिए काफ़ी नहीं है।" अलपखाँ ने कहा : "मैं बड़ी मछली की आशा रखने वाला आदमी हूँ, छोटी मछली से मेरा काम नहीं चलता।"

"क्या मतलब ?"

"मेरा मतलब शायद ऐसा है जिसके कहने का अभी मौका नहीं आया है।" अलपखाँ ने कहा।

"शायद आ गया है।"अलाउद्दीन ने उसकी आँखों में आँखें डाल कर कहा।

"तो सुनें हुजूर !" अलपखाँ ने कहा : "अलपखाँ मलिक अलाउद्दीन खिलजी का ताबेदार बनकर नही रहना चाहता।"

"अलपखाँ !!!"

"हाँ सुल्तान !!" उसने सिर झुका लिया।

अलाउद्दीन पीछे हट गया।

"मेरी अर्जी मंजूर है ?"

"अभी वक्त नहीं है।"

"आ रहा है।" अलपखाँ ने कहा : "चंदेरी का किला अपनी दौलत देकर रास्ता साफ़ कर देगा।"

"लेकिन सुल्तान का गुस्सा ! पहले मालगुजारी देनी होगी और दिल्ली के अमीर और मलिक इधर की बढ़ती हुई ताकत को फौरन ही कुचलने की कोशिश करेंगे।"

अलपखाँ ने यह नहीं सोचा था। अलाउद्दीन ने कहा : "मैंने सोच लिया है।"

"क्या हुजूर ?"

"सुल्तान को लिख दो कि मालगुजारी के लिए रुपया नहीं है। जो रुपया था वह भेलसा को जीतने में खर्च हो गया। जो भेलसा से मिला था वह शाही

खज़ाने में जा चुका है। अगर सुल्तान इस बार भी मुजरा नहीं दे सकते तो चंदेरी के आसपास के काफ़िर इलाके को लूटने की इजाज़त दी जाये ताकि जो लूट मिले वह शाही खज़ाने में पहुँचाई जा सके !"

"मेरे आका !" अलपखाँ ने उसके हाथों को चूम कर माथे से लगा कर कहा।

अलपखाँ के जाने के बाद अलाउद्दीन फुसफुसाया; चंदेरी की लूट ! और फिर देवगिरि ! फिर ! दिल्ली !! सुल्तान !!

वह एक बार अपनी महत्वाकांक्षा पर स्वयं ही मुस्करा उठा।

कई हफ़्ते बीत गये। सुल्तान ने इजाजत दे दी थी। मलिका जहान ने फ़ौज को तैयार देखकर कहा : "मलिक ! कहाँ जाते हैं ?"

अलाउद्दीन ने मुस्करा कर कहा : "काफ़िरों से उनके कुफ्र का खिराज लेने।"

"खुदा आपकी मदद करे।" मलिका जहान ने पहली बार सुलह का हाथ बढ़ाया।

बाहर सेना के शस्त्र खड़खड़ा रहे थे।

अलाउद्दीन घोड़े पर सवार हुआ। सैनिकों ने जयजयकार किया : "अल्ला हो अकबर !"

अलाउद्दीन ने मुड़कर काज़ी से कहा : "क्या हुक्म है ?"

काज़ी ने दाढ़ी पर हाथ फेर कहा : "इस्लाम के बंदों के लिए कोई राह बंद नही है।"

फ़ौज गरजने लगी।

अलाउद्दीन ने तलवार उठा कर चिल्ला कर कहा : "मुसलमानो ! तुम आज उस तरफ़ जा रहे हो जहाँ आज तक कभी कोई मुसलमान जीतने नहीं गया। कहते हैं, चंदेरी में बेशुमार दौलत है। वहाँ के हुक्मरान काफ़िर हैं जो उस दौलतों को वहाँ के पत्थर के बुतों के पीछे गाड़ के रखते हैं। याद रखो। खिलजी बहादुर में बहादुर हैं। दुनिया को अपने घोड़ों के नीचे रौंदने वाले चंगेज़ खाँ के दामाद क़ालिज खाँ का खून ही सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी और महमूद खिलजी माण्डवी की रगों में बह रहा है। ग़ोर की पहाड़ियों से गुर्जिस्तान तक कालिज खाँ ने फ़तह हासिल की थी। अभी तक इस हिंदुस्तान में काफ़िरों की हुकूमत है। क्या यह मुसलमानों की तौहीन नहीं कि सच्चे मज़हब के रहते हुए खुदा की सल्तनत में काफ़िर उसका राज चलाते हैं ?"

फ़ौज चिल्लाई : "जिहाद बोलो ! जिहाद बोलो ।"

अलाउद्दीन घोड़े से उतरा। उसने काज़ी से कहा : "हुक्म दें। खुदा के बंदों की आँखों में बँधी पट्टी उतारें।"

काज़ी आगे आया। उसे देख सैनिकों ने श्रद्धा की दृष्टियाँ उसके चरणों पर अर्पित कर दीं।

काज़ी ने कहा : "इस्लाम के बंदो ! काफ़िरों के पास दौलत है, ताकत है, सब कुछ है और तुम्हारे पास कुछ नहीं है। लेकिन यह सारी दुनिया असल में मुसलमानों के लिए है। चंदेरी पर हमला खामोशी से करना होगा ताकि दुश्मन चौकन्ना न हो जाये। दिल्ली के खज़ाने में मालगुज़ारी भरने के लिए यह ज़रूरी है कि काफ़िरों से रुपया वसूल किया जाये। लेकिन यह काफ़िर इतने शरीफ़ नहीं कि अपने आप ही दे जायें। वे मुसलमानों से नफ़रत करते है। वे उनको गंदा समझते है।"

अलाउद्दीन भीतर चला गया।

अलपखाँ ने कहा : "शुरू हो गया !"

अलाउद्दीन ने उसका हाथ पकड़कर कहा : "लेकिन जानते हो चंदेरी के साथ और क्या करना है ?"

अलपखाँ की आँखों में कौतूहल था।

उसी समय द्वार पर मलिका जहान दिखाई दी। उसने कहा : "मेरी राय मानो तो देवगिरि भी लगे हाथों ले डालो !"

अलाउद्दीन ने सुना तो दाँत भींच लिये। वह औरत फिर जीत गई थी।

4

8000 घुड़सवार एलिचपुर पहुँच गये थे। शाही खेमे में दो व्यक्ति बातें कर रहे थे।

अलाउद्दीन ने कहा : "अलपखाँ !"

"हुज़ूर।"

"मराठे अभी कितनी दूर हैं ?"

"प्याली लजौरा देवगिरि से 6 कोस हैं।"

"क्या खबर है ?"

"बहुत अच्छी है। मैंने यह खबर फैला दी है कि मलिक अलाउद्दीन खिलजी अपने चचा सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी के व्यवहार से तंग आकर राजमुन्द्री के राजा की सेवा करने जा रहे हैं।"

"बहुत खूब !" अलाउद्दीन ने कहा : "और देवगिरि से कोई नहीं आया ?"

"अहसान खाँ आया है। उसने बताया है कि राजा रामचंद्र का बेटा शंकरदेव काफ़ी फौज लेकर दक्खिन तीर्थयात्रा करने गया है।"

"बहुत अच्छा मौका है।" अलाउद्दीन ने कहा।

अलपखाँ ने देखा उसके नेत्र चमक उठे।

अलाउद्दीन खेमे के द्वार पर खड़ा होकर देखने लगा।

घोड़े बँधे हुए धरती खूँद रहे थे और घास खा रहे थे। सिपाही खाना बनाने में जुटे थे। साथ में सिर्फ़ कुछ गाड़ियाँ थीं जिन पर से उतार कर इस समय खेमे गाड़ दिये गये थे।

अलपखाँ ने कहा : "घास मिलने में ज़रूर परेशानी हुई लेकिन मैंने किसी को भी रास्ते में कुछ लूटने नहीं दिया वर्ना लोगों को शक हो जाता।"

"ठीक किया!" अलाउद्दीन ने सिर हिलाया। "उनसे कह दो कि लौटते वक़्त वे सब इन खेतों को खाते चलेंगे जिन्हें ये काफ़िर बोकर बड़ा कर रहे हैं।"

"अभी नहीं हुजूर। सुबह कूच होगा तब।"

अलाउद्दीन रात को सो नहीं सका। उसे नींद नहीं आ रही थी। जैसे-जैसे देव-गिरि निकट आता जा रहा था उसकी तृष्णा हृदय में समा नहीं पाती थी। उसे लगता था सबकुछ एक खुला मैदान था जिस पर वह घोड़ा दौड़ाता चला जा रहा था। कब वह सो गया, वह नहीं जान सका।

उसकी नींद तो तब खुली जब पाँच दिन बाद अलपखाँ ने कहा : "हुजूर! यही है देवगिरि।"

अलाउद्दीन चौंक उठा। उसने धीरे से कहा : "देवगिरि!"

8000 घुड़सवार बढ़ने लगे।

नगर के बाँई ओर से कुछ अश्वारोही बढ़ आये। वे लगभग 3000 थे।

अलाउद्दीन रुक गया।

"अलपखाँ! देखो यह कौन हैं?"

अलपखाँ कुछ अश्वारोहियों के साथ उनके पास जा पहुँचा। अलाउद्दीन पाँच हजार अश्वारोहियों के साथ वहीं रुक गया और तीन हजार अश्वारोही नगर के भीतर घोड़ा दौड़ाते हुए घुस गये। जब तक द्वारपाल सचेत होते, शत्रु भीतर घुस चुका था।

अलपखाँ ने उनके नेता के पास जाकर कहा : "तुम कौन हो? और क्या चाहते हो?"

सामने का व्यक्ति नहीं बोला। उसके साथ के आदमी ने पूछा : "महाराज रामचंद्र देवगिरि के स्वामी पूछते हैं कि तुम कौन हो?"

"हम?" अलपखाँ ने कहा—"मुसाफ़िर हैं।"

"यह किसकी सेना है ?" वह व्यक्ति चिल्लाया।

"अल्ला हो अकबर !!" मुसलमान सेना चिल्लाई और जब तक रामचंद्र सचेत होता अलाउद्दीन के अश्वारोही खड्ग लेकर टूट पड़े थे। युद्ध प्रारंभ हुआ। शीघ्र ही तीन हजार अश्वारोही तितर-बितर हो गये। राजा रामचंद्र ने भाग कर दुर्ग में शरण ली और दुर्ग द्वार बंद करवा दिये।

अलाउद्दीन अपने बाकी अश्वारोहियों के साथ नगर में घुस गया। पथों पर घोड़ों के सूम बजने लगे। राहें खाली होने लगीं। लोग भागने लगे। सैनिकों ने दूकानों को लूटना शुरू कर दिया। सेना-विहीन नागरिक चिल्लाने लगे। सैनिकों ने कई प्रमुख ब्राह्मणों और नगर श्रेष्ठियों को पकड़ लिया और उनके घर-द्वार सब लूट कर जला दिये। चारों ओर हाहाकार मचने लगा। सेना दक्खिन गई थी। राजा रामचंद्र गुस्से से हाथ काटता हुआ घायल चीते की तरह दुर्ग में बंद था।

अलपखाँ ने दुर्ग के सामने ही शिविर गड़वा दिये। हजारों मुसलमान सैनिकों ने खुले मैदान में नमाज पढ़ी। चारों ओर आतंक छा गया।

रात को गाय का गोश्त खाते हुए अलाउद्दीन ने कहा : "क्यों ! गाय काटने पर काफ़िरों ने शोर नहीं किया ?"

"किया हुजूर !" उसी दस्तरखान पर बैठे अलपखाँ ने कहा : "लेकिन मैंने उनका कत्ल कराके आग लगवा दी।"

"मराठे खतरनाक हैं।"

"हैं, लेकिन वे बिना फौज के हैं और मैंने आपके हुक्म की तामील की है। खबर बड़े जोरों से उड़ रही है कि सुल्तान जलालुद्दीन पीछे से 20000 घुड़सवार लिये चढ़े आते हैं। इसलिए या तो हथियार डाल दो या फिर देवगिरि में कत्लेआम होगा।"

अलाउद्दीन ने शराब का प्याला मुँह से लगाकर थोड़ी-सी पी और फिर गोश्त चबाते हुए कहा : "शाबाश ! मुझे इतनी जल्दी की तो उम्मीद नहीं थी।"

"फ़तह बेमिसाल है। अपने कुल डेढ़ दो सौ आदमी मरे होंगे।"

"फ़तह नहीं, अलपखाँ !" अलाउद्दीन ने सहसा आँखें मिचमिचा कर कहा : "यह काम तुमको करना होगा।"

"क्या हुजूर !"

"सुबह ही तुम रामचंद्र के पास जाओ।"

"हुक्म !"

"उससे सुलह कर लो !"

"क्या कहते हैं आप ?"

"ठीक कहता हूँ। सुल्तान के आने का खौफ़ कुछ ही दिन चलेगा। फिर हमें शंकरदेव के फ़ौज लेकर लौट आने के पहले ही लौट जाना चाहिए। वर्ना जानते

हो ! यहाँ से हार कर भागने के वक़्त खान देश, मालवा और गोण्डवाना है। एक भी बचकर कड़ा तक नहीं पहुँच सकेगा।"

अलपखाँ थर्रा उठा। उसने कहा : "ठीक कहते हैं।"

"देखो !" अलाउद्दीन ने फिर कहा : "घुड़सवारों में से तीन हजार को शहर में कत्ल, ज़िना, और आग लगाने भेज दो ताकि रिआया डरे और खूब डरे। बाकी जो फौज हो वह दो हिस्सों में बारी-बारी से सोये। किसी बड़े सर्दार के खेमे में रात को कोई क़ाफिर औरत न घुसे।"

अलपखाँ उठ खड़ा हुआ। उसने कहा : "यही होगा।"

अलाउद्दीन लेट गया। नगर में चीत्कार उठ रहा था। जगह-जगह नागरिक सेना पर आक्रमण करते थे, किंतु सेना के संगठित प्रहार से पीछे हट जाते थे। आज देव-मंदिरों में आराधना भी नहीं हुई थी। केवल दुर्ग में मंदिर का घंटा बजा था।

अलाउद्दीन उसे सुनकर चौंक कर उठ बैठा।

"यह किसकी आवाज़ है !" उसने खेमे के द्वार पर पहरा देते तुग़रिल से पूछा। पास खड़े महमूद ने कहा : "हुजूर ! किले में शायद घड़ियाल बज रहे हैं।"

अलाउद्दीन ने धीरे से कहा : "तो फिर कल शायद यह भी न बजे।" किंतु उसको विश्वास नहीं हुआ। कल ! और शंकर देव लौट आया तो !

सारी रात बेचैनी से कटी। कभी-कभी आगज़नी की पुकारें सुनाई देती थीं। अँधेरी हवाएँ उनसे उठती लपटों को दूर-दूर तक फैला रही थीं।

तीसरा पहर ढल रहा था। सितारे जैसे एक ओर आ गये से लगते थे। अल-पखाँ ने पूछा : "मलिक सो रहे हैं !"

"नहीं।" भीतर से आवाज़ आई—"भीतर आ जाओ !"

अलपखाँ ने प्रवेश करके कहा : "सिपाहियों ने एक मंदिर तोड़ दिया है।"

अलाउद्दीन ने उठ कर कहा : "जल्दी हो गई।"

"लेकिन अब !"

अलाउद्दीन ने खड्ग उठाकर कहा : "अब यह !"

5

प्रभात की किरणें खण्डहरों से उठते धुएँ को पकड़ने की चेष्टा करने लगीं। सैनिक घोड़ों पर सवार गश्त करने लगे। द्वार बंद किये नागरिक भीतर पड़े थे। चार हजार सैनिक पंक्ति बना कर दुर्ग द्वार पर खड़े थे।

अलपखाँ आगे बढ़ा।

उसने पुकारकर कहा : "हम सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी के भतीजे मलिक

अलाउद्दीन खिलजी की तरफ़ से राजा रामचंद्र से किले का दरवाजा खोलने की प्रार्थना करते हैं। मलिक संधि करना चाहते हैं।"

ऊपर से एक आदमी चिल्लाया : "तुमने नगर में हत्या की है, आग लगाई है। तुमने आक्रमण किया है।"

अलपखाँ चिल्लाया : "हमने जो कुछ किया अपनी रक्षा के लिए किया है। नागरिकों ने मुसलमानों पर जबर्दस्ती हमला किया और सैनिकों ने अपनी रक्षा के लिए युद्ध किया।"

"अच्छा ठहरो।" ऊपर वाला फिर चिल्लाया।

कुछ देर बाद दुर्ग का द्वार खुल गया और राजा रामचंद्र अनेक सभासदों के साथ बाहर निकल आया।

अलाउद्दीन हाथ फैलाकर मिला।

उसने कहा : "राजा रामचंद्र का मैं स्वागत करता हूँ। सुल्तान की सेना आने के पहले ही हमारी संधि हो जानी चाहिए वर्ना फिर व्यर्थ हत्याकांड होगा।"

उसकी तीक्ष्ण आँखों ने देखा कि राजा यद्यपि ऊपर से धैर्य्य धारण किए था, किंतु भीतर ही भीतर काँप उठा था।

अलाउद्दीन ने फिर कहा : "हम सिर्फ राजमुन्द्री के राजा के यहाँ जा रहे थे, लेकिन हम पर हमला किया गया। सुल्तान इसे सुनेंगे तो उनके 20000 घुड़सवार देवगिरि की ईंट से ईंट बजा देंगे।"

राजा रामचद्र ने भौं उठाई। फिर नीची कर ली। उसने कहा : "मुझे अफ़सोस है। मैं इसके लिए आपकी क्षति पूरी करने को तत्पर हूँ।"

अलाउद्दीन ने तुर्की भाषा में अलपखाँ से कहा : "संधि करो।"

राजा रामचंद्र ने कहा : "हमारे नगर-श्रेष्ठियों और ब्राह्मणों को वापिस करिए।"

अलाउद्दीन ने कहा, "आप हमें क्या देंगे?"

राजा सोच में पड़ गया।

एक वृद्ध ब्राह्मण निकट आया। उसने संस्कृत में कहा : "राजा! म्लेच्छ बर्बर है। लोलुप है। इसे धन देकर प्राणरक्षा कर। युवराज के आने का कुछ पता नही है।"

राजा ने कहा : "मैं आपको पचास मन सोना, सात मन जवाहरात, चालीस हाथी, 1000 घोड़े दूंगा।"

अलपखाँ ने कहा : "और जो हमारे सिपाही लूट चुके हैं अगर वह उनसे माँगा जाएगा तो वे बगावत करेंगे।"

राजा रामचन्द्र ने सिर झुका कर कहा। "स्वीकार है, लेकिन मेरे ब्राह्मणों को छोड़ दिया जाए।"

अलाउद्दीन ने इंगित किया।

ब्राह्मण छोड़ दिए गए। वे राजा के पास आ गए।

"और श्रेष्ठि !"

"वे संधि के बाद छोड़े जायेंगे।" अलाउद्दीन ने कहा : "आप किले में जायें और जल्दी इंतजाम करें।"

राजा भारी हृदय लेकर दुर्ग में चला गया।

अलाउद्दीन अपने खेमे में जाकर बैठ गया। उसने प्याले में शराब उंडेली। गुलाम पास खड़ा था। खूबसूरत और छरहरा, हिजड़ा।

अलपखाँ ने आकर कहा : "यह आपने क्या किया।"

"क्यों ?"

"राजा को किले में क्यों जाने दिया ?"

"और अगर रोकता तो ?"

"तो सब माल यहीं आ जाता।"

"यहीं आ जाएगा।"

उसका अनुमान सच था। कुछ ही घंटों के बाद वह अपार संपत्ति बक्सों में बंद खेमे के द्वार पर आ गई।

अलाउद्दीन ने बक्स खुलवा कर देखा। सोने की ईंटें चमक रही थीं। उसने रत्नों के ढेर में उँगलियाँ डालकर उन्हें उठाया और फिर धीरे से छोड़ दिया। सात मन रत्नों के ढेर ! वह देखता रहा, देखता रहा।

अलपखाँ ने मुस्कराकर कहा : "मालगुजारी तो भर जाएगी।"

दोनों मुस्कराये।

अलाउद्दीन उठ खड़ा हुआ।

बाहर अभी तक रामचंद्र के आदमी खड़े थे।

एक व्यक्ति जो जरी के कपड़े पहने था उसने कहा : "मलिक ! देख चुके ! ठीक है !"

अलाउद्दीन ने ऐसे सिर हिलाया, जैसे यह तो कुछ नहीं। वे लोग चले गये।

सैनिक मस्त हो रहे थे। वे कुछ नटनियाँ पकड़ लाये थे जो नाच रही थीं। उनकी काया देखकर वे लोलुप भेड़ियों की तरह मचल रहे थे।

अलाउद्दीन ने कहा : "अलपखाँ ! आज गाय न काटने देना किसी को।"

"लेकिन वह तो हमारा खाना है। सिपाही सुनेंगे तो समझेंगे हम डरते हैं।"

"अभी लंबा रास्ता बाकी है।" अलाउद्दीन ने कहा : "जल्दी में सब काम बिगड़ जाएगा।"

6

नगर के बाहर मरहठों की विशाल सेना एकत्र हो रही थी। एक ऊँचे हाथी पर से एक युवक उतरा और घोड़े पर सवार हुआ। उसके पीछे दो सौ अश्वारोही चले। जब वे नगर में से निकले, लोग रोते हुए चिल्लाने लगे : "युवराज! त्राहि-माम त्राहिमाम!"

शंकर देव ने घोड़ा रोका।

"क्या है?" उसने पूछा।

"तुरुष्कों ने आक्रमण किया है।" लोग पुकार उठे।

"और महाराज कहाँ हैं?" उसने आश्चर्य से पूछा।

"दुर्ग में।"

"मैं देखता हूँ।" कहकर उसने घोड़ा दौड़ा दिया। साथ के अश्वारोही पीछे भागने लगे! दुर्ग के पास कुछ विदेशी अश्वारोही खड़े थे। दुर्ग के सामने युवराज के पहुंचते ही द्वार खुल गया। वे लोग भीतर चले गए। द्वार फिर बंद हो गया।

अलपखाँ ने खेमे में घुसकर कहा : 'मलिक! शंकरदेव आ पहुँचा!"

"शंकरदेव!" अलाउद्दीन चौंक उठा। "कहाँ है वह?"

"नगर के द्वारों पर उसकी विशाल सेना आ पहुँची है।" अलपखाँ ने कहा : "अब!"

अलाउद्दीन ने पूछा : "उसने हमारी शक्ति को देख लिया है?"

"शायद अभी नहीं।" अलपखाँ ने कहा : "शायद उसका अंदाज़ तो राजा को भी नहीं क्योंकि सब लोग अभी तक टुकड़ियों में बँट रहे हैं।"

अलाउद्दीन फिर चिंता में पड़ गया।

उधर युवराज जब भीतर गया तो उसे देखकर वृद्ध ब्राह्मण फिर रोने लगे। उन्हें रोते देखकर युवराज को क्रोध चढ़ने लगा। उसने सुन-मुनाकर कहा : "और महाराज ने उन्हें सब दे भी दिया!"

महाराज रामचंद्र ने कहा : "और मैं करता भी क्या? क्या ब्राह्मणों से भी उन वस्तुओं का अधिक मूल्य था?"

"तो उसको आज्ञा दें कि वह सब कुछ छोड़े और चुपचाप यहाँ से लौट जाए अन्यथा उसको हम विध्वस्त कर देंगे।" युवराज ने कहा। वह फिर द्वार की ओर बढ़ा।

द्वार खुला और जिस तरह खुला था, बंद हो गया। युवराज अपने साथियों को लेकर फिर सेना में जा मिला। सेना विक्षोभ से गरजने लगी। संवाद सुन-सुनकर सैनिकों में क्रोध भरने लगा। वे चिल्लाने लगे : "तुरुष्क को धूल में मिला दो। उसने गोवध किया है। उसकी हड्डी-हड्डी तोड़कर फेंक दो।"

अलपखाँ ने मलिक अलाउद्दीन से कहा। "आपने सुना!"

अलाउद्दीन ने नहीं सुना।

अलपखाँ ने फिर कहा : "राजा रामचंद्र का संवाद आया है।"

अलाउद्दीन ने सिर उठाया।

"वे कहते हैं कि जो माल दिया है और जो सिपाहियों ने लूटा है उस सबको यहीं छोड़ दो और चुपचाप चले जाओ वर्ना यहाँ से एक भी बच कर नहीं जाएगा।"

अलाउद्दीन खेमे से निकला और तुर्की में उसने गरज कर कहा : "मुसलमानो ! काफ़िर अपने लफ़्जों को पलट गया है। वह कहता है कि जो तुम्हें मिला है उस सबको छोड़कर चले जाओ। अगर हम इस तरह जायेंगे तो सुलतान का गुस्सा हम सबको तबाह कर देगा। काफ़िरों के हाथों से इस तरह पिटकर जाने से मुसलमान हमें कभी भी माफ़ नहीं करेंगे। बोलो ! आज गाज़ी होने का मौका है। लौटोगे कि इस्लाम का झण्डा उड़ाओगे !"

लूट का माल इस्लाम की आड़ पाकर लोभ को धर्म में बदल गया। अंधविश्वासों ने उनकी बर्बरता को उकसाया। सैनिक चिल्लाए : "नहीं ! हम मर जायेंगे, मगर लौटकर खाली हाथों नहीं जायेंगे। काफ़िर दगा कर रहा है।"

उस समय यह किसी ने भी नहीं कहा कि वे स्वयं लुटेरे और आक्रमणकारी थे।

अलाउद्दीन घोड़े पर चढ़ गया। उसने अलपखाँ से कहा : "एक हजार घुड़सवार भेजकर किले के दरवाजे को तोड़ने पर लगा दो। हम लोग चलकर इन काफ़िरों को मारते हैं अगर जरूरत पड़े तो किले के ऊपर हमला करने वाले टूटकर आ जायें।"

अलपखाँ ने कहा : "हमला करना होगा ?"

अलाउद्दीन ने कहा : "और या निकलना आसान है ?"

घोड़े दौड़ने लगे। मुसलमान सेना ने भयानक वेग से हमला किया; किंतु मराठों की विशाल सेना के सामने उसकी एक भी नहीं चली। अलाउद्दीन पीछे भागने लगा। मुसलमानों में से कई मार डाले गये। 'अल्लाहो अकबर' का निनाद 'जयमहादेव' के निनाद के सामने डूब गया। मुसलमान तितर-बितर हो गये।

अलपखाँ ने भाग कर घोड़ा अलाउद्दीन के घोड़े के पास ले जाकर कहा : "मलिक ! जान बचनी मुश्किल है।"

इसी समय हिंदू सैनिक हर्ष से उन्मत्त होकर कूदने लगे। उन्होंने समझा कि शत्रु हार गया।

अलपखाँ घोड़ा दौड़ा कर दुर्ग पर आक्रमण करने वाले सैनिकों के पास जाकर चिल्लाने लगा : "भागो, भागो। मराठे जीत गये।"

सिपाहियों ने तुरंत घबराकर अपने घोड़े सँभाले और 1000 सिपाही नगर के मुख्य द्वार की ओर बढ़ चले। उनकी रफ़्तार तेज़ थी।

उस नयी सेना को देखकर कोई हिंदू चिल्लाया : "अरे मार डाला रे! सुल्तान की 20000 फौज आ गई।"

इतना सुनना था कि भगदड़ मच गई। भागते हुए मुसलमान रुक गये और भागती हुई तितर-बितर होती हिंदू फ़ौज पर छापे मारने लगे। हाहाकार मचने लगा। अलाउद्दीन ने बाकी सैनिकों को लेकर किला फिर घेर लिया।

7

अलाउद्दीन ने खड्ग उठाकर पुकारा : "और ज़ोर से मारो।"

सैनिक लंबा शहतीर लेकर बार-बार दुर्ग-द्वार पर मारने लगे। नगर में अभी तक हाहाकार मच रहा था। मुसलमान सेना भागते हुए लोगों को काटती फिर रही थी। कोई सुंदरी मिलती तो मुसलमान उसे पकड़ लेते। मराठों की सेना तितर-बितर थी।

राजा रामचंद्र दुर्ग के प्रकोष्ठ में आटे के बोरे लगवा रहा था। दुर्ग के ऊपर से सैनिक बाण-वर्षा कर रहे थे। एक सैनिक नीचे के बाण से घायल होकर गिरा। गिरते समय उसका कमान पर चढ़ा हुआ बाण पीछे छूट गया और तेज़ी से वातायन से होकर आटे के एक बोरे में धँस गया। जब एक सैनिक ने उसे खींच-कर निकाला तो सफ़ेद सफ़ेद चूर्ण-सा गिरने लगा। राजा रामचंद्र ने देखा तो कहा : "आटा गिर रहा है। उसे बंद कर।"

सैनिक ने कहा : "देव ! यह आटा नहीं यह नमक है।"

"नमक !" राजा जैसे आकाश से गिरा। "नमक कैसे आया ?"

सैनिक ने कहा : "देव ! लगता है सेना में भूल पड़ गई। जल्दी में एक-सा रंग देखकर आटे की जगह नमक के बोरे आ गये।"

राजा सिर पकड़ कर बैठ गया। उसने कहा : "अमात्य को बुला।"

वृद्ध ब्राह्मण काशिक आ गया। उसने कहा : "महाराज !"

"सर्वनाश हो गया अमात्य !" राजा ने कहा।

"क्यों देव !"

"देखो !"

"नमक आ गया है, आटे की जगह।" सैनिक ने कहा।

"फिर ?" अमात्य ने कहा—"ऐसे दुर्ग कितने दिन बचेगा ? लोग भीतर क्या खायेंगे ?"

सैनिक ने कहा : "शीघ्र ही युवराज की सेना बाहर से आ जायेगी।"

राजा रामचंद्र प्रकोष्ठ के बाहर गया। उस समय अलाउद्दीन स्वयं गरज रहा था। मुसलमान सेना बड़े वेग से आक्रमण कर रही थी।

रामचंद्र ने अमात्य से कहा : "अमात्य ! युवराज नहीं आये।"

अमात्य ने देखा। दूर नगर के विशाल भवनों पर से झण्डे गिर रहे थे।

"वह देखो !" राजा ने कहा—"यदि युवराज की विजय होती तो क्या वे झंडे, वे पवित्र जयध्वज नीचे गिरते !"

अमात्य का हाथ काँप उठा। उसने कहा : "और वह भी !"

वह सबसे बड़े मंदिर की पताका का पतन था।

रामचंद्र ने कहा : "द्वार खोलदो, अमात्य ! अब सब व्यर्थ है।"

द्वार खुल गया। मुसलमान सैनिकों में से कुछ दुर्ग के भीतर घुस आये।

8

एलिचपुर में मुसलमान फ़ौज पड़ी थी, जिसमे तुर्क, मंगोल, तातार और अन्य ऐसे ही लोग थे।

अलाउद्दीन शय्या पर लेटा था।

अलपखाँ प्रसन्न था। उसने कहा : "हुजूर ! एलिचपुर हमारा है। हम यहाँ कितने घुड़सवार छोड़ चलें ?"

"चार हजार।"

"मुझे तो लगा था रामचंद्र ऐलिचपुर नहीं देगा। लेकिन काफ़िर तो बहुत कमजोर है। अभी तक तो हिंदुस्तान ही था, मगर अब पता चला कि दकन भी इसी तरह फूट से बँटा हुआ है।"

"अलपखाँ !" अलाउद्दीन ने कहा : "सारा दकन पड़ा है। अभी तो फ़तह के लिए बहुत कुछ पड़ा है।"

अलपखाँ उठ खड़ा हुआ। उसने कहा : "मैं भी अपने मलिक को आज रात एक नया तोहफ़ा देना चाहता हूँ। इजाजत है ?"

अलाउद्दीन मुस्करा दिया। अलपखाँ चला गया। देवगिरि की लूट में उसे इतना धन मिला था जिसकी कल्पना भी बड़ी सुखद थी। सोना, जवाहिरात, हाथी और बेशकीमती अन्य सामान ! रामचंद्र और शंकरदेव का झुककर संधि करना, कुल 8000 सेना से विशाल मराठा-वाहिनी की पराजय ! यह सब क्या था। क्या यह सब भविष्य के लिए नया सौभाग्य नहीं बताते थे ?

अलाउद्दीन का ध्यान टूट गया।

द्वार पर एक अत्यंत सुंदरी षोडशी को पकड़े दो गुलाम खड़े थे। अलाउद्दीन की हिंस्र वासना भड़क उठी।

वह देवगिरि की लूट में मिली किसी नागरिक की पुत्री थी। अलाउद्दीन ने देखा और हाथ फैला दिये।

9

वृद्ध सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी ने क़िले के एक कमरे में प्रसन्नता से कहा : "अलाउद्दीन ने तो कमाल कर दिया।"

उसकी प्रसन्नता का कोई अंत ही नहीं हो रहा था। अपने भतीजे की विजय का विवरण सुनकर वह फूला नहीं समा रहा था। उसने कई दावतें दी थीं। चारों ओर आनंद मनाया था।

नायब बरबक अहमद छाप उसका सभासद उसके पास बैठा था। उसने कहा : "सुल्तान ! यह तो सच है, लेकिन···"

"लेकिन !" सुल्तान ने कहा। उसे इस प्रकार रोका जाना स्पष्ट ही पसन्द नहीं आया था। "क्या मतलब है ?"

"सुल्तान, जान बख्शी जाय।" अहमद ने कहा।

"इजाज़त है।" सुल्तान ने सिर हिलाकर स्वीकृति दी।

अहमद ने कहा : "सुल्ताने आला ! हाथी और दौलत ! जब ये किसी के पास वहुत हो जाते हैं तब उनमें झगड़ों की बुनियाद पड़ती है। जिस किसी को भी ये चीज़ें मिलती हैं, उसे नशा-सा चढ़ जाता है और उसे अपने तन का भी होश नहीं रहता।"

सुल्तान सुनता रहा।

अहमद कहता गया : "सुल्तान ! अलाउद्दीन के चारों तरफ़ वे ही बागी साथी हैं जो कि मलिक छज्जू के मददगार थे। वह आप से बगैर छुट्टी लिये एक नये मुल्क में गया है, वहाँ उसने जंग की है और ख़ज़ाना जीता है। अक्लमंदों ने कहा है कि दौलत और जंग और जंग और दौलत ये दो चीजें एक-दूसरी के साथ गुँथी हुई हैं। मेरी नाक़िस राय यह है कि हम फ़ौरन चंदेरी की तरफ कूच करें और कड़ा पहुँचने के पहले ही अलाउद्दीन को रास्ते में रोक लें। जब उसे बीच में ही सुल्तान की फ़ौज मिलेगी तो लामुहाला उसे लूट का माल हवाले करना होगा।"

सुल्तान ने गौर से सुना। अहमद ने फिर कहा : "इस वक्त हम लोग ग्वालियर के पास हैं। रास्ता भी लंबा नहीं है।"

सुल्तान ने कहा : "और दिल्ली न चला जाय ?"

अहमद ने उसके मुख पर असंतोष देखा।

उसने कहा : "और जैसा आप ठीक समझें।"

सुल्तान ने कहा : "लेकिन तुम उस पर इतना शक क्यों करते हो ?"

अहमद ने कहा : "शक नहीं करता। मैं तो सिर्फ़ वह कहता हूँ जो ज़माने में अमूमन होता है। मैं अलाउद्दीन के बारे में ही ऐसा कह रहा होऊँ सुल्तान, ऐसा आप न समझें !"

सुल्तान समझ नहीं पाया। अहमद ने भी सुल्तान का रूप देखकर अपनी बात को चतुरता से पलट दिया था।

सुल्तान ने कहा : "तुम यह क्यों भूलते हो कि आखिर वह हमारा भतीजा ही तो है !"

अहमद ने मन ही मन कहा—'बेवकूफ ! यही तो उससे सबसे बड़ा खतरा है, क्योंकि वह तेरे ही खानदान का है। उसे आगे बढ़ने में देर ही क्या लगेगी ?'

सुल्तान के वृद्ध मुख पर पूर्ण सन्तोष छाया हुआ था। अहमद को अब डर लगने लगा कि कहीं उसकी राय अलाउद्दीन तक न पहुँच जाये। उसने कहा : "सुल्तान ! मुझे तो लगता है कि जल्दी ही आपके पास वह खुद आयेगा।"

सुल्तान चिहुँक उठा। कहा : "कैसे ?"

अहमद ने अपने गले को खुजलाते हुए कहा : "आपको याद है, भेलसा की लूट का सारा माल उसने खुद ही आपकी खिदमत में पेश कर दिया था !"

"वही तो मैं सोचता था !" जलालुद्दीन ने दांत निकाल कर कहा : "पहले भी तो वह ऐसा ही कर चुका है।"

इसी समय बाहर से एक व्यक्ति आया। उसने कहा : "आलीजाह ! कड़ा से मलिका तशरीफ़ लाई हैं।"

"कौन ! मलिका जहान !" सुल्तान ने कहा : "अहमद देखो तो।" उसे आश्चर्य हुआ ?

अहमद चला गया।

बुर्का ओढ़े जब मलिका ने प्रवेश करके सलाम किया, सुल्तान ने कहा : "कहो मलिका ! सीधी दिल्ली क्यों न गईं ? इधर क्यों आईं ? तुम तो बेटी को देखने गई थीं न ?"

"आपकी कदमबोसी को आई हूँ।"

"कैसे ?"

"आपने सुना अलाउद्दीन ने देवगिरि को जीत लिया।"

"हाँ, क्यों ?"

अहमद खड़ा था। मलिका ने उसकी ओर देखा।

अहमद समझ कर बाहर चला गया।

"अलाउद्दीन !" मलिका ने कहा : "शायद आपको पता नहीं, कड़ा से जाने के पहले ही अलपखाँ से यह तय कर चुका था कि वह आपसे चंदेरी का नाम लेकर जायेगा, लेकिन देवगिरि जीतेगा।"

सुल्तान ने उसकी बात को स्त्री की बात समझा। कहा : "तुम नहीं जानतीं, मलिका ! मेरा भतीजा है वह ! उसको उठते हुए देख कर लोग दरबार में जलते हैं। इसीलिए उसने ऐसा किया। अलावा इसके उसे यकीन ही क्या था कि वह जाकर जीत जायेगा ! उस हालत में ऐसा कह देने में हर्ज ही क्या था ! फिर तुम्हारा भी तो वह दामाद है !"

मलिका जहान तीक्ष्ण और कुटिल बुद्धि की स्त्री थी। उसने कहा : "बेटी के ज़रिये ही तो मुझे सब मालूम हुआ सुल्तान ! मैं यही तो आपसे कह रही थी कि वह बड़ा दिलेर है। जब एक बात को ठान लेता है, तब करके रहता है। आपका भतीजा है, तो मेरा भी तो दामाद है !"

उसकी बात सुनकर सुल्तान हँसा।

मन ही मन मलिका जहान ने कहा : "बूढ़ा सठिया गया है। अब इसका वक्त आ गया। अपने पति की यह अवस्था उसे दुख देने लगी।"

"कद्र कहाँ है ?" सुल्तान ने पूछा, "तुम्हारे साथ गया था !"

"आपकी ख़िदमत में मैंने कद्र को राजधानी भेज दिया है।" मलिका ने कहा।

उसके दो पुत्र थे—अरकाली खाँ और कद्रखाँ। समय से पहले जागरूक रहने वाली स्त्री ने इसको पहले ही दिल्ली पहुँचा दिया था।

अहमद ने प्रवेश किया। सुल्तान ने उसकी ओर देखा।

"अब लश्कर कब कूच करेगा ?" अहमद ने पूछा।

"तैयारी कर दो, आज ही !" सुल्तान ने कहा : "दिल्ली पहुँचना ज़रूरी है।"

मलिका ने कहा : "दिल्ली गये भी काफ़ी दिन हुए।"

उसे दिल्ली पहुँचने की जल्दी हो रही थी; क्योंकि वह समझ रही थी कि बुड्ढा न जाने कब टपक पड़े। उस समय उसका वहाँ रहना आवश्यक था, क्योंकि अरक़ाली और कद्र को ही वह गद्दी पर बिठाना चाहती थी। उसे एक ही चिंता थी कि अरकाली मुल्तान में था। उसे वह दिल्ली बुलाना चाहती थी। अहमद मन ही मन मलिका की चाल को समझ रहा था। पर वह क्यों बुरा बनता। उसे हवा ही पलटती दिखाई दे रही थी।

दिल्ली पहुँचते न पहुँचते सुल्तान को अलाउद्दीन का पत्र मिला, जिसमें लिखा था—मैंने सुना है कि सभासदों ने आपको मेरे विरुद्ध भड़काया है। दकन की लूट का माल मैं आपकी भेंट करने आना चाहता हूँ। लेकिन मुझे इस बात का पूरा आश्वासन मिलना चाहिए कि मेरी रक्षा आप करेंगे !

सुल्तान ने मुस्करा कर कहा—"लिखो अहमद, हम तुम्हारी हिफ़ाजत करेंगे।"

अलाउद्दीन इतना भयभीत है, यह सोचना ज़रा अहमद के लिए कठिन था।

"इसे हमारे खास आदमी लेकर जायें !" सुल्तान ने कहा : "हम जानते हैं कि हमारा ख़त शायद लोगों की जलन से ठीक वक्त पर न पहुँचे ।"

अहमद ने कहा : "जो हुक्म ।"

सुल्तान ने मलिका की ओर देखा । मलिका का हृदय भीतर ही भीतर ऐंठकर जैसे टूट गया था । उसने कहा : "जी हाँ, जी हाँ···"

कद्र पास खड़ा था । उसने माँ की तरफ़ भेद-भरी दृष्टि से देखा जो अहमद ताड़ गया । उसी समय इल्यास बेग़ ने प्रवेश करके सुल्तान की क़दम-बोसी की ।

"अरे इल्यास !" वृद्ध ने कहा : "तुम कब आये ?"

"अभी-अभी पहुँचा हूँ चचा !" इल्यास ने बच्चे की तरह कहा । इल्यास बेग़ अलाउद्दीन का भाई था ।

"कहाँ से आ रहे हो ?"

"कड़ा से ।"

"और अलाउद्दीन तो खैरियत से है ?"

"वे तो बड़े डरे हुए हैं ।" इल्यास ने कहा ।

"डरा हुआ है ?" सुल्तान ने कहा : "क्यों ? क्या बात हुई ? किससे डरता है वह ?"

"आपसे !" इल्यास ने कहा और सिर झुका लिया ।

"मुझसे ?" सुल्तान चौंका ।

"जी हाँ, वे कहीं खुदकशी न कर डालें । या फिर अपने हाथियों और खज़ाने को लेकर किसी नई जगह ही अपनी किस्मत आज़माने न चले जायें ।"

"लेकिन आखिर क्यों ?" सुल्तान ने कहा ।

"इसलिए कि उन्होंने सुना है कि सुल्तान उनसे नाखुश है । वे कहते हैं कि जब ख़ास चचा जान ही नाराज़ हैं तो फिर रहकर भी क्या होगा ?"

सुल्तान गद्‌गद हुआ, हिल उठा । उसने अहमद की तरफ़ देखकर कहा : "उसे लिख दो, हम उससे खुद ही कड़ा जाकर मिलेंगे । लड़का इतना डरा दिया है लोगों ने इधर की उधर लगाकर !"

अहमद ने सिर झुकाकर फिर कहा : "जो हुक्म !"

10

इल्यास बेग़ ने कहा : "लीजिए गंगा आ गई ।"

गंगा की प्रशस्त धारा अब भी अविराम बही जा रही थी । किनारे पर एक बहुत सजा-सजाया बजड़ा खड़ा था । दूसरी ओर कुछ नावें थीं ।

सुल्तान ने बजड़े पर सवार होते हुए कहा : "आओ ! इल्यास बेग़ ! तुम भी

यहीं आ जाओ !"

"जो हुक्म !" कहकर इल्यास भी चढ़ गया।

सुल्तान बहुत प्रसन्न था।

उसने कहा : "वो तुझसे डरता है ?"

और यह कहकर वह एक सरल हँसी हँसा। उसने फिर कहा : "लेकिन क्यों ? इल्यास ! सुल्तान लोगों के कच्चे कान होते हैं ऐसा मशहूर है। वे अपने बाप और बेटे पर भी एतबार नहीं करते। लेकिन क्या अलाउद्दीन ने मुझे भी ऐसा ही समझा है ?"

वह फिर हँसा और कहा : "बताओ, बताओ।"

इल्यास बेग़ ने कहा : "यही बात होती तो वे आपको ही अपना सब कुछ क्यों समझते !"

"अरे सब लोग आ गये ?" सुल्तान ने कहा।

उसके साथ लगभग पचास आदमी थे जो बजड़े के भीतर और साथ की नावों में समा गये थे।

मल्लाह गंगा की धारा को पतवारों से काटने लगे। बजड़ा धीमी-धीमी झूल में था। हवा बड़ी प्यारी चल रही थी।

"क्यों इल्यास !" सुल्तान ने कहा : "यह तो सच ही है कि दरबारी एक-दूसरे से जलते हैं। लेकिन मुझे भी देखा ! मैं कभी ग़लत बातों पर अमल नहीं करता। मुझे दूध और पानी अलग करना आता है, इसलिए कि मैं एक बुनियादी-उसूल लेकर चलता हूँ कि जिसके साथ अच्छा करोगे, वह हमेशा तुम्हारे साथ अच्छाई करेगा। और फिर हम लोग मुसलमान हैं। हम लोग आपस में कैसे लड़ सकते हैं ?"

इल्यास बेग़ ने कहा : "नहीं लड़ सकते सुल्तान ! और फिर मजाल किसकी कि आपकी तरफ़ निगाह भी उठाकर देखे। कहीं राई का ढेर पहाड़ से टक्कर ले सकता है ?"

सुल्तान हँसा। उसने कहा : "ठीक कहते हो, ठीक कहते हो। मुझे ही देखो। ज़रा अलाउद्दीन से मिलने दो। जब सारी ग़लत-फ़हमियाँ दूर हो जाएँगी तब बात करेंगे। तब बड़े, बड़ों की कलइयाँ खुलेंगी।"

"सुल्तानेआला ! इल्यास बेग़ ने कहा : "आपसे भी बड़ा कौन हो सकता है ? आप सच्चे मुसलमान हैं कि झुकना ही आपने अपना काम बनाया है, जैसे फलों से लदा पेड़ होता है।"

सुल्तान की आँखें सुख के कारण कुछ छोटी-सी दिखाई देने लगीं और होठों की चौड़ाई बढ़ गई।

जब बजड़ा रुका और ये लोग किनारे पर उतरे, सुल्तान ने देखा पास ही फौज

के डेरे पड़े थे ।

उसने भौं सिकोड़कर कहा : "अलाउद्दीन हमारे इस्तक़बाल को नहीं आया ।"

अभी वह कह ही रहा था कि कुछ दूर खड़े चार-पाँच सिपाही अपने हथियार फेंक कर भागने लगे । वे चिल्लाये : "आ गए । सुल्तान आ गए, कोई न बचेगा ।"

सुल्तान नहीं समझा ।

"अरे रुको, रुको !" चिल्लाते हुए एक व्यक्ति आगे आया और उसने सुल्तान की क़दमबोसी की ।

इल्यास बेग़ ने कहा : "यह है इख़्तियारुद्दीन हुद, फौज में है भाई की । क्यों इख़्तियारुद्दीन ! भाईजान कहाँ हैं ?"

"वे तो सामान बाँध-बूँध कर भागने को तैयार हैं ।" इख़्तियार ने बड़े भोलेपन से कहा : "वो तो आप मुझसे कह गये थे इसलिए मैं किसी तरह रुका रहा ।" यह कहते हुए वह सचमुच काँप उठा । उसने फिर कहा : "ज्योंही उन्होंने सुना कि सुल्तान हथियार-बंद फौज के साथ हैं, उनकी तो हिम्मत ही टूट गई । बोले : चाचाजान ने तो कहा था—हम मुहब्बत से मिलने आ रहे हैं । फिर वे हथियार-बंदों को ला रहे हैं तो ज़रूर ख़तरा है । भाग जाना ही ठीक है क्योंकि सुल्तान से लड़कर मैं ख़ाक में मिल जाना नही चाहता ।"

"तुश !" सुल्तान ने कहा : "इल्यास, अलाउद्दीन तो बड़ा डरपोक है ! इसने कैसे देवगिरि जीत लिया ? वहाँ शायद इंसान हैं हो नही, घास-फूंस है । तो हम हथियार छोड़ देते हैं ।" फिर उसने अपने सैनिकों से कहा : "दे दो तुम लोग भी । फेंक दो नीचे । इल्यास ! तुम यही रहो । हम खुद जाते है । ऐ इख़्तियार ! उन्होंने अस्त्र फेंक दिये ।"

"आलीजाह !" इख़्तियार ने डरते-डरते कहा ।

"तू आगे चल कर हमें राह दिखा ।"

वह बोला : "चलें आलीजाह ।"

सुल्तान बढ़ चला । उसके विश्वस्त सेवक भी निःशस्त्र होकर पीछे चल पड़े । वे लोग खेमों की आड़ में आ गये ।

इल्यास ने इशारा किया । पेड़ों के पीछे से कई छिपे हुए सैनिक निकल आये जिन्होंने वे धरती पर पड़े शस्त्र उठा लिये । तभी कोई चिल्लाया : "हाय हाय ! सुल्तान के आदमियों ने तो मार ही डाला ।"

सुल्तान ने रुककर मुड़कर देखा और अपने विश्वस्त अनुचर से कहा : "देख ! कौन मार रहा है ।"

अनुचर मुड़े । जब उन्होंने लौटकर देखा सुल्तान का धड़ धरती पर गिरने वाला था और धड़ के ऊपर सिर नहीं था, गर्दन की जगह से खून का पनाला बह रहा था और कुछ दूर पर इख़्तियारुउद्दीन सुल्तान का कटा सिर लिये भागा जा

रहा था, जिससे अभी तक खून की बूँदें टपक रही थीं और उसके दूसरे हाथ में खून से भीगी तलवार थी। सुल्तान के गले से आवाज़ तक नहीं निकल सकी थी, क्योंकि इख़्तियार ने पीछे से बड़ी सफ़ाई से सिर काट लिया था। जब वे लोग कुछ जागे उन्होंने देखा उनको लम्बे भाले वालों ने चारों तरफ़ से घेर लिया था। भयानक चीत्कार उठी और वे लोग एक-एक करके मारे गये।

इख़्तियारुद्दीन जब निकला तब इल्यासबेग़ अलाउद्दीन के खेमे में घुस रहा था। दोनों ने एक-दूसरे की ओर मुस्करा कर देखा। इल्यास ने पूछा : "सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी भीतर हैं ?"

"हैं।" इख़्तियार ने हँसकर कहा।

"तुम कहाँ जाते हो ?"

उसने हाथ में लटका सुल्तान का सिर उठाकर दिखाते हुए कहा : "कड़ा मानिकपुर की सारी फौज में इस सिर को सुल्तान अलाउद्दीन के हुक्म से दिखाने जा रहा हूँ ताकि लोगों को सुल्तान जलालुद्दीन के मरने का ऐतबार हो जाये। तुम एक काम करो। सारे अमीरों को फ़ौरन बुलाओ। सुल्तान अलाउद्दीन को अभी ही सुल्तान घोषित करना आवश्यक है।"

"मैं जाता हूँ।" कहकर इल्यासबेग भी लौट गया।

इसके कुछ देर बाद ही जब इल्यास अमीरों के बीच में था, इख़्तियार घोड़े पर सर लटकाये फौजों में घूमता फिरता था। तातार, मंगोल और नौमुस्लिम बड़े ठहाके लगाकर हँस रहे थे।

11

मलिका जहान ने सुना तो घबराकर खड़ी हो गई। क़द्र खाँ गुस्से से काँपने लगा। उसने कहा : "कत्ल ! साज़िश !"

उसके बाद सन्नाटा छा गया।

जलाली अमीर बाहर विशाल प्रकोष्ठ में एकत्र हो रहे थे। उनमें विक्षोभ भरा हुआ था।

मलिका जहान ने ख़त लिखने वाले को बुलाया और अपने पुत्र अरकाली को तुरन्त लौट आने को लिखा। हरकारा पत्र लेकर मुल्तान की ओर चल दिया।

वर्षा ऋतु आ गई। मलिका जहान की नींद हराम हो गई थी। उसने कहा : "अहमद छाप कहाँ है ?"

"वह अपने घर में घुसा बैठा है।" क़द्र ने कहा।

मलिका ने सिर हिलाया।

जासूस ने कहा : "मलिका ए आज़म ! अलाउद्दीन बराबर भन्जनिकों से सबके

सामने ही शाही ख़ेमों के सामने आमतौर पर अमीरों को पाँच-पाँच मन सोना बाँट रहा है।"

मलिका को लगा उसका सिर फट जायेगा। आज ही क़द्र ख़ाँ दिल्ली के सिंहासन पर बैठा था। उसने अपना नाम रुक्नुद्दीन इब्राहीम घोषित किया था। इसी नाम से उसने अरक़ाली ख़ाँ को मुल्तान से लौटने को पत्र लिखा था, किंतु पत्र का उत्तर विचित्र आया था कि अमीरों के फ़रेब की वजह से उसका लौटना असंभव था।

जासूस ने फिर कहा : "मलिकाए आज़म ! इस वक़्त अलाउद्दीन के पास 56000 घुड़सवार और 60000 पैदलों की फौज है। उसने लूट का माल ख़ूब बाँटा है और अमीरों को ख़रीद लिया है।"

मलिका जहान का चेहरा पीला पड़ गया। बोली : "अब वह कहाँ है ?"

"अब वह दिल्ली की तरफ़ बढ़ता चला आ रहा है।"

"अल्लाह रहम कर !" मलिका ने आस्मान की तरफ़ देखकर कहा, जहाँ बिजलियाँ चमक रही थीं। वह उस चिड़िया की तरह बैठी थी जिसने अभी नया घोंसला बनाया था।

"तू जाकर अहमद को मेरे पास ला।" मलिका ने कहा।

जासूस चला गया।

लेकिन अहमद नहीं आया। वह देख रहा था कि अलाउद्दीन का धन धरती फोड़ कर साँपों की तरह निकलता था और बड़े-बड़े ईमानदारों को डस कर मूर्छित किये दे रहा था।

आख़िर वह दिन आ पहुँचा जब अलाउद्दीन सेना सहित दिल्ली के द्वार पर आ गया। मलिका रात-भर प्रार्थना करती रही। प्रातःकाल होते ही सुल्तान रुक्नुद्दीन इब्राहीम उर्फ़ क़द्र ख़ाँ की सेना नगर के बाहर आ गई। दोनों सेनाएँ टक्कर लेने को तैयार खड़ी थीं। दिन बीत गया। आधी रात के समय हवा तेज़ हो गई।

जासूस ने मलिका के कमरे का द्वार खटखटाया।

"कौन है ?" मलिका ने पूछा।

"मैं हूँ, जल्दी दरवाज़ा खोलिये।"

मलिका हड़बड़ाई-सी बाहर आई।

"क्या हुआ ?"

"भागिये मलिका भागिये, मैं बाहर सवारी का इन्तज़ाम करके आया हूँ।"

मलिका के मुँह से बोल नहीं निकल सका।

"हाँ।" जासूस ने कहा : "सुल्तान रुक्नुद्दीन इब्राहीम की फौज को अलाउद्दीन के सोने ने ख़रीद लिया। आधी फौज दुश्मनों से मिल गई। सुल्तान मुल्तान की तरफ़ भाग रहे हैं, आप भी मुल्तान निकल चलिए। यह न समझिएगा कि वह

आपका दामाद है। तभी क़द्रखाँ कुछ टके और थोड़े से घुड़सवारों के साथ भाग निकले हैं।"

"हाय अल्ला !" मलिका रो पड़ी और अपने जवाहिरातों के बक्स को उठाने लगी। वे लोग पिछवाड़े के दरवाज़े से निकले और सवारी पर चढ़े। घोड़े भागने लगे।

जासूस ने कहा : "आप कमालुद्दीन के साथ चलें। मैं खबरें लेकर आता हूँ। मेरा अरबी घोड़ा है, मैं आपको पकड़ लूंगा।"

जासूस मुड़ गया।

× × ×

कई महीनों बाद जब मलिका जहान और क़द्रखाँ मिले तब जासूस ने सुनाया : "सिरी के मैदान में अलाउद्दीन ने ठाठ से जलसा किया। सारे राज्यकर्मचारी, कोतवाल सबने उसके सामने वहाँ जाकर सिर झुकाया। उसी दिन उसके नाम का खुतबा पढ़ा गया और सिक्का ढाला गया।" वह रुका।

"फिर वह लाल महल में तख्त पर चढ़ा," उसने फिर कहा : "बड़ा भारी जशन मनाया गया। बेहद रिश्वत बाँटी गई, इनाम देकर लोगों को खरीद लिया गया। ख्वाजा खातीर को वज़ीर बनाया गया और कड़ा और अवध का इलाका मलिक अल उल् मुल्क को दिया गया। मुय्यिद उल् मुल्क को···"

"इस सबको जाने दो", क़द्र खाँ ने कहा, जासूस चुप रहा।

"मुई रियाया को क्या हो गया !" मलिका ने कहा : "सुल्तान के क़ातिल को देख कर भी कुछ न कहा !"

इसी समय बाहर से संवाद-वाहक आया। उसने कहा : "मलिका !"

और वह हाँफते-हाँफते मूर्च्छित हो गया।

सब देखते रह गये।

× × ×

अहमद छाप ने सुना : तख्त पर बैठने के बाद सुल्तान अलाउद्दीन ने उलुग खाँ और ज़फ़र खाँ को 30 से 40000 घुड़सवारों तक की फौज के साथ मुल्तान भेजा। फौज ने शहर घेर लिया। अरक़ाली खाँ, क़द्र खाँ उर्फ़ रुक्नुद्दीन इब्राहीम और मलिका जहान को गिरफ्तार कर लिया गया। रास्ते में हाँसी के पास दोनों शहज़ादों और उनके साले उल्घू खाँ की आँखें निकाल ली गईं। सबकी जायदाद को ज़ब्त कर लिया गया और एक-दूसरे से अलहदा कर दिया गया।

"और मलिका जहान !" उसने पूछा।

"वे कैद हैं। उन्हें हर किसी से मिलने की इजाज़त भी नहीं।"

अहमद ने आकाश की ओर देखा और कहा : "अल्लाह ! तेरा शुक्र है कि इस नाक़िस की तूने इतनी हिफाज़त की, वर्ना···"

वह इतना गद्‌गद था कि आगे बोल ही नहीं सका।

'दिल्ली में रहना और ज़िन्दा रहना !' उसने सोचा, 'कितना बड़ा काम था !'

फिर उसने पूछा : "और शहर के क्या हाल हैं !"

"अभी तक बाग़ियों को सज़ा मिल रही है।"

"रोज़ कितने आदमी मारे जाते हैं ?"

"मैं गिनती नहीं रख सकता।"

"अल्लाह !" अहमदछाप ने कहा : "क्या वे सब बाग़ी हैं ?"

"नहीं, उनमें से ज्यादातर बेगुनाह हैं।"

"इन बेगुनाहों के ख़ून का कौन जवाब देगा ?"

"और तो और मुसलमानों को भी हिंदुओं की तरह क़त्ल किया जा रहा है।"

अहमद ने विक्षोभ से मुट्ठियाँ भीच ली। खबर देने वाले ने देखा कि शीघ्र ही अहमद की बँधी मुट्ठियाँ फिर खुल गईं थीं।

12

सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी अपनी बहुमूल्य शय्या पर लेटा हुआ सोच रहा था। उसे एक-एक चित्र-सा याद आ रहा था।

× × ×

वह रात थी। अँधेरा छा रहा था, जासूस सामने खड़ा था।

उसने पूछा था : "क्या बात है ?"

"सुल्तान, ग़ज़ब होने वाला है।"

"कैसे !"

"जलाली अमीर भीतर ही भीतर साजिश कर रहे हैं।"

"अच्छा ! तू जा ! नुसरत खाँ को मेरे पास भेज दे।"

जिस समय नुसरत आया था, सुल्तान ने उससे कहा था : "नुसरत ! क्या तुम्हें मंजूर है ?"

"आलीजाह ! बस हुक्म दे दें।"

"मंजूर है।"

"एक इल्तिजा और है।"

"अर्ज़ करो।"

"मेरी कोई शिकायत न सुनी जाये।"

"नहीं," सुल्तान ने कहा—"बाग़ियों से कोई रहमदिली दिखाना गुनाह करार

दिया जायेगा।"

नुसरत चला गया था।

× × ×

वह रात नहीं थी, दिन था।

जलालुद्दीन सुल्तान के बेटे अंधे से तहखानों में घूमा करते थे। अलाउद्दीन ने कहा था : "सुल्तान रुक्नुद्दीन इब्राहीम की कदमबोसी को हम आ रहे हैं।"

रुक्नुद्दीन इब्राहीम ने टटोल कर कहा था : "कौन ? कौन बोल रहा है ?"

"मेरा हाथ पकड़िये," अलाउद्दीन ने कहा : "मैं आपको कैद से छुड़ाने आया

"क्यों, अलाउद्दीन का क्या हुआ ?"

"वह मर गया। आप ही पुराने सुल्तान के बेटे हैं। अमीरों ने आपको ही वारिस चुना है।"

अंधे ने हाथ पकड़ कर कहा था : "माँ कहाँ है ?"

"वह भी कैद थी। अब छूट जायेंगी।"

"अल्लाह बड़ा है ! ईमानदारी ही जीतती है।"

"अलाउद्दीन अच्छा आदमी न था ?"

"वह कातिल भेड़िया था।"

अलाउद्दीन ने हँसकर कहा : "मैं वही अलाउद्दीन हूँ।"

डर से काँपकर रुक्नुद्दीन बेहोश होकर गिर पड़ा था।

अलाउद्दीन के ठहाकों से तहखाने गूंजने लगे थे।

× × ×

नुसरत खाँ ने कहा था : "सुल्तान, आज जलाली अमीरों की बगावत खत्म हो गई।"

"हम तुमसे खुश हैं, नुसरत !" अलाउद्दीन ने कहा था।

"आलीजाह ! बागियों को अंधा कर दिया गया है। उनकी जायदादें छीन ली गई हैं। वे कहने लगे—हम मुसलमान हैं, हम पर जुल्म क्यों किये जा रहे हैं। मैंने उनकी जागीरों को खालसा के तहत रखा है और उनके बच्चे अब भूखे मरेंगे। जिन्होंने पुराने सुल्तान के नाम पर बहुत ज्यादा वफ़ादारी दिखाई थी वे मार डाले गये। कुछ को क़ैद कर दिया है।"

"अच्छा किया ! कुल कितना रुपया मिला इस सबसे ?"

"जुर्मानों और जब्तगियों से करीब एक करोड़ का मुनाफ़ा हुआ है।"

सुल्तान ने प्रसन्न होकर उसे मदिरा ढालकर पिलाई थी। नुसरत खाँ पाँवों पर लेट गया था।

× × ×

"उलुगु खाँ !" एक दुपहर सुल्तान ने कहा था : "गुजरात के राजा के पास बेशुमार दौलत है।"

और उस बात ने कमाल किया था। उलुगु खाँ और नुसरत खाँ ने अनहिल-वाड़ा, गुजरात की राजधानी को जा घेरा था और वहाँ के राजा रामकरन के भाग जाने पर उन्होंने उसकी रानी कमला देवी को गिरफ़्तार कर लिया था। फिर सारे मुल्क को लूटा था। महमूद गजनवी ने जिस जगह से मूर्ति उठाकर सोमनाथ में तोड़ दी थी, उसी जगह फिर से जो मूर्ति स्थापित कर दी गई थी उसे उन्होंने लूटकर दिल्ली भेजा था, सुल्तान के पास तोहफ़ा बनाकर। रामकरन देवगिरि भाग गया था और राजा रामचंद्र के यहाँ अपनी बेटी देवलदेवी के साथ जा छिपा था।

नुसरत खाँ ने खम्मात में जाकर हिंदू सौदागरों से बेशुमार रुपया ऐंठा था। कितने जवाहिरात दिये थे उन्होंने !

× × ×

"यह कौन है ?" सुल्तान ने पूछा। उसकी आँखें भटक गई थीं। वह एकाग्र्क देख रहा था।

नुसरतखान ने कहा था : "यह गुलाम है। इसका नाम काफूर है।"

"बड़ा हसीन है।" सुल्तान ने कहा था।

"हुजूर, यह हिजड़ा है।"

सुल्तान ने उसे प्यार से अपने पास खींच लिया था। लड़का बहुत ही खूब-सूरत लगता था।

नुसरत ने कहा : "हुजूर ! इसके मालिक से मैंने इसे 1000 दीनारों में खरीदा है, आपके लिए।"

"हज़ारदीनारी !" सुल्तान ने कहा था : "यह सचमुच हज़ारदीनारी है।"

× × ×

वह कैसा डरावना दिन था !

उलुगु और नुसरत खाँ घोड़ों पर थे।

नौ मुस्लिम सेना खड़ी थी।

नुसरत खाँ ने आज्ञा दी थी कि लूट के माल का पाँचवाँ हिस्सा शाही खजाने में दाखिल किया जाये।

फ़ौज ने जैसे सुना ही नहीं था। लूटा हुआ माल कोई देना नहीं चाहता था। देता भी क्यों ? उसी के लिए सिपाही ने किसी को क़त्ल किया था, किसी का घर जलाया था, किसी के बच्चे को टुकड़े-टुकड़े करके फेंका था, मंदिर तोड़े थे, और इमारतों की ईंट से ईंट बजाई थी।

जब फ़ौज की तलाशी होने लगी तो नौ मुस्लिमों ने बग़ावत की। फ़ौज में ग़दर फैल गया। मीर मुहम्मद शाह और मीर भारू भी थे। वे बोले : "हमने

जान दी है, जिसका खाते हैं उसका नमक अदा करते हैं, लेकिन इस्लाम के फैलाने का इनाम यह काफ़िरों का माल है। इस पर सुल्तान का कोई हक़ नहीं। यह हमारा है और हमारा ही रहेगा।"

उस रात कितना खौफ़नाक मंज़र था। बाग़ियों ने नुसरत खाँ के भाई मलिक इज्जुद्दीन और अमीर हाजिब उलुगुखाँ पर हमला कर दिया। उलुगु तो किसी तरह भाग निकला, लेकिन इज्जुद्दीन का क़त्ल हो गया। उसके बाद बाग़ियों ने खास सुल्तान के ही एक भतीजे का क़त्ल कर दिया।

× × ×

नुसरत खाँ ने कई दिनों की मेहनत के बाद फ़ौज को काबू में किया। मीर मुहम्मद शाह भाग गया। मीर गभरू भी। अपने बीबी-बच्चे भी यह लोग बचा ले गये। लेकिन कहाँ जायेंगे यह लोग ! राव हम्मीर इनको बचा लेगा ! बेवकूफ़ ! उसके सिर पर भी मौत नाच रही है। चलो। हमला करने का एक बहाना तो है।

भाग गया, कोई ग़म नहीं, लेकिन सपरिवार निकल गया वर्ना जैसे दूसरों के भागने पर उनके बीबी-बच्चों को क़त्ल करके बदला लिया गया उनसे भी ले लिया जाता।

× × ×

नुसरत को भाई के मरने का गुस्सा था। वह इतना क्रुद्ध था कि उसने बाग़ियों की औरतों को पहले बेइज्जत करवाया और तब उनकी इज्जत जब ग़ारत करवा चुका तो उसने उन्हें सड़क के गलीज़ से गलीज़ लुच्चों को रंडियाँ बनाकर दे दिया। उन औरतों के सिरों पर रखवा कर उसने उनके बच्चों के टुकड़े-टुकड़े करवा दिये। दिल्ली में आतंक छा गया था। उस वक्त हिंदू ही नहीं, मुसलमान भी दाँतों तले जीभ दबा गये थे।

सुल्तान का ध्यान टूट गया।

× × ×

काज़ी अल-उल-मुल्क आया था। सुल्तान ने उसे ससम्मान बिठाया और कहा : "काज़ी हज़रत ! आप खैरियत से तो हैं ?"

"आपकी मेहरबानी है !" काज़ी ने विनम्रता से कहा। वह जानता था कि वह सुल्तान के सामने बैठा था।

सुल्तान सोच रहा था : मेरे पुत्र हैं। अपार धन है। मेरे सेनापतियों ने महान् विजय प्राप्त की है। जैसा मैं चाहता हूँ वैसा ही होता है। मेरी भौं उठने पर लाखों के सिर धड़ पर से गिरने लगते हैं। मेरे रत्न ऐसे हैं कि उन पर आँखें चकाचौंध में भी टँगी रह जाती हैं। सुवर्ण और हीरकों की पंक्तियाँ ऐसे लगती हैं, जैसे दीपकों में शिखाएँ हों। अनिंद्य सुन्दरियाँ मेरे सामने नग्न नृत्य करती हैं और मुझे कुछ भी अप्राप्य नहीं है। मदिरा की गंध से मेरा प्रासाद झपझप करता

है और सुन्दरियों के कटाक्ष उसमें लक-लक करते हैं। जब मेरी सेना चलती है तो लोगों के घर रुँद जाते हैं। शत्रुओं के लहू की नदियाँ बहने लगती हैं और बग़ावत मेरे घोड़ों के सुमों के नीचे धूल बन कर कुचली पड़ी रहती है। मैं क्या किसी से कम हूँ! क्यों न मैं वह काम करूँ जो संसार के किसी भी सम्राट् ने नहीं किये हैं। मैं हूँ। मैं ही पृथ्वी का स्वामी हूँ। मेरे क्रोध से पहाड़ अपनी नीवों पर से सरक जाते हैं, नदियाँ मेरे ही डर से फरफराती काँपती हुई बहती हैं, और मेरी सेना के कुल्हाड़ों से डर कर ही जंगल भी मर्मर-मर्मर करते रहते हैं।

क़ाजी क्या सोच रहा था। सुल्तान नहीं जानता था लेकिन वह सोच यह रहा था कि मैं इस बदमिजाज, क्रूर, कुटिल, नीच, जालिम और अहंकार भरे मूर्ख के सामने बैठा हूँ जो बड़ा ही जिद्दी है और जिसे शराब और दौलत ने शैतान बना दिया है।

सुल्तान ने कहा : "अल्लाह परवरदिगार ने पैगम्बर मुहम्मद को चार दोस्त ऐसे दिये थे जिनकी ताकत और बूते पर उन्होंने मजहब और क़ानून बनाया और इस काम के लिए उनका नाम ताक़यामत ज़िंदा रहेगा। अल्लाह ने मुझे भी उलुगुखाँ, जफरखाँ, नुसरत खाँ और अलपखाँ, ये चार ऐसे दोस्त दिये हैं जो मेरी वजह से आज इस ऊँचे दर्जे को पहुँचे हुए हैं। अगर मैं चाहूँ तो क्या मैं एक नया मज़हब नहीं चला सकता, मेरी और मेरे दोस्तों की तलवारें सारे इंसानों को उसी मज़हब को मानने पर मजबूर कर देंगी। उस मज़हब की वजह से मेरा और मेरे दोस्तों का नाम भी पैगम्बर मुहम्मद की ही तरह ताक़यामत याद किया जायगा। मेरे पास दौलत है, हाथी हैं, अपार सेना है। मेरी इच्छा यह है कि दिल्ली में अपना एक प्रतिनिधि छोड़कर मैं सिकंदर की तरह निकल जाऊँ और सारी दुनिया को जीत लूँ। आपका क्या ख़याल है?

काज़ी ने एक बार चुपचाप गर्दन पर हाथ फेरा और यह इतमीनान कर लिया कि अभी तो धड़ पर मौजूद है। फिर उसने धीरे से कहा : "सुल्तान। मज़-हब और कानून तब ही आते हैं जब कि आदमी को इलहाम होता है। पहले से योजना बना कर मनुष्य ऐसा नहीं कर सकते। आदम से आज तक पैगम्बर और फकीरों ने ही मजहब का रास्ता दिखाया है, न कि राज्यों और राजाओं ने। अल्लाह ने बादशाहों को पैगम्बर नहीं बनाया और शायद कभी बनायेगा भी नहीं। यह सच है कि कुछ पैगम्बरों को राजकाज सँभालना पड़ा है और उन्होंने उसे निभाया भी खूब है। मेरी राय तो यही है कि आला हज़रत इस तरह की बातें सोचना ही छोड़ दें। आलीजाह जानते हैं कि चंगेज़ खाँ ने मुसलमानों के शहरों में खून की नदियाँ बहा दी थीं, लेकिन वह मुसलमानों में कभी मंगोल मजहब और उनके तौर तरीके नहीं फैला सका। कई मोग़ल जरूर मुसलमान हो गये हैं लेकिन कोई मुसलमान तो मुग़ल नहीं हुआ?"

अलाउद्दीन चुपचाप सुनता रहा। "और मेरी दूसरी बात ?" उसने पूछा।

"दुनिया को जीत लेने का इरादा तो आलीजाह की ताकत और बहादुरी के माकूल ही है," काजी ने कहा—"लेकिन यह सिकंदर का जमाना नहीं और फिर आलीजाह ! अरस्तू जैसा लायक वजीर आपको कहाँ मिलेगा ?"

सुल्तान ने स्वीकार किया। काजी ने कहा : "फ़िलहाल तो दो काम निहायत जरूरी हैं।"

"क्या ?" सुल्तान ने पूछा।

"एक," काजी ने कहा : "सारे हिंदुस्तान की फतह। रणथम्भौर, चित्तौड़, चंदेरी, मालवा, धार, उज्जैन, सरयू के पूर्व तक, सिवालिक से जालौर, इन सबको झुका दिया जाये कि बगावत का नाम तक सुनाई न दे।"

सुल्तान को लगने लगा कि अब इस्लाम बोलने लगा था।

काजी ने फिर कहा : "मुल्तान से पमरिला, पालम से लाहौर और दीपालपुर······"

"दूसरा काम बताइये।" सुल्तान ने उत्सुकता से पूछा।

"यह काम," काजी ने कहा : "पहले वाले से भी ज्यादा जरूरी है। मुल्तान के इधर का रास्ता मोगलों के लिए हमेशा के लिए रोक दिया जाय।"

सुल्तान ने कहा : "मुझे दोनों बातें मंजूर हैं।"

काजी का साहस बढ़ा। उसने फिर कहा :

"लेकिन ! आलीजाह ! यह तब तक नामुमकिन है जब तक आप शराब पीना बंद न कर दें, क्योंकि आप बहुत ज्यादा पीते हैं।"

काजी के स्वर में दृढ़ता आ गई। इस समय मजहबी बातें उसके मुँह से निकल रही थीं। उसके लिए वह जान भी दे सकता था। उसने कहा : "अगर आप दावतों और जलसों में शराब को नहीं छोड़ सकते तो उनसे अलग रहिये।"

सुल्तान को सांत्वना हुई।

काजी ने फिर कहा : "अगर आपसे शराब नहीं छूटती, थोड़ी-बहुत के बिना काम ही नहीं चलेगा तो दोपहर तक नहीं पिया करें और उसके बाद पियें भी तो अकेले में पिया कीजिये।"

उस दिन सुल्तान काजी से प्रसन्न हो उठा था और उसने उसे खूब पुरस्कार दिये थे।

× × ×

वैभव में उन्माद था, उन्माद में वासना। कुछ भी हो, काफ़िरों की स्त्रियों में बड़ा आनन्द था। किसी विवश स्त्री को अपमानित करने के सुख के साथ जो अपनी शक्ति का भी आभास था, उससे जो अहंकार को तृप्ति होती थी, वह क्या कम श्लाघ्य थी !

और फिर काज़ियों ने सिर उठाना प्रारम्भ किया। मज़हब यह कहता है, मज़-हब वह कहता है।

अलाउद्दीन खिलज़ी सुल्तान है। वह शासक है, वह क्या इन लोगों का गुलाम है। कानून और धर्म को उसकी मर्ज़ी के हिसाब से झुकना होगा। वह इस्लाम से ऊँचा है। वह लोगों पर हुकूमत करता है, पैगम्बर के नियम यदि उसकी स्वेच्छा में बाधा डालेंगे तो वह कैसे सहन कर सकेगा।

काज़ी युगीसुद्दीन ने नुकताचीनी की।

सुल्तान ने पूछा : "तो फिर सुल्तान की जगह क्या है? बेईमान और बदमाश सरकारी नौकरों को सज़ा देने का, उनके अंगों को भंग करने का सुल्तान को पूरा अधिकार है।"

काज़ी ने कहा : "यह तो कुरआन में लिखे क़ानून के विरुद्ध है।"

सुल्तान गिद्ध की तरह घूरता रहा। उसने कहा : "जब मैं मलिक था, मैंने जो खून बहाकर देवगिरि में लूटा था, वह माल मेरा है या सरकारी खज़ाने का?"

काज़ी ने कहा : "आलीजाह! मैं सच बोलने के लिए मजबूर हूँ। वह दौलत आपने इस्लामी फौज की ताक़त से पाई थी, इसलिए वह भी रियाया के लिए ही सरकारी खज़ाने में जानी चाहिए। अगर हुजूर ने उसे अकेले शरीअत के कानूनों के अनुसार कमाया होता तो वह आपकी व्यक्तिगत संपत्ति हो सकती थी!"

सुल्तान क्रोध से तड़प उठा। उसने कहा : "वह किस तरह खज़ाने का माल बन जाएगा?"

काज़ी ने विनम्रता से कहा : "आलीजाह ने मुझसे सवाल पूछा। मैं अगर वही जवाब नहीं दूंगा जो कि मैंने किताब में पढ़ा है और आप किसी और पढ़े-लिखे आदमी से पूछेंगे और वह मेरे बरखिलाफ़ राय देगा, तो आप यही समझेंगे कि मैंने आपको खुश करने के लिए सचाई को छोड़ दिया। उसके बाद आपको मुझ पर क्या विश्वास रह जायेगा? क्या आप फिर मुझसे इस विषय पर राय लेंगे?"

सुल्तान ने पूछा : "आप ठीक कहते हैं। लेकिन मुझे बताइए कि बेतुल्मूल पर सुल्तान और उसकी औलाद के क्या अधिकार हैं?"

उसकी मुद्रा इस समय तक कठोर हो चुकी थी। काज़ी मन-ही-मन काँपने लगा था। लेकिन फिर भी उसने कहा : "अगर आप दानिशमन्द खलीफ़ाओं के रास्ते पर चलेंगे और सर्वोच्च सिद्धांतों को स्वीकार करेंगे तब आप अपने और अपने घर के खर्च के वास्ते सिर्फ 234 टंक लिया करेंगे, उतना ही धन जितना कि आपके हर एक सिपाही, हर एक योद्धा को मिलता है। अगर आप बीच का रास्ता पकड़ेंगे और आप यह अनुभव करेंगे कि अपनी साधारण सेना से आपको अपने आपको कुछ ऊँचा रखना है तब आप मलिक किरान वगैहरा जो आपकी सेना के ऊँचे पदाधिकारी हैं उनके बराबर लेंगे। और अगर आलीजाह राजनीतिज्ञों के

मार्ग पर चलेंगे, तब तो आप इन सबसे कहीं अधिक खज़ाने से निकालेंगे ताकि आपके खर्चे इन सबसे बड़े हों, आपकी शान इन सबसे ऊपर रहे। मैंने आपके सामने तीनों रास्ते खोल दिये। जो भी कीमती गहने और करोड़ों रुपये खज़ाने से निकालकर आप अपनी मस्तूरात पर चढ़ायेंगे, क़यामत के दिन उन सबके लिए आपको जवाब देना होगा।"

अंत तक आते-आते काज़ी की आवाज में वही कंपन आ गया जैसे धड़कते बादल में आ जाता है।

सुल्तान क्रोध और विक्षोभ से विह्वल हो उठा। उसने काज़ी को भीषण दण्ड देने की धमकी दी। किंतु काज़ी ने धरती पर माथा टेक दिया और चिल्ला उठा : "मेरे सुल्तान ! मैं तेरा अदना नौकर हूँ। तू मुझे कैद कर दे या मेरे दो टुकड़े करवा दे, लेकिन यह सब कुफ्र है और शरीअत के खिलाफ़ है। मैं इसे कैसे बदल सकता हूँ ?"

सुल्तान क्रोध से उठकर चला गया।

× × ×

और रात-भर वह काज़ी से हुई बातें सोचता रहा, सोचता रहा। सुबह हुई। दरबार जुड़ा। काज़ी डरता-डरता आया, किन्तु सुल्तान ने उसे अच्छी-अच्छी चीजें इनाम दीं। काज़ी आश्चर्य से भर गया।

सुल्तान ने कहा : "हजारों का नाश कर देने वाली बग़ावतों को रोकने के लिए मैं ऐसे हुक्म निकालता हूँ जिन्हें मैं राज्य के लिए लाभदायक समझता हूँ, जिन्हें मैं रिआया के लिए ठीक समझता हूँ। जब लोग लापरवाही करते हैं, बेअदबी से पेश आते हैं और मेरे हुक्मों को नहीं मानते बल्कि हुक्मउदूली करते हैं, तब उन्हें झुकाने के लिए मुझे कड़ी सजायें देने को मजबूर होना पड़ता है।"

सुल्तान ने हाथ उठाकर कहा : "मैं नहीं जानता यह शरीअत के अनुकूल है या प्रतिकूल। जो राज के लिए अच्छा है मैं तो वही करता हूँ। जो मौके पर काम दे जाये वही उचित है। और क़यामत के दिन जो इस सबका जवाब देना होगा, उसे मैं नहीं जानता।"

उसका उत्तर सुनकर काज़ी चुप हो गया क्योंकि यही वह व्यक्ति था जिसने इस्लाम के लिए फ़तह की थी। आज राज्य इस्लाम से ऊँचा था !

मगर काज़ी इनामों से लद चुका था।

× × ×

बग़ावत !

"क्यों होती है बग़ावत !" सुल्तान सोचता।

दौलत के इकट्ठे होने पर !

उसने सुल्तान बनने का ख्वाब कब देखा !

देवगिरि और भेलसा की दौलत पाकर !

दौलत सेना से आती है ।

सेना राज्य की है ।

तब सम्पत्ति का स्वामी राजा है और सुल्तान ने सोचा : मैं सबकी जागीरें जब्त कर लूंगा । मैं सब कुछ राज्य का बना दूंगा और राज्य मेरा रहेगा ।

उसके बाद !

मिल्क, वक़्फ़, इनाम सब राज के होंगे । लोगों को सिर्फ तनख्वाहें मिलेंगी और फिर बग़ावत नहीं होगी । मैं जासूसों का जाल बिछा दूंगा । इंसान कमीना होता है । जिस हाथ को रोटी डालते देखता है उसी को काटता है । मैं किसी पर विश्वास नहीं करूँगा । मैं जिन पर विश्वास करता हूँ, उन्हें दिखाता रहूँगा, किन्तु उन पर भी जासूस रखूंगा । एक-एक की गहराइयाँ जाँचता रहूँगा । असल में सब अपने-अपने मतलब से चिपके रहते हैं । जब इनको टुकड़ा डालना बंद किया जाता है तभी ये फुफकारने लगते हैं ।

× × ×

बुदाँयूं दरवाजे पर शराब उँडेली जाने लगी; शाही शराब जिसमें से तेज़ बू आती थी ।

सुल्तान अपने काँच के पात्र तुड़वा चुका था । शराब के प्याले टुकड़े-टुकड़े कर दिए गए थे ।

वह पीता था, मगर अकेला ।

दावतें बंद थीं, छिपकर पीने की इजाज़त थी ।

बुदाँयूं दरवाजे पर शराब इतनी बही, इतनी बही थी कि मिट्टी भीग-भीगकर कीचड़ हो गई थी ।

आम जलसे बंद थे । हुक्म नहीं था कि लोग खुलेआम शराब पियें ।

रिआया में जशन मनाना उठ गया । ज़िंदगी एक बोझ हो गई ।

× × ×

सबसे बड़ा सरदर्द था हिन्दू !

वह कुचला जाता था, दबता था, कटता था, मरता था, पैसे से खरीदा जाकर अपनों से दगा करता था, वह एक नहीं था, उसको एक बनाने वाला कोई मज़हब नहीं था । मंगोल, तुर्क, तातार, अफ़गानी और अरब, यह सब अलग-अलग थे, लेकिन जब जरूरत पड़ती थी, राज्य के लिए, धन के लिए इस्लाम उन्हें एक कर देता था । लेकिन हिन्दू हज़ार ऊँच-नीच पर झुका था, उठा था, फिर भी वह अपनों से नफ़रत करता हुआ भी अपने को सभ्य मानता था, वह कहता था हम दूसरों की सुनते हैं । इस्लाम में दिमाग़ बंद हैं । यहाँ न सोचने की गहराइयाँ हैं, न जिंदगी की गहराइयाँ । यह एक कठोर नियमावली है, जिसमें हमारी नीच जातियों

को भी आनन्द नहीं। तुम हमें काफ़िर कहते हो ? लेकिन तुम घृणित हो।

सुल्तान ने कहा : "सच है। यह काफ़िर बड़े घमंडी हैं। वे अपने हुक्मरानों को अछूत समझते हैं। वे उनके हाथ का खाते नहीं, पीते नहीं। वे उन्हें नीच समझते हैं।"

सुल्तान को विक्षोभ हुआ।

सुल्तान ने काज़ी से पूछा था : "मुसलमान राज्य में हिंदू की क्या औक़ात है !"

काजी ने कहा : "ऐ सुल्तान ! हिंदुओं को खिराज-गुज़ार कहा गया है और जब उनसे मालगुजारी में चाँदी माँगी जाय तो उन्हें निहायत अदब और नर्मी के साथ सोना पेश करना चाहिए। अगर कर इकट्ठा करने वाला मुहस्सिल हिंदू के मुँह में थूकना चाहे तो उसे बिना किसी हिचकिचाहट के अपना मुँह खोल देना चाहिए। इस प्रकार हिंदू अपना अदब, अपनी नर्मी, अपनी गुलामी का इज़हार करता है। इस्लाम का गौरव बढ़ाना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है, उसका विरोध करना व्यर्थ है। अल्लाह ने स्वयं हिंदुओं के पूर्ण पतन की आज्ञा दी है, क्योंकि यह हिंदू ही पैगम्बर के सबसे बड़े दुश्मन हैं। पैगम्बर ने कहा है कि या तो वे इस्लाम को स्वीकार कर लें या वे फिर मारे जायें या गुलाम बनाकर रखे जायें और उनकी जायदाद को राज छीन ले। अबू हनीफ जैसे दानिशमन्द तक ने कहा है कि हिंदुओं से जज़िया लेना उचित है। जबकि बहुतेरे विद्वानों का मत है—मौत या इस्लाम !"

अलाउद्दीन ने प्रसन्न होकर कहा था : "मुझे इसी मज़हब की जरूरत थी। आपके फ़तवे ने मदद दी है। किसी ने मुझसे कहा था, हिंदू अहले किताब हैं। इसलिए इन पर जुल्म नहीं करना चाहिए। शायद किसी ने पैगम्बर को ग़लत समझा होगा। जो मतलब आपने बताया है, मेहरबानी करके इसे फौज में फैला दीजिए।"

काज़ी चला गया था।

× × ×

दोआब के हिंदू—गंगा और यमुना के बीच के हिंदू।

उनको अपनी जमीन की पैदावार का आधा राज्य को देना होगा। काफ़िर राजा पैदावार का 1/6 भाग लेते थे। इस्लाम का बंदा किसान से आधा तक ले लेगा ! कुछ घटेगा नहीं। कुछ नहीं। एक बिस्वे की भी छूट नहीं।

चरागाहों पर कर था।

घरों पर कर था।

खूत और बलाहरों (जमींदार) पर भी कर था ताकि गरीबों की कुछ रक्षा हो सके।

इस कर ने लोगों को निचोड़ा।

चौधरी, खूत, और मुकद्दमों तक में इतनी हैसियत नहीं थी कि वे घोड़ों पर चढ़ सकते, वे घोड़े ही नहीं रख सकते थे, उनके पास हथियार, अच्छे कपड़े, पान और ऐसी चीजें खरीदने को पैसे ही नहीं थे। यह हालत तो चौधरियों की थी। और रिआया की ?

चौधरियों, खूत और मुकद्दमों की औरतें मुसलमानों के घर जाकर नौकरी करके किसी तरह घर के खर्चे को पूरा करती थीं।

शरफ़ कायिनी, नायब वज़ीर ने सारी सल्तनत पर आय का एक ही कानून लागू कर दिया था।

× × ×

राज्य सर्वोपरि था।

एक चपरासी राज्य का प्रतिनिधि था। अतः एक चपरासी की इज्जत किसी भी हिंदू जमींदार से ऊँची थी।

जो लगान नहीं देता था उसे चपरासी पकड़ लाता, एक क्या वह बीस को पकड़ लाता। वह उन्हें जूते मारता। लातें मारता।

× × ×

लेकिन न्याय न्याय था।

सुल्तान न्याय की मूर्ति था। सुल्तान रिश्वत लेने वाले को कड़ी सज़ा देता। अगर पटवारी सरकारी अफ़सर के नाम अपने खाते में एक जीतल का भी हवाला देता तो कड़ी सज़ा दी जाती। अफ़सर को न हिंदू से रिश्वत लेने का अधिकार था, न मुसलमान से।

× × ×

सुल्तान सोचता रहा। सोचता रहा।

उसने फ़ौज के सिपाहियों के लिए सस्ती कीमत तय कर दी थी। नाज सरकारी खालसा गाँवों में इकट्ठा हो जाता। लगान रुपयों के रूप में नहीं, नाज के रूप में लिया जाता। दोआब के किसानों की साँस में बग़ावत थी। फ़ौजें और सरकार एक किसान के पास दस मन से ज्यादा नाज ही नहीं छोड़ते थे।

और इस प्रकार प्रजा को जकड़ कर सुल्तान सब पर हावी हो गया था। वह स्वतंत्र, निरंकुश और सर्वेसर्वा था। अमीर खुसरो की पहेलियाँ, शेखनिज़ामुद्दीन औलिया और शेफ रुक्नुद्दीन उसके साम्राज्य का वैभव फैला रहे थे। अमीरखुसरो भारतीय संगीत में ईरानी संगीत मिलाता जा रहा था।

× × ×

सुल्तान प्रसन्न था। जिधर देखता था उधर ही उसे यंत्र की भाँति चलता हुआ जीवन दिखाई देता था।

× × ×

सुल्तान शय्या से उठ खड़ा हुआ। उसने हाथ बढ़ाकर डंके पर चोट दी। वह चोट साम्राज्य में गूँजने लगी। व्यक्ति की तृष्णा सर्प की भाँति अपने आप फुफकार उठी। किंतु वह इंसान की हविस थी, उसने अपने आपको डसना चाहा और यहीं उसकी विषज्वाल नंगी होकर लपलपाने लगी।

उसके हाथ दक्षिण और पश्चिम को जकड़ने के लिए लालायित हो उठे थे।

भाग-3

चर्पटनाथ का क्रोध : चर्पट बदल गया है

1

घोड़ों पर योगियों की एक टुकड़ी जा रही है। नंगे बदन, देह पर भस्म लगी है। कछोटा बाँधे हैं। हाथों में त्रिशूल और लगाम है। पीठ पर ढाल लगी है और कमर में खड्ग। दूसरी ओर कटारें लटकी हैं। माथों पर त्रिपुण्ड लगे हैं। चौड़े वक्षों पर रुद्राक्ष की मालाएँ हैं और कोई-कोई लोहे का कवच भी बाँधे है।

वे गा रहे हैं। उनका गीत निर्जन पथ में गूँज रहा है—

झूझंति सूरा, बूझंति पूरा
अमर पद ध्यावंत गुरू ग्यान बंका,
दल की मारि जंजाल को जीति ले,
निर्भय होइ मेटि ले मन की संका।

मोटा स्वर, भारी है और अब दोनों ओर के अनगढ़ पत्थरों से टकरा रहा है। घोड़े कद्दावर और ऊँचे कूल्हे वाले हैं। उनके चलते वक्त उनकी लंबी पूँछों और अयाल के बाल हिलते हैं क्योंकि मोटी और टेढ़ी गर्दनों के नीचे ऊँचे मांसल वक्ष हैं। लगता है घोड़े भी सन्नद्ध हैं। नंगी पीठों पर कंबलों पर बैठे वे योगी निर्भीक शीश उठाये हैं।

आगे वाला गाता है, जिसके स्वर को पकड़ कर सब गाते हैं। संभवतः यह गीत सबको याद है : लो वह गा उठता है—

अभूझि झूझि लै पैस दरिया,
मूल बिन वृक्ष अमीरस भरिया।
तन मन लै करि शिवपुर मेला,
ग्यांन गुरु जोगी संसार चला :

और यह पंक्ति बोलते ही उनमें असीम साहस और विश्वास भर जाता है। ज्ञानवान गुरु जोगी है, संसार चेला है।

फिर उठता है गीत—

मन राइ चंचल थान थिति नाँहीं,
बाँधि ले पंचभूत आत्मा माँही,

अलष अकथ चषु बिन सूझिया,
सिद्ध का मारग साधकै बूझिया···
बूझियाऽऽऽ बूझियाऽऽऽ बूझियाऽऽऽ

विभोर है इस मार्ग की कल्पना। एक आदर्श है जिस पर एक दिन मनुष्य की रम्मत होगी।

और आगे वाला फिर हाथ उठाकर गाता है जिससे त्रिशूल आकाश में उठ जाता है—

उलटि यंत्र धरै
सिषर आसण करै,
कोटिसर छूटतां घाव नाहीं,

निर्भय को कैसा भय! अरे करोड़ों तीरों से भी घाव नहीं लगता। ऐसा है वह आनंद ऊर्ध्व चेतना का!

और भी उन्नद्ध स्वर है—

सिलहट मध्ये कौवरू जीतले,
निर्मल धुनि गगन माही···

और आकाश मानो उस गंभीर घोष से प्रतिध्वनित होने लगता है···

मन की भ्रमना तब छूटत होइ जो गीद्र
जब विचारंत निहसब्द की वाणी,
नैण के दांता सार धरि पीसिबा
तब योग पद दुर्लभ सत्य करि जाणी···

योग पद! इसे कौन छीनेगा इनसे! कौन छीनना चाहता है साधना का अधिकार! किसमें साहस है जो कुचल सके! किसका धर्म सत्य के इस महान् सूर्य्य को भी ग्रस लेगा!

उलटि गंगा चलै,
धरणि ऊपर मिलै,
नीर में पैसि करि अग्नि जालै,
घटहि में पैसिकर
कूप पानी भरै
तद पाइ परि पुरुपा आय उजालै···

उस निराकार पुरुप की प्राप्ति होगी इसी योगमार्ग से न? इसे कैसे छोड़ा जाये!

ग्यान के प्रगटे
श्रीम्यंभूनाथ पाया···
अकल अकथ जती

गोरखनाथ ध्याया···[1]

ध्यायाऽऽऽ ध्यायाऽऽऽ ध्यायाऽऽऽऽ

स्वर गूँजता चला जा रहा है।

ढालों पर त्रिशूलों की रगड़ से झनझनाहट आती है। मज़बूत जाँघों के नीचे घोड़े दबे हैं। शृंगी झूलती जा रही हैं और शंख पीठों पर पड़े हैं।···

आगे वाला पुकारता है—अलख···

योगिदल गरजता है : निरंजन !!

दूर तक स्वर फैलता है···

फिर कोई चिल्लाता है : गुरु गोरखनाथ की···

भीमस्वर उठता है···जय···

आगे वाला घोड़ा रोक देता है ।

सब पास आ जाते हैं।

आगे वाला कहता है : "धंगरनाथ !"

"आज्ञा गुरुदेव ! आदेश !"

"गोरखपुर कितनी दूर होगा ?"

"अभी सौ कोस और !"

"तो रात को कहाँ रुका जाये ?"

"आदेश गुरु ! यहीं उधर वन है। उस ओर चलना ही उचित होगा। पास ही गाँव है। वहाँ से भोजन भी मिल जायेगा। और वहीं का इंगित है कि सिद्ध चर्पटनाथ और झंगरनाथ भी आयेंगे।"

आगे वाला धूर्मनाथ है। घोड़े से उतर पड़ता है।

उसके उतरते ही वे भी उतरते है और सामने के घने पेड़ों की आड़ में चले जाते हैं।

धूर्मनाथ के लिए धंगरनाथ कंबल बिछाता है।

धूर्मनाथ बैठकर पाँव फैलाता है। मोटी और लोहे की सी जंघाएँ हैं। नयनों में निर्भीकता है। यह ब्रह्मचारियों का दल है।

धूर्मनाथ कहता है : "गाँव कौन जाएगा ?"

"मैं ही जाता हूँ।"

"तो वह लूटा हुआ सोना उन्हें ही दे दो, और मत बोझ डालो उन पर। तुरकों ने छोड़ा ही क्या है ? तुरकों से जो हम लेते हैं, उन्हीं को देने दो।"

"यही मैंने सोचा था गुरुदेव !"

गुरु के नयन स्निग्ध हो जाते है। कहता है : "मैं तो योगी भी नहीं। किंतु यदि महायोगी गोरखनाथ को ऐसी जान हथेलियों पर लेकर चलने वाला योगिदल

1. तुलना करिये कबीर की कविता से—काल की रेख पर मेख मारै।

मिलता तो यह बर्बर नहीं रहते !"

"गुरुदेव ! उन्होंने क्या सिंध के पीर को दण्ड नहीं दिया था ?"

"जाओ वत्स ! गुरुदेव गोरख तुम्हारी रक्षा करें।"

2

रात घना चली है।

धूर्मनाथ कहता है : "धंगरनाथ अभी नहीं आए।"

"आ गया गुरुदेव !" पेड़ों के पीछे सुनाई देता है।

वे देखते हैं। और पीछे मशालें जल रही हैं।

धंगरनाथ आकर खड़ा है। असंख्य ग्रामीण आए हैं। स्त्रियाँ भी, पुरुष भी।

"अरे !"

यह तो खाने-पीने की चीजें आ रही हैं। आटा। घी। तेल ! दाल, बूरा। दूध, दही।

लोग धूर्मनाथ के पाँव छूते है। स्त्रियाँ ढोक देती हैं। बच्चे धरती पर लेटकर दण्डवत कर रहे हैं। फिर वे सब जोगियों को प्रणाम करते हैं।

"मूल्य दे दिया धंगरनाथ ?" धूर्मनाथ का स्वर गूँजता है।

"कोई नहीं लेता गुरुदेव !" धंगर कहता है। "कहते हैं एक तो जोगी परमात्मा के प्यारे हैं, इस देश में भगवान शंकर के गण हैं। उनसे मूल्य लेकर क्या नरक में जाना है ? फिर जब वह भैरव की सेना आई है हमारी रक्षा करने, धर्म की स्थापना करने, तब क्या हम ऐसे कृतघ्न बन जायेंगे।"

एक वयोवृद्ध राजपूत है यह।

आगे आता है। साथ में है गाँव का पूज्य पंडित।

राजपूत हाथ जोड़ता है। ब्राह्मण हाथ उठाकर आशीष देता है। और कहता है : "जोगियों की वंदना करता हूँ। ब्रह्मचारी नारायण और शिव का रूप होता है। क्या हिंदुत्व मर गया है कि म्लेच्छ से युद्ध करने वाली यह भगवान कल्कि की सेना हमारी सेवा बिना प्राप्त किये चली जाये ?"

योगी गद्‌गद होते हैं।

धूर्मनाथ उठ कर कहता है : "पंडित महाराज ! यह धन हमें तुर्कों से लड़ने में मिला। जिनका धन है वहीं लें। योगी संचय करके क्या करेगा ! मूल्य नहीं लेंगे तो परंपरा बिगड़ेगी। जब है तो लें, जब न होगा तब न लें। योगी घी-दूध क्या करेगा ? वह तो चाहिए साधना के समय। इस समय चने काफ़ी होंगे।"

"साधना कहाँ होगी पंडित महाराज !" धंगरनाथ कहता है : "तुरक तो इस भूमि से यह रूप ही मिटा देना चाहते हैं।"

वृद्ध राजपूत कांपते स्वर से कहता है : "योगी ! योगिराज कृष्ण ने असुरों को मारा था। गुरु गोरखनाथ की सेना भी विधर्मियों का विध्वंस करेगी। यदि यह नीच जातियाँ और शाक्त और बौद्ध मुसलमान न होते तो इस देश में यह विदेशी थे ही कितने ?"

धूर्मनाथ कहता है : "मुसलमान होकर वे भूल कर रहे हैं। ठाकुर ! योगिमार्ग में सबके लिए जगह है। किंतु इस देश से धर्म नष्ट नहीं होने पायेगा, क्योंकि···"

वृक्षों के पीछे घोड़ों की टाप सुनाई देने लगती है।

धूर्मनाथ चिल्लाता है : "सावधान !"

तुरंत योगी घोड़ों पर कूद कर सवार होते हैं और झंगरनाथ त्रिशूल उठाकर चिल्लाता है : "अलख···"

वृक्षों के पीछे से प्रचण्ड स्वर आता है : "निरंजन !!"

फिर कोई चिल्लाता है वृक्षों के पीछे से—आदिनाथ नाती मछिंद्र ना पूता···

इधर से जोगी गरजते हैं : "गुरु गोरखनाथ की जय !"

मशालें फरफराती हैं।

"कौन ?"

"गुरुदेव चर्पटनाथ !"

धूर्मनाथ उतर कर चर्पट के पाँव पकड़ कर कहता है . "आदेश गुरुदेव ! सिद्ध चर्पटनाथ के चरणों में प्रणाम करता हूँ। वीरभद्र कहाँ है ?"

"झंगरनाथ !" सिद्ध चर्पट घोड़े से उतर कर कहता है—"पीछे है।"

अब असंख्य हो गए है वे जोगी। कुछ रोटियाँ सेंकने में लग गये है। जगह-जगह चूल्हे बन गए हैं और कोई पानी ले आया है, तो किसी ने आटा गूंध लिया है और लपटें उठ रही हैं। एक धूनी बीच में रमा दी गई है। उसके पास धंगरनाथ झंगरनाथ, धूर्मनाथ, चर्पटनाथ, फटकनाथ, पंडित और वृद्ध जमीदार राजपूत बैठ गए हैं। बाकी ग्रामीण और उनके परिवार कौतूहल और श्रद्धा से हटकर बैठे हैं।

लपट खेलने लगी है। उसका प्रकाश मशालों के प्रकाश के साथ अब अंधकार में फरफराने लगा है।

"इस गाँव में तो तुर्क नहीं आए ?" पूछता है चर्पटनाथ।

"गाँव में क्या छोड़ा है ?" पंडित कहता है—"हनुमान का मंदिर था, उसे नष्ट कर गए। पंद्रह स्त्रियाँ छीन ले गये। बलपूर्वक आठ आदमियों को माँस खिलाया और जैन मंदिर की सब पुस्तकें जला डालीं।"

झंगरनाथ कहता है : "वह अलख जगाने की आवश्यकता है जिसे नामदेव ने पंजाब में जगाया है। गुरुदासपुर के घोमान गाँव में नामदेव ने ठाकुर-द्वारा बना के ही छोड़ा। तुर्कों ने पूरा जोर लगा लिया पर नामदेव ने ऐसा मंत्र लोगों में भरा कि लोगों की भीड़ें टूट पड़ीं। जहाँ मंदिर मठों की शंखध्वनि बंद हो गई, वहाँ

अब दिनबहाड़े कीर्तन प्रारंभ हो गए हैं। यह देश मत्स्येंद्र और गोरखनाथ का देश है। यहीं आदिनाथ ने योगमार्ग प्रवर्त्तित किया था। यही शिव, विष्णु और ब्रह्मा का देश है। यहीं देवी ने लोक में अनेक दर्शन दिए हैं। जो जोगी मुसलमान हो गए हैं, पहले तो वे इसके विरुद्ध थे कि जोगियों पर मुला (मुल्ला) आक्रमण करें। किंतु अब उन्हें मुलाओं ने लालच देकर बहका लिया है। वे गुरु गोरखनाथ के शिष्य अब महमद को ही गुरु से भी ऊँचा मानने लगे हैं। काजी महंमद महंमद करता है। ऐसे 1 लाख 80 हजार पैकंबर (पैगंबर) हो चुके हैं। जीव और जीव साथ रहते हैं। वे हत्या करके रक्त माँस का सेवन करते हैं? सबको अपने ही गोत्र का क्यों नहीं समझते? अपने पुत्र को क्यों नहीं देखते?"

झंगर का स्वर भर्राने लगा है।

चर्पट कहता है: "शरीर धारी! तुम जीव हत्या करते हो! उस पंचभूत के मनमृग को मारो जो तुम्हारी बुद्धि रूपी बाड़ी को चर रहा है। योग का तो मूल ही दयादान है। गोरख ने तो कहा है कि हे मनुष्य! मुक्ति चाहता है तो मन को मार, जिसके न शरीर है, न माँस, न रक्त और न वर्ण है।

और फटक कह उठता है--

सबद हमारा षरतर साँडा
रहणि हमारी साथी
लषै लिषी न कागदमाडी
सो पत्री हम बाची।

चर्पट गंभीर स्वर से कहता है: उत्पत्ति से हम हिंदू हैं और जरणां से हुए हैं योगी, वैसे हम पीर भी हैं किंतु हम किसी के दास नहीं हैं। सब वर्णों के अलग-अलग कर्म हैं—

तटि तीरथ ब्रह्मणि के करमा,[1]
पुंनु दान खत्री[2] के धरिमा[3]
वाणिज विउपार,[4] बैसनो[5] के करिमा,
सेवा भाउ सूधि[6] के धरमा,
चारों वरनि इहु चारो धरमा,
चरपट प्रणिवै सुणिहो
सिधु मनु वसि कीए जोगी के धरमा।

चर्पट की बात सुनकर पंडित पुलक उठा है। वह कहता है: "ठीक कहते हैं योगी। यही धर्म है। और इसी धर्म का यदि कोई नाश कर रहा है तो वह यह विदेशी तुर्क हैं, और पीछे डोल रहे हैं यह नीच जो धर्म बेच चुके हैं। योगिराज

1. कर्म, 2. क्षत्रिय, 3. धर्म, 4. व्यापार, 5. वैश्यों, 6. शूद्र।

कृष्ण ने कहा है—स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मो भयावह।"

"अपने धर्म में मर जाना अच्छा है, पर दूसरे का धर्म भयानक है। क्या सचमुच अब कोई मार्ग नहीं ? क्या वेद पुराण और यह योगियों, संतों और परमात्मा के भेजे हुओं की पवित्र वाणियाँ नष्ट हो जायेंगी ? नष्ट हो जायेंगे यह गहन दर्शन-शास्त्र ? केवल एक किताब कुरान ही बच रहेगी ?"

"नहीं पंडित महाराज !" चर्पट कहता है—"यह काजी बुरे हैं।"

मैंने तो कह दिया था काजी से—

महंमद महंमद न करिकाजी
महंमद का विषय विचारं
महंमद हाथ करद जे होती
लोहै घडी न सारं
सबदै मारी सबदैं जिलाई
ऐसा महंमद पीरं
ताकै भरिम न भूलौ काजी
सो बल नहीं सरीरं !
नाथ कहंतां सब जग नाथ्या
गोरख कहतां गोई
कलमा का गुरू महंमद होता
पहलैं मूवा सोई।
सारमसारं गहर गंभीरं
गगन उछलिया नाद।
मानिक पाया फेरिलुकाया
झूठा वाद विबादं[1]

किंतु वह बोला यह कुफ्र है।

तब मैंने स्पष्ट कहा—

1. ओ काजी मुहम्मद मुहम्मद मत कर। मुहम्मद के विचार पर विचार कर। मुहम्मद के हाथ में जो छुरी थी वह न लोहे की थी न इस्पात की। वह तो वचन की मार मारता था, उसी से जिला देता था. ऐसा पीर था मुहम्मद। इसलिए ओ काजी ! भ्रम में न भूल ! वह बल तुझमें कहाँ है ? नाथ अर्थात् लोक को वश में रखने वाला नाम होने पर भी लोक को नाथ डाला गया है। गोरख कहकर भी आध्यात्मिक जीवन छूट गया है। इसी तरह कलमा के शब्द दुहरा लेने से क्या होता है? कलमा देने वाला गुरु मुहम्मद ही मर गया है पहले। अब ब्रह्मरन्ध्र पर अनाहत नाद सुनाई दिया तो गहन गम्भीर सार का भी सार मिल गया, वह मानिक मिल गया पर तुम्हारे लिए छिपा रह गया, यह वाद-विवाद सब झूठा है। उसी तत्त्व को पकड़ो।

उतपति हिंदू, जरणाँ जोगी,
अकलि पीर मुसलमांनीं
ते राह चीन्हो हो काजी
मुलां ब्रह्मा बिस्नु महादेवमांनीं[1]।

"धन्य है।" वृद्ध राजपूत विभोर स्वर से कहता है।

"किंतु उसका परिणाम क्या हुआ जानते हो?"

सब ही देखते हैं।

"युद्ध !"

"फिर !"

"लोग उठ खड़े हुए हमारे साथ। हमने लुटेरों को काट डाला।"

"जय गुरु गोरखनाथ !" झंगरनाथ चिल्ला उठता है।

सब पुकार उठते हैं, आवेश छा गया है।

उसी समय एक व्यक्ति आकर कहता है—"जोगी महाराज !"

वे देखते हैं।

रक्त मे भीगा है वह !

"कौन हो तुम ?"

"तीन कोस पर हमारा गाँव लुट रहा है।"

"क्यों ?"

"फौजी आये हैं। राज्य ने फौजियों के नये भाव कर दिये हैं। टके का अस्सी मन नाज लेते हैं। पर अब जबरन करके अँधेरे में माँगा 100 मन। नही दिया तो बलवा हो गया।"

"अलख !" चर्पटनाथ उठकर उछलकर घोड़े पर बैठता है।

और जोगियों की भीड़ घोड़ों पर चढ़ती-चढ़ती पुकारती है: "निरंजन !!"

देखते ही देखते पकी अधपकी रोटियाँ छोड़कर वे जोगी घोड़े दौड़ा देते है।

और पंडित कह रहा है: "ठाकुर ! फिर भारत भूमि में पुण्य छायेगा, फिर धर्म लौटेगा !"

3

ऐसे न जाने कितने छोटे-छोटे युद्ध होते हैं, और उत्तर भारत में पंजाब से बिहार तक घोड़ों पर सवार योगियों के दल घूमा करते हैं। जब समय मिलता है तब वे आसन इत्यादि कर लेते हैं, अन्यथा ब्रह्मचर्य्य ही उनका योग साधन है।

---

1. उत्पत्ति से हम हिंदू हैं, करनी से जोगी हैं। अकल से मुसलमान पीर। हे मुल्ला काजी वह राह पहचानो जो ब्रह्मा, विष्णु और महादेव ने मानी थी।

उनकी कट्टरता किसी भी तरह तुर्कों से कम नहीं है।

चर्पटनाथ कहता है : "मुसलमान बुरे नहीं। महंमद स्वयं पीर था। लेकिन यह क़ाज़ी बुरे हैं जो हमारे सब कुछ को नष्ट कर देना चाहते हैं। बाकी कुछ नहीं छोड़ना चाहते।"

और मुसलमान जोगी दुविधा में पड़े हैं। अब भी उनके घरों में देवी पूजा चलती है, वे गोरषवानी गाते हैं, भगवान शंकर की बरात का वर्णन गाते हैं[1], और योगी कहते हैं कि हम तो धर्म की सेना हैं, हम तो धर्म के रक्षक हैं···धर्म है भारतीय संस्कृति···

और जितना ही वे प्रजा की ओर मे तलवार उठाते हैं, उतना ही शासक वर्ग उनके विरुद्ध होता जा रहा है। शासक हैं विदेशी, किंतु उनकी राज्य की प्यास इस्लाम की आड़ लेती है और इसमें ईरानी संस्कृति के संरक्षक मुल्ला घी डालकर आग को भड़काते हैं···और धर्म की आड़ मे विदेशी सेना को न्याय प्राप्त होता है··· लूटने का, बलात्कार का साम्राज्य विस्तार का, क्योंकि अब इस न्याय से काफ़िर को मारना एक न्याय-संगत विषय बन जाता है; साम्राज्य की तृष्णा धर्म की आड़ में जागती है···उधर प्रजा प्रायः हिंदू है, उसका शासकों के विरुद्ध विद्रोह कहलाता है मुसलमानों के विरुद्ध विद्रोह···; और ईरानी संस्कृति जब भारतीय संस्कृति को कुचल डालना चाहती है, तब भारतीय संस्कृति सिर उठाती है और उसका नाम बनता है हिंदुत्व—शासकों के शब्दों में—कुफ्र, और इस तरह गोरख के शिष्य—योगी, जो ब्राह्मणवाद के विरुद्ध हैं, संस्कृति की रक्षा के प्रयत्न में कहलाते है···हिंदू और जैनों की भाँति वे भी हिंदुओं के निकट आते जा रहे हैं क्योंकि विदेशी मुसलमान दोनों में भेद नहीं करते···तुर्क तोड़ते हैं मंदिर···वे नाथ मठ और अन्य हिंदू मंदिरों का भेद नहीं करते···

कुरआन का लेख कहता है कि जिन जातियों के पास धर्म ग्रंथ है वे काफ़िर नहीं हैं, भारत में अनेक धर्म ग्रंथ हैं। अब भी सबसे पूज्य है वेद···अतः शासको का जज़िया लेना कुरआन के हिसाब से अनुचित है···किंतु साम्राज्य अपनी भूख रखता है···इसलिए क़ाज़ी मुल्ला और शासक कहते हैं कि यहाँ अनेक देवता हैं···अनेक संप्रदाय है···यह मूर्तिपूजक हैं···अतः काफ़िर हैं···और संघर्ष बढ़ता जाता है···

बढ़ती जाती है राज्य की सीमा···बढ़ती जाती है लूट···उधर प्रजा का विद्रोह बढ़ता है···एक हो रहे हैं सब···वेद की छाया में सब एक हो रहे हैं··· संस्कृति के लिए हो रहे हैं एक···खेतों और पेट के लिए हो रहे हैं एक···प्रजा का हाहाकार एक किये दे रहा है···योगी खड्ग लिये घूमते हैं···और सुनते हैं शासक··· और दिन-दिन टक्कर होती है···तुर्क निकलते हैं जिहाद करने···मरे तो मीर,

1. जिसका रूप अब तक मुसलमान जोगियों के यहाँ बम् लहरी के रूप से विद्यमान है।

और गाज़ी, जिये तो बादशाह होकर···जोगी हैं···मरे तो अलख निरंजन···और जिये तो आदिनाथ के मार्ग की स्थापना···दो संस्कृतियों की मुठभेड़ है···दोनों कट्टर हैं···दोनों भयानक हैं···एक है शोषक···एक है शोषित···

और अब गाँव-गाँव में विद्रोह उठ रहा है, उठ रहा है, उठ रहा है प्रचण्ड निर्घोष···

स्त्रियाँ गाती हैं···

जोगियों के ठट्ठ घूमते हैं···

लहू बोलता है धरती पर गिरकर···

तब जोगी की तलवार आकाश की ओर उठती है···

और गूँजती है प्रतिध्वनि···

खेत ललकारते हैं उन घोड़ों को जो उन्हें रौंदने आते हैं···

धरती में से अंगारों की पाँति सी चमकती है कटे सिरों की लहूलुहान शहादत···

उधर नामदेव जगा रहा है सोये हुओं को—भक्ति में समेटे ले जा रहा है··· 'नीचों' को उठा रहा है···इधर सशस्त्र जोगी दहाड़ रहे हैं···सिंध से गंगा तक विक्षोभ उमड़ रहा है···जोगियों के घोड़े जब दौड़ते हैं तब लगता है महाकाल जाग उठा है···

एक ओर तुर्क वीर अपने साथ असंख्य उत्तर पश्चिम की विदेशी और सन्नद्ध जातियों के साथ गरजते हैं—अल्लाहो अकबर···

दूसरी ओर वीर योगी कुचली हुई जनता के साथ दहाड़ते हैं—अलख निरंजन···

खाँडे पर खाँडा गिरता है, जैसे बिजलियाँ टकरा गई।

दोनों ओर अपना-अपना विश्वास है, दोनों ओर धर्म के नाम पर मर मिटने वाली तृष्णा है, परंतु एक ओर की तलवार गिरती है धन की प्यास में, और दूसरी ओर की तलवार उठती है उस धन की रक्षा के लिए।

कठोर मुद्रा वाले तुर्क भीम शक्ति से प्रचण्ड गर्जन करते हैं···

और कठोर आकृति वाले जोगी उन्नद्ध स्फूर्ति से ललकारते फिरते है आततायी को···

दुपहर का समय हो गया है···

घोड़े भाग रहे हैं···

उनके पीछे धूल उड़ रही है···

यह घोड़े भी बगावत के निशान हैं, क्योंकि अलाउद्दीन का स्वप्न है कि प्रजा को इतना गरीब बना दो कि वह घोड़ा तक न रख पाये···और जोगी देख रहे हैं··· महादेव, देवी, भैरव, हनुमान···सबके मन्दिर इरादतन तोड़े गये हैं···वे जिधर

जाते हैं उधर उन्हें हाहाकार सुनाई देता है। तब उनकी मांसपेशियों में लहू मचलता है उमड़कर उसे फाड़ निकलने को···

प्रयाग की छाती पर जहाँ गंगा और यमुना मिली हैं, जहाँ लोग कहते हैं कि एक अदृश्य सरस्वती भी है···सरस्वती यानी वाणी यानी संस्कृति का ज्ञान··· वहाँ मेला जुड़ रहा है···पर्व स्नान के लिए स्त्री पुरुष आ रहे हैं—हजारों वर्षों से आते रहे हैं तब भी आते थे जब नागों का यहाँ राज्य था···तब भी आते थे जब नाग और आर्य्य मिलकर एक हो गये और तब इसी तीर पर वेद मंत्रों के साथ लोग नहाते रहे···तब भी आते थे जब जैन, बौद्ध और ब्राह्मण तथा अवैदिक शैव और शाक्त···सब अलग-अलग थे, और आज भी आये हैं···वे नहीं जानते वे कब से आते हैं—वे समझते हैं कि जब आदिकाल में कभी समुद्रमंथन हुआ था, वे उससे भी पहले से यहाँ आते रहे हैं···यहाँ धुर दक्खिन रामेश्वरम् से काश्मीर तक और कामरूप से कच्छ तक के विभिन्न रूपों, आकृतियों और भाषाओं के लोग न जाने कब से आते रहे हैं···यहाँ न जाने कितने इतिहास करवट बदल चुके हैं··· यहीं वासुकि ने धर्म चक्र का प्रवर्त्तन किया था, यही अक्षयवट है जिस पर मार्कण्डेय को नारायण ने शाश्वत जन्म, मरण, सृष्टि और प्रलय दिखाया था, यहीं सिद्धों ने अमर गीत गाये थे, यहीं आदिनाथ के नाती मछिन्द्र के पूत ने धूनी रमाई थी, यहीं शंकर और कुमारिल भट्ट ने तर्क किये थे···ऐसी है यह सनातन पृथ्वी, यहाँ की पवित्र धारा में आते हैं नहाने भील, मुण्डा, संथाल, ब्राह्मण, जैन, शैव, योगी और न जाने कौन-कौन···किंतु अब तुर्क इसे रोकना चाहते हैं, वे इसे कुफ़ मानते हैं। जल में नहाने से मुक्ति नही होती, कौन नही जानता कि तीर्थ है, किंतु तुर्क कैसे रोक सकते है इसे ? वे भी तो मक्का जाते हैं। वहाँ क्या वे पत्थर पर ही सिर नहीं रगड़ते ? परब्रह्म कहाँ नहीं है ? फिर वे उसे पूज्य क्यों कहते हैं ?

अतः घोड़े दौड़ रहे है और प्रयाग की रक्षा के लिए ठट्ठ के टट्ठ टूट रहे हैं··· तूफ़ान की तरह, आँधी की तरह उनके घोड़ों के दौड़ने से धूल उड़ती है, मार्ग में गाँव वाले जय-जयकार करते हैं···

चर्पटनाथ का पसीना अब बहने लगा है।

"झंगरनाथ !"

"गुरुदेव !"

"प्रयाग कितनी दूर है ?"

"दूर नहीं है गुरुदेव !"

"आज त्रिवेणी में योगी स्नान करेंगे। योगियों का झंडा धारा में नहायेगा। यह वही त्रिवेणी है न जहाँ सिद्धों ने अमर काया ग्रहण की थी ?"

"गुरुदेव ! इसी गंगा को भागीरथ लाया था। स्वयं महादेव ने पतितपावनी को अपने सिर पर झेला था, एक स्त्री को आते देखकर साक्षात् शक्ति भी ईर्ष्यालु

हो उठी थी। तभी त्रिपुर भैरवी को अपना हृदय दिखाया था महादेव ने और भैरवी ने उनके हृदय में देखी थी त्रिपुर सुंदरी···अपना ही प्रतिबिंब !

"तो झंगरनाथ, अब तुर्क वहाँ लूटेंगे ?"

फटकनाथ कहता है : "गुरुदेव, वहाँ बच्चे भी जायेंगे ।"

धूर्मनाथ कहता है : "स्त्रियाँ भी जायेंगी ।"

धंगर पुकारता है : "गुरुदेव ! वहाँ प्रजा का वे आज उत्पीड़न करेंगे।"

झंगरनाथ का स्वर तीखा हो उठता है : "मन्दिरों में घंटे और झालरें नहीं बजतीं। ग्रंथों का सस्वर पाठ नहीं होता। जिन चौराहों पर ज्ञान-विज्ञान की चर्चा होती थी वहाँ अब कुत्ते घूमते हैं, जिन घरों की स्त्रियों को सूर्य नहीं देखता था, वे अब नौकरियाँ करती हैं, जिस भूमि के किसान अतिथियों का सत्कार करते थे, वे अब अपने खंडहरों में सिर धुनते हैं, जहाँ कवि और सन्त गाते थे, वहाँ अब सियार चिल्लाते हैं, जहाँ आयुर्वेद की औषधियाँ धन्वंतरि के काल से बनती आ रही थीं, वहाँ पुस्तकें जला दी गई हैं, जहाँ अमरकाव्य थे, वहाँ हरहर महादेव कहने का भी अधिकार नहीं है···"

"और तेज़ करो घोड़ों को," चर्पट चिल्लाता है और धरती मानों हिलने लगती है···प्रतिध्वनित होता है पिसे हुओं का हृदय···

अब वे घोड़ों को जांघों मे दावे झुक गये हैं क्योंकि घोड़े लंबी उछालों के साथ सरपट दौड़ रहे हैं···

और उस तेज़ी पर भी धंगर बोलता है : "माता जगदम्बा के पीठस्थान नष्ट हो रहे हैं, स्वयं आदिनाथ के ज्योतिर्लिङ्गों का विध्वंस किया जा रहा है, जैसे एक दिन गजवनी (गज़नी) के तुर्क ने सोमनाथ का मंदिर लूटा था···"

हुंकार फूट निकलती है···

मेला लग रहा है। लोग नहा रहे हैं, कोई जप कर रहा है, कहीं खेल हो रहे हैं···सब ही हैं···न जाने कौन-कौन-सा संप्रदाय है···

हठात् कोलाहल हो उठता है···

गूंजता है स्वर···प्रचण्ड स्वर···अल्लाहो अकबर···

भगदड़ मच जाती है···घोड़े चढ़ आये हैं···कुफ्र का विध्वंस हो रहा है··· हाहाकारों पर अट्टहास मचल उठते हैं·· और तव विस्फोट की तरह प्रतिध्वनित होता है ··अलख-निरंजन···फिर भीम शंखनाद···

और तब वीरों के घोड़े वीरों के घोड़ों से टकराते हैं···अल्लाह और निरंजन के वीरों की तलवारें चलती हैं···प्रजा में साहस लौटता है···दलित प्रजा लौटती है···और साम्राज्य और प्रजा में टक्कर होती है···

त्रिवेणी में तीसरी अदृश्य सरस्वती की धार बह कर मिलती है···गंगा के श्वेत और यमुना के नीले जल में जाकर मिलता है लाल-लाल रंग—लोहू का

रंग···

बहुत तुर्क मारे जाते हैं, शेष भाग जाते हैं। योगियों के वक्षस्थलों पर घाव लगे हैं, ग्रामीण अब मुक्त होकर नहा रहे हैं, ग्राम वधुएँ योगियों के पराक्रम के गीत गा रही हैं, लोग उनके चरणों पर लाकर बच्चों को ढोक दिला रहे हैं, गंगा में दीप बह रहे हैं···

जय···

जय माता गंगे···

आदिनाथ ने तुझे शीश पर धारण किया है···

तूने पवित्र किया है इस वसुंधरा को···

जोगी उत्पत्ति से हिंदू है और हिंदू ही सिद्ध हो रहे हैं···

उनका वेश ही साक्षात् महादेव का है···

चर्पटनाथ त्रिवेणी में उतर कर झंडा डुबाता है।

और भीड़ें चिल्लाती है···जय!

गुरु गोरखनाथ की जय···!

जय-जयकार हवा पर सिंहों की तरह दहाड़ता दिल्ली की ओर भाग रहा है···

और एक योगी भागा आता है घोड़े पर···

"कौन ?" चर्पट कहता है—"प्राणनाथ ! तू कैसे आया ! गोरखपुर से ?"

"गुरुदेव का बनाया मंदिर खतरे में है योगी।" प्राणनाथ कहता है। सुल्तान ने गोरखपुर में नाथों का मंदिर नेस्तनाबूद करने की आज्ञा दे दी है, क्योंकि वही योगियों का सर्वमान्य पीठ है, और वहीं से विद्रोह का संचालन होता है···"

चर्पट घोड़े पर चढ़ता है और गरजता है— "गोरखपुर की ओर वीरो ! सूर-माओ ! गुरुदेव के मंदिर के लिए···"

"यम को भी काट देंगे !" चिल्लाते हैं योगी।

और घोड़े भागते हैं···

पूर्व की ओर···वहाँ जहाँ आदिनाथ के नाती मछिंद्र के पूत आदिनाथ के अवतार महायोगी गोरक्षनाथ ने धर्म की स्थापना की थी···

अलख निरंजन···जय महादेव···हर-हर महादेव···गोरखनाथ की जय··· म्लेच्छों का नाश हो···

प्रतिध्वनि···प्रतिध्वनि···अब जगह-जगह आग की तरह संवाद फैल रहा है और योगियों की सारी लपटें उमड़ चली हैं गोरखपुर की ओर जहाँ वे सब महारुद्र के तीसरे नयन की भाँति खुलकर महावह्नि से धू-धू करके धधक उठेंगे···

4

जंगल । बियाबान ।

झंगरनाथ चर्पटनाथ के मुँह पर पानी के छींटे देता है ।

चर्पटनाथ नहीं जागता ।

वह हवा करता है···

एक बार उनींदी-सी आँखें खुलती हैं···

झंगर पानी पिलाता है···

चर्पट जागता है···

उसका हाथ झंगर के चौड़े कन्धे पर लगता है । लहू से भीग जाता है । उस कन्धे से बहते लहू को चर्पट अपने माथे पर लगाता है, और फिर मूर्च्छित हो जाता है···

झंगर उसे लिटाकर खड़ा हो जाता है । घास में घोड़ा चर रहा है । उसके बाँये भाग से खून बह रहा है । झंगर उसे पुचकारता है । घोड़ा कान खड़े करके देखता है और पास आ जाता है । झंगर उसे सहलाता है और कहता है : "पवन ! मैं जंगल से लकड़ियाँ लाने जाता हूँ । तू गुरुदेव के पास खड़ा चौकसी करता रह । दूर नहीं जाऊँगा । कोई खतरा हो तो मुझे पुकार कर बुलाना ।"

घोड़ा फरफराता है ।

झंगर जंगल में घुस जाता है ।

साँझ हो गई है । झंगर की दवा से घोड़ा स्फूर्ति पा रहा है । और चर्पट नाथ जाग उठा है···

"कौन ? झंगर !"

"गुरुदेव !"

"झंगर, युद्ध का क्या हुआ ?" वह उठने लगता है···

"लेटे रहिये गुरुदेव ! लेटे रहिये, नहीं तो घाव फिर फट जायेगा···

"फट जाने दो झंगर···मुझे बताओ···"

"मुल्तान की विशाल सेना और आ गई थी ।"

"फिर आप घायल होकर घोड़े से गिर पड़े थे···"

"फिर ?"

"योगी समुदाय अन्त तक लड़ता रहा···किंतु···"

"किंतु···"

"अन्त में सब कट गये···मैं भी गिर पड़ा···"

"तब···"

"मुझे याद नहीं···"

"फिर···"

"जब मुझे होश आया, मैंने एक मलवे का ढेर देखा···"

"किसका झंगर···"

"उसी मन्दिर का जिसकी नींव आदिनाथ के नाती मछिंद्र के पूत ने रखी थी·

चर्पट की आँखें भर आई हैं···

"झंगर, क्या प्रलय हो गया···"

"हाँ गुरुदेव ! तीन बार जब जोगियों ने सुल्तान की विराट वाहिनी के दाँत खट्टे कर दिए और वीरवज्र से जोगियों ने उसे उखाड़-उखाड़कर लौटा दिया तब उसने सारी शक्ति लगा दी और···"

"और···"

"उन्होंने मन्दिर की नींवें तक उखाड़ कर फेंक दीं···"

चर्पट रोने लगा है।

"रोयें नहीं गुरुदेव ! मन्दिर फिर उठेगा," झंगर कहता है—"कहते हैं एक दिन नरकासुर पृथ्वी को ही ले गया था, परन्तु विष्णु उसे फिर निकाल लाये थे···"

अवरुद्ध कण्ठ, आँखों में पानी और पानी में अंगार, फिर भी घायल और कुचले हुए का विक्षुब्ध विद्रोह···

"आह···" चर्पट की कराह।

झंगर पानी डालता है मुँह में।

चैतन्य होकर चर्पट कहता है : "फिर?"

"जब मुझे होश आया मैंने देखा चारों ओर जोगियों की लाशें पड़ी थीं। सियार, कुत्ते और चील-गिद्ध उन्हें फाड़-फाड़ कर खा रहे थे। देखा मैंने। मेरे पास ही पवन खड़ा था···न जाने कब से भूखा···मुझे जागते देख हिनहिनाया···तब मैं उठा और आपको ढूंढ़ा···फटकनाथ का सिर कटा पड़ा था···धंगर का धड़ अलग था···परन्तु वह चार तुर्कों की लाशों पर था और पाँचवें के शरीर में घुसा उसका त्रिशूल अब भी उसके कटे धड़ के हाथ में मौजूद था···मैंने देखा धूमनाथ··· मन्दिर के हाथी की लाश के सामने चार टुकड़ों में पड़ा था, परन्तु उसके सामने तुर्कों की लाशें थीं···मैं गिन नहीं पाया···दस-बारह होंगी···चंपानाथ···प्राणनाथ··· सब वहीं पड़े थे···जगह-जगह धुआँ उठ रहा था···और असंख्य लाशें पड़ी थीं। असंख्य तुर्क थे। लेकिन फिर भी वे हमसे बहुत अधिक थे···बहुत अधिक थे···तब मुझे आप मिले···घायल···छाती पर घाव लिये···देखा···धमनी अभी बज रही थी···पवन को बुलाकर आपको चढ़ाया और अँधेरा होने लगा तब धीरे-धीरे ले आया···उस समय तुर्क सिपाही दूर खाना बना रहे थे···और उनके घोड़े हिनहिना

रहे थे···"

झंगर रो पड़ा है···

चर्पट की आँखें पानी से धुंधली हो गई हैं···

"झंगर ! हम भी मर जाते···"

"नहीं गुरुदेव ! फिर तो सब ही डूब जाता। गुरु गोरखनाथ ने बचाया है आपको, फिर से जगाने के लिए, फिर से आग फैलाने के लिए···शिव-शक्ति मिलन के रस से फिर जीवन्मुक्ति का स्वाद लोक को चखाने के लिए···"

चर्पट चुप हो गया है। झंगर भी।

फिर वह उठकर पवन के पास जाता है। कहता है : "गुरुदेव ! यह मेरा वत्स घायल ही खड़ा रहा···"

योगी में ममता जागती है, घोड़े को छाती से लगा लेता है···

रात बीत गई है।

"झंगर चलो !"

"गुरुदेव ! आज वन में छिपे रहना ठीक है। तुर्क एक-एक जोगी का कत्ल कर रहे हैं···"

"कितनों का करेंगे झंगर···वह कहाँ तक करेंगे···सिंध से कामरूप तक, काश्मीर से दक्षिण तक···अब क्या माताओं के पुत्र नहीं होंगे···क्या देह में फिर वे आत्माएँ नहीं आयेंगी जो मुक्ति के लिए उठेंगी···आत्मा तो नहीं मरती···वह तो आती रहेगी···और जोगी सदैव आते रहेंगे···आदिनाथ का मार्ग कभी भी समाप्त नहीं होगा···योगी सदैव धर्म की सेना बनकर जियेंगे, और निःस्वार्थी होकर लोक और आत्मा को मुक्त करते रहेंगे···"

पवन पर चर्पटनाथ बैठा धीरे-धीरे चला जा रहा है और पैदल चल रहा है झंगरनाथ···

किसी वन में···

"किसी गुहा में गुरुदेव···तब तक जब तक फिर सारे घाव न पुर जायें···

"घाव तो तब पुरेगा झंगर जब फिर गुरु का मन्दिर उठ खड़ा होगा, फिर उस पर धर्मध्वज फहराने लगेगा···"

वह दिन भी दूर नहीं है गुरुदेव ! कहते हैं पहले भी यहाँ कई बार विदेशी आक्रान्ता आ चुके हैं, परंतु सनातन भूमि की सनातन संतान कभी भी मिटी नहीं है···अनादि काल से यह धरती निरंजन महादेव का जय-जयकार करती आई है और करती जायेगी···यह तुर्कों का धर्म तो कुल छः या सात सौ बरस का है··· यह क्या इस धरती को अपने अंधकार में डस सकेगा···यह तो पीर की बानी को ही मानते हैं···यह क्या जानें कि योगमार्ग क्या है···"

"और मुसलमान जोगियों ने क्या किया···"

"काज़ी ने उन्हें डराया। कहा कि जो काफ़िर से मिलोगे तो तुम भी मारे जाओगे···"

"मारे गए ?"

"कई। कहते रहे कि आदिनाथ और गोरखनाथ का मार्ग तो श्रेष्ठ ही है और रहेगा भी···जाफरमीर और नाटेसरी पंथी काफी कुचले गए···क़ाज़ी ने कहा कि तुम मुसलमान होकर भी कुफ्र करते हो···रतननाथी वैरागियों ने पेशावर में कड़ी टक्कर ली है···ऐसा मैंने सुना है···काबुल के जोगी मुसलमानों का इन विदेशी मुसलमानों ने बड़ा विध्वंस किया···गृहस्थ जोगियों की स्त्रियाँ नंगी कर डालीं और···"

"रहने दो झंग···रहने दो···वे मुसलमान क्यों हुए जोगी होकर···ब्राह्मण कैसा भी हो महादेव का तो उपासक है, वे तो महादेव को ही लात मारते हैं · बौद्धों ने तो मुसलमानों का साथ देकर अपने विहारों का सर्वनाश देख लिया···यदि यह जोगी भी मुसलमान न होते तो क्या आदिनाथ का मन्दिर यों टूट जाता···पर अब जोगी और मुसलमान न होंगे···न होंगे यह शाक्त जुलाहे···उन्होंने इन मुक्ति दिलाने वाले तुर्कों का रूप देख लिया है···यह सबको कुचलते हैं···राजा को भी, प्रजा को भी···ब्राह्मण को भी, जैन को भी···शाक्त को भी, जोगी को भी,···झंगरनाथ ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र···पहले का समाज कहाँ गया···वे योगी का सम्मान करते थे···और यह विदेशी···"

"बर्बर है गुरुदेव ! यह अपने ही मत को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं और किसी को भी जीवित नही रहने देना चाहते ··पहले तो ऐसा नहीं होता था···तर्क होते थे, पर शास्त्रार्थ में जीतकर ही धर्म फैलाया जाता था···कुछ भी हो गुरुदेव ! जोगी हिंदू ही तो है···नही तो यह यवन सब कुछ मिटा देंगे···"

"वर्णधर्म का अहंकार मिट जाये झंगर···फिर क्या दोष है···वे मूर्ख मूर्त्तियाँ तोड़कर समझते हैं कि वे देवता को तोड़ते है। मूर्ति में भगवान कहाँ है झंगर··· वह तो हमारे भीतर है···वेद और कुरान को रटकर वह नही मिलता···उसके लिए शील, क्षमा, दया, त्याग, तितिक्षा चाहिए···कहाँ है वह इनमें···मूर्त्ति तो निम्न अधिकारी की साधना को केन्द्रित करने को है, मन्दिर है हमारे परस्पर मिलन की ठौर, उपासना व्यक्ति की वस्तु है, सिद्धि और परमसुख प्राप्ति मन की वस्तु हैं, यों मंदिर मूर्त्ति नष्ट होने से तो कोई भी नष्ट नहीं होगा···पत्थर चूने का क्या···फिर खड़ा हो जायेगा झंगर···पर जोगी समय रहते नहीं चेते···वे अपने आडंबरों में पड़े रहे···कहते रहे···हमें राज्य से क्या···कोई भी राजा हो जाये··· हमारी साधना इस लोक की नहीं···हमें तो जन्मांतर के फंद काटने हैं···पर गुरु गोरख ने कहा था, जोगी सूरमा है, वही सबसे बड़ी विजय पाता है···"

झंगर रुक गया है। पवन भी। चर्पटनाथ उतरता है। सामने ग्राम है।

झंगर जाता है।
लौट आता है···
"गुरुदेव !"
"क्या हुआ झंगर···"
"गाँव खाली पड़ा है···"
चर्पट कहता है : "कब तक ऐसे ही चलता रहेगा···"
झंगर उत्तर नहीं दे पाता···अब उसके सामने वे चित्र आ रहे हैं···
सुल्तान की विराट सेना बढ़ती आ रही है···हाथी···घोड़े···पैदल···
और फिर जोगियों के घुड़सवार टूटते हैं···
अलख निरंजन···
अल्ला हो अकबर···
अलख निरंजन···
अल्ला हो अकबर···
शाही सेना भाग रही है···
एक बार···
दो बार···
तीन बार···
तब चारों ओर से घेरकर विक्षुब्ध प्रहार···
तब भीम शक्ति से प्रतिरोध···
धूल···
धुआँ···
सर्वनाश···
कई दिन बीत गये हैं।
अब वहाँ लाशें नहीं हैं।
परन्तु खंडहर पड़ा है।
पवन हिनहिनाता है, शायद उसे याद आ गया है।
"झंगरनाथ !"
"गुरुदेव !"
"यह देखो···यह देखो···"
"क्या है गुरुदेव !"
"देखो झंगर," चर्पट कहता है—"उन्होंने एक-एक ईंट से ईंट बजा दी, नींवें खोदकर पलट दीं, मन्दिर मिटा दिया, किन्तु···"
"किन्तु क्या गुरुदेव !"
"पुराने गुरुओं की समाधियों में अभी तक उनकी अस्थियाँ पड़ी हैं।···वे

दधीचियों और जीवन्मुक्तों की हड्डियां हैं···"

झंगर सुनता है और स्फुरित होता है···

एक वयोवृद्ध योगी खंडहर की दूसरी ओर से निकलता है···

आदेश···

आदेश···

वे एक-दूसरे को देखते हैं और निर्मल योगियों की आंखें गीली हो आती हैं···

फिर से वीरों के जूथ उमड़ेंगे···झंगर सुनता है···वृद्ध कह रहा है और चर्पट विभोर हो गया है···

भाग 4

चर्पटनाथ की सिद्धि का दूसरा चरण : चर्पट ने देखा और सोचा

1

चारण हूँपा गाने लगा :

चौहान वंश में दीक्षित वासुदेव नाम का एक पराक्रमी राजा हुआ। उसका पुत्र नरदेव आकाश और पाताल तक अपना खड्ग चलाता था। ओ वीरों के पुत्रो ! चंद्रराज का पुत्र जयपाल हुआ, जिसके पुत्र जयराज ने शत्रुओं की लाशों से पक्षियों को परितृप्त किया। उसका पुत्र सामंतसिंह सिंह की भाँति गर्जन करता था। गुयक उसका पुत्र था जिसके घोड़े की चाल देखकर शत्रुओं के हृदय काँपते थे। उसके बाद नंदन, वप्रराज और हरीराज ने वीर गौरव को सँभाला। उसके पुत्र सिंहराज ने हेतिम नाम के म्लेच्छ का वध किया। उसके बाद उसका भतीजा भीम सिंहासन पर बैठा जिसके वीर पुत्र विग्रहराज ने गुजरात के मूलराज को सदा के लिए रणक्षेत्र में सुला दिया। उसके उपरांत गंगदेव हुए, जिनका पुत्र वल्लभराज था जिसके बाद राम राजा सिंहासन पर चढ़ा। उसके पुत्र चामुंडराय ने म्लेच्छ हेजमुद्दीन को मारा। उसके पुत्र दुर्लभराज ने शहाबुद्दीन को जीता। उसके पुत्र दुशल ने कर्णदेव को मारा। दुशल के पुत्र वीर बीसलदेव ने शहाबुद्दीन को मारा। फिर पृथ्वीराज हुए जिनका पुत्र अल्हण था। उसके पुत्र अनल ने अजमेर में आना सागर खुदवाया। कहते हैं उसके पास पारस पत्थर था। उसके बाद क्रमशः जगदेव, वीशल, जयपाल और गंगपाल हुए। गंगपाल के पुत्र सोमेश्वर का कर्पूरा-देवी से विवाह हुआ। उससे दूसरा पृथ्वीराज जन्मा। हरीराज उसका पुत्र था। गोविन्द हरिराज का उत्तराधिकारी हुआ। बाल्हण उसका पुत्र था जिसके बाद प्रह्लाद हुआ। वीरनारायण उसके बाद गद्दी पर बैठा। वीरनारायण के बाद बाल्हण के दूसरे पुत्र वाग्भट्ट को गद्दी मिली। उन्हीं के पुत्र वीर जैत्रसिंह थे। उन्हीं की वीर पत्नी हीरा के गर्भ से महाराज हम्मीर जन्मे, जिनके पराक्रम से त्रिभुवन कंपित हो उठता है।

चारण रुक गया। सेना ने राजा हम्मीर का जयजयकार किया। इसके उपरांत सेनापति धर्मसिंह और भीमसिंह के नेतृत्व में सेना ने प्रयाण कर दिया। अलाउद्दीन ने उलगु खाँ को रणथंभौर पर आक्रमण करने भेजा था।

2

जैत्रसिंह की पत्नी हीरादे बड़ी ही सुन्दरी थी। जिस समय हम्मीर गर्भ में था उस समय मुसलमानों के अत्याचारों की कथाएँ प्रसिद्ध हो चुकी थीं। हीरादे को विचित्र दोहद होता था। वह मुसलमानों के रक्त में स्नान करने की इच्छा करती। जब हम्मीर का जन्म हुआ तब ज्योतिषियों ने घोषणा की कि यह वीर पुत्र अवश्य म्लेच्छों के रुधिर से पृथ्वी को धोयेगा। हम्मीर के दो भाई थे—सुर-त्राण और विराम। राजा जैत्रसिंह वृद्ध होने पर हम्मीर को राज्य देकर वनवास के लिए चला गया।

राजा हम्मीर पराक्रमी था। उसने सरसपुर के राजा अर्जुन को जीता, फिर उसने गढ़मण्डल के राजा से कर वसूल करके धार के भोज पर आक्रमण किया। यह भोज भी प्राचीन भोज की भाँति कवियों का आदर करता था। इस भोज को हराकर हम्मीर ने उज्जैन जीता जहाँ शिप्रा के जल में उसके हाथियों, घोड़ों और सैनिकों ने स्नान किया। राजा ने स्नान करके महाकाल के मन्दिर में पूजा की जो तुरुष्कों के खंडित कर देने के बाद फिर उठ खड़ा हुआ था। फिर उसने चित्तौर की ओर सेना मोड़ी और मेवाड़ को उजाड़ता हुआ वह आबू पर्वत पर गया। आबू पर्वत पर उसने ब्राह्मण धर्मानुयायी होने पर भी जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा की। फिर अचलेश्वर की उपासना करके आबू के राजा को हराकर वह वर्द्धनपुर गया जहाँ उसने लूटा, नाश किया। फिर चंपा को ध्वस्त करके वह अजमेर की राह से पुष्कर तीर्थ गया जहाँ उसने आदिवाराह की आराधना की। फिर वह शाकंभरी गया। मार्ग में उसने मरहटा (जोधपुर देशस्थ) खंडिल्ला, चमदा और काकरौली को लूटा। फिर वह रणथंभौर—अपनी राजधानी में लौट आया और उसने अपने गुरु विश्वरूप के पौरोहित्य में कोटियज्ञ नामक यज्ञ करना प्रारम्भ किया जिसमें विभिन्न देशों के ब्राह्मणों को बुलाकर खूब दक्षिणा दी गई।

इसके उपरांत हम्मीर ने सुल्तान अलाउद्दीन को कर देना बन्द कर दिया। उसने मुसलमानों को अपमानित किया और अपने को हिंदू मात्र का रक्षक घोषित कर दिया। यज्ञ का धुआँ निरंतर उठता रहा।

3

यज्ञ समाप्त हो चुका था। राजा हम्मीर क्रोध से घूम रहा था। हठात् उसने मुड़ कर कहा : "फिर क्या हुआ ?"

धर्म्मसिंह ने सिर झुकाये हुए कहा : "हमने वर्णनाशा नदी के किनारे म्लेच्छों का भीषण संहार किया और भीमसिंह विजयी होकर लौट चले। किंतु लूट का

माल बहुत मिला था। सैनिक घर पहुँचने को व्यग्र थे। इसी व्यग्रता में उन्होंने एक नायक को पीछे छोड़ दिया और वे हिंदावत घाटी के बीच पहुँचे। तब उन्होंने विजय के नगाड़े बजाये। हम नहीं जानते थे उलुगुखाँ छिपकर पीछा कर रहा था। उन्होंने अधिक संख्या में होने के कारण अंत में वीर भीमसिंह को मार डाला।"

"और उलुगु खाँ कहाँ गया ?"

"वह दिल्ली लौट गया।"

"तुम अंधे हो। तुम देख भी न सके कि वह पीछे आ रहा था। क्लीव ! तुम भीमसिंह की रक्षा के लिए भी नहीं दौड़ सके ? भोजदेव !"

राजा का लगता भाई—भोजदेव इस समय आगे बढ़ा।

"आज्ञा महाराज !"

"तुम आज से सेनापति नियुक्त किए जाते हो। धर्म्मसिंह को अंधा और क्लीव बनाकर निकाल दो।"

भोजदेव ने हाथ जोड़ कर कहा : "महाराज ! एक प्रार्थना है।"

राजा ने मुड़ कर देखा।

भोजदेव ने कहा : "युद्ध तो महाराज युद्ध है। उस समय धर्म्मसिंह वहाँ होते तो और बात थी। इन्हें क्षमा करें महाराज !"

राजा ने कहा : "तुम कहते हो ?"

भोजदेव ने कहा : "घणीखमा महाराज।"

"तो छोड़ दो।" राव ने कहा : "किंतु इसका बदला दिल्ली से अवश्य लेना होगा। किंतु इसे अंधा अवश्य कर दो।"

राजा ने पत्थर पर लकीर खींच दी थी।

धर्मसिंह का चीत्कार कुछ ही देर में प्रतिध्वनित हो उठा। वह बगल के कक्ष में अंधा कर दिया गया था। उसकी आँखों से बहता रक्त देख कर राधा वेश्या मूर्च्छित होकर गिर गई क्योंकि उसी ने एक दिन राधा को राम के पास पहुँचाया था।

सभा विसर्जित होने ही वाली थी कि द्वारपाल ने विनय की : "महाराज ! कुछ म्लेछ दर्शन करना चाहते हैं।"

राजा चौंक उठा। उसने भोजराज की ओर देखा। भोजराज बाहर गया। कुछ ही देर में एक लम्बा-चौड़ा मुसलमान राजा के चरणों पर अपना खड्ग रख-कर बैठ गया।

"कौन हो तुम ?" राजा ने पूछा।

"मैं मीर मुहम्मद शाह, नौ मुस्लिम हूँ।" आगंतुक ने कहा। "मैं मंगोल हूँ। अलाउद्दीन हमारा दुश्मन है। वह मुझे तबाह करना चाहता है। किसी तरह मैं भाग कर अपने परिवार को बचाकर लाया हूँ। मैंने सुना था कि राजपूतों की आन सदा

यही है कि जो शरणागत होता है, वे उसकी रक्षा करते हैं। राजा ! मैं तुम्हारी रण में आया हूँ। मेरा भाई मीर गभरू बाहर राजा की भेंट लिये खड़ा है।"

राजा ने बाहर जाकर देखा। पांच घोड़े, एक हाथी, दो मुल्तानी कमान एक .लवार, दो बाण, दो बहुमूल्य मोती और बहुत-से ऊनी वस्त्र थे। राजा प्रसन्न हो उठा।

ब्राह्मण विश्वरूप की भौं पर बल पड़ गये। उसने राणा से धीरे से कहा : "विधर्मी का विश्वास क्या ?"

राजा ने धीरे से उत्तर दिया : "मुझे अपने खड्ग पर ही विश्वास रखना है।" फिर ज़ोर से कहा : "मुहम्मद शाह, उठो ! मैं तुम्हें शरण देता हूँ। एक क्या हज़ार अलाउद्दीन भी आयें किंतु प्राण रहते मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।"

मीर मुहम्मद शाह ने सिर झुकाकर कहा : "वीरों के वीर ! मैंने तेरे बारे में यही सुना था।"

राव ने कहा : "आज से मैं तुझे पांच लाख की जागीर देता हूँ। तू रणथंभौर के दुर्ग में ही मेरे पास रह।"

राधा ने द्वार पर खड़े होकर सुना। भीतर अभी तक धर्मसिंह पीड़ा से विह्वल था। राधा का हृदय घृणा और प्रतिशोध से तड़पने लगा। उसने धर्मसिंह से कहा : "तुमने सुना ! राव ने मुसलमान को शरण दी है ?" उसका स्वर तनिक ऊँचा था।

"शश···" धर्मसिंह ने कहा : "चुप रह राधा ! चुप रह ! वह राव है। वे राजपूत हैं। यही तो धर्म है।"

राधा ने आश्चर्य्य से देखा और पूछा : "तुम्हें अब भी क्रोध नहीं ?"

"नहीं," उसने कुटिलता से मुस्करा कर टटोल कर उसका हाथ पकड़ कर कहा : "समय ही बलवान होता है। आज राव का समय है राधा ! लेकिन तू चाहेगी तो एक दिन मैं इस राव से ही इसका बदला लूँगा।"

"मैं वचन देती हूँ।" वेश्या ने कहा।

उधर सभा विसर्जित हो रही थी।

4

दूत लौट आया था। अलाउद्दीन नुसरत खाँ और उलुगुखाँ के साथ चिंतित बैठा था। दिल्ली के भव्यप्रासाद में मंत्रणा हो रही थी।

"तो सुल्तान !" नुसरत खाँ ने कहा : "राव ने कह दिया है कि वह मीर को नहीं लौटायेगा ?"

"नहीं।"

"वजह !"

"वह राजपूत है और राजपूत पनाह देने के बाद उसे मौत तक निभाते है।"

उलुग हँसा। उसने कहा : "जब तक इन राजपूतों की नाक न घिसी जायेगी सुल्तानेआला, तब तक मुसलमानों की इज्ज़त नहीं बढ़ सकेगी।"

सुल्तान ने कहा : "दूत कहता है कि हमारा पत्र पहुँचने पर बहुत-से राजपूत राव से बिगड़ उठे कि एक मुसलमान के लिए युद्ध क्यों किया जाये ? मीर ने उठ कर कहा कि वह स्वयं चला जायेगा क्योंकि वह राव को कष्ट में नहीं डालना चाहता था, लेकिन राव ने अपने सेनापतियों को बहुत फटकारा। उसने कहा : राजपूत होकर शरणागत से मुंह फेरते हो ? तुम्हें शर्म नहीं आती ? राजपूत राज का भूखा नहीं, आन का भूखा होता है।"

"दोज़ख का कीड़ा।" नुसरतखाँ सिपहसालार ने कहा।

"तब," सुल्तान ने कहा : "मीर मुहम्मद शाह ने लंबे लेट कर राजा की क़दमबोसी की और सारे राजपूतों ने तलवारें निकाल कर कसम खाई कि जब तक जान रहेगी उस मुसलमान की खिदमत करेंगे। यह पहली बार हुआ है कि मुसलमान मुसलमान को दग़ा दे रहा है।"

नुसरत खाँ ने कहा : "इसका फ़ौज पर भी बुरा असर पड़ेगा।"

"ज़रूर पड़ेगा," सुल्तान ने कहा : "मैंने क़ाज़ी को बुलाया है। आज ही फ़तवा दिला दूंगा कि मीर मुहम्मद शाह मंगोल है और कभी सच्चा मुसलमान नही हुआ इसलिए काफ़िर है।"

उलुग खाँ ने सिर झुका कर कहा : "जहाँपनाह ! हुक्म दें। देर हो रही है।"

सुल्तान ने उठते हुए कहा : "तुम दोनों रणथंभौर को धूल में मिला दो।"

दोनों ने सिर झुकाये।

5

राधा उदास लौटी।

अंधे धर्मसिंह ने कहा : "राधा ! आज तू उदास क्यों है ?"

"राव ने तो आज मेरा नाच ही न देखा।"

"क्यों ?"

"घोड़ों को बेधरोग जो हो गया, तो कई तो मर भी गये।"

धर्मसिंह ने हाथ दबाकर कहा : "राधा ! समय आ गया। राजा से कह कि धर्मसिंह में वह जादू है जो इन मरे घोड़ों से दुगने ला दे।"

राधा ने कहा : "कैसे ?"

धर्मसिंह हँसा। उसने कहा : "वह मेरे ऊपर छोड़।"

और सचमुच राधा ने धर्मसिंह को फिर उसी पद पर आसीन करवा दिया। भोज पदच्युत हुआ। और वैद्यनाथ के मन्दिर में राव ने उसका अपमान किया जिसके फलस्वरूप भोज अपने भाई पीतम और अपने परिवार को साथ लेकर काशी यात्रा के बहाने निकल गया और अंत में अलाउद्दीन की शरण में चला गया। सुल्तान ने उसे बड़ा सम्मान दिया।

धर्मसिंह प्रजा को निचोड़ने लगा। रतिपाल अब भोज की जगह कोट्टपाल था। वह धर्मसिंह का साथी बन गया क्योंकि धर्मसिंह इस समय राव हम्मीर का प्रिय बन गया था।

6

उलुगखाँ ने झाँई को जीता। संवाद पाकर राव के पार्श्व में अभय परमार, भूरसिंह राठौड़, हरी बघेला, रणदूला चहुँआन इकट्ठे हो गये। घमासान युद्ध होने लगा। रणथंभौर पहुँचने के पहले ही मुस्लिम सेना पर वीरम ने पूर्व से, मीर मुहम्मदशाह ने पश्चिम मे, जाजदेव ने दक्षिण और मीर गभरू ने उत्तर मे आक्रमण किया। अभी वे लोग सँभले भी न थे कि अग्निकोण मे रतिपाल ने, वायुकोण से तिचर मोगल, ईशानकोण मे रणमल और नैऋत्यकोण से वैचर ने हमला किया। इस भयानक मार मे सुल्तान की सेना विह्वल हो उठी। किंतु सेना विशाल थी। लकड़ी के घेरों में जली सेना में कई मारे गये। रतिपाल ने कई मुसलमान स्त्रियों को पकड़ा जो कि कुलीन थीं और उसने उन्हें गाँवों में जाकर मट्ठा बेचने को विवश किया। इसअ पमान से मुस्लिम सेना अत्यंत विह्वल हुई। मुगलों और नौमुस्लिमो ने मीर गभरू के सेनापतित्व में भोज के भाई पीतम को सुल्तान की दी हुई जगरा जागीर में पकड़ लिया और बाँध लाये। मीर बंधुओं की ईमानदारी प्रसिद्ध हो गई।

उलुगखाँ ने नुसरत से सलाह की और मोल्हण देव नामक हिंदू को हिंदावत की घाटी में पहुँच कर राव हमीर के पास संधि का दूत बना कर भेजा। मुस्लिम सेना भीतर घुसती गई, राजपूत प्रसन्न थे कि वे स्वयं घिरे आ रहे थे और मुस्लिम प्रसन्न थे कि शत्रु के गढ़ में घुस रहे थे। नुसरतखाँ ने मँडी पथ को रोका और उलुगखाँ ने श्रीमण्डप दुर्ग, बाकी सेना जैन सागर के तीर पर रुक गई।

दुर्ग की रक्षा के लिए तैल और राल तैयार थे कि कब डंके पर चोट पड़े और कब उन्हें आग पर गर्म करके फेंका जाय।

मोल्हण देव अपमानित होकर लौट आया।

भीषण युद्ध प्रारंभ हो गया। और संध्या के समय एक पत्थर प्राचीर पर से ऐसा फिंका कि नुसरत का सिर तोड़ गया। नुसरत खाँ की मृत्यु से सुल्तान की सेना थर्रा उठी। मीर मुहम्मदशाह और राजपूतों के भीषण हमलों ने सुल्तान की सेना के पैर उखाड़ दिये। भीषण क्षय के अंत में किसी प्रकार उलुगु खाँ झाँई पहुँचा और उसने संवाद दिल्ली भेजा।

7

सुल्तान अलाउद्दीन उसी समय नमाज़ पढ़कर उठा था। भोजराज पागलों की तरह आ खड़ा हुआ। उसने धरती पर चादर बिछा दी और उस पर ऐसे लोटने लगा जैसे उसे भूत ने पकड़ लिया था। वह रह-रह कर चिल्ला उठता था।

सुल्तान को आश्चर्य्य हुआ। उसने डाँटा : "भोजराज !"

"सुल्तान !" भोज काँपता हुआ उठ खड़ा हुआ।

"क्या है !"

"नुसरत खाँ मारे गये। फौज झाँई भाग आई, उलुगुखाँ ने मदद माँगी है, जगरा की जागीर पर मीर मुहम्मद शाह ने कब्जा कर लिया, मेरा भाई पीतम पकड़ा गया···"

और फिर वह पृथ्वी पर बिछी चादर पर लोटने लगा।

अलाउद्दीन गरजा : "भोजराज !"

"क्या करूँ ?" भोजराज ने हाथ फैला कर कहा : "सारी पृथ्वी राव हमीर की है। मैं तो विश्वासघाती हूँ। धरती पर पाँव रखते डरता हूँ, तभी चादर बिछा कर पछाड़ खाता हूँ।"

सुल्तान ने खड्ग की मूँठ पर हाथ रख कर कहा : "भोजराज, हम चलेंगे !"

"चलें सुल्तान !" उसने कहा : "राव हमीर ने अपने किले पर सूप के झंडे गड़वा दिये हैं कि हमारा तो कुछ भी नहीं बिगड़ा, हमने तो फटक कर फेंक दिया।"

अलाउद्दीन ने क्रोध से होंठ चबा लिया।

8

सुल्तान की सेना चल पड़ी। तिलपत के जंगल में शाही पड़ाव पड़ा था। सुल्तान घोड़े पर हिरन के पीछे दौड़ रहा था। दूर उसका भतीजा अक़त खाँ था।

सुल्तान ने देखा अक़तखाँ ने कमान पर तीर चढ़ा कर मारा। किंतु वह हिरन से दूर गिरा।

सुल्तान को सन्देह हुआ।

इसी समय दूसरा बाण छूटा। सुल्तान ने उसे अपनी ढाल पर रोका। वह तुरंत समझ गया।

उसने बाणों का निवारण करते हुए घोड़ा दौड़ाया और एक ही हाथ में अक़त का सिर काट कर फेंक दिया। तलवार को उसी के वस्त्रों में पोंछते हुए उसने घृणा से थूका और कहा : बग़ावत।

रात के समय सेना में हलचल मच उठी। नौ मुस्लिमों ने विद्रोह कर दिया था। किंतु मलिक हमीद अमीरकोह ने विद्रोह को कुचल दिया। सेना फिर बढ़ने लगी। उसने मालवा को उजाड़ा, धारनगरी को लूटा और आगे बढ़ गया। किंतु तभी समाचार आया कि गुलाम फखरुद्दीन के पुत्र हाजीमौला ने उमरखाँ और मंगूखाँ के साथ मिलकर दिल्ली के कोतवाल तुरमुजी को जुल्मी कह कर क़त्ल कर दिया और भीड़ लेकर नगर द्वार जीत लिए। खज़ाना लूट कर बाँट लिया। शाह नजफ के नाती सय्यद को गद्दी पर बिठा कर बड़े-बड़ों से भेंट दिलाई गई। उस दिन अलाउद्दीन दिल्ली का सुल्तान नहीं रहा।

सुल्तान ने माथे पर हाथ फेरा। मन ही मन खुदा को याद किया और मलिक हमीद अमीरकोह को विद्रोह का दमन करने भेजा और स्वयं झाँई की ओर बढ़ गया। वहाँ जाकर उसने उलुगुबेग को भी दिल्ली भेजा।

कई दिन बाद जब लौटा तो उसने बताया कि बदायूँ दरवाजे को जीत कर अमीर कोह ने हाजीमौला को हराया, मार डाला और सुल्तान को सिर भेज दिया। सय्यद को लाल किले में मार कर उसने उसका सिर काट कर भेज दिया।

उलुगु ने हाजी मौला का परिवार ही नष्ट नहीं किया था वरन् अपने को निरपराध बताने वाले तुरमुजी के पुत्रों को भी मार डाला।

तब सुल्तान ने चैन की साँस ली और उलुगु खाँ से कहा : "अब मैं इस काफ़िर हम्मीर को देखूंगा।"

उस समय उलगु खाँ ने सिर झुका कर कहा : "सल्तनत में कोई गड़बड़ नहीं है सुल्तानेआला, लेकिन रणथंभौर का किला पहाड़ी इलाके में है। उसे तरकीबो के बिना जीता नहीं जा सकेगा।"

सुल्तान ने अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरकर कहा : "सुल्तान अलाउद्दीन पहाड़ों को ठोकर लगा कर चूर करता है।"

उलुगु खाँ ने कहा : "तो फिर हुक्म दें।"

"रणथंभौर की तरफ़ कूच करो।"

"हिंदावत की घाटी भयानक है।"

अलाउद्दीन ने कहा : "तुम डरते हो ?"

"नहीं सुल्तान ।" उलुगुखाँ ने कहा : "लेकिन मुहिम जरा खतरनाक तो है।"

सुल्तान ने मन ही मन शक्ति को तोला। लेकिन अब लौटने का समय नहीं था। वह चाचा जलालुद्दीन वाली भूल नहीं करना चाहता था।

9

रणथंभौर को घेरे हुए सुल्तान छः महीने से पड़ा था। भीतर सारा नगर छिपा हुआ था। संध्या के पहले ही सैनिको ने घी के कुण्डो में भीग रही बोटियाँ निकाल कर खा ली थीं। नित्य प्राय: छोटे-मोटे युद्ध होते। इधर कुछ दिन से शांति छा गई थी। समझ में नहीं आ रहा था कि सुल्तान चुप क्यों था। दुर्ग की प्राचीर पर राव हमीर बैठ गया। वहीं अनेक वीर सैनिक एकत्र हो गये। आजकल राजपूत बहुत थोड़ी अफ़ीम खाते थे।

सुल्तान ने देखा दुर्ग की प्राचीर पर एक स्त्री नाच रही थी।

वह राधा थी। उसने नाचते-नाचते सुल्तान की ओर पाँव दिखाया।

सुल्तान ने देखा तो कहा : "उलुगु खाँ ! इस काफ़िर औरत को सजा दे सके ऐसा कोई तीरंदाज हमारी फ़ौज में है ?"

उलुगुखाँ ने कहा : "आलीजाह ! अपना एक क़ैदी है उड्डानसिंह ! शायद क़ैद से छोड़ने का आश्वासन देने पर वह इसे बेध दे।"

उड्डानसिंह ने जब मुक्ति की शर्त सुनी तो पहले तो सोच में पड़ गया। फिर उसने बाण चढ़ाया और वह निशाना मारा कि राधा प्राचीर के नीचे गिर गई। सुल्तान की सेना में जय-जयकार होने लगा। राय हम्मीर पीछे हट गया।

"कायर !" मुहम्मदशाह ने कहा : "राव महाराज ! सुल्तान हमेशा का कायर है। मैं उसे इसका सबक दूंगा।"

उसने कमान पर तीर चढ़ाकर फेंका। अलाउद्दीन के सिर से ताज नीचे गिर पड़ा।

शाही डेरे उखड़ने लगे। वे झील के पूर्व से पश्चिम की ओर चले गये। दूसरे दिन सुबह ही मीर गभरू ने राव हम्मीर से कहा : "राव महाराज ! मेरे साथ चलें।"

राव हम्मीर साथ गया।

दूर जमीन पर काले-काले धब्बे थे।

"वह क्या है ?" हम्मीर ने पूछा ।

मीर मुहम्मदशाह ने कहा : "सुल्तान की ख़ामोशी की वजह ।"

"वे सुरंगें हैं महाराव !" गभरू ने कहा—"आज्ञा दें। मैं आज रात ही उन्हें ख़त्म कर आऊँगा ।"

"लेकिन वहीं सुल्तान की सेना है ।"

"उसका ध्यान हटाने को मैं दूसरी तरफ़ से हमला करूँगा ।" मीर मुहम्मदशाह ने कहा ।

दूसरे दिन प्रातः सुरंगें नष्ट हो चुकी थीं। सुल्तान अपनी सेना की लाशें उठवाता रहा । उसका विक्षोभ अब सीमा पर आ गया था । उसने कहा : "उलुगख़ाँ ! और कब तक !"

उलुगख़ाँ ने आकाश की ओर देखा। घने बादल आ गए थे। सुल्तान ने भी देखा और कहा : "पानी बरसेगा !"

"इस साल इस रेगिस्तान में भी कहर बरसेगा ?" उलुगख़ाँ ने धीमे स्वर में कहा ।

आकाश में बिजली कड़कने लगी। दुर्ग में चारणों की वज्र हुंकारें सुनाई देने लगीं ।

10

यह कथा चारणा हूँगा ने रो-रोकर केलवाड़े में लखनसी के पुत्र अजयसिंह के बड़े भाई अरसी के पुत्र हम्मीर को सुनाई थी। उस समय हम्मीर राणा छोटा था और चित्तौड़ का प्रबंध उसका चाचा रतन सी करता था । चारण हूँपा ने कहा था :

और तब वर्षा के कारण मुसलमान फ़ौज को अपार क्षति पहुँची । उसने भोजराज की सलाह से संधि की बात राव हम्मीर तक भेजी थी। राव हम्मीर ने उस रतिपाल को भेजा जिसे उन्होंने एक दिन सोने की सिकड़ी पहनाई थी। लेकिन रतिपाल का मन सुल्तान के यहाँ जाकर डोल गया । सुल्तान उससे गले मिला और उसने उसकी मुलाकात अपनी छोटी बहन से करा दी। रतिपाल लालच में फँस गया। उसने विश्वासघात के बदले में रणथंभौर को प्राप्त करना स्वीकार कर लिया । किले में लौटकर उसने कहा कि अलाउद्दीन बहुत निर्बल हो गया है, किंतु शायद रणमल आपसे विश्वासघात करेगा । राव हम्मीर को विश्वास नहीं हुआ। उधर रतिपाल ने जाकर रणमल से कहा कि पता नहीं क्यों राव आपको गिरफ्तार करेंगे। रात को पकड़ने आयेंगे। रणमल चौकन्ना हो गया। रनिवास में रतिपाल ने ख़बर पहुँचवा दी कि सुल्तान तो राव की लड़की चाहता है और कुछ नहीं।

वीरम ने कहा कि रणमल मेरा भाई है, निरपराध है। रतिपाल शत्रु से मिल गया है इसलिए इसे मार डालिये। राव हम्मीर ने कहा कि यदि ऐसा न हुआ और व्यर्थ ही रतिपाल मार डाला गया तो! वीरम चुप हो गया। रनिवास की रानियों ने राजकन्या को तैयार करके पिता राव हम्मीर के पास भेजा। कन्या ने कहा : "पिता। यदि मेरे कारण इतना रक्तपात हो रहा हो तो मुझे बलि दे दीजिये।" राव ने क्रोध से कहा : "तू बेटी है अतः हाथ नहीं उठा सकता। यदि किसी और ने यह बात कही होती तो उसके टुकड़े कर देता। भीतर जा।"

संध्या के समय राजा हम्मीर रणमल से मिलने चला। रणमल के मन में संदेह तो था ही, वह भागा और गढ़ का द्वार खोलकर सुल्तान के पास चला गया। रतिपाल भी भाग गया। राव पर वज्र गिर गया। सुल्तान ने उन दोनों को बड़े आदर से रखा। राव हम्मीर ने भंडारी से पूछा : "कितनी रसद और है?" भण्डारी ने सोचा राजा से सच क्यों कहूँ? उसने कहा : "अभी तो बहुत है।" उसी समय पता चला कि भण्डार खाली हो चुका था। घेरा डाले साल-भर हो चुका था। वीरम ने राव की आज्ञा से भण्डारी को वहीं काट डाला और भण्डारों की संपत्ति को पद्मसागर में फिंकवा दिया।

रात को राव सो नहीं सका। उसने वीरम को भेजकर मीर मुहम्मद शाह को बुलवाया और कहा : "मीर! रात का समय है, तू कहीं अपने परिवार को लेकर भाग जा। सब कुछ समाप्त हो चुका है। मैं अब तेरी रक्षा कैसे करूँगा?"

मीर कुछ नहीं बोला। उठ खड़ा हुआ। फिर उसने कहा : "अच्छा जाता हूँ।"

राव का हृदय टूक-टूक हो गया। वीरम के कंधे पर हाथ धरकर वह सूनी आँखों से देखता खड़ा रहा। कुछ ही देर बाद मीर मुहम्मद शाह लौट आया। उसने कहा : "तो राव महाराज! मैं चलूं। लेकिन जाने के पहले मेरी स्त्री आपके नमक के लिए आपसे मिलकर धन्यवाद देना चाहती है। चलना ही होगा।"

राव डरते हुए चला कि कहीं शरणागत का साथ छोड़ने का व्यंग्य न सुनने को मिले। वीरम भी साथ गया। मीर मुहम्मद शाह ने कहा : "यह रही।"

देखा। उसका सारा परिवार कटा पड़ा था।

राव ने चिल्लाकर कहा : "यह किसने किया?"

मीर मुस्कराया। उसने कहा : "मैंने! वह और किसी तरह जाती न थी। अब तो आप मुझे नहीं भेजेंगे!"

वीरम की आँखों में आँसू आ गए। राव मीर को सीने से लगाकर रोने लगा।

वीरम ने कहा : "एक रणमल था।"

राजा ने कहा : "एक वह भोज था।"

मीर ने हँसकर कहा : "राव! मैं तुर्क नहीं, तातार नहीं, जगद्विजयी चंगेज का वंशज हूँ। गज़नी में आकर हमारा रक्त वैसे ही गंदा नहीं हुआ जैसे इन खिल-

त्रियों का हुआ था।"

मीर गभरू भीतर से आ गया था।

उसके बाद प्रातःकाल सुल्तान की फ़ौज ने बालू के बोरे दुर्ग की प्राचीर के किनारे-किनारे लगाने प्रारंभ किए। किंतु रोकने पर भी दुर्ग-वासियों में उत्साह नहीं था। रसद समाप्त हो चुकी थी।

उस रात रानियाँ इकट्ठी हुईं। महारानी ने कहा : "मैंने कन्या को भेजने का विचार करके पाप किया है। मैं जलूँगी।"

सारी स्त्रियाँ चिल्लाईं : "हम शत्रु के हाथों में नहीं पड़ेंगी।"

और फिर जौहर की लपटें आकाश को छूने लगीं। ब्राह्मण विश्वरूप ने वृद्ध हाथों से आशीर्वाद दिया और स्वयं चिता में कूद पड़ा।

राव की आँखों में आँसू नहीं थे। भोर होते ही राजपूत केसरिया बाना पहनकर दुर्ग का द्वार खोलकर टूट पड़े। दुर्ग के द्वार पर इतना भयानक युद्ध हुआ कि शत्रु खंड-खंड हो गये। परंतु मुसलमान सेना पीछे से दाबती आती थी। वीरम गिरा, फिर मीर मुहम्मद शाह गिर गया। फिर मीर गभरू मर गया। फिर गंगाधर कटा। फिर ताक, फिर परमार क्षेत्रसिंह और अंत में राव हम्मीर ने अपने क्षत-विक्षत शरीर को स्वयं ही काट डाला। युद्ध समाप्त हो गया।[1] शत्रु सेना दुर्ग को लूटने घुसी, एक भी स्त्री जीवित नहीं थी। सुल्तान पागल-सा हो उठा।

बाहर उसने देखा। मीर मुहम्मदशाह घायल तड़प रहा था।

सुल्तान ने कहा : "मीर! तेरे ज़ख्मों की अगर मैं दवा करा दूँ तो क्या तू मेरी खिदमत करेगा?"

मीर ने हँसकर कहा : "अगर मेरे ज़ख्म ठीक होकर मैं फिर उठ सकूँगा तो तुझे मारकर हम्मीरदेव के बेटे को सिंहासन पर बिठाऊँगा।"

सुल्तान ने क्रोध में उसका सिर हाथी से कुचलवा दिया, लेकिन मीर जीत गया था क्योंकि सुल्तान ने नौमुस्लिमों का दिल जीतने को उसे क़ायदे में दफ़न करवा दिया। उलुगुखाँ को रणथम्भौर का इलाका देकर तथा क़िले को बिस्मार करके सुल्तान दिल्ली लौट गया।

अभी राह में आते समय मैंने सुना कि उलुगु खाँ ने तिलंगाना और माबर पर हमला करने के लिए भारी फ़ौज इकट्ठी की थी, लेकिन वह रास्ते में बीमार हो गया और मर गया।

चारण हूँपा का स्वर रुद्ध हो गया।

तरुण राणा हम्मीर ने कहा : "राव हम्मीर वीर थे। उस समय चित्तौड़ से यदि बाबा रतनसी सुल्तान पर हमला कर देते तो जरूर सुल्तान भाग जाता।

---

1. 1301 ई० में उसने किला जीता था।

छक्के छूट जाते उसके।"

पास बैठे भील सर्दार ने कहा : "राजपूत यही तो नहीं सोच पाते।"

हूँपा ने कहा : "कितनी सर्दी है ! बढ़ती ही जाती है। जरा आग और सुलगा दो।"

11

अनिद्य सुन्दरी पद्मिनी की रूप-श्री की गाथा चित्तौड़ में वैसे ही सीमित नहीं रही, जैसे आकाश में पूर्णिमा के चंद्रमा की ज्योत्स्ना नही समाती। उसके रूप की गाथा सुदूर बंगाल में सुनाई देती, धुर दक्षिण के चोल और पाण्डवों में उसके रूप की तुलना की जाती। पूर्व में अनहिलवाड़ा और उत्तर में मुल्तान तक लोग उसके रूप की कल्पना करते।

कवियो ने उसकी वर्णना करने में असमर्थ होकर अपनी लेखनियाँ तोड़ कर फेंक दी थीं।

पहाड़ों पर बसा उन्नत अदम्य सीसौदियों का दुर्ग जैसे दुर्दम था, जैसे राजपूतों की आन प्रलय की अग्नि के समान धधकती थी, जैसे भीलों के बाण अचूक बेध थे, जैसे ब्राह्मण पुरोहितों की गंभीर वेदध्वनि मेवाड़ में गगन तक प्रतिध्वनित थी, उसी प्रकार पद्मिनी का रूप-लावण्य एक साथ ही फूल और वज्र की भाँति था, क्योंकि वह जितनी स्निग्ध और कोमल थी, उतनी ही दुर्गम थी, उतनी ही गौरव-धारिणी थी।

राणा लखनसी मर चुका था। उसके दोनों पुत्रों में से बड़ा अरसी भी मर चुका था। राणा की आन मानकर उसका पुत्र अजयसिंह अपने भतीजे को लेकर लवाड़े में रहा करता था। अरसी का पुत्र हम्मीर था। वह अभी छोटा था। यौवन में पाँव रखना ही चाहता था। लखनसी का भाई रतनसी उस समय मेवाड़ का प्रबंध करता था और लखनसी द्वारा घोषित सिंहासन का उत्तराधिकारी हम्मीर अपने चाचा अजयसिंह के पास रहता था।

केलवाड़ा अरावली की श्रेणियों में बसा हुआ था। पद्मिनी संबंध में उसकी दादी लगती थी।

सीसौदियों की तलवार इस समय शांत थी।

अचानक ही आकाश में वज्र कड़का।

चित्तौड़ की ओर आग लगाता हुआ सुल्तान अलाउद्दीन विशाल सेना लेकर बढ़ा चला आता था।

दुर्ग के द्वार बंद हो गए। सुल्तान ने घेरा डाल दिया। वासना के अंगार इस

प्रतिरोध से और भी भड़क उठे, क्योंकि वह पद्मिनी को जीतने आया था। मुसलमान चुप थे। उन्हें लूट की आशा थी। वर्ना इस्लाम में किसी की विवाहिता पत्नी को छीनना उस समय भी वर्जित माना जाता था।

मेवाड़ की धरती पर युद्ध की प्रतिध्वनि होने लगी। आकाश और पृथ्वी में रण-निनाद व्याप्त होने लगा। दूर तक सुल्तान की अपार वाहिनी दिखाई देती।

12

यह कथा चारण मुँहणोत ने केलवाड़े में राणा हम्मीर को चारण हूँपा के सामने गा-गाकर रो-रोकर सुनाई थी :

ओ सुनने वालो ! अपने हृदय थामकर बैठो। जैसे आकाश में उड़ती हुई बक-पाँति हरियाली पर सुशोभित होती है, जैसे अथाह नील समुद्र पर इंद्रधनुष शोभित होता है, उसी प्रकार सुंदरी पद्मिनी दुर्दमनीय राजपूतों की हुंकारों के ऊपर दिखाई देती थी। राणा रतनसी जब उसे देखते तो उनकी आँखों में पौरुष का हलाहल भी अमृतमंथन में निकले अमृत की भाँति कोमल हो जाता। रतनसी जब कुसुँमा पीकर झूमते तब पद्मिनी उन्हें अपने हाथों में भर-भर कर पिलाती। ओ सुनने वालो ! वह रूप की अमर कथा नहीं, वह वेदना की गाथा है। उसे सुनो और बताओ कि तुम गौरव करोगे या लज्जा ! तुम्हें दुख होगा या सुख ! विष्णु के तीन चरणों ने त्रिभुवन को नापा था, सो पद्मिनी के रूप का यश ऐसा ही था। उसके कारण मनुष्य ब्रह्मा बनने की लालसा करता था कि वह विभोर होकर बैठा रहे और जिधर पद्मिनी जाए उधर ही उसके मुख निकल आये। किन्तु उसे देखकर सुल्तान आ निकला जो त्रिपुरासुर-सा उन्मत्त था। ओ सुनने वालो ! हृदय थामकर सुनो कि सुल्तान की अपार सेना ने चित्तौड़ गढ़ को घेर लिया। गढ़ों में एक गढ़ चित्तौड़, सूरमाओं में दो सूरमा गोरा-बादल, रूपसियों में एक रूपसी पद्मिनी, नाहरों के राजपूती झुण्डों में झुण्ड, और भीलों की रणरंगिणी कमानों की लोच सब जैसे नींद छोड़कर उठ खड़े हुए। मेवाड़ की अजेय धरती बोलने लगी। गरजने लगा आकाश और पतिव्रता रजपूतनियों के गर्वीले मस्तकों पर चमकने लगा उनकी बेंदियाँ बनकर अंगार, कि सुल्तान के मुल्तानी, खुरासानी, मुगल, तातार और तुरक सिपाहियों को देख-देखकर चित्तौड़ गढ़ दहाड़ने लगा।

ओ सुनने वालो ! अपने हृदय को संयत करके सुनो कि जहाँ बेटों ने माँ के दूध की आन निभाने का वचन लहू से अपनी रग-रग में लिखा हो, जहाँ बहुओं ने अपने सुहाग के गौरव की आन निभाने की शपथ फूलों की सेज से चिता की लपट तक लिखी हो, जहाँ पुत्रियों ने अपने अखण्ड कौमार्य और पवित्र विवाह की आन अपने प्राणों को हथेली पर रखकर निभाने का वचन दिया हो, वहाँ कौन आकाश

की ओर उठे शीशों को काटे बिना धरती पर गिरा सकेगा। आकाश से कौन-सा नक्षत्र बिना आग की रेखा खींचे टूटता है और रणभूमि में गिरते राजपूत की तलवार कब गिरते-गिरते नही चमकती।

ओ सुनने वालो! सुनो कि जब सुल्तान निरंतर घेरा डालते हुए हार चला और अडिग राजपूतों का कुछ भी नहीं बिगड़ा तब वह विकल हो उठा।

वह कछुआ गरुड़ की चाल चलने लगा। वह टीला पर्वत से अपनी तुलना करने लगा। वह हीस का काँटा खड्ग के सामने लरजने लगा। उसका साहस हुआ कि वह सियार, सिहनी के लिए लालायित हो उठा! उसकी बुद्धि भ्रष्ट हुई कि वह कमण्डलु में समुद्र को बंदी करने चला। उसने रानी पद्मिनी को माँगा। यज्ञ वेदी में से अग्नि की ज्वाला कब नहीं निकलती? वसुंधरा में से रत्न कब नही निकलते? ब्राह्मण के मुख से वेद निर्घोष कब नही होता? अपवित्र म्लेच्छ के मुख से पाप कब नहीं बोलता? इसी भाँति ओ सुनने वालो! अग्नि के समान, रत्न के समान, वेद-घोष के समान राजपूत चिल्लाए : नही। इसकी जिह्वा के टुकड़े-टुकड़े कर दे, क्योंकि उसके मुख मे पाप निकलता है, म्यानों में से तलवारें निकली जैसे मेवाड़ में से चित्तौड़ का गढ़ निकला, क्रोध का ज्वालामुखी धधकने लगा, मेवाड़ ने प्रतिज्ञा की। वीर बप्पा रावल के वंशजों ने आग को छूकर शपथ खाई। और सुल्तान को भीलों के बाणों ने, राजपूतों के छापों ने हाय-हाय करने को मजबूर कर दिया।

राजपूत अपनी स्त्री को म्लेच्छ को दे दे? अग्नि ठंडी हो जाये? समुद्र गर्जन छोड़ दे? म्यानों में से तलवारें निकलना-छोड़ दे? जीवन का अंत मृत्यु नही हो? नहीं, नही, मेवाड़ चिल्लाने लगा। अंत में सुल्तान ने पराजित होकर चाल खेली।

उसने कहा : "मैं केवल रानी का सौंदर्य्य देखना चाहता हूँ क्योंकि मैंने जो सुना है, वैसे रूप को मैंने कभी देखा ही नहीं। राणा मुझे शीशों में उनकी छवि की छाईं ही दिखा दें, क्योंकि वे राजपूत ठहरे। वे कैसे अपनी पतिव्रता स्त्री को किसी पर-पुरुष के सामने दिखा सकेंगे।"

ओ सुनने वाले सुनो कि राणा ने अस्वीकार कर दिया, किंतु पद्मिनी ने समझाया तो राजपूत मान गये कि इसमें कोई दोष नही। वे क्या जानते थे कि कैसे आदमी से पाला पड़ा था, जिसने अपनी प्रजा का लहू पिया, जिसने अपने धर्म को अपने लाभ का वाहन बनाया, जिसने अपने चाचा की हत्या की, जिसने अपने भाइयों की आँखें निकलवाईं, जिसने अपनी आत्मा को न देखकर जघन्य से जघन्य हत्या की।

राणा ने बुलाया, सुल्तान दो-एक आदमियों के साथ आया। राणा उसे दुर्ग में ले गये। वहाँ वे उसे टुकड़े-टुकड़े करके चील-कौओं को खिला सकते थे, किंतु उन्होंने कभी विश्वासघात नहीं किया। वीर कभी झुकते नहीं। उन्होंने उसको

पद्मिनी की छाया दिखाई। वह पागल-सा देखता रह गया।

घर आये मेहमान को राणा पहुँचाने किले से कुछ दूर बाहर चले गये। झट उस सुल्तान ने उन्हें बंदी कर लिया और किले में संवाद भेजा कि पद्मिनी मेरे हाथ में आये तो राणा को छोड़ दूँगा।

चारण मुँहणौत ने एक लंबी साँस खीची और देखा। उस समय उसके माथे पर बल पड़ गये थे। मुँहणौत की आँखें चमकने लगी थी।

13

मुँहणौत फिर गाने लगा।

आज आकाश धरती से मिल जाये, आज पहाड़ वालू के ढेर की भाँति पिस जायें, आज महागरुड़ लवा की भाँति दुबकता फिरे, आज प्रचण्ड केहरी स्यारों की भाँति दुम दबाने लगें, लेकिन यह नही हो सकता न होगा। चाहे गंगा फिर शिव के जटाजाल में लौट जाये, चाहे समुद्र मरुस्थल की भाँति साँय-साँय करने लगे, किंतु राजपूत कभी भी स्वीकार नही कर सकता। राणा के रोम-रोम से क्रोध के कारण धुँआ निकलने लगा, किंतु वे बंदी थे। इतना बड़ा धोखा, इतना बड़ा विश्वासघात देखकर क्षण-भर को राजपूत समझ ही नही सके कि कोई मनुष्य भी ऐसा हो सकता है? तब ब्राह्मण पुरोहित ने कहा—"वीर क्षत्रियों के पुत्रो! आश्चर्य्य मत करो। तुम्हारे पवित्र पुराणों और शास्त्रों ने इन लोगो को म्लेच्छ, यवन और बर्बर क्यों कहा है? क्यों इनको छूना भी अपवित्र है? क्यों इनके हाथ का अन्न-जल भी पाप है? क्यो इनका संसर्ग भी कलुषित है? इसलिये कि इनका धर्म मूढ़ धर्म है। इनका आचार जघन्य है। इनकी संस्कृति बर्बर है। इनका वचन वचन नही। इनके यहाँ सत्य, कृतज्ञता और मनुष्यत्व का कोई मूल्य नहीं। स्वार्थ इनका धर्म है, अत्याचार इनकी वीरता है, छल इनकी शक्ति है। इनका कभी अपमान नहीं होता क्योंकि इनका कोई मान ही नहीं। ऐसा ही यह सुल्तान है। राणा को इसने छल से पकड़ा हे। वीर राजपूतो! तुम भोले हो। तुम विधर्मी से धर्म-युद्ध नहीं कर सकते। तुम नास्तिक से ईश्वर का गौरव गाकर उसका हृदय नहीं जीत सकते। एक लिंग महाराज ही मेवाड़ के स्वामी हैं। राणा मेवाड़ के प्रबंधक हैं। यदि राणा आज छल से बंदी हैं, मेवाड़ का बच्चा-बच्चा राजपूत राणा का खड्ग बन गया है। तुमने सुल्तान को मारा। वह म्लेच्छ पिट कर आर्त्तनाद कर उठा। याद रखो वह देव-मंदिरों का शत्रु है। उसका धर्म हमारे धर्म का शत्रु है। उसकी सत्ता ही एक कलुष-भरा पाप है। उसे हराने के लिए बुद्धि की आवश्यकता है।"

राजपूतो ने पूछा: "फिर?"

उनके हाथ तलवारों पर गये।

ब्राह्मण ने कहा : "खड्ग अभी नहीं वीरो ! बुद्धि के बल का प्रयोग करो। शास्त्र कहते हैं—शंठशाठ्यमाचरेत्। नीच को नीचता से ही बर्त्तो। पृथ्वीराज चौहान ने गोरी को छोड़कर फिर अपने लिए काँटा बोया। रानी पद्मिनी मेरे पास आये, चुने हुए वीर मेरे पास आयें, मैं बताऊँगा तुम्हें।"

हे सुनने वाले सुनो और हृदय को थाम लो कि अचानक ही राजपूतों की ओर से प्रस्ताव सुल्तान के पास गया कि रानी आने को तैयार है, राणा को छोड़ा जाये, किंतु रानी मेवाड़ की रानी है, वह अपने गौरव से आयेगी। सुल्तान ने जब सुना तो वह उछल पड़ा। उसने कहा : "मुझे स्वीकार है।" उसे तो तृष्णा ने घेर रखा था। राणा रतनसी की पुत्री ने जो योजना बनाई थी, जिस पर जान पर खेल जाने वाले वीर आरूढ़ थे, जिसे रानी पद्मिनी ने स्वीकार किया था, वही अब कार्यान्वित हो रही थी।

एक बार को राजस्थान ने आँखें धोयी। एक बार को मेवाड़ की भोली प्रजा ने अपने को नोंच कर देखा कि पीड़ा होती है या नहीं। किसको विश्वास होता कि सूर्य उतर कर किसी दीपक की शिखा पर जलने को तैयार हो जायेगा ?

ढँकी हुई सात सौ पालकियाँ दुर्ग से निकली और सुल्तान के पड़ाव की ओर चल पड़ी। वासना में मस्त सुल्तान घूम रहा था। अचानक ही पालकियों में से स्त्री वेष फेंक-फेंककर सशस्त्र वीर योद्धा निकल पड़े और म्लेच्छ सेना को गाजर-मूली की भाँति काटने लगे। वीरवर गोरा और बादल ने राणा रतनसी को छुड़ा लिया और म्लेच्छों से घोड़े छीनकर वे दुर्ग की ओर लौट चले।

सुल्तान के दहले पर दहना पड़ा। उस समय उन वीरों के खड्गों के सामने जो आता वह ककड़ियों की भाँति कटता चला जाता। सुल्तान को जब होश आया राणा दुर्ग के भीतर पहुँच चुके थे। परन्तु अभी वीर गोरा बाहर था, बादल बाहर था।

"ठहरो !" तरुण हम्मीर पुकार उठा।

मुँहणोत ठहर गया। हम्मीर की आँखों में चिनगारियाँ निकलने लगी थीं।

14

मुँहणोत चारण ने कहा : ओ सुनने वाले हृदय थामकर सुनो क्योंकि जो सुनते हो सत्य की वाणी है, वही धर्म्म का घोष है, वही वीरों के लहू से लिखा हुआ गीत है।

खाँड़ों पर खाँड़े बजने लगे, आग पर आग बरसने लगी। वीर गोरा और तरुण बादल की वीरता देखकर ही आज तक वीरता टिकी हुई है। अन्त में वे

दोनों खेत रहे। और तब रूप की ज्वाला पद्मिनी ने पुकारा : आओ ! कुलनारियो ! समय आ गया !

उस समय वीरांगनाएँ उच्च स्वर में गाने लगीं। तहखाने में ब्राह्मण पुरोहित चिता सजाने लगा। राजपूत वीर केसरिया बाना पहनकर तैयार हो गये और जब चिता धधकी और दुर्ग का द्वार खुला···

हम्मीर ने रोते हुए कहा : "मत कहो चारण ! मत कहो।"

"मुझे कहने दो !" मुंहणौत ने कहा : "मुझे कहने दो। मैं चुप नहीं रह सकता। सीसौदियों का मैंने अन्न खाया है। मैंने वीरों के खड्गों की छाया में जीवन बिताया है। मेरे स्वामी कायरों की भाँति नहीं गये हैं। मेरी स्वामिनी ने सिंहनी की भाँति प्राण त्यागे हैं। कुंवर ! चित्तौड़ के स्वामी तुम हो ! तुम हो आज मेवाड़ के स्वामी, जहाँ सुल्तान ने अपने बेटे खिज्रखाँ को गद्दी दी है। उसने 30000 हिन्दुओं की हत्या की है। उसने चित्तौड़ का नाम खिज्राबाद रखा है। जालौर का सोनिग्रा सरदार मालदेव उसकी सेवा में चला गया है। वह मालवा के मलूक देव को कुचलता हुआ माण्डू, उज्जैन और चंदेरी को जीतता हुआ इस समय दिल्ली लौट गया है। राजा भोज की धारानगरी का सदियों पुराना सरस्वती कण्ठाभरण नामक पवित्र विद्यालय, उसका विशाल और अमूल्य पुस्तकालय उस जंगली ने जला दिया है। और राणा के वंशज तुम कहते हो मैं चुप रहूँ ? ऊदवा की वन-देवी के गर्भ से तुमने जन्म लिया है वीर !"

उसी समय सज्जनसी और अजीतसी ने प्रवेश किया। वे छोटे-छोटे थे, बड़ा अठारह का, छोटा सत्रह का। हम्मीर 16 का हो चुका था।

चारण हूँपा ने कहा : "लो दोनों कुंवर भी आ गये।"

हम्मीर ने उठकर कहा : "यह मेरे भाई हैं। काका के पास चलो और वहीं हम बाकी कथा सुनेंगे।"

उन पराजित हिन्दुओं का विक्षोभ देखकर उस समय विजेता सुल्तान हँस दिया होता। वे हिन्दू उस समय याद नहीं रख सके थे कि उनका क्रोध वास्तव में उतना पवित्र नहीं था जितना वे समझते थे, क्योंकि वे वर्ण धर्म को स्वीकार करके असंख्य दलितों को दबाये हुए थे। वे नहीं समझते थे, कि "सुल्तान साम्राज्य का भूखा था, वह इस्लाम का बंदा न था। और साम्राज्य की भूख भीषण होती है। चारण मुंहणौत ने कहा : "क्या सोच रहे हो कुमार !"

"क्या ?" हम्मीर ने चौंककर कहा।

"क्या चिन्ता कर रहे हो ?"

"सोचता हूँ मेवाड़ का सिर फिर कैसे उठेगा ?"

मुंहणौत ने कहा : "ब्राह्मण पुरोहित को राणा रतनसी ने चुपचाप विवश कर दुर्ग के गुप्त द्वार से निकाल दिया था। वह इस समय बाहर बैठा है। उसको ही

आपको अपना गुरु बनाना चाहिए।"

हम्मीर ने कहा : "कहाँ हैं वे ?"

चारण बुला लाया।

हम्मीर ने ब्राह्मण के चरणों पर साष्टांग दण्डवत की।

ब्राह्मण ने आशीर्वाद देकर कहा : "चक्रवर्ती हो।"

"चक्रवर्ती !" हम्मीर ने कहा : "अभी तो चित्तौड़ भी नहीं है !"

"हाँ राजकुमार !" ब्राह्मण ने कहा : "जब तक ब्राह्मण और क्षत्रिय साथ हैं तब तक कितनी भी विपत्ति क्यों न आये, धर्म विचलित नहीं हो सकता। आओ आजमसिंह जी के पास चलें।"

वे लोग भीतर की ओर मुड़ गये।

चारण मुँहणोत ने पुकारा : "कुँवर ! चित्तौड़ के साका मे बंधुओं की राख पड़ी है। गंगा तुम न पहुँचाओगे तो क्या म्लेच्छ पहुँचाएगा ?"

15

दीप जल रहा था। चारों ओर अंधकार छा रहा था। शय्या पर वृद्ध सुल्तान अलाउद्दीन पड़ा था। इस समय वह अस्वस्थ था। किन्तु उसके प्रकोष्ठ के चारों ओर सशस्त्र गूँगे-बहरे हिजड़े गुलाम पहरा दे रहे थे, जो न सुन सकते थे, न बोल सकते थे। वहाँ सन्नाटा था।

सुल्तान को याद आ रहा था।

क्या था यह लम्बा जीवन ! एक के बाद एक लहू की बूंद। धीरे-धीरे वे बूंदे मिल गईं और लहू का समुद्र हरहराने लगा। उस समुद्र में असंख्यों जीवित हिन्दू, किसान, कारीगर और मजदूर डूबने लगे।

सुल्तान चौंक उठा।

× × ×

"मंगोलों की अपार वाहिनी बढ़ती आ रही है। वे आपस में बातें कर रहे हैं : "बड़ा गर्म देश है।"

दूसरा कहता है : "हम यहाँ नहीं रहेंगे।"

"हम यहाँ सिर्फ लूटेंगे।"

"सुल्तान अलाउद्दीन हमें क्यों रोकेगा ?"

"वह तुर्क है।"

"कुछ कहते हैं उसमें भी मुगल खून है।"

"बड़ा पाजी है। वह बड़ा खूंखार है।"

भेड़ों की खाल ओढ़ने वाले घोड़ों पर चढ़े चले आते हैं। वे लूटते हैं, आग

लगाते हैं। हत्या करते हैं, जिना करते हैं।

उनका नेता ट्रांसोजियाना का मंगोल अमीर दाऊद है। वह मुग़ल एक लाख सिपाहियों के साथ हिंदुस्तान को तबाह करने आ रहा है।

वह हँस कर कहता है, सिर्फ मुल्तान, पंजाब और सिंध को इस खिलजी से छीन लेंगे।

सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी की सेना उसे रोकती है। भीषण युद्ध होता है। मुग़ल हार कर भागते हैं।

× × ×

सुल्तान ने आँखें खोलीं, फिर बंद कर लीं।

× × ×

मंगोल साल्दी खौफ़नाक है। वह अपने हाथ में बहुत लंबा खांडा लेकर घोड़े पर चढ़ा हुआ है। वह जब मस्त होता है तब जानवरों का कच्चा गोश्त खाने लगता है। उसको शराब पीते देखकर उसके साथी ठठा कर हँसते हैं।

दिल्ली का दरबार लगा है।

सुल्तान अलाउद्दीन तख़्त पर बैठा है। सामने साल्दी ज़ंज़ीरों में बँधा खड़ा है। सुल्तान का खास दोस्त और सिपहसालार उस मुग़ल को बुरी तरह हरा कर पकड़ लाया है।

साल्दी घबराया हुआ नहीं है। उसके गालों की हड्डियाँ ऊँची हैं। वह चिल्लाता है : "बड़ी गर्मी है। यह जानवरों का मुल्क है। सुल्तान जानवर है।"

उसके 2000 सिपाही बंदी बने दूर खड़े हैं। वे डरे हुए हैं।

2000 आदमी क़त्ल कर दिये गये हैं। सुल्तान साल्दी के कटे हुए सिर को देख कर मुस्करा रहा है।

× × ×

वह चित्र भी बदल गया।

× × ×

मंगोल कुतुलुगख्वाजा की भीषण सेना ने दिल्ली को घेर लिया है। प्रजा में भयानक आतंक छाया हुआ है। ज़फ़रखाँ घोड़े पर सवार है।

सुल्तान अलाउद्दीन उस दिन तौबा कर रहा है।

उलुगखाँ कहता है : "मेरे आक़ा ! वक़्त आ गया। यह मुग़ल चंगेज खाँ की तरह सब कुछ उजाड़ता चला आ रहा है। फ़र्क इतना है कि चंगेज़ बुद्ध था यह मुसलमान है। इसके अलावा यह बिल्कुल वहशी है। हम लोगों की तरह इसके दिल में रहम नहीं है, यह तो जानवर है।"

सुल्तान के पीछे 12000 चुने हुए योद्धा खड़े हैं।

ज़फ़र खाँ घोड़ा बढ़ाता है। कहता है : "मेरे सुल्तान, मुझे इजाजत दो।

आज मैं तुम्हारा अहसान उतार देना चाहता हूँ।"

सुल्तान गरजता है : "बहादुरो ! मोग़ल घिर आये हैं। अफ़गानो ! तुरको ! तातारो ! ईरानियो ! आज अपनी तलवारें उठा लो।"

काज़ी चिल्लाता है : "मोग़ल असली मुसलमान नहीं हैं। असली मुसलमान सुल्तान है।"

फ़ौज गरजती है। उधर कुतुलगख्वाजा की वाहिनी चिल्लाती है।

भीषण संग्राम प्रारंभ होता है।

बीच युद्ध में उलुगुखाँ आकर कहता है : "सुल्तान ! वह देखिये ! ज़फ़रखाँ मंगोलों में घुसा चला जा रहा है।"

सुल्तान देखता है। वह कैसा हैरतंगेज़ नज़ारा है। ज़फ़र खाँ के हाथों में जैसे बिजली भर गई है। उसके सिपाही नहीं हैं, चीते हैं। मुग़ल फ़ौज तितर-बितर हो रही है। कुतुलुगखाँ भाग रहा है। वह दिखाई नहीं देता। धूलि आकाश में छा गई है। रणवाद्य अभी भी बज रहे हैं। घायलों से धरती फट गई है। ज़फ़र खाँ का घोड़ा उछलता है। कुतुलुगखाँ की पीठ पें ज़फ़रखाँ तलवार घुसेड़ देता है। तभी उसे कई मुग़ल घेर लेते हैं।

युद्ध समाप्त हो गया है। सुल्तान के सामने ज़फ़रखाँ की लाश पड़ी है। मुग़ल भाग चुके हैं। सुल्तान कहता है : "उलुगुखाँ ! सूरज डूब गया है।"

सचमुच सूरज डूब गया है।

बहुत दिनों बाद कोई उत्तर मे आता है। वह बताता है अब भी जब मंगोलों के जानवर पानी नही पीते तो वे अपने जानवरों से कहते हैं : अरे तुझे कहीं ज़फ़रखाँ तो दिखाई नहीं दे गया।

× × ×

सुल्तान ने करवट बदली।

× × ×

अमीरखुसरो खूब गाता है। कुछ ही दिन बाद तो मुगल तर्गी आता है। कब तक यह मुग़ल इसी तरह आते रहेंगे---हर कोई पूछता है।

शेख निजामुद्दीन औलिया उठते हैं। वे कहते हैं : "सुल्तान ! तर्गी मुसलमान है। वह मेरी बात मानेगा।"

सचमुच तर्गी औलिया की बात मान कर लौट जाता है। औलिया कहते हैं : "तर्गी तू बहादुर है। लौट जा। उन पर हमला कर जो नबी को नहीं मानते, दीन को नहीं मानते। सुल्तान अलाउद्दीन सच्चा मुसलमान है। ओ तर्गी ! तू मुसलमानों से मत लड़ क्योंकि तू नहीं जानता कि यह हिन्दू कितने खतरनाक हैं। तू इनके तास्सुबी बिरहमनों को नहीं जानता। वे अपने को ही सब कुछ समझते हैं। उन्हें दो टुकड़े करने पर भी वे नहीं झुकते। तू राजपूतों को नहीं जानता। तू बुआबे के

किसानों को नहीं जानता। तू बंगाले के लोगों को नहीं जानता। सारी धरती मुसलमानों के लिए है। तू इस गर्म मुल्क में जिंदा नहीं रह सकता। इस्लाम का झंडा इस मुल्क में फहरे सौ बरस के करीब होने आये मगर यहाँ बड़े जिद्दी काफ़िर हैं। देख ! ईरान, ईराक, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, तुर्किस्तान, सब जगह दीन कितनी जल्द फैला। मगर यहाँ नही फैल रहा है। जा तू चीन को फ़तह कर !'

तर्गी लौट जाता है। औलिया का नाम दूर-दूर तक फैल जाता है। मुग़ल की लूट से बचे हुए हिंदू भी औलिया को पीर मानते हैं। औलिया कई काफिरों को मुसलमान बनाते हैं।

× × ×

सुल्तान ने लंबी साँस ली।

× × ×

उलुगुखाँ बैठा है। वह कहता है : "सुल्तान अब नहीं सहा जाता। इस बार मुगलों को ऐसा सबक देना होगा कि वे फिर कभी भी लौटकर इधर न देखें।"

औरतें डरी हुई हैं। हरम में सनसनी है।

लोग सड़कों पर कहते हैं : "क्या होने वाला है ?"

"इस बार फिर मुगल आ रहे हैं।"

कोई और कहता है : "अलीबेग और ख्वाजाताश, सुनते हैं, यह उनके राजा हैं।"

"हाँ ?" एक और कहता है, "वे लाहौर के उत्तर में आकर सिवालिक की पहाडियों को घेर चुके हैं।"

"नहीं," पहला कहता है, "वे अमरोहा तक आ चुके हैं।"

सुल्तान कहता है : "उलुगुखाँ। दियालपुर में ग़ाजी तुग़लक है। उसे जंग पर भेज दो।"

खबर आती है। गाजी तुग़लक़ ने मुगलों को कड़ी शिकस्त दी है। मुगलों ने दूसरी बार जो हमला किया उसे भी उसने लौटा दिया है।

सुल्तान शतरंज खेल रहा है। वह कहता है : "शह ! और मात !"

उलुगुखाँ कहता है : "सुल्तान ! मैं हारा हुआ हूँ। आपने सुना ?"

"क्यों ?"

"इस बार मुगल इक़बाल मण्डा बढ़ा आ रहा है।"

सुल्तान सोचता है। फिर एक बहुत बड़ी सेना दिल्ली से निकलती है। उसका छोर दिखाई नहीं देता।

दिल्ली में कुछ दिन बाद जश्न मनाया जाता है। हजारों मुगलों का क़त्ले-आम करके शाही फौज लौटी है। जिंदा मुग़ल सरदार पकड़-पकड़ कर हाथियों के पाँवों के नीचे कुचल दिये गये हैं। सैकड़ों सरदारों की इस तरह हँस-हँसकर

हत्या की गई है। बहुत-से मुग़लों की ज़िंदा ही खाल खींची गई है। कइयों को बाँध कर ज़िंदा जला दिया गया है। मुग़लों का चीत्कार बहुत दूर तक सुनाई देता है। इक़बाल मण्डा को काट-काटकर गोश्त के टुकड़े चील-कौओं को खिला दिये गये हैं। एक भी मुगल ज़िंदा नहीं बचा है, जो भाग गया वह घोड़ा छोड़ गया है। शाही फ़ौजों को लुटेरों के पास बड़ा माल मिला है।

सुल्तान सरहद के गढ़ों में चुने हुए तजुर्बेकार सरदार नियुक्त करता है जहाँ दिन-रात हथियार बनाये जाते हैं।

अब मुग़ल नहीं आते। सुल्तान ठठा कर हँसता है और एकांत में मस्त होकर शराब पीता है।

अमीर खुसरो की कविता सुनता है। आनंद ही आनंद दिखाई देता है।

× × ×

सुल्तान ने मुँह पर हाथ फेरा।

× × ×

सुल्तान का युवक पुत्र खिज्र खाँ और गुलाम काफूर खड़े हैं! अब वह गुलाम मलिक कहलाता है क्योंकि सुल्तान का प्रिय पात्र है।

सुल्तान कहता है: "उत्तर जीता जा चुका। मलिक काफूर! दक्खिन बाकी है।"

"आलीजाह!" काफूर कहता है—"इजाजत दें।"

सुल्तान कहता है: "जाओ और कुफ्र को तोड़ो। दीन के लिए इन काफ़िरों को दोज़ख भेजो।"

लेकिन भीतर ही भीतर वह सोच रहा है। वह दक्खिन का पहला मुसलमान सुल्तान होगा। दक्खिन किसी ने नहीं जीता था!

दक्खिन!

वहाँ की बेशुमार दौलत सुल्तान को मस्त बना रही है। उसकी कल्पना कितनी मादक है, कितनी भुला देने वाली है।

अलपखाँ, मलिक क़ाफूर और खिज्र खाँ लड़ाई के लिए रवाना होते हैं।

इसके आगे की कथा सुल्तान को कोई सुनाता है कि वे मालवा और गुजरात को लूटते हैं और रामकरन को घेरते हैं। रामकरन अपनी लड़की देवलदेवी को लेकर देवगिरि के राजा रामचन्द्र की शरण में चला गया है। क़ाफूर खिज्र खाँ को देखता है।

खिज्र खाँ कहता है: "मलिक!"

मलिक कहता है: "शाहज़ादे!"

"तुमने सुना है? देवलदेवी बहुत खूबसूरत···।"

मलिक औरत की खूबसूरती नहीं समझता। वह हिजड़ा है।

वह सिर्फ़ कहता है : "आक़ा उसे चाहते हैं ?"

ख़िज्र सिर हिलाता है।

मलिक कहता है : "तो चलें पहले देवलदेवी को ले आयें।"

रामकरन सुनता है। जल्दी से वह रामचन्द्र के बेटे शंकरदेव से अपनी लड़की देवलदेवी का ब्याह कर देना चाहता है, लेकिन तभी शाही फौज घेर लेती है।

अलप खाँ कहता है : "देवलदेवी को दे दो।"

राजपूत कहते हैं : "नहीं तू म्लेच्छ है।"

मुसलमान कहते हैं : "काफ़िरों को इतना घमण्ड है ?"

दो महीने तक भयानक युद्ध होता है। शाही सेना के घेरे ने किले के लोगों को भूख से भर दिया है। रामकरन हारता है। खाना नहीं है, लोग तड़प रहे हैं। आखिर वह रोता है और कहता है : "हाय मेरी बेटी उन गन्दे नीचों में जायेगी !"

लेकिन और कोई चारा नही है।

खिज्र खाँ पत्थर बना है। देवलदेवी मुस्कराती हुई आती है। वह कहती है : "पद्मिनी क्यों जल मरी ! क्यों उसने आत्महत्या की ! मैं तो खुद ख़िज्र से बदला लूंगी।" उसकी इस बात को कोई नहीं जानता। वह आती है, रात को खिज्र पर दूर से हमला करती है। तातार बाँदी उसका छुरा छीन लेती है। फिर वह सिर नहीं उठाती। वह खिज्र की बीबी बनती है। हिन्दू जलते है। गाँवो में लोग मुसलमानों को मारते हैं। अलपखाँ मुल्क को उजाड़ता है। दूर तक खण्डहर दिखाई देते हैं। मन्दिरों के उठे हुए सिर धूल में मिलते हैं। रामचन्द्र राव हारकर सुलह करता है। उसे दिल्ली भेजा जाता है।

सुल्तान दूरंदेशी से उससे अच्छा बर्ताव करता है और उसे रायाँ का ख़िताब देता है। वह उसे नवसारी का इलाका अपनी तरफ से इनाम में देता है। रामचन्द्र कुत्ते की तरह दुम हिलाता है।

बाद में देवलदेवी दिल्ली आती है। वह तुर्की बोलती है। वह मुसलमानियों के कपड़े पहनती है। वह हर तरह का गोश्त खाती है। नमाज पढ़ती है। सुल्तान सुनता है और मुस्कराता है।

× × ×

सुल्तान ने आँखें खोलीं। दीप का प्रकाश स्थिर था। वह उसे देखता रहा। आँखें खुली रहीं पर वह न जाने क्या सोच रहा था।

× × ×

फौज को लूट चाहिए। मुगलों का हमला नहीं। उत्तर में बगावत नहीं। दीन के मतवाले सिपाहियों को जब तक लूट न मिलेगी तब तक चैन क्यों रहेगा ? इतने बड़े मुल्क को तलवार से दबाये रखने को फौज चाहिए। फौज को लूट चाहिए। लूट कहाँ है ? लूट हिन्दू के पास है। सुल्तान मलिक काफूर को हुक्म लिखता है :

अब वारंगल ! अब राय अपने खजाने, जवाहिरातों, हाथियों और घोड़ों को इस बार देता है और अगले साल फिर भेजता है, तो मलिक नायब काफूर इसे मंजूर कर ले और बेकार राय पर सख्ती न करे। ऐसा न हो कि तिलंगाने में वारंगल का काकातीय राजा जबर्दस्त पड़ जाये। अगर जरूरत पड़े तो उसे दिल्ली ले आये ताकि मलिक काफूर का नाम रोशन हो।

मलिक क़ाफ़ूर पढ़ता है : राज नहीं चाहिए, खज़ाना चाहिए।

फौज बढ़ती है। रास्ता खराब है। दुर्ग अभेद्य है। राजा प्रताप रुद्रदेव द्वितीय, लाढरदेव के नाम से विख्यात योद्धा है। वह दुर्ग को बन्द करके बैठ जाता है।

अमीर खुसरो फौज के साथ है। वह कहता है : "बखमुरो ! इस गढ़ को तो लोहे का भाला भी नहीं भेद सकता। फौलाद है फौलाद।"

लेकिन कई दिन बीत गए हैं। राजा का अन्न भीतर बीत रहा है। वह अपनी एक सोने की मूर्ति भेजता है। उसके गले में सोने की जंजीर है। वह उसकी गुलामी की निशानी है। वह कहता है कि मैं सुलह चाहता हूँ, मैं सालाना खिराज दूंगा।

गर्व से मलिक क़ाफ़ूर कहता है : "नहीं।"

ब्राह्मण मंत्री देर तक क़ाफ़ूर के सामने गिड़गिडाता है, समझाता है। क़ाफ़ूर नहीं मानता। वह कहता है : "अगर राजा लाढर अपना खज़ाना देता है तो ठीक, वर्ना मैं हिन्दुओं का कत्लेआम करता हूँ। उसे हर साल कर देना होगा।" काकतीय राजा स्वीकार करता है।

देवगिरि, धार और झाँई होता हुआ मलिक काफूर वारंगल को पराजित करके लौटता है और उसके साथ एक हजार ऊँट हैं। उन ऊँटों के ऊपर खज़ाना है। इतना बोझ है कि ऊँट थक गए है। एक हजार ऊँटों की पीठे दुख गई हैं।

सुल्तान देख रहा है। उसकी आँखें नहीं थकतीं। सोना फिर सोना, फिर मोती ! हीरे ! पन्ने ! मानिक ! लाल ! पुखराज ! और जाने क्या-क्या ? बेशुमार दौलत ! अल्लाह जैसे सदियों से इन काफिरों के पास इसीलिए इस सबको इकट्ठा करता है कि एक दिन दीन के झंडे को लेकर हम आयेंगे। हम इसीलिये आए हैं।

× × ×

अल्लाह ! उसके मुँह से निकल पड़ा, अल्लाह !

× × ×

उसके बाद मलिक काँफूर का नाम ही सुल्तान के कानों में गूँजने लगता है। वह फिर दक्खिन लौटता है। द्वार समुद्र का वीर बल्लाल तृतीय सशक्त राजा है। लेकिन यादव राजा रामचन्द्र की सहायता से काफूर बढ़ता है। गहरी नदियों, खन्दकों और घाटियों को पार करके काफूर और ख्वाजा हाजी बढ़ते हैं। युद्ध में हारकर वीर बल्लाल समर्पण करता है। काफूर कहता है : "नहीं। या तो तू मुसलमान बन, या फिर जिम्मी बन।"

हारकर भी, अपमानित होकर भी राजा जिम्मी बनता है, दिल्ली की अधीनता स्वीकार करता है, बेशुमार दौलत देता है। काफूर के सैनिक मन्दिरों को तोड़ते हैं। पवित्र स्थान में मुसलमानों के घोड़े दौड़ते हैं, मन्दिरों की पुष्करिणियों में तुर्क थूकते हैं, पेशाब करते हैं। हिन्दू उन्हें तुलुक कहते हैं। वीर बल्लाल को सारी भेंट लेकर दिल्ली भेजा जाता है। वह हाथियों और घोड़ों को पहुँचाने आता है, लेकिन वह इतना अपमान सहकर भी मुसलमान नहीं बनता। मुसलमान बनना वह इस सबसे घृणित समझता है। यादवों ने उसे दगा दी है।

तभी काफूर के पास दक्खिन से एक आदमी आता है। वह पाण्ड्य राजकुमार सुन्दर पाण्ड्य है। उसकी गद्दी को वीर पाण्ड्य ने छीन लिया है जो उसका भाई है। वह कहता है --मलिक ! मुझे मदुरा का राज दिलाओ। तुमने मदुरा को बचाया है। जब हम दोनों भाई लड़ रहे थे तब वीर बल्लाल द्वार समुद्र से मदुरा पर आक्रमण करने आ रहा था। तुम्हारे कारण वह लौट गया। तुमने वीर बल्लाल को हराया है। तुम वीर पाण्ड्य को हरा सकते हो !

दक्षिण के दुर्गम मार्गों में अमीर खुसरो फौजों में अपनी कह मुकरियाँ सुनाता चलता है। वह मस्त आदमी है। वह इस्लाम की फतह के साथ है। वह फारसी और संस्कृत का पण्डित है। वह हिन्दी का बड़ा ज्ञाता है। वह मलिक काफूर से कहता है : "काफिर खुद आ गया है।"

वह कहना चाहता है कि यह बीर बल्लाल के साथ किये हुए बर्ताव को देख चुका है। देख चुका है कि यादवों ने किस तरह द्वार समुद्र के राजा का विनाश किया है फिर भी स्वयं हमें पांडव देश में ले जाना चाहता है। अल्लाह ही तो इनको ऐसी अक्ल दे रहा है। यह काफिर कभी इकट्ठे नहीं होते। यह आपस की फूट से लड़ते हैं। अमीर खुसरो फिर कहता है : "तुमने इन काफिरों की रामायण नहीं सुनी। उसमें भी एक घर का भेदी विभीषण है। सुन्दर पाण्ड्य वही घर का भेदिया है। वीर पाण्ड्य राजा बना है, वह बड़ा बेटा है मगर नाजायज़ औलाद है, सुन्दर पाण्ड्य छोटा है परन्तु जायज औलाद है, लेकिन जब हम पहुँचेंगे तब कौन जायज़ और कौन नाजायज रहेगा कौन जानता है। इसको बाद में वही सजा देना जो सुल्तान ने हम्मीर राव के घर के भेदी रणमल को दी थी। यानी कुत्ते की मौत। इन विश्वासघातियों से मन में नफ़रत करो क्योंकि यह काफिरों से भी गए बीते हैं।"

मलिक चलता है। सुन्दर पाण्ड्य साथ है। वह देखता है काफूर मदुरा की तरफ बढ़ने में मन्दिर को ढहाता जाता है। वीर पाण्ड्य राजधानी छोड़कर भाग गया है। 512 हाथी, 5000 घोड़े, 500 मन हीरे, मोती, पन्ने और लाल हर तरह के जवाहिरात काफूर के हाथ लगे हैं। काफूर के घोड़ों ने रामेश्वरम् तीर्थ को गँदला कर दिया है। विशाल मन्दिर को ध्वस्त कर दिया है। मूर्ति को खण्ड-

खण्ड कर दिया है। सुन्दर पाण्ड्य को कुछ नहीं मिला है। काफ़ूर 4थी जिल-हिज्जा 710 हिजरी को सुल्तान के पास लौट आया है (1311 ई०)। फतह के खुतबे पढ़े जा रहे हैं और कीमती सामान अमीरों और सरदारों में बाँटे जा रहे हैं।

× × ×

सुल्तान ने बुदबुदाया ! "मलिक काफ़ूर !"

कोई नहीं बोला।

× × ×

राजा रामचन्द्र मर गया है। उसका बेटा शंकरदेव यादव अपने ज़ख्मों को भर नहीं पाया है। वह बागी हो जाता है। फिर मलिक काफ़ूर की सेना कूच करती है और समस्त महाराष्ट्र को बुरी तरह लूटा जाता है, गाँव के गाँव जलाकर वह युद्ध में शंकरदेव को हराकर उसका सिर काट देता है लेकिन शंकरदेव हँसता हुआ मरता है। उसने जान देकर बाप की गुलामी का दाग धोया है। दक्खिन के प्राचीन राजवंश चोल, चेर, पाण्ड्य, होयसल, काकातीय, यादव, धूल में मिले पड़े है। सोनार गाँव मे थट्टा और मुल्तान से दिल्ली, दिल्ली से द्वार समुद्र, सब कहीं तुर्कों के घोड़ों ने धूल से आकाश को भर दिया है।

दिगंतों में सुल्तान अलाउद्दीन के खुतबे पढ़े जा रहे हैं, दिगंतों में उसके मत-वाले हाथी झूमते हैं। उसकी अपार वाहिनी ने करोड़ों रुपया लूट मे जीता है।

× × ×

सुल्तान चौंक उठा। उसने देखा दीप अब भी जल रहा था, किन्तु उसकी लौ पहले से क्षीण हो गई थी ! क्यों हो गई थी !

× × ×

उन्होंने सुल्तान को कत्ल करने की साज़िश की है।

वे नौ मुस्लिम है।

चाचा जलालुद्दीन ने अपनी बेटी मुगल उलूघ खाँ को ब्याह दी थी। उलूघ खाँ मंगोल था। उसे मुसलमान बनने के बाद धन चाहिए था। सुल्तान ने उसे दिया था। दीन के स्वीकार करने का अर्थ ही धन की प्राप्ति था। इसे सब स्वीकार करने में खुश रहते थे, सिर्फ काफिर हिन्दू उस पैसे को लानत भेजते थे। न जाने उन्हें इस जाहिल कुफ्र में क्या मजा आता था। सुल्तान ने इन नौ मुस्लिमों को सरकारी नौकरियों से निकाल दिया था। वे अलाउद्दीन से नाराज़ थे।

सुल्तान खड़ा है। नौ मुस्लिम इल्तिजा कर रहे हैं।

सुल्तान कहता है : "हमने हुक्म दिया है कि तुम लोग अमीरों के यहाँ नौकरी कर सकते हो। राज्य तुम्हारा प्रबन्ध नहीं कर सकता।"

वे भूखे मरते हैं। वे सुल्तान का कत्ल करने की कोशिश करते हैं।

सुल्तान का गुस्सा जागता है।

पहले दिन 4000 नौमुस्लिमों का कत्ल होता है।

दूसरे दिन 6000 का।

फिर 6000 का।

फिर 11000 का।

उनके घरों को धूल में मिला दिया गया है। उनके परिवार सड़कों पर भीख माँगते फिर रहे हैं। रहम से काफिर उन्हें भीख देते है, उन हिन्दुओं को कत्ल किया जाता है। नौमुस्लिम चिल्लाते हैं : "तू मुसलमान है, ये काफ़िर तुझ से अच्छे हैं। हाय जिन्हें हम काफ़िर कहते हैं वे इंसान है तू हैवान है।"

तब शाही फौज के सिपाही नौमुस्लिमों के सिरों को आरे चला कर काटते हैं, उनके धड़ों के टुकड़े-टुकड़े किये जाते हैं।

बग़ावत की जलती मशाल को कीचड़ में घुमेड़ कर बुझा दिया जाता है।

× × ×

सुल्तान को पसीना आ गया।

× × ×

लेकिन साजिशें नही रुकतीं। बग़ावत नहीं रुकती। सुल्तान को गुस्सा आता है।

मलिक क़ाफूर कहता है : "आलीजाह ! शाहज़ादे मनमानी करते हैं।"

सुल्तान लड़कों को बुरी तरह डाँटता है।

खिज्र खाँ की आँखों में चमक-सी दिखती है।

मलिक काफ़ूर कहता है : "सुल्तान ! मलिका और खिज्रखाँ अलपखाँ से साज़िश करके आपको क़त्ल करना चाहते हैं।"

"हूँ।" सुल्तान कहता है। "तभी मलिका शादीखाँ की शादी अलपखाँ की लड़की से करना चाहती हैं ?"

अलपखाँ ! वही अलपखाँ ! आज वह ही जान लेना चाहता है और शादीखाँ ! उसी का बेटा ! खिज्र खाँ उसी का बेटा है। क्या राज के लिए यह लोग बाप को मारना चाहते है ! क्या राज के लिए बीवी अपने शौहर को मारना चाहती है !

हाहाहा··· करके गंगा की धारा हँसती है। गंगा की धारा में पड़ी इल्यास बेग की लाश हँसती है। वह उसी का भाई था। उसे भी तो सुल्तान ने ही मरवाया था। इल्यास चिल्लाता है : "अलाउद्दीन ! देख ! तूने राज के लिए चचा जलालुद्दीन का खून किया था। रुकनुद्दीन इब्राहीम और अरक़ली को मारा था।"

सुल्तान कहता है : "लेकिन मुझे अल्लाह ने सुल्तान बनाया है।"

मलिक काफूर कहता है : "सुल्तान इजाजत दें तो यह साजिश कुचल दी जाये।"

सुल्तान कहता है : "कुचल दो !"

खिज्र खाँ और शादीखाँ ग्वालियर भेजे जाते हैं, मलिका वही मलिका जो एक दिन अपनी माँ मलिका जहान से मिली थी आज दिल्ली में है, मगर मजबूर है, आ-जा नहीं सकती, उस पर कड़ा पहरा है, और अलपखाँ का क़त्ल कर दिया गया है। देवगिरि की मृतात्माएँ क्यों हँस रही हैं ?

मलिक काफूर कहता है : "सुल्तान शिहाबुद्दीन ही क़ाबिल शहज़ादा है, उसी को वारिस क़रार दीजिए।"

सुल्तान उसे वारिस क़रार देता है···

लेकिन···

और बड़ा लेकिन···

लेकिन···और सुल्तान के सामने लेकिन···

कि लोग नहीं मानते···

नहीं मानते···

क्यों ?

× × ×

सुल्तान व्याकुल-सा जीभ फेर कर होंठों को भिगोने लगा।

× × ×

गुजरात बग़ावत में खौल रहा है। कमालुद्दीन गर्ग को बाग़ियों को दबाने भेजा था···

कमालुद्दीन को हिंदुओं ने बुरी तरह हरा कर मार डाला···

× × ×

"मार डाला !" सुल्तान पुकार उठा।

× × ×

रामचंद्र यादव का दामाद हरपाल देव अपने साले शंकरदेव की मौत का बदला लेने को खड़ा हो गया है और उसने बग़ावत की है, वह आज़ाद हो गया है···

दुआबे के हिंदू किसानों ने बग़ावत की है···

सौदागर अब आज़ाद हो रहे हैं, वे शहनाए मण्डी की शक्ति को स्वीकार नहीं करते···

बंगले में बग़ावत के शोले भड़क रहे हैं···

आग···आग···आग लग रही है···

सल्तनत कागज़ की तरह सुलगने लगी है···

नौमुस्लिम···

हारे हुए राजपूत···

मराठे···

हिंदू···

सौदागर···

किसान···

और फिर इस्लाम के घर में झगड़ते···

तातार···

तुर्क···

अफगान···

और वह दीवाने जोगी···गोरखपुर का मंदिर फिर उठ आया है···

× × ×

"पानी !" सुल्तान चिल्लाया···मगर गले से आवाज़ नहीं निकली।

× × ×

यह कौन कहता है, याद नहीं आ रहा है—

वह राणा हम्मीर है···

चित्तौड़ की आग का शोला···

जौहर का वारिस···

कितना अँधेरा है ··उस अँधेरे में दो रोशनियाँ हैं···एक मशाल रणथंभौर में जल रही है, एक मशाल चित्तौड़ में धधक रही है···

इस्लाम की कितनी आँधी और कितना तूफान आयेगा जो इन दोनों को बुझा सकेगा···

सुल्तान अलाउद्दीन की राह साम्राज्य की राह है। वह ख़ुदा और इस्लाम की राह को समझता नहीं···उसने तो काज़ी से कह दिया था···

और यह कौन है···

मीर मुहम्मदशाह···

मुग़ल···

फिर वही मुग़ल···

उसने अपने हाथ से हिंदू हम्मीर के लिए अपनी औरत और बच्चों को काटा था···और रणमल ने हम्मीर को दगा दी थी···हम्मीर ने मर जाना पसंद किया···लेकिन वह वचन से पीछे नहीं हटा···मीर मुहम्मद शाह को उसने आखिर तक नहीं छोड़ा···

और गोरा और बादल···

और यह राणा हम्मीर···

उसने खिज्र खाँ को मारकर भगा दिया, क्या वह सोनिग्रा सरदार मालदेव को भी भगा देगा···

किस क़दर बगावत···किस क़दर आग···

जब मेरा दीप जल रहा था तब चारों तरफ़ अंधकार था और मैं सबकुछ देख रहा था···अब चारों तरफ आग जल रही है तो मुझे इतने उजाले में भी कुछ दिखाई क्यों नहीं देता···चोल, उठ रहा है, पाण्ड्य उठ रहे हैं, सब···सुल्तान अब सुल्तान नहीं है···

× × ×

अलाउद्दीन मर चुका था !

16

पहाड़ियों के मुखिया मूंजा बालेछा का सिर काट कर जिस दिन युवक हम्मीर ने काका अजयसिंह को भेंट किया उस दिन काका ने मूंजा के लहू से ही उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। सुजनसी दक्षिण चला गया था। शीघ्र ही हम्मीर ने आसपास के सरदारों को जीत लिया और मेवाड़ के किसानों और भीलों की सहायता से उसने इतना उपद्रव खड़ा किया की खिज्र खाँ को चारों ओर मौत नज़र आने लगी। वह भाग गया, मगर घर का भेदी मालदेव चित्तौड़ का राजा बना जो अलाउद्दीन खिलजी को खिराज देता था।

× × ×

भीड़ एकत्र हो रही थी। एक किसान ने कहा : "राणा !"

"राणा नहीं", हम्मीर ने कहा : "राणा चित्तौड़ का स्वामी होता है। मैं योद्धा हूँ। जैसे तुम, वैसा मैं।"

किसान बलिष्ठ व्यक्ति था। उसका नाम था कान्ह। उसके पीछे भील रूखा खड़ा था। काला और गठीला। उसने कहा : "तो फिर बप्पा के वंशज को हम फिर राणा बनायेंगे। मालदेव के सिपाही हमारी पैदावार का आधे से ज्यादा उठा ले जाते हैं। वे लगान में रुपया नहीं नाज लेते हैं और नाज के उन्होंने ऐसे भाव बाँध रखे हैं कि हम भूखे मरते हैं।"

नीमन बनिये ने कहा : "राणा ! तू तलवार उठा। वे तो तिजारत भी नहीं करने देते। कहते हैं यहाँ नाम लिखाओ, इसी भाव बेचो, सरकार को दो।"

राणा ने कहा : "विद्रोह करोगे ?"

"जान देंगे।" स्त्रियाँ चिल्लाईं : "वे हमारी इज्जत लूटने को आते हैं। कई बार उनमें इसी बात पर लड़ाई हो चुकी है। चार सिपाहियों को हमने मार डाला था तो उन्होंने सारे गाँव को उजाड़ दिया। हम जंगलों में जाकर छिप रहे थे। कहते हैं गोमांस खाओ।"

स्त्री ने घृणा के थूक दिया।

हम्मीर ने कहा : "तो तैयार हो जाओ। बच्चे-बच्चे को लड़ना होगा। सारा

देश उजाड़ डालो ताकि इन लोगों के हाथ कुछ न पड़े।"

भीड़ चिल्लाई : "मारेंगे, मरेंगे !"

विद्रोह प्रारंभ हो गया !

× × ×

सेना एकत्र हो रही थी। राणा ने मुसलमानों के पिट्ठुओं को खूब लूटा था। जो माल एकत्र हुआ था उससे सेना उठी थी, जैसे राख में से बुझते हुए दिखाई देने वाले अंगार फिर दहक उठे थे। पाँच हज़ार सैनिकों ने मालदेव को त्रस्त कर दिया।

राणा हम्मीर का नाम अब चित्तौड़ में फैलता जा रहा था।

राणा हम्मीर ने पुकार कर कहा : "मेवाड़ के वीरो ! आग धधक रही है। मेवाड़ की स्वतंत्र चेतना फिर जाग रही है। चारों तरफ़ ज्वालामुखी फूट रहे हैं। केवल चित्तौड़ अब मालदेव के अधीन रह गया है। मालदेव स्वयं बहुत निर्बल है, केवल मुसलमानी फौज के बल पर वह टिका हुआ है।"

सेना सुनती रही।

राणा ने फिर कहा : "ब्राह्मण पुरोहित कहते है कि इस पवित्र देश पर कई विदेशियों के बर्बर आक्रमण हो चुके है, लेकिन इतना बड़ा बर्बर कोई भी नहीं आया जिसको हमारे धर्म से द्वेष हो। और लोग केवल युद्ध के समय विनाश करते थे और राज्य के लिए युद्ध करते थे। लेकिन यह लोग शांति में भी विध्वंस करते हैं और अपने पाँव जमाने के लिए बलपूर्वक हिंदुओं को मुसलमान बनाते हैं। मुसलमानों के स्पर्श से ही हिंदू गंदा हो जाता है और फिर उसे मुसलमान बनकर ही रहना पड़ता है। इसलिए आवश्यक है कि इनका सर्वनाश ही कर दिया जाये। यह लोग छल से अधर्म्म युद्ध करते है, फूट डालकर राज्य करते है। इसका ही उदाहरण मालदेव है। मालदेव इनके हाथों में पड़कर अपनी प्रजा को लूट रहा है। सुल्तान के नियम विचित्र है। उसने राजाओं, जागीरदारों को अपना घरेलू नौकर बना रखा है, उसने उच्च कुलों की प्राचीन मर्यादा का विनाश किया है। उसके राज्य में किसी की विवाहित स्त्री भी सुरक्षित नहीं है। यह तो सारे शास्त्रो के विरुद्ध है। एक रावण ही था जो विवाहित स्त्री सीता को छीन ले गया था, लेकिन उसका परिणाम यही हुआ कि राजा राम ने बानरों की सहायता से सोने की लंका को ढहा दिया। हमने बलिदान देकर अपना गौरव जीवित रखा है। हमने लहू बहाकर मेवाड़ की आन को सुरक्षित रखा है। बोलो ! तुम आगे बढ़ोगे कि पीछे हटोगे ? तुर्कों का दास बनकर, ज़िम्मी बनकर जीवित रहना चाहते हो या स्वतंत्रता की मृत्यु चाहते हो ?"

रूखा भील ने कहा : "राणा ! क्या तू हमें कायर समझ कर ललकार रहा है ? क्या तू समझता है कि हम दास है और दास बनकर रहना चाहते है ?"

राणा चिल्लाया : "तो उठाओ शस्त्र ! मालदेव भी खिज्र तुर्क की भाँति भागता दिखाई देगा। यह सच है कि हमारे आक्रमणों के कारण तुर्क सुल्तान घबरा गया है। वह केलवाड़े के बीहड़ मार्गों से डर गया है। उसने अर्बली की श्रेणियों का पूर्वी भाग अपनी विशाल सेना से जीत लिया है, लेकिन अब दक्षिण हमारा है। उसके पास बहुत बड़ी सेना है, हमारे पास अभी नहीं है, इसलिए हमें हटना पड़ा है। अलाउद्दीन थक कर चला गया है।"

सेना की भीड़ ने कहा : "राणा ! हम तत्पर हैं।"

"तो उजाड़ करते रहो। प्रजा को कष्ट न दो। वह तुम्हारे साथ है। शीघ्र ही मेवाड़ म्लेच्छों से मुक्त होगा।"

रूखा ने कहा : "मैं जंगल-जंगल, पहाड़-पहाड़ संवाद भेजकर भीलों को एकत्र करता हूँ।"

× × ×

हम्मीर के कुल पाँच हज़ार सैनिकों ने चित्तौड़ को चारों तरफ़ उजाड़ डाला था। उन्होंने ग्राम जला दिये। ग्रामवासी उनसे मिल गये। उन्होंने मुसलमानों को पकड़ा और मार डाला। व्यापारी और किसान इस अशांति के कारण हम्मीर की शरण में जाने लगे। हम्मीर केलवाड़े के भीतर रहता था। केलवाड़े तक पहुँचने का मार्ग बड़ा दुर्गम था। मालदेव का वहाँ तक पहुँचने का साहस नहीं होता था। स्वयं अलाउद्दीन वहाँ जाने का साहस नहीं कर सका था। वहाँ बड़ी घनी झाड़ियों के जंगल थे। खाने को वहाँ इतने फल पैदा होते थे कि हजारों आदमी चैन से बैठ कर खा सकते थे। केलवाड़े के पश्चिम का मार्ग खुला हुआ था और गुजरात और मालवा के व्यापारी अन्न भीलों के द्वारा हम्मीर की मदद करते थे। मालदेव हताश होने लगा था।

वह अपने प्रकोष्ठ में बैठा-बैठा सोच रहा था। अंत में उसने सिर उठाया और सामने बैठे रघू से कहा : "हम्मीर दुर्दान्त हो गया है न ? सुल्तान भी चला गया है। तो फिर मैं ही इसे अपने वश में करूँगा।"

"कैसे महाराज ?" रघू ने कहा।

"मैं अपनी कन्या का उससे विवाह करूँगा, नारियल भेज दो। राजपूत है। यदि नहीं आयेगा तो कलंकित होगा और यदि आ गया तो हम फिर उसका मृत्यु से ही विवाह करायेंगे।"

रघू ने कहा : "सोच लीजिये।"

"मेरे पाँच पुत्र हैं रघू। उसके लिए तो मेरा बनवीर ही काफी है। जहाँ घी सीधी उंगली से न निकले, वहाँ टेढ़ी ही से सही।"

"और कुँवरि क्या कहेगी ?"

"कुछ नहीं। लड़की जब तक मेरी है, मेरे अधीन है।"

रघू चला गया।

17

"टीका आया है।" हम्मीर ने कहा।

सबके मुख पर आश्चर्य छा गया।

"किसका ?"

"मालदेव ने भेजा है।"

सब चौंक उठे।

रूखा ने कहा : "राणा ! इसमें भेद है।"

"मेरी समझ में जाना उचित नहीं," वृद्ध राजपूत देवा ने कहा : "यह कोई जाल है।"

इसी प्रकार वे परस्पर विवाद करते रहे।

हठात् हम्मीर ने कहा : "नहीं जाने से लोग कहेंगे हम्मीर कायर है !"

रूखा ने कहा : "जो आप मालदेव को दावत पर बुलायें वह आ जायेगा ?"

"वह तो कायर है ही।" हम्मीर ने कहा।

"फिर भी वहाँ उसकी सेना होगी।"

"अवश्य होगी।" राणा ने कहा—"लेकिन जीना एक बार है तो वीरों की मृत्यु भी एक बार है। एक बार मैं अपने पूर्वजों के गौरवमय चित्तौड़ को देख पाऊँगा। मेरी मृत्यु से क्यों डरते हो ? मैं नहीं हूँ तो तुम हो। मालदेव का निमंत्रण स्वीकार करना ही होगा। मेरे साथ कौन चलेगा ?"

भीड़ में होड़ होने लगी।

हम्मीर ने कहा : "मुझे केवल 500 आदमी चाहिए और कोई नहीं। सूचना भिजवा दो।"

जब पाँच सौ सवार चले तो माता ने कहा : "पुत्र ! ऊदे गाँव की लड़की का दूध लजा कर न आना। तुम्हारे बाप ने जब मुझे माँगा था तब मेरे बाप ने मना कर दिया था पहले।"

हम्मीर ने कहा : "नहीं माँ। कटा सिर भेजूंगा, पीठ नहीं।"

माँ ने कहा : "एकलिंग तेरी रक्षा करेंगे।"

पुरोहित ने कहा : "वीरभद्र साथ हैं। जाओ ! कार्त्तिकेय की भाँति तारकासुर का वध करके लौटो।"

सेना पहाड़ से उतरने लगी।

× × ×

मालदेव के पुत्र हरीसिंह ने कहा : "आ गये राणा जू !"

"जय एकलिंग !" हम्मीर ने घोड़ा रोककर कहा।

500 सवार रुक गये।

बनवीर, मालदेव का दूसरा पुत्र, पीछे था। वह चुप था।

"चलें।"

राणा ठिठक गया।

"अगवानी को पुत्रों को भेजा है।" हम्मीर ने कहा--"लेकिन दुर्ग में बाजा नहीं बज रहा, द्वार पर तोरण नहीं लटक रहा। तुम्हारे स्वामी तुर्क तो तोरण नहीं बाँधते, पर बाजे तो बजाते हैं ?"

हरीसिंह सहम गया। उसने कहा : "सभा में चलें राणा ! भयभीत तो नहीं हैं ?"

हम्मीर हँसा। उसने कहा : "भय मेरे शत्रुओं को हो। आज या तो मालदेव की कन्या का नारियल अपना फल देगा या मालदेव की तलवार की धार फल देगी।"

पाँच सौ घोड़े किले में चढ़ने लगे।

हठात् हम्मीर ने रुककर कहा : "रूखा !"

भील ने कहा : "आज्ञा !"

"तू आधे आदमियों के साथ यहीं फाटक पर रह, हम अभी विवाह करके आते हैं।"

सभा के सामने ढाई सौ घोड़े रुक गये। ढाई सौ तलवारें हाथों में नंगी चमकने लगीं और कूद कर उन्होंने सिंहासन पर बैठे मालदेव को घेर लिया। मालदेव की आँखें भय से फट गईं। सभासद जहाँ के तहाँ बैठे रहे।

हम्मीर ने कहा : "मालदेव ! सुल्तान ने तुर्क शिक्षा तो खूब दी है। राणा रतनसी की भाँति फँसने वाला हम्मीर नहीं। कन्या कहाँ है।"

मालदेव ने अपने को सँभाला। कहा—'आप विराजें। विवाह अभी होगा !"

रघू अपनी जगह से हिला।

कान्ह ने खड्ग उठा कर कहा : "वहीं बैठा रह। अभी हिलेगा तो तेरे राजा का सिर धड़ पर नहीं रहेगा !"

सभा चित्रलिखित-सी रह गई।

हम्मीर ने कहा : "मालदेव ! कन्या कहाँ है ?"

इसी समय द्वार पर फूलों का हार लिये एक लड़की दिखाई दी। वह वधू वेष में नहीं थी। अपनी बहिन को वहाँ देखकर हरीसिंह चिल्लाया : "भीतर जा कुँवरि यहाँ तेरा क्या काम है ?"

कन्या हँसी। कहा : "मेरा काम ही तो है भैया ! मेरा दूल्हा आया है। तुमने

मेरे लिए ही तो उसे बुलाया था। ऐसे वीर के गले में हार न डालूं तो क्या पिता के गले में तलवार डलवा दूं !"

मालदेव ने फीके मुँह से कहा : "बेटी ! मुझे बचा ले।"

कन्या आगे बढ़ी। हम्मीर के गले में माला डाल दी।

मालदेव की सेना का प्रबंधक वृद्ध मेहता आगे बढ़ आया। उसने कहा : "बेटी ! तू जा रही है ?"

वृद्ध मेहता को देखकर राजकुमारी ने प्रणाम किया और कहा : "काका ! मेरा तो ब्याह हो गया। दहेज में राजा बेटी को क्या देंगे ?"

वृद्ध ने कहा : "राजा से पूछ।"

राजा ने कांपते स्वर में कहा : "बोलो राणा क्या चाहिए ?"

लड़की ने इशारा किया।

हम्मीर ने कहा : "मुझे अपने मेहता को दें।"

राजा ने सिर झुका लिया। सामने की तलवार और झुकी। राजा ने देखा दोनों बगलों की तलवारें कुछ हिल रही थीं।

उसने कहा : "मेहता जू ! कन्या के संग जाओ।"

मेहता पीछे हटा। उसने पुकारा : "भाइयो ! मैं जाता हूँ। आज से राणा हम्मीर हमारे सम्बंधी हुए। वे हमारे जमाई हैं। वे अब से पूज्य हैं।"

सेना के जो लोग युद्ध की इच्छा से खड़े थे कि कब आज्ञा मिले, कब हम आगे बढ़ें, मेहता की आज्ञा से पीछे हट गये और नंगे खड्गयानों में चले गये।

लड़की ने झुककर पिता के चरण छुए, और हम्मीर से कहा : "राणा जू ! मेरे घर का लहू न बहाना। चलो चलें।"

वृद्ध मेहता ने इंगित किया। दो घोड़े और आ गये। किंतु हम्मीर ने तुरंत घोड़े पर चढ़कर राजकन्या को पीछे चढ़ा लिया। राजकन्या चिल्लाई : "प्रणाम ! सबको प्रणाम ! तुम्हारी लाड़ली जा रही है पिता !"

मालदेव हिल उठा। उस समय तक वृद्ध मेहता घोड़े पर सवार आगे-आगे जा रहा था पीछे राजकन्या के साथ हम्मीर था, और बाकी सवार पीछे थे। जब ये लोग द्वार पर पहुँचे, राणा के सिपाही जयजयकार करने लगे। मेहता ने इंगित किया। चित्तौड़ दुर्ग में रहने वाली राजपूत सेना भी जयजयकार करने लगी। मुसलमान डर के मारे भीतर छिप गये। मेहता का राजपूतों पर ऐसा प्रभाव था।

जब वे चले गये मालदेव ने कांपते स्वर से कहा : "वे चले गये ?"

रघू पास आ गया। उसने कहा : "गये, महाराज !"

"हरीसिंह ने दाँत पीसकर कहा : "बहन ने सर्वनाश कर दिया !"

"नहीं," बनवीर ने कहा : "आज उसी ने पिता को बचा लिया।"

"अब सुल्तान सुनेगा तो क्या कहेगा ?"

मालदेव यह सुनते ही मूर्च्छित हो गया।

× × ×

दो वर्ष बीत गये। नयी रानी अपने पुत्र खेतसी को गोद में खिलाने लगी। राजा हम्मीर सोच रहा था।

"क्या सोच रहे हैं?"

"सोचता हूँ कि जिस चित्तौड़ के राजवंश का मुख सारा राजस्थान देखता था, आज वह यवनों के दासों के हाथ में पड़ा है।"

रानी हँसी। कहा: "तो राणा को चित्तौड़ चाहिए?"

राणा ने चौंक कर देखा।

"यह क्या कठिन है?" रानी ने कहा।

"लेकिन तुम्हारे पिता!"

"मेरे पिता तो वहीं तक थे जब तक तुम न थे। पति ही स्त्री या सर्वस्व होता है। फिर मेरा पति भगवान है। वह दीनों दरिद्रों का नारायण है। मेरा पिता और भाई निर्लज्ज दास हैं।"

"रानी!" राणा ने आश्चर्य से कहा।

"क्यों?" रानी ने कहा: "मेवाड़ के उत्तराधिकार की ही चिंता है या हिंदू वंश की स्वतंत्रता का भी ध्यान है। यह बर्बर तुर्क ही इस देश में राज्य करते रहेंगे? और राजपूत क्या इसी तरह बंट कर अपने को नष्ट करते रहेंगे? मेहताजू कहाँ हैं? उन्हें बुलवाइये।"

मेहता आया। वृद्ध! गोरा। गुजराती ब्राह्मण। मुख पर असीम दृढ़ता थी।

राजरानी ने पाँव छुए। बैठा तो रानी ने कहा: "मुना काका! अब कब तक केलवाड़े में रहना होगा?"

मेहता ने कहा: "बेटी! केलवाड़ा और चितौड़ क्या दूर-दूर हैं?"

"दूर तो हैं हीं। केलवाडे में सेना कहाँ है?"

"सेना तो चित्तौड़ में है।"

"पर वह तो मालदेव की है, दासों की सेना है।" राणा ने टोका।

"यह किसने कहा?" ब्राह्मण ने कहा—"दास तो वहाँ इसी से है कि कोई योग्य राजा नहीं है। राजपूत दास हुए हैं? मालदेव तो मुसलमानों के बल पर राजा है।"

"और राजपूत?"

"सेना का अध्यक्ष और प्रबंधक रहा हूँ। क्या सोच कर बेटी ने मुझे दहेज में माँगा था राणा!"

"मेहता जू ने ही", रानी से कहा—"मुझसे छिपकर रनिवास में कहलवाया था हिंदुओं का असली राजा आ गया है, इसी को वर! ऐसे वर कि पता किसी को

न चले।"

"फिर," मेहता ने कहा : "दहेज में तो मैं आया हूँ। पहले भी कभी कहीं ब्राह्मण को दहेज में दिया गया था! राजपूतों को तो एक इशारा करूँ। वे तुम्हारी ओर ही जायेंगे।"

"फिर चित्तौड़ लेने में क्या है?" राणा ने कहा : "बाकी मुसलमानों को हम यों ही मसल देंगे।"

"नहीं," मेहता ने कहा : "चित्तौड़ किसने जीता था?"

राणा नहीं समझा। देखता रहा।

मेहता ने कहा : "छल ने! क्योंकि सुल्तान ने छल से राणा रतनसी को पकड़ा था। और लाज किस प्रकार बची थी!"

"छल से।" रानी ने कहा : "रानी पद्मिनी ने छल से ही नीच सुल्तान को पराजित किया था!"

"छल से।' ब्राह्मण ने कहा : "दुष्ट के साथ छल करने में निंदा नहीं। मालदेव को सुल्तान ने कैसे पाया? छल से। उसने जनाधिकारी को लोभ देकर जीता, वह क्या फूट डालना नहीं है? वह क्या छल नहीं है? फिर चित्तौड़ को बुद्धि से ही क्यों न जीता जाये?"

राणा ने कहा : "वह होगा कैसे?"

रानी ने मुस्कराकर कहा : "ऐसे कि न मेरे घर के मरें, न हानि हो। राजपूत अपनी ओर हो जायें, मुसलमानों की दासता के बंधन कटें। चितौड़ स्वतंत्र हो, राजस्थान की नाक ऊँची उठे, मेवाड़ में फिर जय ध्वजा फहराये। मैं जाऊँगी। मेहता जू को मेरे साथ भेजिये। मुझे पहुँचाने पाँच सौ आदमी लेकर आप चलें। दुष्टों को सज्जनता से ही दबाया होता तो श्रीकृष्ण ने शिशुपाल को क्यों मारा था। मेरे पिता भीष्म और द्रोण की भाँति अधर्मी के साथ हैं, इन्हें छल से ही हटाना होगा।"

राणा ने पूछा : 'लेकिन जाओगी किस बहाने?"

मेहता ने मुस्करा कर कहा : "इस समय मालदेव सेना लेकर मेर लोगों से लड़ने गये है। हरीसिंह, बनवीरसिंह अपने भाइयों के साथ हैं। बनवीर अपनी बहन को बहुत चाहता है। उसे गद्दी का मोह भी नहीं। वह दिल ही दिल में मुसलमानों से घृणा करता है। उससे काम बनेगा। रानी लिख दें कि मुझे अपने क्षेत्रपाल देवता के पगों लगना है, मुझे बुलालो। वे अवश्य बुलायेंगे। तब हम सब चलेंगे।"

राणा ने अविश्वास से कहा : "क्या यह संभव है?"

"जयध्वज तैयार रखो।" कहते हुए मेहता उठ खड़ा हुआ।

× × ×

"इस जय ध्वज पर अपना पवित्र झंडा लगा कर इसी स्थान पर फहराओ", वृद्ध मेहता ने कहा।

चितौड़ के महाराणा हम्मीर ने कहा : "फिर उड़ेगा !"

"हाँ, फिर उड़ेगा !" वृद्ध ने मुस्कराकर कहा—"इस क्षेत्रपाल देवता में यही गुण है।"

मेहता की योजना सफल हुई थी। पति, पत्नी, पुत्र और मेहता कुछ लोगों के साथ भीतर घुसे। चित्तौड़ के दुर्ग में राजपूत सेना राणा की ओर हो गई। मुसलमानों को मार डाला गया। राणा को गद्दी दी गई। हरीसिंह भाग गया और मेर युद्ध में लगे हुए पिता मालदेव के पास पहुँचा। मालदेव ने सुना तो कहा : "अब ! सुल्तान अलाउद्दीन तो मर चुका है।"

"तो जो भी सुल्तान है वह अवश्य सहायता देगा।"

"तुगलक है।"

"चलिये, उसी की शरण में चलें।"

× × ×

नयोनद्र चारण हूँपा और मुँहणौत जब चित्तौड़ पहुँचे थे तो मुँहणौत ने कहा था— जब सिंह गरजा तो सारे सियार जंगलों में जाकर छिप रहे। उसका गर्जन सुनकर वीर निकल-निकल कर आने लगे और फिर वही पवित्र झंडा लहराने लगा। कायर हरीसिंह की मृत्यु ने रानी के कुल का कलंक धो दिया। अँजमेर, रणथम्भौर, नागौर, और चंबल तक राणा की यशोगाथा गूँजती है। मारवाड़, जयपुर, बूँदी, ग्वालियर, चंदेरी, राजौड़, राज्यसेन, सीकरी, कालपी और आबू में उसी का जयजयकार उठता है। उसके राज्य में प्रजा को सुख है, अत्याचार नहीं, न विधर्म्मी हैं। वह हिंदुओं का चमकता हुआ सूर्य है। उसके माथे पर सतियों की भस्म का तिलक है। वीरो ! उसे अपनी तलवार दो, क्योंकि वह तुम्हारे ही लिए जीवित रहता है। जब तक राणा है तब तक तुम्हारी वीरता अखंड जीवित रहेगी।

चारण हूँपा ने कहा था : यह मेवाड़ की पवित्र धरती है, इसे सौ बार प्रणाम। इसे हजार बार प्रणाम। यह माँ तो स्वतंत्र रहती है, या उजाड़ खंडहर पड़ी रहती है, यह कभी दास बनकर नहीं रहती।

भाग 5—उपसंहार

चर्पटनाथ की सिद्धि : नया रास्ता

वृद्ध हो गया है चर्पट । वृद्ध है भंगरनाथ ।

अब वे यात्रा पर चल पड़े हैं।

केवल सिद्धि का स्वप्न शेष है, रससिद्धि का, पवन को ऊपर चढ़ाने का । वृद्ध हैं पर स्वास्थ्य अब भी वही सा है यद्यपि काल किस पर अपना प्रभाव नहीं छोड़ता ।

यात्रा का भी कारण है।

वह है यह कि किसी भी गोरखपंथी मंदिर में स्थान नहीं है ।

उस दिन गोरखपुर के बाद वे आगे चले और एक और मन्दिर में पहुँचे । वहीं तर्कों में अचानक चर्पट ने कहा था···

होने कारनि कथहिगिआनु,
होने कारनि धरहि घिआनु,
होने कारनि तोरथि इसनानु,
होने कारन पुनु अरुदानु,
होने कारनि जुधि संगारामु,
होने कारनि पचि-पचि मुआ
चरपटि प्रणिवै कोई
साधू अनिहोनी हुआ ।

ज्ञान, ध्यान, तीर्थस्थान, पुण्यदान, युद्ध संग्राम, मृत्यु सब होनी के कारण है, परंतु चर्पट ने अनहोनी को जीतने वाला ही ऐसा साधु माना जिसके सामने वह सिर झुका सकता था ।

योगी असंतुष्ट हुए । यह उन पर सीधा आक्षेप था ।

चर्पट सम्मानित योगी था अत: वे तरह दे गये । समझे कि बुढ़ापा शायद रंग ले आया है । स्वयं महंत भी चर्पट से बहुत स्नेह रखते थे बल्कि चर्पट ने उन्हें रसेश्वरमत का संपूर्ण ज्ञान दिया था । अत: वे भी नहीं बोले । ब्रह्मचारी अपनी नित्य नैमित्तिक चर्य्या में लगे रहे ।

प्रातःकाल जब धूनी के पास तरुण योगी बैठे थे, कोई हठ साधना कर रहा था।

चर्पट देखता रहा फिर न जाने उसे क्या सूझी कि वह उनके निकट आ गया।

साधना के कठिन मार्ग की वे प्रशंसा ही कर रहे थे कि अचानक ही चर्पट गाने लगा।

तरुण पास आ गये। चर्पट ने गाया—

वनि बंनि फिरै
कन्दु अहारू करै
जालि तपु,
तीति कालि मधि खरै।
अगनि तपु उसनि
कालि महि करै
हठि निग्रहि करि
छीजतु जरै
चरपट प्रणिवै मनि ते भूला
इहु बाता करै।

तरुण एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। चर्पट हँसा और उसने कहा: "ब्रह्मचारियो! सोचते होगे सठिया गया हूँ? नहीं। मैं सच कहता हूँ। वन-वन घूमकर कन्दमूल खाने से कुछ नहीं होना। तप भी व्यर्थ है। यह जो तुम हठ करते हो, जबर्दस्ती अपने को घोटकर-संयम करते हो, इससे तो शरीर क्षीण होने लगेगा।"

"तो गुरुदेव!" तरुण ईश्वरनाथ ने कहा: यह जो सूर्य और चन्द्र का मिलन है, यह जो गुरु गोरखनाथ ने कहा है, वह सब झूठा है?"

"गोरखनाथ की बात तो झूठी हो सकती है वत्स! वे सिद्ध योगी थे। किन्तु गोरख का तत्त्व देखो। केवल बाहरी बातें पकड़ने से आत्मा का कोई लाभ न होगा। ऐसी बातें तो भूले हुए लोग ही करते हैं।"

अंगरनाथ ने कहा: "गुरुदेव! इन परिणामों पर पहुँचने के लिए जीवन की साधना भी तो चाहिए।"

ईश्वरनाथ फिर कुछ नहीं बोला। योगी उठ गये और साँझ होते संवाद महन्त जी तक जा पहुँचा।

"तुम वहीं थे ईश्वरनाथ?"

"मुझसे ही तो कहा था गुरुदेव!"

"हठयोग व्यर्थ है?"

"कहते थे यह भूल है।"

महंत जी ने पास बैठे महानाथ की ओर देखा। महानाथ परेशान-सा दिखाई दिया।

"यह पंथ में क्या हो रहा है ?"

"नाथ ही जानें।"

"और चर्पट जैसे सिद्ध ?"

"क्यों कहते हैं ?"

"वे कहते हैं योगी वास्तविक सत्य को भूलकर बाह्याडंबर में फँसते जा रहे हैं।" ईश्वरनाथ ने कहा।

बात इतने ही तक सीमित नहीं रही। जब नये ब्रह्मचारी आए और उनके कानों को चीरा लगाकर कुण्डल पहनाने की बात आई तो चर्पट ने टोक ही दिया :

सुध फटकि मनु गिआनि रता,
चरपट प्रणवै सिध मता।
बाहरि उलटि भउनि नहीं जाउ
काहे करनि कांननि का चीरा खाउ ?

महन्त जी झल्ला उठे। यह क्या ! आखिर यह है क्या ? सिद्धमत को ऐसे ही प्रणाम होता है। मन को शुद्ध करके ज्ञान में रत होओ। बाहर को भीतर संयमित करो ! कानों में चीरा क्यों लगवाते हो !

यह तो स्वयं कनफटा मत की ही उपेक्षा हुई।

दूसरे दिन महंत जी को क्रोध चढ़ा जब उन्होंने सुना—

विभूति न लगाओ जिउ तरि उतरि जाइ
खर जिउ धूड़ि लेटे मेरी बलाइ।

विभूति मत लगाओ। भस्म को भी छोड़ दो। मेरी बला से गधा भी धूलि में लोटता है। और पाप की सीमा हो गई।

सेली न बांधो लेवों ना म्रिगानी
ओढउ ना खिथा जि होइ पुरानी
पत्र न पूजो डंडा ना उठावो
कुत्ते की निआई मांगने न जावो

सेली मत बांधो, म्रिगानी मत लो। पुराने कंथा को मत ओढ़ो। किताब को पूज्य मत समझो। डंडा भी त्याग दो। और अंतिम बात ! कुत्ते की तरह भिक्षा माँगने मत जाओ।

योगी तिलमिला उठे। क्या वे भिखारी थे ? कुत्ते थे ? यह तो समस्त योगी मार्ग की निंदा थी। कितना भयानक था यह विचार ! यह क्या योगी को शोभनीय

था !

यदि लोग इसे सुनें तो ?

किंतु कुछ ही दिन बाद महंत जी को बाहर नगर में एक काम से जाना पड़ा। लौटे तो भन्ना उठे। वे चर्पट की कविता को लोगों को गाते सुन आए थे।

बासी करि के भुगति न खावो
सिधिआ देखि सिंगी न बजाओ
दुआरै दुआरै धूआ न पावो
भेखि का जोगी न कहावो,
आतिमा का जोगी चरपटु नाउ।

निश्चय ही यह योगियों के प्रति भीषण व्यंग्य था। और लोगों ने उन्हें ही सुनाने को कहा था। बाकी सब योगी का भेस बनाए डोलते हैं। आत्मा का जोगी तो एक चर्पट ही रह गया है ?

उत्तर-पश्चिम से नागनाथ आया था। वृद्ध हो गया था।

सुनते ही बोला : "अरे वह तो पहले भी मन्दिर से निकाला गया था। उसका नाम ही चर्पट है जिसका अर्थ है धूर्त और झगड़ालू। यहाँ भी कर दिया उसने कुछ प्रारम्भ !"

महंथ जी ने सुनाया तो नागनाथ हँसा। खूब हँसा। कहा : "अभी आप पर तो आग नहीं आई !"

"मुझ पर कैसी आई ?"

"वहाँ तो गुरुदेव से ही इसने प्रारम्भ किया था। आपसे गुरुदेव ! आयु में तो मैं ही बड़ा हूँ। साधना में बड़े हैं आप ! फिर भी यह व्यक्ति मेरा पहचाना हुआ है। वह तो कहिए कि बीच में संग्राम आ गया था। और फिर जहाँ सब लड़कर अमर पद प्राप्त कर गए, यह आत्मा का जोगी वहाँ से भी चुपचाप बच निकला।"

"और यह झंगरनाथ !"

"अपने गुरु से दो पग आगे ही है।"

"सचमुच ?"

"ये साथ छोड़ आया था मन्दिर को, इसी के पीछे। इसने पंथ से ऊपर माना इसे। गुरु की आज्ञा लिए बिना ही चला आया और नये जोगियों में से कुछ को बहका ले गया।"

"आपने जाने दिया ?"

"उसका नरक उसी के साथ है। हमें अपनी साधना से मतलब ठहरा।"

"गुरुदेव !"

"कौन ! ईश्वरनाथ ! कोई खास बात ?"

"गुरुदेव, अभी बाहर लड़के मुझे देखकर गा रहे थे—

लंमी खिंथा झोल मझोली
कंनि फड़ाई मुख तंबोली,
दिहै भिखिया राती रसु भोगु
"चरपटु कहै कवाइया जोगू !"
महंथ चौंक उठे !
"कौन गा रहा था ?"
"नगर के लड़के !"
"और तुमने क्या किया ?"

"मैंने उन्हें प्रसाद दिया। दो-दो चिमटे जड़े। लेकिन फिर नगर के बड़े लोग मुझसे क्रुद्ध हो गए। कहने लगे कि जोगीड़े की इतनी हिम्मत ! हमारा ही खाये, हमें ही डराये !"

महंथ खड़े हो गए।
"और तूने क्या कहा ?"
"गुरुदेव ! मैं तो तब कहता जब वे मुझे कुछ कहने देते।"
"क्यों क्या हुआ ?"
"वे फिर गाने लगे।"
"क्या गाया ?"
"जो म्रितकु घोड़े परि चड़ै
किउ अकासु टूटि नहीं पड़ै
जो म्रितकु तनि लावै जोड़ा
अजहु ना मूआ निगोड़ा
जो म्रितकु बाँधें धर्मराई
ध्रिगु जननी वा कउ लाजि न आई।"
"यह किसने कहा ?"
"उसी चर्पट ने।"
महंथ सोचने लगे।
नागनाथ ने कहा : "जब घर में काँटे उगते है तब यही होता है।"

ईश्वरनाथ ने बीच में ही बात काटकर कहा : "वे कहने लगे—इनमें सिद्ध तो एक है। वह है चर्पटनाथ। और मैंने देखा। चर्पट ने कुण्डल उतार दिए हैं। कंथा फेंक दिया है। झंगरनाथ ने सिंगी उतार दी है। वे लोक में कहते फिरते हैं कि योगीवेश व्यर्थ है। आडम्बर है। गोरखनाथ सिद्ध थे। आत्मा के जोगी थे। उन्होंने वह वेश धारण किया क्योंकि उन्हें आदिनाथ ने वह वेश दिया था। हम तो वैसे नहीं ? गुरु गोरख का शब्द ही प्रमाण है। जब साधना सहज ही है, और मन का ही संयम है, तो इस वेश की आवश्यकता ही क्या है ? भस्म क्यों लगाते हो ?

वासना को भस्म करो।"

महंथ घूमने लगे। उनकी दृष्टि अपने योगिवेश पर गई। क्रोध आया।

चर्पट और झंगर नहीं आए। बीच बाजार बैठा था चर्पट और लोग चारों ओर खड़े थे, वह गाता था और लोग उसके शब्दों को पी रहे थे—

जो मनु मारै किआ पड़ै कुरान
जो मनु मारै किआ कथै गिआनु
जो मनु मारै किआ धरै धिआनु
जो मनु मारै किआ वेद कुरान
जो मनु मारै किआ मढ़ी मसांण
जो मनु मारै किआ पुनु अरु दानु।
जो मनुमारि ता किआ जुधुसंगिरामु
जो मनु मारै किआ गंगा इसनानु।
मनु मारै सिधि होई
चरपटु प्रणिवै साधू विरला मनु मारै कोई।

पुराण पढ़कर क्या होगा यदि मन को वश में कर लिया? ज्ञान का प्रवचन, ध्यान धरना, वेद-कुरान, मढ़ी-श्मशान, पुण्य-दान, युद्ध-संग्राम, गंगा-स्नान सब व्यर्थ है। सिद्धि तो मन को जीतने से मिलती है।

लोगों ने चर्पट का जय-जयकार किया। परन्तु मन्दिर के द्वार बन्द हो गए।

रूपा दर्जी ने कहा : "सिद्ध चर्पट! मन्दिर बन्द हो गया।"

"कौन-सा मन्दिर रूपा?"

"गुरु का द्वार।"

"वह तो मेरे मन में है रूपा! गुरु का तो हृदय में वास है। जिसने पथ दिखाया है वह क्या कोई छीन सकेगा?"

रात भी बीत गई।

झंगर ने कहा : "गुरुदेव!"

"चलो झंगरनाथ!"

"कहाँ गुरुदेव?"

"फिर वहीं?"

"कहाँ गुरुदेव??" उसने फिर पूछा।

"इहु संसार कंटिओं की बाड़ी
निरखु निरखु पगु धरना
चरपटु कहै सुनहु रे सिधो
हठि करि तप नहीं करना।"

"जानता हूँ गुरुदेव!"

"तो चलो वही कहें जहाँ सत्य सुना जाता है, जहाँ स्वार्थ के परे कोई कान तो देता है। पंथ के भीतर जो बन्द होते हैं वे स्वार्थ में होते हैं। मर्यादा उन्हें कायर बना देती है। विद्रोह बाहर किया जाता है। सत्य वही है जो लोक में तपाया जाए। अब मन्दिर में नहीं लौटना है झंगरनाथ !"

अंदरि गंदा,

बाहरि गंदा,

तू की भूलिओ

चरपट अंधा

"तो चलें गुरुदेव ! उसी सहज आनंद की ओर, जहाँ अनाहतनाद निरंतर होता है, जहाँ मृत्यु नहीं आती।"

"चलो झंगरनाथ। पूर्व की ओर चलो। वहाँ अभी तक अशांति है। मुल्तान के बाद वहाँ हलचल मच रही है। जगह-जगह ठग और लुटेरे खड़े हो गए हैं। चलो झंगर जोगियो को जगाएँ। वज्रोली और प्राणायाम मात्र से सब नहीं बचेगा।"

यह कथा है उनके चल पड़ने की और वे नगर-नगर, ग्राम-ग्राम सुनाते जा रहे हैं, साधारण है उनका वेश···किंतु संदेश है अपने उसी शाश्वत गुरु गोरखनाथ का···

यात्रा···

अनंत यात्रा···

इसमें कहीं विश्राम नहीं···

किंतु थकन की भी तो कोई गुंजायश नहीं···

इस पृथ्वी पर न जाने कितने चल चुके है, योगी भी, इसी तरह और अब आकर चले ही तो गए हैं···

आया और निकल गया है पथ। ऐसे ही तो थी वह—गोरखबंसी। बंग।

कितनी यात्रा हो चुकी है, अभी न जाने कितनी बाकी है···

झंगर को अधिक याद नहीं···कुछ ही चित्र याद हैं···जिसमें उसने गुरुदेव चर्पटनाथ के कुछ विशेष रूप देखे थे···

गुरुदेव व्याकुल हो गए थे।

"झंगरनाथ ?"

"हाँ गुरुदेव !"

"यही भूमि है जहाँ जोगी जालंधर ने योग साधना की थी ?"

"हाँ गुरुदेव !"

"म्लेच्छों से पदाक्रांत। ठगों और डाकुओं ने कितनी अराजकता फैला रखी है ! प्रजा कितनी संत्रस्त है···"

"हाँ गुरुदेव ! तुर्क कहते हैं यह काफिरों की बस्ती ऐसा नरक है जिसमें अल्लाह ने स्वर्ग की वस्तुएँ भर रखी हैं···"

"मन निरंजन में लगाओ झंगर ! अब और कुछ शेष नहीं है···"

सूफी है वह कोई।

आया है···और चर्पटनाथ उसे सिखा रहा है, पवन का उलटना···

आया है एक वैद्य। चरण पकड़ता है, महौषधियाँ माँगता है···

"वैद्य हो?"

"हाँ योगिराज!"

"परंतु मेरी औषधियों को पाकर क्या करोगे? धन कमाओगे? लोभ की तृप्ति? प्रतिज्ञा करो लोक के कल्याण के लिए इनका प्रयोग करोगे!"

"सौगंध है गुरुदेव! आज्ञा का पालन करूँगा।"

गुरुदेव उसे सिखाते हैं···पारे की, अभ्रक की···न जाने कितनी क्रियाएँ···

मेला लग रहा है। नाथपंथियों की भीड़ है। शाक्त और बौद्ध भी हैं कुछ, वैसे वे अब या तो मुसलमान हो चुके हैं या अपने को हिंदू कहते हैं। अब वे भीतर शाक्त हैं, बाहर नहीं।

और चर्पट का स्वर ऊँचा सुनाई देता है—

अरे संसार पागल हो गया है···

लोग एकत्र होते हैं, जोगी भी···

चर्पट कहता है···

कोई कहता है कि अच्छे और बुरे कार्य को छोड़ देने से ही मोक्ष मिल जाता है। कोई कहता है वह वेदों को पढ़ने से मिलता है। सभी न जाने कितने मार्ग बताते है, किंतु गुरु गोरखनाथ की बात ही सत्य है संसारियो!—जहाँ सहज समाधि में मन मन को देखने लगता है, वही मोक्ष है। उसमें न आडंबर है, न जाति, न वर्ण, न घृणा, न रूढ़ि, न निम्न कोटि की उपासना ही···

लोग कहते हैं : सिद्ध कौन हैं?

चर्पटनाथ!!!

सुना है नाम?

हाँ। पर यह तो जोगी थे। जोगियों का इनका बाना कहाँ गया? कान तो चिरे हुए हैं?

जोगी कहते हैं— बुढ़ापे में बुद्धि नष्ट हो गई है। किया धरा सब नष्ट हो गया। रस की सिद्धि की थी, शायद कुछ गलत कर गये···छोड़ दिया स्वयं महादेव का रूप···

हँसता है चर्पट।

लोग उत्सुक हो उठते हैं।

क्यों हँसता है सिद्ध !

सिद्ध हँसता है तो क्या आश्चर्य !

सिद्ध तो सदैव ऐसे काम करता है जो साधारण लोग नहीं करते। इनकी तो धुन ही कहीं और लगी रहती है। बड़े ध्यान में डूबे रहते हैं यह लोग···

जोगी कुछ विक्षुब्ध से देखते हैं···

क्योंकि चर्पट के हास्य में व्यंग्य है···

मंगरनाथ गुरु के पास आ जाता है···

इक सेति पटा, इक नीलि पटा
इकि तिलिक जनेऊ लंबि जटा
इकि फीए इकि मोनी इकि कानिफटा
इक जंगम कहीअै भसम घटा,
जउलइ नहीं चीनै उलटि घटा
तब चरपट सगल स्वाँग नटा···
कहु चरपट पेटि नटा···
तब छोड़ि जाहिगा लटा पटा
जबि आवैगी कालि घटा[1]···

भीड़ ठठा कर हँसती है···

योगी क्रुद्ध से चर्पट को देखते है। आक्रमण करने को टूटते नहीं क्योंकि तर्क को तर्क चाहिए। परंतु भीड़ बीच मे आ जाती है···घनी जो होती चली जा रही है, चर्पट की बात मे नया जीवन है···

फिर भी एक प्रहार चर्पट के शीश पर हो ही जाता है···वह कोई नया जोगी है···उद्दण्ड ··

चर्पट···विद्रोही के सिर से रक्त की बूंदें गिरती हैं···

---

1 कोई सफेद कपड़े पहनता है, कोई नीले, कोई तिलक जनेऊ और लंबी जटा रखता है, कोई किसी मत का है, कोई किसी, फीए, मोनी और कनफटा, जंगम, भस्म लगाए, पर जब तक पवन को ऊर्ध्वगति नहीं किया तब तक चर्पट इस सारे वेश को स्वांग मानता है···चर्पट कहता है यह तो पेट के साधन हैं, रोटी कमाने के तरीके—

यह सारा लटा पटा—वस्त्र और परिवेश—छूट
जायेगा—यों ही—कुछ भी करते-धरते न बनेगा—
जब आ जावेगी काल की घटा—

भंगरनाथ देखता है। देखता है चर्पट के नेत्रों में असीम करुणा छलक रही है···और सुनाता है कि जोगी पीछे हट गए हैं, क्योंकि भीड़ मुक्त कंठ से चिल्ला रही है···

जय···

सिद्ध चर्पटनाथ की जय···

और जयजयकार आने वाली शताब्दियों में फैल जाने के लिए घना होने लगता है···घना···और घना···

परिशिष्ट

यह हैं चर्पटनाथ। विद्रोही। गोरख के बाद वाले युग में। कबीर की पृष्ठ-भूमि, जिसे किसी ने नहीं देखा है।

चर्पट ने निम्नलिखित काम किये—

1. गोरखपंथ के भीतर जो वाममार्गी घुसे थे उन्हें अंतिम चोट चर्पटनाथ ने दी और वीर्य्य और रज के संयोग की सिद्धों की बात की परंपरा को पारे और गंधक के मिलन के रूप में रसेश्वर मत को प्रचारित करके नाथयोगियों के द्वारा आयु-र्वेद की औषधियों के क्षेत्र में एक नया प्रयोग दिया।

2. इस प्रकार योग की एकांत साधना लोक के हित में आने लगी। यद्यपि उन औषधियों का मध्यकालीन सीमा के कारण सोना बनाने और कीमियागरी के आगे वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं हुआ। यह और बात है कि बाद के समय में यह दवाएँ सामंतों के विलास के लिए साधन बनीं। परंतु इसके लिए चर्पटनाथ उत्तरदायी नहीं थे।

3. चर्पट ने योगमार्ग में रह कर भी लोक के लिए संघर्ष किया। और योगमार्ग को सर्वश्रेष्ठ मार्ग समझने के कारण इस्लामी शासक वर्ग से टक्कर लेकर जनबल की हिम्मत बढ़ाई। गैनीनाथ ने निम्न जातियों को इकट्ठा किया, नामदेव ने प्रजा की निराशा से टक्कर ली। यह नाथपंथ का ही प्रभाव था। योगियों में फिर जाँबाजी की लहर दौड़ी, जिसने प्रजा का साहस उस भयानक समय में नहीं खोने दिया।

4. चर्पट ने प्रकारांतर से वर्ण व्यवस्था की स्वीकृति दी, यद्यपि वे जाति प्रथा को नहीं मानते थे। एक ही लक्ष्य था कि इस्लामी शासक वर्ग से लड़ा जाये, इस ध्येय से उन्होंने भारतीय संस्कृति की रक्षा की, जिसे ईरानी मुल्ला वर्ग और तुर्क नष्ट कर देना चाहते थे, यही मन्दिर बनवा कर नामदेव नेभी किया। वर्ण धर्म के समर्थन का कारण युद्ध में एकता थी अन्यथा समाज की भीतरी बुराइयो के प्रश्न पर वे वर्ण-धर्म के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने जातियों के अलग धर्म कर्मा-नुसार माने थे, जन्मानुसार नहीं।

5. चर्पट ने जोगियों के भीख माँगने को बुरा कहा। जोगियों के चरित्र को उठाना चाहा। और आडंबर का घोर विरोध किया। गुरुडम का विरोध किया। नारी के प्रति चर्पट का स्वर बदल गया था। गोरख का नारी के प्रति कठोर स्वर था, जिसके कारण हम 'धूनी का धुआँ' में बता चुके हैं। चर्पट के समय में 'योनि-पूजा' नहीं होती थी। जिस 'मातृत्व' को गोरख ने सम्मान दिया था, वह अब समाज में काफ़ी मान्य था। अर्थात् स्त्री विषयभोग मात्र की वस्तु न समझी जाये। वह माता बनती है यह सम्मान उसका गृहस्थ भी रखे। संतान के लिए संभोग हो, इसलिए नहीं कि नारी भोग की वस्तु है। परंतु योगी के लिए स्त्री का स्थान अब भी वर्जित था। यह युग सीमा के अतिरिक्त योग पथ की भी सीमा थी।

6. योगी रूप का कड़ा विरोध बताता है कि चर्पट ने गोरख के काफी बाद विद्रोह किया होगा। यदि वे गोरख के कुछ ही परिवर्त्ती होते, जैसा कि पं० हजारी प्रसाद का मत है, तो वे गोरखपंथ में आते ही क्यों ? वे गोरख के मतों के प्रशंसक अंत तक रहे। बल्कि यह कहा जाए तो ठीक होगा कि जिस प्रकार गोरखनाथ ने अपने युग में पुराने कायायोग की आध्यात्मिक योगपरक व्याख्या की थी, उसी प्रकार चर्पट ने बाद के युग में होने के कारण, गोरख में जो कसर रह गई थी, या कहें गोरख की युग सीमा की कमी रह गई थी, उसे भी साफ करना चाहा, सूक्ष्म और पवित्र करना चाहा और उसकी योगपरक व्याख्या की।

7. चर्पट ने योगियों में घुसी बुराइयों को दूर करने की चेष्टा की। फोकटीपन के वे बड़े विरोधी थे। स्वयं वैसे निर्भय मस्त और फक्कड़ थे।

गोरख और कबीर के बीच की यह कड़ी मैंने आपके सामने प्रस्तुत की है। अब कबीर को मिला कर देखिए। चर्पट के बाद की स्टेज ही कबीर मिलेगा। कबीर में भक्ति थी, जो नाथमत के चर्पट में तो नहीं थी, परंतु गैनीनाथ (गाहिनी-नाथ) में आपको वह दिखाई देगी। नामदेव ने भक्ति और योग को मिलाया था। विद्रोही चर्पट पहली बार सामने आया है। इतिहास ने उसे तब भुला दिया था, किंतु वह जीवित है, और जीवित रहेगा, क्योंकि 'स्वस्वारथ' छोड़ कर लोक को कुछ दे जाने वाला विद्रोही कभी न कभी चमक कर ही रहता है। एक बार फिर इन्हीं योगीदलों ने औरंगज़ेब जैसे साम्राज्यवादी से टक्कर ली थी और यही योगियों की सैन्य प्रवृत्ति शिष्यों अर्थात् सिक्खों में फूटी थी। यही महाराष्ट्र के रामदास में बोली थी, और यही अंगरेजों के आने के समय बंगाल के 'आनंदमठ' बनाने वाले ब्रह्मचारियों में प्रस्फुटित हुई थी।

लखिमा की आँखें

गीत का चुंबक

मैं कब से कहना चाह रहा हूँ किन्तु कह नहीं पाया, न जाने क्यों ऐसा लगता है कि जो कुछ मैं अपने शब्दों में बांध देना चाहता हूँ, वह वास्तव में भावनाओं की बात है। हो सकता है कुछ लोग यही अनुभव करें कि मनुष्य को जीवन में कुछ-न-कुछ सहारा अवश्य चाहिए और उसी की खोज में मैंने अपने लिए एक बहाना बना लिया है, क्योंकि वैसे देखा जाए तो दुनियादारी के शब्दों में मेरे कोई गिरस्ती नहीं है। यों ही मैं घूमता फिरता हूँ। आप कहेंगे कि ऐसा क्यों है? मैं वैसे जाति का ब्राह्मण हूँ। नवद्वीप में मैंने शिक्षा प्राप्त की और फिर वहाँ से मैं काशी गया जहाँ शालाओं में लड़के संस्कृत रटा करते हैं और वहाँ के तोते भी उनकी बोली सीख जाते हैं। काशी के पथों पर मैंने न जाने कितनी बार महात्माओं के दर्शन किए, परन्तु वहाँ कुछ भी नहीं हुआ। हुआ भी तो लौटती बार जब एक बौद्ध परिवार से मुलाकात हुई। वह परिवार उत्कलवासी था और घर लौट रहा था। हम सब साथ ही चले। उस परिवार के लोग सहजयानी थे, किन्तु मुसलमानो के आतंक के कारण बौद्ध सदा ही अपने को छिपाते हैं। मुसलमान कहते हैं कि ब्राह्मण भी अच्छा, बुतपरस्त है तो क्या हुआ, कम-से-कम अल्लाह को तो मानता है, लेकिन यह बौद्ध तो कमबख्त ऐसे काफिर हैं कि खुदा को ही नहीं मानते।

यों ही हम लोगों ने थककर एक जंगल के किनारे पड़ाव डाला। मेरा उड़िया सहजयानी मित्र तो बैठ गया। वह एक मोटा आदमी था और अवहट्ट बोलना भी जानता था। वह बड़ा पढ़ा-लिखा आदमी था। मैं उसके समीप ही लेट गया। थककर सो गया था। उसकी पत्नी और युवती पुत्री ने भोजन का प्रबन्ध प्रारंभ किया। गाड़ीवान अब बैलों को खोलने लगे। वे अपनी पछाँही बोली बोलते हुए न जाने क्या कहते थे कि उनकी बोली मैं तो समझ लेता किन्तु उड़िया बंधु नहीं समझ पाते थे। वैसे मैंने हिंगलाज[1] से आने वाले नाथ जोगियों से सुन रखा था कि पश्चिम से पूर्व में कामरूप तक बोलियों में थोड़ा-थोड़ा ही अन्तर था।

1. बलूचिस्तान के समीप

साँझ अब गहरी होने लगी थी। किराये पर लाई गई ये गाड़ियाँ हाँकनेवाले अब अपनी रोटी पकाने लग गए थे।

कैसा बियाबान जंगल था। अभी हम लोगों को बैठे देर नहीं हुई थी कि पूर्व की ओर कुछ कोलाहल सुनाई देने लगा। घने वृक्षों की छायाएँ अब उतरते अंधकार में लुप्त हो गई थीं। ऐसा लगता था जैसे सारी हरीतिमा एक विशाल श्याम सघन छाया बनकर हवा पर सरसराती हुई हिल रही थी। गाड़ीवानों के पत्थरों के टुकड़ों को बीनकर बनाए चूल्हों में अग्नि की लपटें प्रतीप्तवर्ण-सी काँप रही थीं और उनके हल्के प्रकाश में उन काले और साँवले शरीर के सुदृढ़ गाड़ीवानों के चेहरों पर उभर आई आशंका दिखाई देने लगी थी।

उड़िया यात्री ने अपने भारी स्वर को धीमा बनाने की चेष्टा की, जिससे वह स्वर भर्रा-सा गया। उसने कहा, "उधर यह शोर हो रहा है न?"

मैंने कुछ नहीं कहा।

यात्री ने अपनी पत्नी की ओर देखा जो अब सहमी हुई-सी निकट आ गई थी। उसके पीछे ही उसकी युवती पुत्री थी, जिसके मुख पर आतंक-सा छा गया था। वह निस्तब्ध थी। सामने की जलती आग उसके चेहरे पर अपनी झाँई मार रही थी और मैंने देखा कि उसके स्थिर और बुझे हुए चेहरे में भी जीवन की चिन्गियों की तरह उसकी दोनों आँखें अनागत से टक्कर लेने की स्पर्धा भरकर चमक रही थीं।

"न हो तो," मैंने फुसफुसाकर कहा, "कहीं अगर डाकू ही हों, तो मैं और आप सामान के साथ यहीं रह जाएँ और इन दोनों स्त्रियों को आप कुछ मूल्यवान वस्तुओं के साथ अपना एक नौकर करके जंगल के किसी भाग में चले जाने को कहें। डाकू निकल जाएँगे तब हम लोग इन्हें ढूँढ़ लेंगे और चल पड़ेंगे।"

उड़िया यात्री ने गंभीरता से सुना। उसके कानों में हीरे थे और हाथों में सोने के कड़े।

उसकी स्त्री ने कहा, "नहीं," उसकी आवाज बहुत ही धीमी थी। उसने फुस-फुसाते हुए कहा, "हम नहीं जाएँगी। साथ में रहकर ही मर जाना अच्छा होगा। मेरे पास कटार है। इसीसे लड़की को मारकर मर जाऊँगी। जानते नहीं? ये गाड़ी-वान डाकुओं से मिले होते हैं। इधर हम छिपने जाएँ तो जैसे इन गाड़ीवानों को पता भी नहीं चलेगा?"

"जो हो," यात्री ने उठकर अपनी तलवार उठाकर कहा, "देखा जाएगा!"

उसे उठता देखकर गाड़ीवानों का बूढ़ा सरदार पास आ गया और उसने कहा, "स्वामी! डाकू आए लगते हैं।"

"पर डाकू वहाँ क्यों शोर करते हैं?" यात्री ने पूछा।

"इसीलिए कि वहाँ कोई यात्री दीखते हैं।"

इस समय कोलाहल कुछ कम हो गया था।

मैं विचित्र विचारों में खो गया।

क्या सचमुच आज ही जीवन का अन्त हो जाएगा ?

मैं सुदूर बंगवासी। मैंने वेदों का 12 वर्ष अध्ययन किया, कौन नहीं जानता कि मैं कितना पण्डित हूँ। आज यात्रा की सहायता प्राप्त करते हुए अचानक इस सहजयानी से आ मिला हूँ। वैसे यह सहजयानी अब हैं ही कहाँ ? थोड़े-बहुत उड़ीसा में ही होंगे ! बाकी हमारे बंग में तो अब बाउल ही बाउल दिखाई देते हैं। वयोवृद्ध कमलेश्वर कहता था कि जब वह बालक था तब तुर्कों ने बौद्धों और सहजयानियों का घोर वध किया था। तुर्कों ने जब इनके विहारों में अपार संपत्ति देखी थी तब जी भरकर लूटा था। उस समय तक ब्राह्मण-विद्वेषी बौद्धों ने तुर्कों और मुसलमानों को निमंत्रण देकर बंग में बुलाया था, किन्तु बाद में जब उल्टी मार लगी तो सब भूल गए। अधिकांश तो धड़ाधड़ मुसलमान ही बन गए। अनीश्वरवादी इन मुण्डियों को म्लेच्छ होने में ही क्या विलंब हुआ।

मैं अभी इन्हीं विचारों में खोया रह जाता, किन्तु तभी मैं चौंक पड़ा। कोला-हल, मैंने अब अनुभव किया, शांत हो चुका था। यात्री ने कहा, "सुनो देवता ! आओ कुछ भोजन करें।"

सदैव ही मैं यात्रा में खान-पान को कुछ सीमा तक ढीला कर देता रहा हूँ और सदैव ही मैंने इसका अनन्तर प्रायश्चित्त कर लिया है। मैंने भी सोचा कि बात आई-गई हुई, अब भोजन कर लेना ही उचित है। अभी हम लोग खाने बैठे ही थे कि मुझे फिर एक रुदन-ध्वनि सुनाई दी। मैं अपने को रोक नहीं सका, तुरन्त उठा और आवाज की तरफ चल दिया।

अँधेरे में मुझे अधिक दूर नहीं जाना पड़ा। कुछ लोग मिले, जो एक लाश को लिए हुए थे। यह मैंने पेड़ों की आड़ में, उगते चन्द्रमा की, पत्तों में से छन-छनकर आती हल्की चाँदनी में देखा।

"कौन हो तुम लोग ?" मैंने कठोर स्वर में पूछा।

मेरा प्रश्न हवा में जैसे गूंज गया। स्वयं मुझे भी अपने स्वर की कठोरता का आभास हुआ। परन्तु यह केवल साहस की भावना के अत्यधिक उत्तेजित हो जाने के कारण ही हुआ था।

उन लोगों में से कोई नहीं बोला। स्पष्ट ही वे शूद्र थे, यह मुझसे छिपा नहीं रहा। अब मुझे यह भी याद आया कि अचानक ही भोजन छोड़कर उठ आया था। मेरे उड़िया साथी और बाकी लोगों ने मेरे इस कार्य को देखकर क्या विस्मय नहीं किया होगा ? यात्रा भी कैसी विपदा है, किन्तु भाग्य का चक्र है कि मनुष्य को करनी ही पड़ती है। जगह-जगह कितने डाकू उत्पन्न हो गए हैं ! मैंने केवल पढ़ा था कि इसी भारत की पुण्य भूमि में ऐसे-ऐसे चक्रवर्ती राजा हुए थे जिनके

राज्य में गाय और सिंह एक ही तपोवन में विचरण किया करते थे। तब ब्राह्मणों का तेज ही ऐसा था कि उनकी हुंकारों से ही सब कुछ भस्म हो जाया करता था। कलि के आ जाने से क्या से क्या हो गया! कैसी अधोगति हो गई! तरह-तरह के नास्तिक धर्म फैल गए और अनाचार का बोलबाला हो गया। अब तो शूद्र जगह-जगह सिर उठाने लगे। क्या हो गया यह? और आगे क्या होने वाला है? पाप की भी कोई सीमा होती है। यवनों के आक्रमण से तो पवित्र अवतारों की भूमि में केवल विनाश ही विनाश छा गया है। इसके बर्बर अत्याचारों की याद से ही रोम-रोम जलने लगता है। तभी मैंने देखा वे कुछ फुसफुसा रहे थे।

सामने वे बारह व्यक्ति थे, एक लाश थी और मैं अकेला था।

मैंने फिर कहा, "कौन लोग हो?"

"हम···हम कोरी हैं···"

"शाक्त?" मैंने धीरे से कहा। "तुमने ही इसे मारा है? कौन है यह?" मैंने अपना स्वर उठाकर पूछा।

वे कुछ नहीं बोले।

मैंने फिर कहा, "तो तुम इसे यहाँ चुपचाप खोदकर गाड़ देने आए हो। लुटेरे हो? डाकू!"

पता नहीं शायद मेरे स्वर में घृणा की तिक्तता उभर आई थी कि एक बूढ़ा आगे आया। उस समय मेरे मुख पर चांदनी पड़ रही थी। उसने अपने पुराने स्वर में कहा, "हम डाकू हैं? और हमारे पास एक भी हथियार नहीं? हमने हत्या की है और हम सब घायल हैं? तुम कौन हो?"

विक्षोभ जैसे पुंजीभूत हो चुका था और अब धीरे से पिघलना शुरू हुआ था।

मैंने पूछा, "तो फिर यह क्या है?"

"जाने दो यात्री!" बूढ़े ने कहा, "जाने दो। तुम सुनकर भी क्या करोगे? यह कोई आज की कथा नहीं। और फिर तुम भी तो ब्राह्मण देवता ही जान पड़ते हो। पूछकर भी क्या समझोगे?" वह ऐसे रुक गया जैसे न जाने क्या-क्या कह देना चाहता था, किन्तु फिर भी कह नहीं रहा था, जैसे वह मन्त्रों से अवरुद्ध हो गया-सा कोई साँप था।

मैंने अनुभव किया कि मेरा मन कहीं गीला-गीला-सा हो गया था। मैंने कहा, "सुनो! भयानक रात है। चारों ओर हवा सनसना रही है। न हो तो इधर आओ। हमारा यात्रियों का दल पड़ा है। उधर ही चलो।"

मेरी बात सुनकर वे आपस में एक-दूसरे की ओर देखने लगे। तब एक फूट-फूटकर रोने लगा। उसको रोता देख सब विमूढ़-से हो गए।

मैंने कहा, "क्या बात है?"

बूढ़े ने कहा, "इसका भाई है यह। जब इसका बाप मरा था तब उसने इस बालक को इसी की गोद में छोड़कर कहा था, 'कपालि! इसे अपना पुत्र ही जानना।' तब से उसने डोम्बि को अपना ही पुत्र समझकर पाला। आज डोम्बि भरी जवानी में मारा गया। अब इसे इस निर्जन वन में कैसे छोड़ जाएँ हम? इसे अगर वन-पशुओं ने खा लिया तो?"

सचमुच मनुष्य के व्यर्थ के भय की बलिहारी! मरे से भी उसे इतनी ममता होती है! अरे वह तो मिट्टी हो गया! उसे कोई भी खा ले अब। उसका क्या है? किन्तु यह मैं क्या सोच गया हूँ? यह तो अनर्थ है! मरने के बाद उसकी गति ही जब तक उचित नहीं होगी तब तक वह कर्मों का फलाफल भोगेगा कैसे? वह तो प्रेत बनकर घूमता फिरेगा?

उस समय मुझे कुछ चक्कर-सा आ गया किन्तु कपालि का रुदन बड़ा करुण था। ऐसा लगता था जैसे डोम्बि का प्रेत भूखा-प्यासा वन में हहरता हुआ भटक रहा था और बार-बार आकर अपने पार्थिव शरीर पर मँडरा जाता था।

"इसे जलाना होगा।" मैंने बहुत ही संयत स्वर से कहा।

"कैसे?" कपालि ने कहा। और फिर वह रो पड़ा।

मैं नहीं समझा।

मैंने कहा, "इतने बड़े वन में क्या लकड़ी नहीं मिलेगी?"

मेरी बात सुनकर उस बूढ़े ने कहा, "लेकिन···फिर उजाला होगा और वे देख लेंगे दे, देख लेंगे और फिर ··और फिर···हम सबको ही मरना होगा···तब···तब··· हमें कौन जलाएगा···तब तो हमारी लाशों को सियार और गिद्ध ही खाएँगे···"

उस वीभत्स स्वीकृत को सुनकर मेरे रोंगटे खड़े हो गए। जब मौत सिर पर मँडरा रही हो, तब मनुष्य कितना यथार्थवादी हो जाता है, उससे कुछ भी छिपा नहीं रहता। उस समय अपने स्वार्थ की अतिसीमा में बंधा हुआ मनुष्य भी अपने को उतनी ही दूरी से देखता है, जितनी से वह किसी पराए को देखता है। मौत असल में परख ही नहीं करती, सिखाती भी है। मैं कहता हूँ कि अगर दुनिया में मौत न हो तो आदमी के घमंड का कोई अन्त ही न मिले।

"कौन मारेगा तुम्हें?" मैंने पूछा।

"वे ही···वे ही···" कपालि नहीं कह सका। फिर रोने लगा। यही आदमी अभी अपने हाथों से पाले हुए लड़के—अपने भाई—के किसी के हाथों से निर्दयता-पूर्वक मारे जाने पर रो रहा था। उसका रुदन तो विवशता थी क्योंकि उसकी हत्या का बदला न लेकर वह भाग आया था, परन्तु साथ में उसकी मिट्टी भी उठा लाया था। और अब वह उसे किनारे लगाना चाहता था, क्योंकि उसके संस्कार और विश्वास उसे ऐसा करने को विवश कर रहे थे। तथापि अब उसे अपनी मौत का डर और भी बढ़ गया था। अब वह भाई की मौत से भी अधिक

अपनी मौत के डर से रो रहा था। कहते हैं मरों को जीवितों से प्यार नहीं होता। लेकिन जीवन का कोई एक क्षण ऐसा भी आता है जब जीवित और मृत के बीच रेखा खींचना कठिन हो जाता है। ऐसे ही समय में मनुष्य अपने विवेक से भी परिचालित होता है, और अपने ममत्व से भी। किन अंतरालों में जाकर यह भावनाएँ समवेत होकर अंतरात्मा की निगूढ़ कुज्झटिका में विलीन हो जाती हैं, यह कोई नहीं बता सकता। अनन्त विस्फार-सी इस व्यापक सत्ता को सदैव मैंने परमशिव का आनंद माना है, और वेद के निर्घोष में ही मेरे अस्तित्व का संघर्ष अपनी सार्थकता मानता आया है, किन्तु यहाँ मुझे लगने लगता है कि कहीं कोई ऐसी एक रेखा शेष है जो हमारे पथ को हठात् ही काट जाया करती है और सम्भवतः हम अपने ही अन्धविश्वासों के आसरे होकर अपने ही आदर्शों के भौंकते कुत्तों से बचने के लिए छिपते फिरते हैं।

मैंने कहा, "कौन हैं वे लोग ?"

वृद्ध ने कहा, "प्रभु..."

आतंक फिर लरजने लगा।

मैंने आश्वासन देते हुए कहा, "भोलानाथ सबका दुःख दूर करते हैं। बताते क्यों नहीं ?"

तब उसने बताया :

"वे कोरी हैं और नहीं जानते कि वे देवी के उपासक क्यों हैं ! संभवतः इसीलिए हैं जैसे भारत में कोई भी जाति सनातन से अपने-अपने देवताओं की उपासना करती चली आ रही है। उनके पूर्वजों ने देवी के सामने रतजगा करके गीत गाए थे, वे भी गाते हैं। आज भी गा रहे थे; किन्तु उससे ब्राह्मण क्रुद्ध हैं, क्योंकि वे उनको वेद-विद्वेषी मानते हैं, क्योंकि वे शाक्तों को गाँव में रहने की आज्ञा नहीं देना चाहते। यह संघर्ष तीन पीढ़ियों से चला आ रहा है, पता नहीं वे कोरियों को शूद्र क्यों कहते हैं। कोरी कोई बुरा काम नहीं करते; वे कपड़ा कातते-बुनते हैं। फिर भी उनका छुआ पानी गन्दा हो जाता है। कोई नहीं जानता कि यह झगड़ा कब समाप्त होगा। आज वे पानी भरने के लिए अपने कुएँ पर गए। चमारों के पास कुआँ नहीं है, क्योंकि उन्हें अधिकार नहीं, वे उसी हौज में से पानी ले जाते हैं जिसमें से बैलों को पानी पिलाया जाता है, लेकिन कोरियों ने अपना कुआँ बना लिया है, और उसके बनाते समय छह कोरी जान से मारे गए थे। कपालि का पिता उसी में मारा गया था। आज उसी कुएँ में किसी ठाकुर ने विष डाल दिया था, क्योंकि वह उन्हें गाँव से भगाना चाहता था। सारे सवर्ण एक ओर थे। गाँव की सीमा पर बसे तेली को पता चल गया था। वह नाथों का चेला मुसलमान जोगी है। उसको मार डाला उन्होंने और अब वे हमें भी निकाल रहे हैं। उसी झगड़े में डोम्बि मारा गया है। इस नगले की औरतें इधर-

उधर भाग गई। कुछ सहजयानी आए हैं बंग से, वे जाने क्या प्रचार करते फिर रहे हैं!"

मैंने सुना। फिर कहा, "आह रे धर्म! सच ही कलियुग में तेरा चौथा चरण भी नष्ट ही हो जाएगा। क्यों तुम लोग मर्यादा का उल्लंघन करते हो? ईश्वर ने तुम्हें कर्मानुसार जब किसी जाति-विशेष में जन्म दिया है, तब ईर्ष्या के कारण क्यों विद्रोह करते हो? स्वधर्म का पालन क्यों नहीं करते? किसलिए सारे नियमों को तोड़कर अनाचार और अनैतिक उच्छृंखलता फैलाना चाहते हो?"

फिर मैंने कहा, "दिल्ली के सुलतान तो यहाँ से एक बार स्वयं निकल चुके हैं न?"

"हाँ, प्रभु!" वृद्ध ने कहा, "किन्तु हमारा कोई अपराध नहीं है। हम तो गरीब लोग हैं। ब्राह्मणों से हमारा विरोध नहीं। हम तो अपने प्रजापालक ठाकुरों की ही शरण को सदा से अपना आश्रयस्थल समझते आ रहे हैं। हमारे राजपूतों ने सुलतान के कर वसूलनेवालों को मार डाला था। जब खबर पहुँची तो सुलतान ने फौज भेजी। हमारे कुछ कोरी जो बौद्ध थे वे सुलतान की फौज में पहुँच गए और ठाकुरों के नाम बता आए। ठाकुर पकड़े गए। फिर भी सुलतान के लोगों ने हम गरीबों को खूब चूसा। वे चले गए तो बचे हुए ठाकुरों ने हमसे बदला लिया।"

मैं निस्तब्ध खड़ा रहा।

इसी समय मेरे कन्धे पर किसी ने हाथ रखा।

मुड़कर देखता हूँ। मेरा सहजयानी साथी।

उसने कहा, "क्या कर रहे हो भाई? खाना भी छोड़ आए। मैं कहूँ क्या हुआ? ये लोग कौन हैं?"

मैंने सारी बात बताई।

सुनते ही वह तो घबरा गया।

उसने कहा, "हाय मैं तो मारा गया। अब ये लोग यदि जान जाएँगे तो हमें क्या छोड़ देंगे? इनसे तो तुर्क ही हमें बचा सकते हैं।"

वह भाग चला।

मैं तो देखता ही रह गया।

मैं जब सजग हुआ तो मुझे अपनी पड़ी। अब मैं क्या करूँगा? हठात् मुझे एक भय लगने लगा। ये लोग जो मेरे सामने हैं, मैं इनका ही क्या विश्वास करूँ, यदि आवेश में आकर इन्होंने मेरी हत्या करने की चेष्टा की तो मैं अपनी रक्षा कैसे कर सकूँगा?

सच कहता हूँ, प्रत्येक वस्तु के अन्त को शाश्वत माननेवाला मैं भी थर्रा

गया। आज बहुत दिन बाद सोचता हूँ कि यह तो 'अहं' है, संभवतः यह वस्तु के किसी भी रूप की इकाई की भावना है। जिस प्रकार यह अपनी रक्षा करने की चेष्टा करती है, संभवतः उसी सिद्धान्त पर यायावर ब्रह्माण्ड भी अपने को बचाता है, क्योंकि मैं ब्राह्मण का एक अंश हूँ, उससे अलग करके नहीं देखा जा सकता। काठ जो इतनी कठिनाई से कटता है, वह भी वस्तु का स्वरक्षा के लिए संघर्ष है और पत्थर जो बहुत ही कड़ा बन जाता है, वह उसका अपना प्रयत्न है।

अभी मैं यह सब निर्णय भी नहीं कर पाया था कि वन में जलती मशालें चलती हुई दिखाई देने लगीं। उनको देखकर मुझे लगा कि वहां ब्रह्मराक्षसों का कोई निवास था, तभी वे उल्काएँ जगमगा रही थीं। यह भी संभव हो कि वे कापालिक हों जो नरबलि ढूंढ़ने निकले हों। मैं तो हतचेत-सा देखता रह गया। केवल इतनी ही सतर्कता मुझमें शेष थी कि वे कोरी क्या कर रहे हैं। यह देखता रहूँ।

"अरे बाप रे!" एक ने कहा, "वे हमें वन में ढूंढ़ने आ रहे हैं।"

बस सुनने की देर थी कि बारहों आदमी लाश को वहीं छोड़कर, जिसको जिधर सूझा, उधर ही भाग निकले। मैं अकेला रह गया, क्योंकि मेरा साथी एक शव ही था, जिसे लहू ने भिगो दिया था, किन्तु वह मेरी तरह हिलता-डुलता था, न सांस ही लेता था। उसके लिए तो सब कुछ हो चुका था। उसे कोई भय नहीं था। वह मिट्टी हो चुका था। आज सोचता हूँ कि क्या मिट्टी नहीं डरती? इसका उत्तर मैं क्या दूंगा, जो मिट्टी होकर भी अपने मिट्टीपन के ऊपर हावी बनने का दावा किया करता हूँ। किन्तु उस समय मुझे डर लगने लगा।

अब मशालों की ज्योति निकट आने लगी थी और साथ ही घोड़ों की टापें भी सुनाई देने लगी थीं। कौन होंगे!

डाकू!

केवल एक बार और शब्द मेरे कानों में बजा, 'डाकू!'

उसके उपरान्त मुझे उस ओर से घोर कोलाहल सुनाई दिया, जिधर मेरे उड़ीसा के साथी का डेरा था। फिर बर्बर अट्टहास गूंजा, फिर चीत्कार और फिर कोलाहल, मार-मार···

मैं न जाने क्यों स्तम्भित-सा वहीं खड़ा रहा। अंगचेष्टाएँ कहीं चली गई थीं।

जब वह कोलाहल हाहाकार में बदल रहा था, एक बहुत ही तीखी आवाज़ सुनाई दी···बचाओ···बचाओ···

बिजली-सी कौंध गई मेरे सामने। यह तो मेरे उड़िया सहयात्री की युवती पुत्री का स्वर था। न जाने कैसे मैं उधर ही भाग चला जिधर से स्वर आया था···

अँधेरा यहाँ बहुत घना था।

घूम-फिरकर भी मुझे कुछ नहीं मिला।

उस समय मैं विक्षुब्ध-सा हो उठा था।

मैं फिर वृक्षों की ओट में मशालों के उजाले की ओर चलने लगा। वहाँ आकर देखा कि घोड़ों पर तुर्क थे और चारों ओर विनाश और शवों का अखण्ड ताण्डव था।

एक व्यक्ति ने तुर्की में कुछ कहा।

मैं नहीं समझा।

तभी तीन तुर्क जो लम्बे-चौड़े थे, एक तुर्क का शव उठा लाए।

तुर्क ने फिर पूछा।

एक ने पीछे मुड़कर कुछ कहा।

तीन तुर्क फिर बढ़े। उन्होंने उसी युवती पुत्री को पकड़ रखा था। एक ने उसके हाथ से रक्त से भीगी हुई कटार छीनकर सरदार को दिखाई और मृत व्यक्ति की ओर इशारा किया। मैं समझ गया, अवश्य इसी वीर स्त्री ने इसकी हत्या की है। सरदार ने फिर कुछ कहा।

तब दो आगे बढ़े। स्त्री के वस्त्र कुछ फट गए थे। अनेकों शवों में वही जीवित खड़ी थी और मैं पेड़ों की आड़ से अँधेरे में छिपा हुआ सब देख रहा था। तुर्कों की तलवारें रक्त से भीगी हुई मशालों के प्रकाश में चमक रही थीं। वे सिर पर लोहे के शिरस्त्राण पहने हुए थे। उनकी चाल में अकड़ थी। वे बड़े गर्वीले थे। स्त्री के बाल बिखर गए थे और आँखों में एक बड़ा अजीब-सा जंगली आनन्द था। उसकी पुतलियाँ उसके सफेद कोयों के बीचोंबीच दिखाई दे रही थीं।

मैंने देखा, एक तुर्क ने आगे बढ़कर स्त्री के वक्ष का वस्त्र फाड़ डाला और एक भयानक चीत्कार गूँज उठी। उसने स्त्री के दोनों स्तन काट दिए। रक्त के पनाले वह निकले। स्त्री मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। एक बर्बर अट्टहास प्रतिध्वनित हुआ।

सरदार मुड़ा।

उसने फिर कुछ कहा।

तब तीन-चार तुर्क लूट का सामान ला-लाकर उसके सामने धरने लगे। बैल, गाड़ी और···और···

मैं देखता रहा।

कुछ देर बाद वे सब चले गए। उनके घोड़ों की टापों की आवाज़ को जब अँधेरे की जीभ ने निगलकर आकाश और पृथ्वी जैसे अपने होंठों को चाट लिया, मैं बाहर आया। अब चाँद डूब चला था। केवल शव पड़े थे। सच कहता हूँ, मैंने किसी को नहीं छुआ। मेरे कानों में अपने सहयात्री के अन्तिम शब्द गूँज रहे थे :

इनसे तो तुर्क ही हमें बचाएँगे !

यों ही तो बचाया था उन्हें तुर्कों ने !

अपने धर्म के लिए कैसे सारा भारत बलिदान हो रहा था, मैंने देखा। आगे पाँव रखा। कुछ चिपकता-सा पाँवों में लगा। पाँव पीछे खींच लिया। देखा। स्त्री का कटा हुआ स्तन-मांस था। यही था न वह मांसपिण्ड जिसमें से ममता दूध बनकर उतरती ! वह तो धरती पर पड़ा था ! वह तो अब गीदड़ का भोजन बनेगा।

तभी पीछे की ओर एक सुरसुराहट-सी सुनाई दी। मुड़कर देखा—वह कोई सियार ही था। फिर वह मुँह ऊपर करके चिल्लाया। और तब वन में हुँआ, हुँआ की आवाजें उठने लगीं। दूसरों के बने-बनाए शरीर को खाने वाले एक पशु ने अपने जैसे अन्य पशुओं को निमन्त्रण दिया था और उसे उन मित्रों ने प्रत्युत्तर भी दिया था, जो साथ ही खाने को लपलपा रहे थे। कैसी संघशक्ति थी ! तो यह बर्बरों में होती ही है ! और किनमें 'नहीं' होती ? जो मुर्दे हो चुकते हैं। यह शव पड़ा है, अगर इसकी आँतें निकालकर एक सियार धीरे-धीरे चबाकर खाएगा, तब भी बगल में पड़ा शव कुछ नहीं कहेगा, जिसकी कि एक आँख में चोंच डालकर अभी-अभी कोई गिद्ध पुतली कुतर-कुतरकर खा चुका होगा।

आज बहुत दिनों बाद सोचता हूँ कि मुझे भय क्यों नहीं हुआ। उस समय हठात् मुझे एक ही बात याद आई थी कि क्या एक दिन इसी प्रकार रानी पद्मिनी के जौहर की भस्म देखकर भी उसका राज-पुरोहित मेरी ही भाँति देखते हुए खड़ा नहीं रह गया होगा !

तब मैंने सोचा ! शूद्र को ब्राह्मण मारता है, बौद्ध अपना राज्य चाहता है। वह तुर्क को ब्राह्मण के विरुद्ध बुलाता है। और ब्राह्मण स्वदेश के इन शत्रुओं से भी लड़ता है। और विदेशी लुटेरों से भी। और इस सबका परिणाम क्या होता है सब पिसते हैं, तुर्क जीतते हैं। कहते हैं पहले समय में पृथ्वीराज चौहान ने युद्ध किया था किन्तु उसे भी विश्वासघातियों ने हरवा दिया। राजा गण्ड भी विश्वास-घात के कारण ही सोमनाथ के लुटेरे गजनवी के हाथों मारा गया था। मुझे आश्चर्य हुआ। और उस समय उस मुर्दों से ढकी धरती, उस लुटी हुई धरती, उस धरती पर जिस पर एक युवती स्त्री के स्तन-प्रदेश से निकल-निकलकर अभी तक रक्त रिस रहा था, मुझे न जाने क्यों एक विचित्र-सी भावना हुई। यह क्या थी मैं नहीं जानता ! निश्चय ही वह एकमात्र प्रतिहिंसा की भावना नहीं थी। निश्चय ही वह लुटेरों के प्रति जुगुप्सा नहीं थी। वह भी तो एक बात हो सकती थी—वह केवल आत्म-घृणा थी और उसके मूल में विवशता नहीं थी, अज्ञान के प्रति विक्षोभ था।

और तब शवों के बीच में खड़े होकर, संसार को सदैव असार कहकर बुरा कहने वाले मैंने, पहली बार यह अनुभव किया कि जीवन को बचाना चाहिए।

परमार्थ में मैं स्वयं उस समय भी इस विचार पर सम्भवत: हँस दिया था। जीवन ! कैसा जीवन ! यह रहा जीवन का अन्त। धूलि में पड़ा है। कितनी आशंका थी यहाँ इन लोगों को। और क्या जानते थे कि यह सब इतना पास है ? मुझे महा-भारत की युधिष्ठिर-यक्ष संवाद की बात याद आई—कि संसार में सबसे बड़ा आश्चर्य यही है कि प्राणी नित्य प्राणी को मरते देखता है, फिर भी वह यह नहीं सोचता कि उसे भी मरना है।

हाँ, हाँ, मुझे भी मरना है। किन्तु मन ने कहा था कि मरना जितना बड़ा सत्य है, उतना ही बड़ा सत्य जीना भी तो है। क्यों मान लिया जाए कि मृत्यु की अवधि जीवन की अपेक्षा बड़ी है।

उस समय मैं कितना दार्शनिक हो गया था ! क्यों ? क्योंकि न तो मेरा कोई स्वजन मरा था, न मुझमें इतनी शक्ति ही थी कि किसी का बदला ले सकूँ। इसलिए मुझे अपनी वेदना को छिपाने और आत्म-रक्षा करने के लिए इस दर्शन की आवश्यकता थी और सम्भवत: इसीलिए वह प्रकट भी हुई थी। किन्तु मैं आज भी उसे श्रेयस्कर मानता हूँ। जो विनाश में अपना तर्क नहीं खोता और विनाश को एक आकर निकल जाने वाली विपत्तिमात्र समझता है, जीवन को उससे भी ऊँचा समझता है, वही तो मनुष्य है। व्यक्ति की सत्ता की अवधि छोटी होती है। जिसका सत्य उस अवधि को ही सत्यमात्र नही मानता, वह क्या कभी मर सकता है ? अलौकिक की वासना, ऐहिक के त्याग से भी तो ऊँची है। परोक्ष की आशा, प्रत्यक्ष की प्राप्ति से कहीं अधिक उदात्त है। चमड़े से मढ़े हुए मांस में ही जब मनुष्य अपनी सत्ता को समाप्त नहीं मानता, तब उसका तेजस ही उसका रक्षक बन जाता है।

और तब मुझे लगा मैं हारा नही था। कहते है अनेक बार तुर्कों ने आक्रमण किए और इस भारत को नष्ट कर देना चाहा किन्तु यह नष्ट नहीं हुआ। तो क्यों आखिर ! मैं अभी तक इस सबके मूल मे यही मानता हूँ कि हमारा परमेश्वर सदैव ही एक बहुत बड़ा परमेश्वर रहा है, जो तुर्कों के परमेश्वर से बड़ा है और मनुष्य के रूप में हम कितने भी छोटे क्यों न हों, व्यवहार में हम कितने भी दुर्बल क्यों न रहे हों, किन्तु हम न छोटे हैं, न दुर्बल, क्योंकि हमारा परमेश्वर तो बड़ा और सबल रहा है। मनुष्य संसार में अपनी आस्था के अनुसार ही होता है। हमारी आस्था हमारे जीवन के यथार्थ से भी बड़ी है। हमारी आस्था समस्त सृष्टि से मानव-हृदय के तादात्म्य का बिम्ब है और वह मनुष्य के रक्त-मांस में सीमित नहीं रहती, वह पीढ़ी दर पीढ़ी चेतना में ज्योति बनकर उतरती है। इसलिए लौकिक-कर्दम पर ही हमारा विश्वास-कमल खिल रहा है। यह सब ऊँच-नीच, क्षुद्रता-महानता, घृणा और प्रेम, दरिद्र-धनी का भेद, यह सब हमारे अविवेक हैं, जिन्हें संसार के क्षेत्र में प्रयोगात्मक माना गया है, जिसमें दैहिक सुख-दु:ख हैं,

किन्तु इनसे अधिक शक्तिशाली यह आस्था है, जिसका मूल केवल मानवीयता है और जो प्रयोग के परे हैं, क्योंकि वहां मानव की पराजय कभी कुण्ठा में अपनी इति नहीं करती, वह वहां व्यापक अनुभूतियों का सृजन करती है और अपनी सारी अपूर्णता को अपने अस्तित्व की क्षुद्रता की अभावात्मक स्वीकृति में अपने लिए एक बन्धन के रूप में खड़ा नहीं करती, वरन् सहृदयता का आश्रय लेकर प्रारम्भ सृष्टि के अन्त प्रलय तक व्यापक रूप में अपने को ही एक महान के रूप में प्रस्तुत करती है !

निस्तब्धता और घनी हो गई थी। अब कराहें नहीं थीं, अब सियारों के लाशों को फफेड़ने का शब्द सुनाई देता था और कुछ नहीं।

तब मैं चल पड़ा। पता नहीं कितनी दूर चला, कितनी बार कांटे लगे, किन्तु मैं विनाश में से बचा था और झपाटवी में चल रहा था। कुछ दूर और चलने पर मुझे एक हल्की-सी गीत की आवाज़ सुनाई दी। मैं चकित रह गया। धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए मुझे शब्द स्पष्ट सुनाई देने लगे और ज्यों-ज्यों वे मुझे सुनाई देते गए, मेरी आत्मा का अंधकार एक अतीन्द्रिय आलोक से भरता चला गया।

कोई मीठे स्वर से गा रहा था :

तातल सैकत वारि-बिंदु सम
सुत-मित-रमनि-समाज.........
तोहे बिसारि मन ताहे समरपिउ
अब महुँ हय कोन काज
तोहे बिसारि मन.........

क्या सुन रहा था मैं ?

जिस प्रकार तप्त बालू पर जल की बूंद पड़ते ही विलीन हो जाती है, उसी प्रकार इस संसार में पुत्र, मित्र और स्त्री हैं, तुझे भूलकर मैंने अपने को इनके हाथों में समर्पित कर दिया है...अब मुझमे क्या कार्य हो सकेगा ?

वही बात ! संसार के स्वार्थ ही सब कुछ नहीं हैं। इनके परे एक व्यापक सत्य की आवश्यकता है, क्योंकि इनमें अपने मैं का अन्त नहीं होता।

गायक के स्वर में नई चेतना आई :

माधव ! हम परिनाम निरामा...
तुहुँ जगतारन दीन दयामय
एतय तोहर बिसवासा...
माधव ! हम परि...

हे माधव, मुझे तो इस सबसे परिणाम में निराशा ही हुई। इससे लोक का क्या कल्याण हुआ ? कुछ नहीं। तू तो जग को तारने वाला है, दीन के ऊपर दया करने वाला, तू तो आर्त्तों का सम्बल है...इस अरक्षित काल में और कौन है...

अतः एक तेरा ही विश्वास है···वह कौन है···वह माधव है·········

अहं की वेदना से ऊपर यह कैसा उजागर विश्वास है ? गायक ने फिर गाया :

आध जनम हम नींद गमावल
जरा सिसु कत दिन गेला
निधुवन रमनि-रभस रँग मातल
तोहे भजब कोन बेला······
आध जनम हम······

सचमुच ! आधा जीवन तो मैंने नींद में गँवा दिया, और बाकी बुढ़ापे, बचपन में निकल गया। जो सबसे श्रेष्ठ समय था तब मैं रमणियों के साथ मधुवन में क्रीड़ा-रत रहा···तुझे मैं भजता भी तो कब ··

क्या लाभ हुआ यों अकारथ जीवन बिताते हुए। एक से दूसरे को प्रीत कराने वाली शक्ति का तो मैंने विचार ही नहीं किया···अपने सुख में डूबा रहा···मुझे मेरा ही अज्ञान घेरे रहा···मैं जानता हूँ कि यह देह सदैव नहीं रहेगी। किन्तु मैं उसको ही शाश्वत समझ बैठा···आज मुझे लगने लगा है कि जो खेल मैंने खेला वह मेरे एक ही दाँव पर मुझे हार देकर जाने वाला है···

और गायक का स्वर अब और निकट आ गया है :

कत चतुरानन मरि मरि जाओत
न तुअ आदि अवसाना
तोहे जनम पुनि तोहे समाओत
सागर लहरि समाना
कत चतुरानन·········

और देखो न ? कितने ब्रह्मा मर-मरके नष्ट हो जात हैं, किन्तु तेरा आदि और अवसान नहीं मिलता। अभी मैं मुर्दों से ढकी हुई पृथ्वी पर से आ रहा हूँ। तो यहीं अन्त नहीं है ? अभी जो युद्ध हुआ वह अन्त नही है। तीन सौ बरसों से जो विनाश हो रहा है वह भी कुछ नहीं है ? नहीं है, नहीं है। यह तो एक ब्रह्मा का युग है। युग नहीं पल। पल नहीं, पल से भी छोटा। ब्रह्मा ! सृष्टि करता है। वह रचता है। वही एक दिन सबका प्रारम्भ करता है, और वह भी अन्त में नष्ट हो जाता है, वह नहीं रहता···नहीं रहता···उसकी विशाल सत्ता भी अल्प है। उससे भी बड़ा समय है, समय से बड़ा कौन है···वह जो दीनबन्धु है···माधव है···जगतारन है···पानी के बुलबुले की तरह ब्रह्मा आते हैं विनष्ट हो जाते हैं···पच-पचकर हार जाते हैं, किन्तु अन्त नहीं पाते···तो मनुष्य इतने बड़े सत्य का अनुभव कर सकता है, कि स्वयं उसका विधाता, एक विधाता नहीं, अनेक-अनेक विधाता भी, उसके सत्य की वास्तविकता को नहीं जान सकते···उसके न आदि को जानते हैं···न उसके अन्त को ही पहचानते हैं···यह तो सागर है, यह तो सागर की लहर

है ··लहर सागर से उठती है, उसीमें विलीन हो जाती है···जिसमें से जन्म लेती है, उसमें उसका अवसान हो जाता है···तो हम हारे नहीं हैं···वह तो लहरें हैं, आती हैं···जाती हैं···अक्षय शक्ति का अमर स्रोत है यह···

मैं विभोर होने लगा। गायक का स्वर तब और भी स्पष्ट सुनाई दिया :

भनइ विद्यापति सेष सयन मय
तुअ बिन गति नहिं आरा
आदि अनादिक नाथ कहा ओहि
अब तारन भार तोहारा······
तारन भार तोहरा······
तारन······

विद्यापति कहता है कि हे शेषशायी ! तेरे बिना मेरी गति और नहीं है, तू आदि अनादिक नाथ कहाता है तो मुझे तारने का भार फिर तुझ पर ही हो···

मैं रुक गया। देखा एक मशाल जल रही थी। एक वृद्ध पास बैठा गा रहा का। सिर के बाल लंबे और सफेद थे, दाढ़ी-मूँछें सफेद थीं। छोटा-सा आदमी था। पास में कई लोग थे···स्त्री भी·· पुरुष भी—पूरा यात्री दल था···बैल··· गाड़ी · कुछ घोड़े···और सब सो रहे थे···वही गा रहा था···निर्द्वन्द्व· इसे प्राणों का भय नहीं···

मैं उसके पास जाकर बैठ गया। मुझे इस प्रकार बैठते हुए लगा मैं माधव के पास आ गया हूँ। इस समय मुझे रुलाई-सी आने लगी। अब जबकि संवेदना को प्रकट होने का अवसर मिला, मुझे अपने को कातर बना देने में एक आत्मिक सुख मिलने लगा···मैं अपने को दुःखी कहकर दूसरों की सहानुभूति पाकर मनुष्यत्व के उदात्त रूप को जैसे देखकर लोकान्तकारिणी करुणा की महत्ता अनुभव करने का इच्छुक हो उठा था···

"रोओ नहीं," वृद्ध ने गीत समाप्त करके कहा, "क्यों रोते हो ? छिः-छिः, कृष्ण के लोक में कैसे रुदन ? चारों ओर आनंद ही तो है !"

क्षण-भर अवाक् रहकर मैंने उसकी ओर देखा।

फिर कहा, "आनन्द ! कहाँ है आनन्द ! चारों ओर हाहाकार मच रहा है···चारों ओर विनाश छा रहा है···मुसलमान लूट रहे हैं···बौद्ध छल कर रहे हैं···"

"नहीं, माधव !" वृद्ध ने कहा, "मुसलमान कहाँ लूटते हैं, तृष्णा लूटती है, अहंकार लूटता है, बौद्ध छल कहाँ करते है, स्वार्थ करता है···विष्णु ने तो स्वयं बुद्ध का अवतार ग्रहण किया था···"

वृद्ध ने गाया—

केशव धृत बुद्ध शरीर···

मैं उसे देखता रह गया।

मैंने गला साफ करके कहा, "वहाँ, वहाँ लाशें कटी पड़ी हैं···तुर्कों ने स्त्री के स्तन काट दिए···"

मैं विक्षोभ से व्याकुल हो गया, कुछ कह नहीं सका।

वृद्ध ने कहा, "माँ ने धरती को रक्त में भिगोया है? एक दिन पूतना नामक स्त्री ने विष-लेप करके माधव के मुख में दिया था न? आज उसका प्रायश्चित्त हो गया, आज उस पाप का भी परिष्कार हो गया भैया···"

मैं कुछ नहीं कह सका।

हवा अब ठंडी चलने लगी थी। दूर कहीं वन के सुगंधित फूलों पर से झूमती वायु अपने साथ सुरभि उड़ाए लिए चली आ रही थी। मुझे भूख लग रही थी। कहते हैं न लोग कि गांधारी को अपने सौ बेटों की लाशों के बीच खड़े होकर भूख लगी थी सो उसने पुत्रों के शवों के ढेर पर खड़े होकर पेड़ में लटका आम तोड़ने की चेष्टा करने में हाथ नीचे रह जाने पर कहा था कि एक मुर्दा यानी एक बेटा और होता तो मैं इस फल तक पहुँच गई होती, वैसे ही मुझे भी भूख लगी। देह पूजा का लोलुप असुर मेरे भीतर जाग उठा।

परन्तु मैं न जाने क्यों इतना थक गया था, इतना निर्जीव हो गया था मैं कि कुछ भी न कहने का मन होता था, न करने का। मानो मैं प्रलय के बाद बचा हुआ एक निरीह कीड़ा था, जो अब भी चुपचाप पड़ा हुआ ईश्वर को अपने जीवित रह जाने के लिए धन्यवाद दे रहा था।

किन्तु क्या था मेरे जीवन का मोल! वृद्ध अब भी कभी-कभी कोई पंक्ति गा उठता था और सब भूल-सा जाता था।

मैं नहीं जानता कब मैं वहीं पड़ा हुआ सो गया और भयानक स्वप्नों को देख-देखकर डरता रहा।

जब मेरी आँख खुली तब मैंने देखा सब लोग जाग उठे थे। वे लोग समवेत स्वर से गा रहे थे। यह क्या? यह लोग भयभीत नहीं है? इन्हें न तुर्कों का डर है, न किसी का!

मैं उठकर बैठ गया। गीत बड़ा लुभावना था। मैं सुनता रहा—वे गाते रहे—

हे माधव! मैं अत्यन्त विनीत बारम्बार तुम्हारे सामने प्रार्थना करता हूँ और विनती करता हूँ कि तुम मुझे अपने चरणों से अलग न कर देना।

हे माधव! मैं तुलसीदल और तिल चामरी से पूजन करके अपनी देह तुम पर समर्पित करता हूँ, तुम मुझे कहीं अपने चरणों से पृथक् न कर देना।

हे माधव! यदि तुम मेरे पाप-पुण्यों के लेखे का ध्यान करोगे तब तो मुझमें करोड़ों दोष और छिद्र दिखाई देंगे और गुणों का तो आभास तक भी नहीं

मिलेगा।

हे माधव ! तुम तो जगन्नाथ कहाते हो और जगत के परे तो शून्य ही शून्य है···

हे माधव ! यदि अपने कर्मानुसार मुझे अगले जन्म में भी मनुष्य-शरीर प्राप्त हो या मैं पशु-पक्षी होकर जनम लूं या मुझे कीट-पतंगों की ही योनि ग्रहण करनी पड़े या अपने कर्म-विन्यास से मुझे बारम्बार जन्म लेना पड़े···तब भी मेरी यही एक प्रार्थना है कि तुम मुझे ऐसा वरदान दो, ऐसा वरदान दो कि मेरी मति सदैव ही तुम्हारे चरणों में ही लीन रहे और तुम्हारी ओर ही मेरा ध्यान बना रहे !

अपने कर्मफल से अत्यन्त कातर और भयभीत कवि विद्यापति कहता है कि हे माधव ! कृपा करके मुझे इस भवसागर से पार कर दो।

हे दीनबन्धु ! चरणकमलों का आश्रय लेकर मैं इस भवसागर को तरण कर जाना चाहता हूँ।

गीत चलता रहा और काम होते रहे, मानो गीत के लिए जीवन नहीं था, जीवन के लिए गीत था···

अब मैंने पहचाना। यह तो गौरांग महाप्रभु चैतन्य के शिष्य थे और वृन्दावन जा रहे थे।

गीत की अन्तिम हिलोर अब भी वायु में काँप रही थी···

सिर मुंडाए वृद्धाएँ और तरुणियाँ, तरुण और वृद्ध, बालक और बालिकाएँ··· सब जैसे एक गीत ही तो थे वे···

अपनी कथा को संक्षिप्त करके कहूँ कि मैं भी उनके साथ चल पड़ा।

वृद्ध वैष्णव ने मुझसे कहा, "वत्स ! उठो। निराश न हो। मधुसूदन कभी रोते हुए भक्तों को नहीं चाहते। आओ चलें···"

शताब्दियों से जो वृन्दा नाम से विख्यात एक वन पड़ा था, वहाँ जाकर गौरांग महाप्रभु ने कृष्ण की बाललीला के स्मारक के रूप में एक नगर बसाया था, जो अब वृन्दावन कहलाने लगा था। वह कोटि-कोटि गौरांग-शिष्यों का एक पुण्यतीर्थ था।

और तब मस्त होकर वे कीर्तन करने लगे···

राधे गोविंद हरि···

हरि बोल···हरि बोल···

अनन्त विस्मय में डूबा रह गया मैं, कि वे सब विभोर होकर नाचते-गाते चले जा रहे थे और जब वे एक ग्राम में से निकले, घोड़ों पर सवार तुर्कों ने उन्हें

रोक दिया। किन्तु वहाँ सुनता कौन था ! वे तो नाच रहे थे, गा रहे थे। तुर्कों के स्वर गरजने लगे, उन्होंने एक कीर्तनिया को पकड़कर खींच लिया···परन्तु वह गाता ही रहा···तुर्कों की नमाज़ में व्याघात पड़ा था, अतः वे इस कुफ्र को रोकने आए थे···उन्हीं की प्रजा और यह हिम्मत···किन्तु वे नहीं रुके···उन्होंने पकड़े हुए व्यक्ति को मार डाला···किन्तु बाकी गाते रहे, चलते रहे···धीर पग रखते, नाचते···जैसे कुछ नहीं हुआ निर्द्वन्द्व ··निर्भीक···

मैंने हिन्दुओं की भीड़ को चुपचाप उस अत्याचार को देखते हुए पाया और मैं न जाने कैसे चिल्ला उठा, "कायर ! धिक्कार है तुम्हें···"

जिस व्यक्ति को तुर्कों ने मारा था, वह एक शूद्र था···अपराजित था वह···

अचानक ही भीड़ हिल उठी और तब मैंने तुर्कों को भागते देखा···

मधुसूदन···जनार्दन···वासुदेव जाग गए थे···

किन्तु कीर्तनिया फिर भी गा रहे थे···झूम रहे थे···नाच रहे थे···वे न जाने किस अतीन्द्रिय तन्मयता में डूबे हुए थे, उनके लिए रूप और कुरूप के क्षुद्र बन्धन नहीं थे, न धनी-दरिद्र के कुटिल भेद ही जीवित थे, वे तो इन सबके पार थे···

राधे गोविंद राधे···

राधे गोविंद हरि···

और फिर हरि बोल···

धीरे-धीरे सारी भीड़ गाने लगी। मैंने भय के कुहरजाल को फटते देखा···

इस भीड़ में सब जातियाँ थीं···नीच भी···ऊँच भी···

किन्तु यहाँ सब निर्भय थे···

निर्भीक थे सब···

निर्द्वन्द्व-से लग रहे थे वे···

घुटे हुए गलों से सुरीला किन्तु प्रचण्ड शब्द निकल रहा था···

अपराजित संस्कृति पुकार रही थी···

कोई भी दमन इसे कुचल नहीं सकता था···

और तब मैं भी गाने लगा···

राधे गोविंद राधे···

राधे गोविन्द हरि···

हरि बोल···

हरि बोल···

और फिर···

फैलता स्वर, लरजती मिठास, झूमती तन्मयता और अपराजेय निर्भीक चेतना। वही झंकार, वही आरोह, वही अवरोह···और तब एक वंशी-निनाद···

अन्तरात्माओं के मोतियों को बींध-सा जाता हुआ डोरा था वह, रोम-रोम में भीतर-भीतर जो रम गया···

भीड़ गाती रही और फिर मुझे याद नहीं रहा कि कब तक हम गाते रहे··· कितनी देर तक वह निर्भीक एकता का स्वर भारतभूमि पर गूंजता रहा···

वह वैष्णव स्वर था···दूसरों की वेदना को जानने वाला, ज्ञान की सारी सीढ़ियों के परे भक्ति का···

राधे गोविंद राधे···

राधे गोविंद हरि

और फिर···

हरि बोल···

महाप्रभु गौरांग के शिष्यों में मुसलमान भी थे और भक्ति के क्षेत्र में हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न ही नहीं था। ईश्वर सबके लिए एक था। हिन्दू हो या मुसलमान, सबके लिए परमात्मा एक था। सब मनुष्य तो एक-से थे। किन्तु यह 'हरि-बोल' दरिद्रों का सहायक था, नीच जातियों का उद्धारक था, ब्राह्मणों की अहम्मन्यता को प्रेम का पाठ था, यह तो इस्लाम की आड़ में पलने वाली अरबी और ईरानी संस्कृति को भारतीय संस्कृति की मानवीयता की चुनौती थी, मानो भारत की आत्मा अपने ऊपर से विदेशी जूए को उठाकर फेंक देना चाहती थी। और मैंने गाँव-गाँव में उस विद्रोही स्वर को फैलते देखा। बंगवासियों की एकांतिक असहिष्णु अहम्मन्यता इस एक स्वर से खण्डित होती चली जा रही थी। मुझे जीवन का एक नया स्वप्न दिखाई दे रहा था।

ग्राम-ग्राम में किसान मिलते जिन्हें तुर्कों के जज़िया (कर) ने कुचल रखा था। जज़िया इस्लाम की आड़ में विदेशी शासकों द्वारा भारतीय मेहनतकश को लूटने का साधन था। भारतीय दस्तकारी कुचली पड़ी थी। ठौर-ठौर पर जो पीर, ख्वाजा और काज़ी धर्म की आड़ में अहंकार करके राजनैतिक दल बसाए थे, वे सब इस 'हरिबोल' से चिंता में पड़ गए थे। और मैंने पथ में महाराष्ट्र के नामदेव के शिष्यों की भक्ति देखी। सारा भारत इस भीषण अत्याचार के प्रवाह के बाद भी मुझे तो अपराजित दिखाई पड़ा।

राधे गोविंद हरि···

राधे गोविंद राधे···

और···   हरिबोल···

आत्मा का जागरण···

मानो शेष-शय्या से सारंगधर की युगान्तर व्यापिनी निद्रा का त्याग···

और तब घंटियाँ बजने लगीं, और ज्यों-ज्यों हम तुर्कों के गढ़ गंगा-यमुना प्रदेश

में पहुँचने लगे, मैंने देखा कि वहाँ के शूद्र बंग और मगध के बौद्धों की भाँति इस्लाम ग्रहण नहीं कर रहे थे, और साथ ही ब्राह्मणों की कट्टरता का विरोध कर रहे थे, किन्तु अपनी भारतीयता को ही सर्वोपरि मान रहे थे, वहाँ यह घंटियाँ बजती रहीं और फिर घंटों का गंभीर निनाद गूंजने लगा···और जो हमने वृन्दावन में प्रवेश किया मेरा मन तपस्तूप-सा हो गया।

वृद्ध ने कहा : आ गया वृन्दावन ! वृन्दावन !

"जय गोपाल !"

"जय माधव !"

"हरे मुरारे, मधुकैटभारे···"

"नन्द क नन्दन कदम्ब क तरु तर
धिरे धिरे मुरलि बजाव···
समय संकेत—निकेतन बइसल
बेरि बेरि बोलि पठाव···
सामरि तोरा लागि,
अनखन विकल मुरारि
जमुना क तिर उपवन उदवेगल
फिरि फिरि ततहि निहारि
गोरस बेचए अबइत जाइत
जनि जनि पुछ बनमारि
तोहि मतिमान, सुमति, मधुसूदन
वचन सुनहि किछु मोरा
भनइ विद्यापति सुनु बरजोवति
बन्दह नन्द किसोरा···"[1]

1. हे राधे ! नन्दनन्दन श्रीकृष्ण कदम्ब के वृक्ष के नीचे बैठे धीरे-धीरे मुरली बजा रहे हैं।

हे राधे ! संकेत-स्थान में बैठे मिलन का समय हुआ जानकर कृष्ण मुरली के स्वरों में तुम्हें पुकार रहे हैं···

हे राधे ! हे श्यामा ! तुम्हारे कारण मुरारी प्रतिक्षण विकल हो रहे हैं। यमुना तीरस्थ उपवन में अत्यन्त व्याकुलता से वे बारम्बार उसी ओर देखते हैं जिधर तुम्हारे से आने की आशा है···

हे राधे ! गोरस बेचकर लौटने वाली और बेचने जाने वाली प्रत्येक गोपी से वनमाली तुम्हारे सम्बन्ध में पूछ रहे हैं···

हे सुमति, हे चतुर नारी, मेरी कुछ बातें तो सुनो।

मधुसूदन तुम पर अनुरक्त हैं···

विद्यापति कहता है कि युवतियों में श्रेष्ठ राधे ! तुम नंदकिशोर की वंदना करो··

मैं झूम रहा हूँ···

नाम समेतम् कृत संकेतम्

वादयते मृदुवेणुम्

मैंने कहा, "बाबा···यह विद्यापति कौन हैं ?"

"हैं नहीं, वत्स, था कहो।"

"कौन था ?"

"लखिमा का उपास्य !"

"लखिमा कौन थी ?"

"मिथिला की रानी।"

"मैं समझा नहीं।"

वृद्ध ने फिर कहा, "वत्स ! तू नहीं जानता ? इसी अभिनव जयदेव विद्यापति की कविताएँ गाते हुए गौरांग महाप्रभु आनन्द से विह्वल होकर मूर्च्छित तक हो जाते थे। उसके गीतों की माधुरी को सुनेगा ? बोल ! सुनेगा ?"

मैंने कहा, "सुनूँगा।"

तब भोर ने आकाश में जब अपनी लाली बिछाई बाबा ने गाया—

किस विधना ने ऐसी शशिमुखी बाला का निर्माण किया है कि जिसका रूप ऐसा अद्भुत है ! वह कामदेव के शुभ स्वरूप की भाँति अनुपमेय है। वह तो त्रिभुवन को पराजित करने वाली माया की भाँति है।

अत्यन्त सुन्दर है मुख और अंजन से रँगे हुए हैं नेत्र।

सुन्दर कमल की भाँति सुशोभित आनन में वे काजल लगे नयना ऐसे लगते हैं जैसे सुवर्ण कमल में कालसर्पिणी क्रीड़ा कर रही हो। नहीं। वह तो श्रीयुक्त खंजन हैं, नेत्र नहीं, जो सुवर्ण के कमल में क्रीड़ा कर रहे हैं।

नाभि रूपी विव्हर से निकलने वाली रोमराजि ऐसी लगती है जैसे सर्पिणी बाला के सुवासित श्वासों की तृष्णा से भरकर आगे सरकी हो, किन्तु नुकीली नाक को पक्षिराज गरुड़ की चंचु समझकर भय से व्याकुल होकर कुचरूपी दो पर्वतों के बीच के संकीर्ण स्थान में आकर छिप गई हो।

श्रवण, शोषण, तापन, मोहन और उन्माद जैसे शरों में लोक को वश में करने वाला मदन भी तीनों लोक तो तीन ही बाणों से वशीकृत कर रहा है, उसके पास दो बाण तो अब भी शेष हैं। किन्तु विधाता तो बड़ा निष्ठुर है न ? तभी कदाचित् उसने वे दोनों ही बाण इस सुन्दरी के दोनों नेत्रों में रख दिये हैं।

विद्यापति कहता है कि हे सुन्दरी, इस रस को तो कोई-कोई ही जानते हैं। लखिमा देवी के पति राजा सिवसिंह रूपनारायण तो इस रसरीति से भली भाँति परिचित हैं···

और जब आकाश में मेघ चमकती बिजलियाँ भर लाए तब तरुणियों ने

गाया···

हे सखी हे सखी री

भीमकाय सर्प-सी रात्रि काजल उगल रही है···

दुर्वार वज्र गिर रहे हैं···

मन में क्रोध भरकर मेघ गर्जन-तर्जन कर रहे हैं···

हे सखी···

अभिसार तो संशय में पड़ गया है···

सजनी री, वचन छोड़ते मुझे तो लाज आ रही है···

होना होगा सो हो लेगा···

मैं तो सब अंगीकार कर लूंगी···

मेरे मन ! तू मुझे साहस दे न ?

हाय ! मेरा अपवाद होगा जानती हूँ किन्तु हृदय की सीमा तक उत्पन्न होने वाले को कौन जानता है···राहु ग्रसे तो क्या हुआ, चंद्रमा तो अपने प्रिय हरिण का चिह्न धारण किए रहता है···

प्रेम में पराजय नहीं है···

चरणों में सर्प लिपट गया, बाला ने उसे धन्य कहा क्योंकि अब नूपुर तो रोर नहीं करते···

हे सखी सच-सच बताना, प्रेम की अंतिम सीमा क्या है ? कैसा सघनांधकार है कि वहीं-वहीं लौट आती हूँ ? पृथ्वी स्पर्श से ही मिल रही है। दिशा का भ्रम हो गया है···

हे हरि, हे शिव, जब तक प्रेम नहीं उपजता तब तक मन तो ऐसे ही भटका करता है···

विद्यापति कहता है कि सुचेतने ! अभिसार के लिए जाने में देर मत कर, राजा सिवसिंह रूपनारायन इस सकल कला के अवलंब हैं···

मैंने सुना। सारे वृन्दावन ने सुना।

मिथिला का कवि विद्यापति !

लखिमा का उपास्य !

कैसे चुम्बक से खींच लेते थे उसके गीत मेरे मन को !

अब मुझे रिक्ति क्यों नहीं लगती थी !

मेरी यह वेदना तो प्रेम की वेदना थी न ?

मैं तो विरह से व्याकुल हो गया था—

हे सखी ! प्रियतम अब तक लौटकर नहीं आए।

हाय मेरा हृदय भी कैसा वज्र है कि अभी तक विदीर्ण नहीं हुआ।

उनके आने के दिन का चिह्न बनाते-बनाते मेरे तो नख घिस गए और पथ

देखते-देखते नयन अँधा गए···

जब वे मुझे छोडकर गए थे तब मैं अज्ञातयौवना किशोरी थी और अब पूर्ण तरुणी हो गई हूँ—अब वे मेरे पास क्यों नहीं आते ? हाय मेरे दुर्भाग्य !

समय आया है जब रस-विलास का, तभी वे मुझसे दूर हैं।

मेरे तो सारे पुराने गुण भी उन्होंने भुला दिए।

विद्यापति कहता है कि राधे, सुनो ! हम प्रयत्न करके कृष्ण को समझाएँगे कि वह तुम्हारे पास लौटकर आ जाएँ···

माधुरी···

विभोर माधुरी—

अब मैं आपूरित-सा हूँ···और सुनना चाहता हूँ·· मेरा माधव ही न इतनी क्रीड़ा कर रहा है···

और तब मधु आ गया ऋतुराज वसंत···भक्तों में आनन्द की हिलोर-सी बह उठी···

उपवनों मे सुनाई पड़ने लगा वह संगीत जिसके साथ सारे वाद्यों का स्वर प्रतिध्वनित होने लगा। मैंने सुना···

आ गए ऋतुराज वसंत आ गए···

अलिदल माधवी-लताओं की ओर दौड़ चले,

रवि-किरणें कुछ तीव्र हो गईं···

केशर कुसुमों में स्वर्णिम पराग केसर निकल आए···

ऋतुराज के सिंहासन के लिए पीपल की कोमल पत्तियाँ निकल आईं और चंपा के वृक्षों ने अपने मस्तकों पर पुष्पों का छत्र धारण कर लिया···

आम्रवृक्ष की मंजरियाँ ऋतुराज का मुकुट हैं और सभा में विरुदावली गाने वाले वंदीजनों की भाँति कोयल ने पंचम तान छेड़ दी···

नर्त्तकों और गायकों की भाँति मयूर नृत्य कर रहे है और भ्रमर गुंजन भर रहे हैं···

पक्षियों के श्लोक नांदीपाठ करते हैं···

ऋतुराज के आगमन के आनन्द में पुष्पों मे उड़ते पराग वायु पर चंदोवे की भाँति छा गए हैं और मलयाचल से आता दक्षिण पवन बड़े स्नेह से इस पराग को बिखेर रहा है···

कुंदवल्ली का तारु पताका है, पाटल के पल्लवों का तूणीर है और अशोक के नुकीले वृक्ष उसके बाण···

धनुष की भाँति पलाश के पत्तों पर प्रत्यंचा की भाँति लवंग लता की शाखाएँ हैं और ऋतुराज ने रणसज्जा सजाई है···किन्तु शिशिर का सैन्य दल तो पहले ही भंग हो गया···

ऋतुराज ने मधुमक्खियों की सेना से शिशिर को निर्मूल कर दिया।

तो ! कमलिनी का उद्धार किया है और उसने अपने नूतन पल्लव ही ऋतुराज के सिंहासन के लिए प्रदान कर दिए···

कवि विद्यापति कहता है कि ऋतुराज के आगमन से ही वृन्दावन में नवजीवन का संचार हो गया···

और यों दिन पर दिन निकलते गए।

मैं प्रातः उठता और सारा दिन भजन-पूजन में ही निकल जाता। अब मेरा तर्क जाने कहाँ चला गया था।

हम लोग रास रचाते, गाते, बजाते।

उन्हीं दिनों संवाद आया कि दिल्ली में फिर कुछ हलचल हो रही है···लूट और हत्या···

मैंने वृद्ध वैष्णव के चरणों पर सिर झुकाकर कहा, "गुरुदेव ! इतने दिन निकल गए। जीवन की शून्यता तो मिट्टी, संबल भी मिला, किन्तु माधुरी का सार अभी तक नहीं मिला, जो फिर केवल तृप्ति छा जाती।"

वृद्ध क्षण-भर सोचता रहा। फिर उसने कहा, "वत्स !"

"गुरुदेव !"

"तूने प्रेम किया कभी ?"

"किया देव !"

'किससे ?"

"मुरारी से !"

"राधा से नहीं ?"

मैं आहत हुआ।

वृद्ध ने फिर कहा, "तूने विवाह किया ?"

"नहीं देव !"

"तो तूने केवल परमात्मा से ही प्रेम किया !"

मैं समझा नहीं।

मैंने गर्व मे कहा, "हाँ गुरुदेव ! केवल परमात्मा से ही किया।"

"यही भूल की।"

मैं आकाश से गिरा।

"तो फिर ?" मैंने पूछा।

"कभी मनुष्य से भी किया ?"

मैंने सिर झुका लिया।

वृद्ध ने फिर कहा, "वत्स !"

मैंने आँखें उठाईं।

"पूछूँ ?"

मैंने आँखों से इंगित किया, "पूछें।"

वृद्ध ने धीरे से कहा, "नारायण तो व्यापक है, परे हैं, सबसे ही हैं न ?"

"है तो गुरुदेव !"

"तो बता, फिर उन्हें ही नर-तन में आकर क्रीड़ा करने की आवश्यकता क्या थी ? वे जो इतने रस का वर्षण कर गए हैं, आखिर क्यों ? क्यों उन्होंने दीनबन्धु का रूप धारण करके लोक का उद्धार किया ? वत्स ! एक बात पूछूँ ? तू तो बहुत पढ़ा-लिखा है ?"

"पूछें।"

"क्या कभी अवतार के रूप में भगवान केवल क्रीड़ा करने पृथ्वी पर आए हैं ?"

"नहीं गुरुदेव ! वे तो सदैव आनन्द के साथ परोपकार करने आए हैं।"

वृद्ध के मुख पर हास्य की ज्योति-सी बिखर उठी। उसने कहा, "फिर बता कि तुझे तृप्ति क्यों नहीं मिली ? मेरे मुरारी ने प्रेम किया था वत्स ! किन्तु वह स्वार्थरत प्रेम नहीं था जो परिवार की स्त्रीचर्य्या में समाप्त हो जाए। वह तो ऐसा प्रेम था जो दांपत्य के बंधनों को भी स्वीकार नहीं करता था। तू नहीं जानता, जिन भक्तों ने पहले-पहल प्रेम और भक्ति के इस तादात्म्य को देखकर जीवन को अमृत का दान दिया था, उन्हें कितने विरोध सहने पड़े थे ! किन्तु विरोधों की सत्ता सदैव युग-बंधन में होती है। जब व्यक्ति लोक की मर्यादा को उदात्त रूप में देखता है तब वह क्षुद्रताओं से परे उठ जाता है। तू उठ सकेगा ?"

"मैं यत्न करूँगा देव ! नहीं जानता ऐसा किसी ने किया भी है, या नहीं ?"

"क्यों नहीं किया ?"

"किसने किया था देव !"

"विद्यापति ने !"

फिर विद्यापति !!

अभिनव जयदेव !

मेरे मन का कौतूहल जाग उठा।

मैंने कहा, "गुरुदेव ! मुझे संबल चाहिए। महाकवि की वाणी ने मेरी चेतना के विवरों में नाद का अमृत भरा है, मुझे और भी चाहिए। मुझे उसकी रस-माधुरी और चाहिए।"

"मैं केवल इतने ही गीत जानता हूँ। यही मैंने सुने थे।"

"और शेष कहाँ हैं ?"

"मिथिला जाना होगा।"

"किस जगह ?"

"बिसपी। जहाँ महाकवि का निवास-स्थान था।"

"मैं जाऊँगा गुरुदेव !"

"फिर जाओगे ? लौटकर ?"

"हाँ गुरुदेव ! और यहीं लाऊँगा। वृन्दावन के कवि की गीतमालिका यही तो सुगन्ध देगी !"

"जानते हो, फिर दिल्ली में आक्रांता आए हैं ? मार्ग कितना कठिन है।"

"मुझे वहाँ कौन लाए थे गुरुदेव ?"

"वासुदेव !"

"तो क्या वे ही लौटा नहीं लाएँगे ?"

"अवश्य लाएँगे, लाएँगे क्यों नहीं ?" वृद्ध ने यह कहकर अपनी आँखों के कोनों को पोंछ लिया।

वे चले गए।

मैं न जाने किस आनन्द में विभोर बैठा रहा।

और बहुत दिन बाद मैं अब कह सकता हूँ कि उस दिन मैंने जीवन में जितना गुरुत्व अनुभव किया था, उतना ही मुझमें एक हल्कापन भी आ गया था। मैं मानो उस बादल के समान था जिसका रूप भीमाकार पर्वतों की भांति होता है, किन्तु जिसको वायु उड़ाए लिए चलती है और वह कभी इसका विरोध नही करता, क्योंकि वह नीरधर होता है, नीर···जिसे कहते हैं—जीवन —प्राणद—अन्नद···

रात को मुझे बहुत गहरी नींद आई। सवेरे मैंने नींद के हल्के होने पर स्वप्न देखा :

मैं चला जा रहा हूं···

मेरी पीठ पर दो आँखें जमी है···

मैं मुड़कर देखता हूँ···

इन आँखों में ममता है, आशीष है···

ये किसके नेत्र हैं···

और यह तो वैष्णववृद्ध हैं···

और सामने दो आँखें और है···

ये तो स्त्री की आँखें हैं···

ये किसके नयन हैं···

लखिमा के···

लखिमा के···

विद्यापति इसका उपास्य ही था न ?

फिर ये क्यों पुलक रहे हैं ?

मैं पूछता हूँ···सुनो सुनो···

नेत्र अपलक हैं···
मुझे क्यों देखते हो···
तुम मेरे कवि को ढूंढ़ने आ रहे हो न ?
हाँ देवी···
मैंने यही कहा था···
क्या कहा था···
कवि अमर होगा···
अमर ! अमर क्या है ?
मनुष्य का प्रेम···
क्या यह सत्य है···
हाँ, वह देह की नश्वरता से ऊँचा है···
ऊँचा···ऊँचा···

मैं ऊपर उठने लगा, तभी मुझे लगा मैं गिर जाऊँगा। आतंक से मैं चिल्ला उठा।

नींद टूट गई।

मैंने वृद्ध के चरणों में प्रणाम किया, फिर समस्त वृन्दावन की भूमि को प्रणाम किया, उसकी रज को माथे में लगाया और वृद्ध से कहा, "गुरुदेव, आज्ञा दें···"

वृद्ध ने भर्राए स्वर से कहा, "जनार्दन तेरी रक्षा करें।"

वृद्ध की आंखों में पानी भर आया था। वे मुझे देखते रहे, देखते रहे···

और मैं चल पड़ा हूँ—नाव बह रही है—उसी यमुना में।

छूट गया है वृन्दावन···वे मंदिर···वे संध्याएँ···

मैं कहाँ जा रहा हूँ ?

बिसपी।

देखा भी तो नहीं है ? कहाँ होगा वह ! कब तक चलना होगा ?

क्या मैं वहाँ पहुँच भी सकूंगा कभी ?

यह कैसा संशय है मुझमें ?

क्यों डरूँ मैं ? क्योंकि मेरे साथ कोई नहीं है ?

मन कहता है। गा ! गा ! तेरे साथ मुरारी हैं···

और मैं गाता हूँ !

नाव डोलाव अहीरे
जिबइत न पाओब तीरे

स्वर नीरे लो···

मेरा गीत सुनकर माँझी भी मोटे स्वर से गाते हैं···

खर नीरे लो···

मैं फिर गाता हूँ :

खेवा न लेइए मोले
हँसि हँसि की दहु बोले

जिब डोले लो···

माँझी मोटे स्वर में दुहराते हैं :

जिब डोले लो···

जब तक यह स्वर यमुना के तीरों को छूकर मंझधार तक आता है, मैं गाने लगता हूँ :

किए बिके ऐलिहु आपे
बठेलिह मोहि वड़ सापे

मो· ·ापेलो···

माँझी भर्रायि स्वर मे गा उठते है : मोरे पापेलो···

अब की बार स्वर लबा खिचता है :

मै फिर छेड़ता हूँ···

माँझी फिर गाते हैं···

और यों ही हम गाते जाते है···यमुना गा रही है···गंगा गाएगी और जब फिर मैं बिसपी पहुँचूंगा तब मेरा रोम-रोम गाएगा···धरती गाएगी···भगवान मनुष्य बनकर गाने लगेगा···जैसे चुबक को लोहे के टुकड़े से रगड़ते रहने से अन्त में वह लोहे का टुकड़ा भी चुबक बन जाता है···[1]

1, गीत का अर्थ : हे अहीर (कृष्ण) तू ही नाव को बहुत हिला-डुला रहा है, तभी तो नाव किनारे नहीं लगती। जलधार कितनी प्रखर है! तूने कोई नाव मोल तो नहीं ले ली··· यह सुन दोनों हँस पड़े···जिय डोलने लगे···(राधा कहती है) मैं क्या तुम्हारे हाथ बिक गई हूँ···हाय मेरा शाप न लो तुम···विधाता बड़ा दुख देता है···

चुंबक की यात्रा

यही विद्यापति की जन्मभूमि है। यही मिथिला की गौरव-भूमि है। मैं आ गया हूँ। कितना अज्ञात, फिर भी मन के कितने समीप ! कितना अनजाना ! फिर भी कितना परिचित ! ठीक जैसे मुरारी। दूर, फिर भी मन में। अज्ञात ही होने पर भी मन का सबसे बड़ा संबल है।

जब मैं पहुँचा, रात आने लगी थी।

मैं बढ़ता जाता था।

एक ओर खेत लहलहा रहे थे। मैंने वहाँ कुछ कृषकों को देखा। जब मैं समीप गया, वे श्रद्धा से नमित हुए।

"कहाँ जाएँगे ?"

मैंने कहा, "विद्यापति के घर !"

कुछ लोग हँसे।

एक वृद्ध ने कहा, "वे तो गुजर गए, सौ वर्ष हुए।"

सौ वर्ष !

"हाँ, हाँ, जानता हूँ।"

"ब्राह्मण हैं ?"

"हाँ।"

"तो ठहरें यहीं, रात हो गई है। बिसपी अभी तीन कोस है। जाड़ा पड़ रहा है। कहाँ जाएंगे अभी।" फिर कहा, "मंगल !"

"हाँ काका !"

अरे देवता आए हैं। लोटा डोर ला। लोटा माँज।" फिर मुझसे मुड़कर कहा, "देवता ! कहाँ से आते हैं ?"

"वृन्दावन से।"

"हाँ हाँ !!" हूहू-सी मच गई।

"कृष्ण की भूमि से ? ब्रजभूमि से ! धन्य भाग ! दर्शन दिए।"

"कैसी होगी।"

"महाकवि ने तो उसी के लिए सब कुछ न्यौछावर कर दिया।"

मुझे लगा, विद्यापति मरा नहीं था। वह जीवित था। वे मूर्ख हैं जो समझते हैं कि मनुष्य तभी तक जीवित रहता है जब तक उसकी देह रहती है। वास्तव में जीवित रहने वाले तो उसके सुकृत हैं, उसका नाम है। वही तो इस जगत् में जीवित रहता है क्योंकि वही मनुष्यों के हृदयों में बाद में भी उसके प्रति एक आदर की भावना को जागृत किया करता है।

मैंने शीतल जल से स्नान किया और तब खिचड़ी बनाकर खाई और फिर मैं भी अलाव के पास जा बैठा। लपटों का ताप मुझे बहुत अच्छा लगा।

एक बूढ़े किसान ने कहा, "देवता ! बिसपी कैसे जा रहे हैं ?"

मैंने कहा, "मैं महाकवि विद्यापति की कविताएँ लेने जा रहा हूँ। उन्हें लेकर फिर वृन्दावन जाऊँगा।"

"बड़ा पुण्य है, बड़ा पुण्य है। कवि तो बड़े अच्छे हृदय के आदमी थे। बहुत बड़े आदमी थे, लेकिन राजा के साथ बैठने का तनिक भी गर्व नहीं था। वे तो हम लोगों से आकर मिलते थे। मेरे बाबा ने उन्हें देखा था। तब कवि बूढ़े हो गए थे। विद्यपति ठाकुर के पास गरीब अपनी विपदाएँ जाकर सुनाते थे तो वे तुरन्त सहायता करते थे या राजा से कराते थे। उन दिनों मिथिला पर तुर्कों का राज्य नहीं था। हमारी मिथिला स्वतन्त्र थी। चारों ओर मुसलमानी राज्य था, लेकिन हमारी मिथिला सबके बीच में अकेली थी।"

फिर चर्चा चल पड़ी।

वे मुझे सुनाने लगे।

× × ×

एक रात। घना अँधेरा।

कवि घूमने निकले सो देर हो गई।

बादल-से छा गए।

अनूभा थी एक, पड़ोस के गाँव की। कवि ने घोर-घुप्प अँधेरा देखा तो जो गाँव में आश्रय लेने बढ़े तो उसी के द्वार पर जा पहुँचे। सुनते क्या हैं एक पुरुष बाहर अलिद में खड़ा है और अनूभा कह रही थी, "हे यात्री, अब जाओगे ?"

यात्री कह रहा था, "क्यों, क्या हुआ ?"

"अरे," अनूभा ने कहा, "यहाँ तो पड़ोसियों में तनिक भी प्रेम तक नहीं। मैं क्या करूँ, मेरे पति मुझे छोड़कर तभी परदेश चले गए, जब मैं छोटी ही थी। कई बरस हुए। वे होते तो तुम्हारा सत्कार करती। और मेरी सास है, उसे रतौंधी आती है और बहरी भी है। है भी मेरे पति की सौतेली माँ।"

यात्री सोचने लगा।

अनूभा ने कहा, "जागते रहना रात-भर। यहाँ चोर बहुत हैं इस गाँव में।

अँधेरी रात वैसे है। तुम बाहर पड़े हो।"

यात्री ने कहा, "तो क्या यहाँ कोतवाल नहीं ?"

"अरे कभी भूलकर भी तो रात को भ्रमण नहीं करता वह। कोई कुछ कहे, वह क्या कभी किसी की सुनता है ! राजा तक अपराधियों को दंड नहीं देता।"

"लेकिन," यात्री ने कहा, "मैं ठहरूँगा तो लोग कुछ···"

"कहेंगे क्या ? सब हमारी ही जाति के तो हैं। कोई क्या कहेगा ? यात्री को आपत्ति में स्थान देना क्या अपराध है ?"

यात्री यह सुनकर घर के भीतर चला गया।

कवि मन-ही-मन बहुत हँसे। चुपचाप लौट आए। मेला हुआ। कवि तो बड़े भारी रसिक थे।

लोगों ने घेर लिया। नट और नटी तब अनेक मजाक कर रहे थे। लोग कहने लगे, "ठाकुर दादा ! एक मजाक की होगी।" बहुत बड़े आदमी थे, फिर भी सबसे निर्द्वन्द्व हृदय मे मिलते थे। वहीं पास में घूँघट किए खड़ी थी एक स्त्री। वह अनूभा थी। मेले में आई थी।

कवि ने कहा, "तो हास-विलास की होगी ?"

"हाँ, ठाकुर दादा ! यहाँ तो बस !"

"तो सुनो" कहकर कवि ने सुनाई—

हे पथिक, मैं पूर्ण युवती हूँ और मेरा पति विदेश गया हुआ है। यहाँ पड़ोस में प्रेम छू तक नहीं गया। मेरी सास विमाता, बहरी, रतौंधी वाली है, हे पथिक जागते रहो···[1]

जब कविता समाप्त हो गई, सब खूब हँसे।

1. हम जुबती पति गेलाह बिदेस
जम नहि बसए पड़ोसियाक लेस
सासु दोसरि किछुओ नहि जान
आँखि रतौंधि सुनए नहि कान
जागहु पथिक जाहु जनु भोर
राति अँधार गाम बड़ा चोर
भारमहु भोरि न देय कोतवाल
काहु क केओ नहि करए बिचार
अधिप न कर अपराधहु साति
पुरुष महते सब हमर सजाति
विद्यापति कवि यह रस गाव
उकुतिहु अबला भाव जनाव—

कवि वहाँ से हट गए।

आम की छाया में खड़े थे, कि एक स्त्री ने आकर पाँव छुए। देखा कवि ने। अनूभा थी।

भरे गले से स्त्री ने कहा, "तुम्हें सरस्वती मिल गई न ठाकुर दादा ? सब कुछ जानते हो न ?"

कवि ने स्वर से पहचाना। कहा, "हाँ।" मन-ही-मन फिर हँसे।

तब स्त्री ने कहा, तो कैसे कवि हो देवता ! मेरे पति को नहीं बुला सकते ? "तुम तो जानते होंगे वे कहाँ हैं !"

शायद वह रो रही थी।

विद्यापति की आँखें वेदना से भर आईं।

कहा, "रोती क्यों हो ? वह भी आएगा। एक दिन आएगा।"

"आएगा ?" स्त्री ने कहा।

"आएगा।"

वह चली गई।

दूसरे दिन गंगा के किनारे उसका शव मिला। कवि ने देखा तो बहुत ही व्याकुल हुए। उसके बाद उसकी आदत दूसरी हो गई। जगन्नाथ मिश्र बड़े विद्वान थे बिसपी के। उनकी एक कन्या थी। लड़की कोई तेरह वर्ष की थी। लोभ के मारे मिश्र को ऐसे पिता का पुत्र मिला जो गाँठ का पूरा बना हुआ था। मिश्र रुपया लेकर तैयार हो गए उसके पुत्र को कन्या देने को। दूल्हा पाँच बरस का। और पता चला विद्यपति को। उन्होंने तलाश किया तो मालूम हुआ कि लडके का बाप छलिया था, ऐसा धनी भी न था। जगन्नाथ ऊँचे कुल स किसी प्रकार सम्बन्ध जोड़कर ऊँची नाक चाहता था। जगन्नाथ दरिद्र था तो भी पूर्वजों का नाम पुजता आ रहा था।

कवि ने देखा, लड़की का जीवन बिगड़ेगा। एक दिन एक कविता लिखकर लड़कों को रटा दी। लड़के जगन्नाथ के घर के सामने गाने लगे—

"मेरे पिया बालक हैं, मैं तरुणी हूँ। जाने कौन चूक हो गई जो स्त्री होकर जन्म लिया। सब सखियाँ दक्षिण देश के सुन्दर वस्त्र पहनती है, और मैं अपने पिया को देखती हूँ तो मेरे रोम-रोम में आग सुलग उठती है। हे सखी, मैं पिया को गोदी में लेकर बाजार जाती हूँ तो हाट के लोग पूछते हैं कि यह तेरा कौन है ? मैं कहती हूँ कि न मेरा देवर है, न छोटा भाई, पूर्व जन्म के पापों का फल मेरा बालम है। लोग गोदी में चढ़े मेरे पति को देखकर पूछते हैं कि बच्चे ! तू क्या स्त्री का भाई है जो मायके से समाचार लेने आया है। किसी का पिता धनी होता है, उसके पास अनेक गायें होती हैं, वह तो दूध पिला-पिला के जमाई को झट से पुष्ट कर लेता है, परन्तु सखी ! मेरे पिता तो निर्धन हैं, न उनके पास टका है, न दूध

देने वाली गायें हैं। मैं इस जमाई को कैसे जल्दी से तैयार कर दूं। विद्यापति कहता है, सुन ब्रज नारी ! धीरज धर तो तुझे मुरारी अवश्य मिलेंगे।

कविता गाने की देर थी कि सब हँसने लगे। जगन्नाथ की स्त्री ने तो जगन्नाथ की आफत कर दी। वह विवाह रुक गया।

× × ×

वे हँस पड़े।

"सच !" मैंने कहा, "हमारे देश का बाल-विवाह है भी बहुत बुरा।"

फिर एक ने कहा, तब किसी और ने कुछ सुनाया और मैंने देखा कि सारी रात ही इस तरह बातों में बीत गई। इस सबमें केवल महाकवि की दन्तकथाएँ ही थीं। उनकी कथाएँ। किस प्रकार आबाल-वृद्ध में प्रचलित थी, यह जानकर मेरे मन में हर्ष की हिलोरें उठने लगीं।

स्नान-ध्यान करके मैं बिसपी चल पड़ा।

यही है विद्यापति का अर्पित ग्राम।

जब मैं उनके भवन पहुँचा, विशाल अट्टालिका दिखाई दी। अब भी वहाँ वैभव था।

मुझे देखकर एक बालक खेलता हुआ आ गया।

मैंने कहा, "सुनो भैया ! यहाँ आओ।"

बालक अबोध-सा हट गया।

एक व्यक्ति आया।

"कौन हैं आप ?"

"वृन्दावन से आया यात्री हूं। तुम्हारे स्वामी से मिलना चाहता हूँ।"

शायद वह कारिन्दा था। भीतर लौट गया।

कुछ देर बाद एक और नौकर ने आकर कहा, "चलिए। स्वामी बुलाते हैं।"

मैं भीतर चला गया।

एक विशाल प्रकोष्ठ था। उसमें नीचे कालीन बिछा हुआ था। छत से कांच के कमल लटक रहे थे। प्रकोष्ठ बड़ा सुसज्जित था।

मुझे देखकर गृहस्वामी उठ आए। वे लगभग 40 वर्ष के थे। बोले, "ब्राह्मण हैं ?"

मैंने कहा, "हाँ, ब्राह्मण ही हूँ।"

"स्वागत है," कहकर उन्होंने पुकारा, "जल लाओ।"

नौकर जल ले आए। मेरे पांव धुलाने लगे थे। मैं संकोच से भर गया।

मैंने कहा, "रहने दीजिए, रहने दीजिए।"

उन्होंने कहा, "सुदूर वृन्दावन की जो धूल आप अकस्मात् ही इस घर में ले

आए हैं उसे आपसे लिए बिना क्या छोड़ दूँगा !''

वे मुस्करा दिए।

जब हम बैठ गए तब उन्होंने कहा, "कहें देवता ! वैसे ही यात्रा में रुके, या कुछ उद्देश्य भी था ?"

"आया था महाकवि की काव्य-कृतियों की नकल उतारकर फिर माधव के धाम में ले जाने। आप उनके…"

"प्रपौत्र हूँ। पन्द्रह वर्ष पूर्व ही पिता का देहान्त हुआ, तब से मैं ही यहाँ हूँ। वृन्दावन मे आए हैं आप, इसलिए…धन्य हो, धन्य हो…कैसे मनस्वी है, कैसे-कैसे तपस्वी हैं…धन्य हो…"

"और महाकवि क्या दैवी चमत्कार की भाँति नहीं थे…"

इसी समय वही बालक खेलता हुआ आया और गृहस्वामी के पास बैठ गया। गृहस्वामी ने कहा, "यह बालक देखते हैं न ? स्वयं साक्षात् देवाधिदेव महादेव का वंशज है।"

मैं चकित-सा रह गया। मैं इतना पढ़ा था किन्तु कभी कार्त्तिकेय और गणेश की वंशावली नहीं पढ़ी थी, और वह भी मुझे अकस्मात् ही मिथिला के बिसपी ग्राम में ठेठ स्वर्गीय विद्यापति के गृह में मिलेगी, यह तो ऐसी बात थी जिसका मैं उस समय भी विश्वास नहीं कर सका। हम नित्य चमत्कारों की अवश्य सुनते हैं, किन्तु जब वह सामने आ जाता है तब पहले उसे तर्क की कसौटी पर कसने की चेष्टा करते हैं।

मैंने उनकी ओर आँख उठाई कि वे कहीं मुस्करा तो नहीं रहे हैं, किन्तु शायद वे भाँप गए। बोले, "शायद आपको विश्वास नहीं हुआ। तो सुनिए। महाकवि का एक सेवक था। जिसका नाम उदना था। उसे कविपत्नी पसन्द नहीं करती थीं क्योंकि वह बहुत भोला था। यद्यपि वह कार्यपटु था और स्वामी का अत्यन्त कृपापात्र था किन्तु कविपत्नी को हो सकता है इसीसे ईर्ष्या रही हो, वे उसे सदा ही डाँटा-फटकारा करती थीं। एक दिन महाकवि कहीं गए थे, उस समय कविपत्नी ने रोष से उदना को भगा दिया। जब कवि लौटे तो बहुत ही व्यथित हुए, उन्होंने अब गीत लिखा था—हाय मेरा उदना कहाँ चला गया।"

गृहस्वामी कुछ क्षण मेरी ओर देखते रहे और फिर उन्होंने कहा, "वह उदना और कोई नहीं, महाकवि की भक्ति से प्रसन्न होकर नौकर के रूप में आकर भक्त की सेवा करने वाले औढर दानी देवाधिदेव महादेव ही थे।"

मैं स्तम्भित-सा बैठा रहा। एक मन करता था कह दूँ असम्भव, दूसरा मन याद करता था कवि की महानता को। अन्त में यही स्वर आया—हो सकता है। इस लोक में अनेक आश्चर्य हैं। यह भी हो सकता है। बड़ों की बातें भी बड़ी ही होती हैं।

आँखें कुछ झुक-सी गईं उनकी।

"बोले, "उदना नहीं मिला। कई वर्ष बीत गए। खोज जारी रही। अन्त में मुझे पड़ोस के ग्राम में यह बालक मिला। यह उदना का ही वंशज है।"

मैंने दीर्घ निश्वास लिया।

गृहस्वामी ने कहा, "देवता! आपका आगमन शुभ है। रहिए और आपका कार्य सम्पन्न होगा।"

इस प्रकार मैं वहीं रहने लगा और गृहस्वामी ने मुझे विद्यापति के जीवन की अनेक दन्तकथाएँ सुनाईं। एक दिन बोले, "कितने गीतों की नकल कर ली आपने?"

मैंने कहा, "हज़ार से भी ऊपर हो चुके हैं।"

"सौ बरस हो गए न? कुछ खो भी गए हैं।"

"अब नहीं खोने चाहिए, कैसा अपार लालित्य है!"

वे कुछ सोचने लगे, फिर बोले, "सुल्तान का शासन है न? अब तो अनेक बन्धन हैं। पहले हमारा राजा था।"

फिर जाने क्यों वे चुप हो गए।

मैं सोचता रहा।

फिर बोले, "अच्छा, कल मैं भी आपके साथ पुस्तकालय चलूंगा और पुस्तकें देखूंगा।"

मैंने कहा, "इससे बढ़कर क्या होगा?"

दूसरे दिन हम पुस्तकालय में गए। भूर्जपत्र और तालपत्र पर लिखी कई पुस्तकें काठों के बीच में बँधी पड़ी थीं।

गृहस्वामी ने बैठते हुए कहा, "विराजें।"

मैं बैठ गया।

मैंने देखा, चारों ओर पुस्तकें ही पुस्तकें भरी पड़ी थीं।

"हाँ," वे बोले, "यह हमारा कुल-परम्परा से आता ग्रन्थागार है। स्वयं कर्मादित्य ठाकुर बड़े पण्डित थे। उनके बाद आज मैं दसवीं पीढ़ी पर हूँ। निरन्तर पुस्तकें भरती ही जाती हैं। फिर महाकवि को किस बात की कमी थी!"

मैंने स्वीकार किया।

गृहस्वामी ने एक ग्रन्थ की ओर इंगित करके कहा, "यह देखिए, महा-महोपाध्याय पक्षधर मिश्र का लिखा विष्णुपुराण है। लक्ष्मण संवत् 354 का लिखा हुआ है। यह महाकवि के सहपाठी थे। महामहोपाध्याय हरिमिश्र महाकवि के गुरु थे। पहले महाकवि दार्शनिक थे। जब उन्होंने अपनी शिक्षा समाप्त की तो वे अपने पिता के साथ राजा गणेश्वर की सभा में जाने लगे। महाकवि ने लम्बी आयु पाई थी। उनके समय में अनेक राजा बदल गए।

"राजा गणेश्वर के उपरान्त कीर्त्तिसिंह राजा और उनके समय में महाकवि अपने खेलन उपनाम से कविता लिखते थे। जिस समय राजा कीर्त्तिसिंह और उनके भ्राता वीरसिंह जौनपुर के सुल्तान इब्राहीमशाह से मिलने गए थे तब तरुण कवि भी साथ थे।"

यह कहकर गृहस्वामी उठे और भीतर चले गए और लौटे तो उनके हाथ में एक ताम्रपत्र था।

बोले, "इसे पढ़कर देखिए।"

मैंने लेकर प्रकाश की ओर मोड़कर पढ़ा। अन्त में मैं ज़ोर से पढ़ गया :

श्री विद्यापतिशर्मणे सुकवये वाणी रसास्वादवि—

द्वीर श्री शिवसिंह देव नृपतिर्ग्रामं ददे शासनम्।

गृहस्वामी ने मेरी ओर देखा। कितनी गौरव की भावना थी उन नयनों में!

मैंने ताम्रपत्र दे दिया। वे हाथ में लिए बैठे-बैठे कुछ सोचने लगे। फिर बोले, "राजा शिवसिंह के उपरान्त फिर कवि का मन काव्य में अधिक नहीं लगा।"

फिर सहसा वे जाग उठे।

बोले, "अरे! मैंने पुस्तकें तो दिखाई ही नहीं। ये देखिए। आप तो समझते हैं कि महाकवि मैथिली के ही कवि थे। यही न? यह देखिए इधर। यह भू-परिक्रमा है जिसमें बलराम के शापग्रस्त होने के बाद प्रायश्चित्त के लिए तीर्थों में जाने की कथा बहुत ही मनोहर ढँग से कही गई है। संस्कृत में है। यह सब मैं आपको उनकी संस्कृत की रचनाएँ ही दिखाऊँगा। और यह है पुरुष परीक्षा। राजा सिवसिंह के समय में लिखी गई। इसमें महमूद गज़नवी से लेकर तत्कालीन घटनाएँ वर्णित हैं तथा पुरुषों के लक्षणों का भी उल्लेख है। यह लिखनावली है जो राजबनौली के राजा पुरादित्य के लिए लिखी गई थी। इनमें पत्र लिखने की विधि इत्यादि है। तब के बहुत-से राजाओं और गण्यमान्य लोगों के भी इसमें उल्लेख हैं। और यह शैव सर्वस्वस्तर राजा पद्मसिंह की रानी विश्वासदेवी के लिए लिखी गई थी। हरिद्वार से गंगासागर के समस्त तीर्थों के माहात्म्य को प्रकट करने वाली यह गंगावाक्यावली भी उसी रानी के लिए कवि ने लिखी थी। आपको संभवतः ज्ञात नहीं, मैं आपको बता दूं। महाकवि के आश्रयदाता राजा सिवसिंह की मृत्यु के उपरान्त उनके कनिष्ठ भ्राता पद्मसिंह का शासन स्थापित हुआ किन्तु तब के मुसलमानों के आक्रमण को नहीं रोक सके। विद्यापति को स्वयं मुसलमानों का बन्दी बनकर रहना पड़ा था। उन्होंने देश में आतंक देखा था। कहते हैं फिर कवि ने शृंगारिक कविताएँ अवश्य लिखीं किन्तु उसमें उनका मन अधिक नहीं रमा।

"राजा गणेश्वर के समय में वे बालक थे, कीर्त्तिसिंह के समय तरुण हुए।

कीर्त्तिसिंह निःसंतान मरे। उनके उपरान्त कुछ काल को राजा भर्वसिंह सिंहासन पर आए। उनके पुत्र देवसिंह जब सिंहासन पर आए तब सिवसिंह शासन संभालने लगे। महाकवि राजा सिर्वसिंह के समय में युवक थे। पद्मसिंह दिल्ली सुल्तान के अधीन थे। उनके कोई पुत्र नहीं हुआ। उनकी पत्नी रानी विश्वासदेवी ही ने राज्य सँभाला। इसी समय म्लेच्छों से अपने धर्म की रक्षा में लगे कवि ने कई धार्मिक ग्रन्थ लिखे। रानी के निस्संतान मरने पर मिथिला का राज्य मिथिला के नये राजवंश के संस्थापक कामेश्वर ठाकुर के द्वितीय पुत्र भर्वसिंह की तीसरी स्त्री के पुत्र हरिसिंह को मिला। हरिसिंह के उपरान्त दर्पनारायण नरसिंहदेव राजा हुए। उनके बाद धीरसिंह, फिर उनके बाद उनके छोटे भाई भैरवसिंह ने राज्य किया।"

मैं उस समय गृहस्वामी की जीभ पर रखे वृत्तांत को सुनकर चकित हो गया। और वे कहे जा रहे थे : "भैरवसिंह के दो पुत्र थे महाराज पुरुषोत्तम और रामभद्रसिंह गरुड़ नारायण। इन दोनों ने ही एक-दूसरे के उपरान्त क्रम से राज्य किया। धीरसिंह के दो पुत्र थे राघवसिंह और जगन्नारायणसिंह। फिर इन्होंने राज्य किया। जगन्नारायणसिंह के बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र रुद्रनारायणसिंह सिंहासन पर बैठे। इन्हीं के समय में महाकवि का देहान्त हुआ था।"

गृहस्वामी ने थककर एक साँस ली।

"कवि दीर्घायु थे," मैंने कहा, "बहुत संसार देखा उन्होंने !"

"किन्तु," गृहस्वामी ने गम्भीरता से कहा, "इतना लम्बा जीवन सदैव ही दुखदायी हो जाया करता है न ?"

मैंने कहा, "निस्संदेह।"

गृहस्वामी विचार-मग्न से कहते गए, "कैसा वैभव था तब ? अब क्या है। तब मिथिला के राजा बिसपी आते थे और अब हमें कौन पूछता है !"

फिर जैसे वह सहसा ही सँभल गए, उन्होंने इधर-उधर देखा कि कहीं कोई सुन तो नहीं रहा था। एक सेवक तभी ताड़ का बड़ा पंखा झलने के लिए ले आया।

उसे देखकर गृहस्वामी ने कहा, "क्यों रे लखना ! वह आ गया वीरसिंह ?"

"हाँ, प्रभु !"

"क्या कहा उन लोगों ने ?"

"वे कहते हैं कि हमें इसी धरती को जोतते तीन पीढ़ी हो गईं। हमें विद्यापति ठाकुर ने धरती दी थी। अब हमारे स्वामी हमसे क्यों छीनते हैं ? हम क्या बिसपी के नहीं, या उनकी प्रजा नहीं ?"

गृहस्वामी ने कहा, "अब ठीक हुए न ? किन्तु वे तो धमकी देते थे न कि हम मुसलमान हो जाएँगे और देखें ठाकुर हमारा क्या करते हैं।" फिर वे मुड़कर

मुझसे बोले, "बौद्ध हैं, बौद्ध। समझते हैं कि मुसलमान बन जाने से हमें डरा सकेंगे। हाँ, जगह-जगह ऐसा हो रहा है। ऐसे नये मुसलमानों को दिल्ली के सुल्तानों से बड़ी रियायतें मिलती हैं। अब आप ही कहिए। बौद्ध है, परन्तु वैसे जाति के तेली हैं। मैं पूछता हूँ, तेली क्या बराबरी में बिठाया जा सकता है? वे तो कहते हैं कि हम नीच जाति बनकर क्यों रहें? हम तो मुसलमान होकर शासकों की जाति के हो जाएँगे। और जानते हैं आप? उनसे भी नीच जाति के चमार हैं। एक भी तो मुसलमान नहीं होता। इन्होंने तो साफ कह दिया कि मुसलमान क्यों हों? हमें तो हमारा भगवान प्यारा है। गौरांग महाप्रभु के शिष्यों ने तो नीच जातियों को बड़ा भारी सहारा दिया है।"

मैंने कहा "मैं तो सब जगह घूमा हूँ। दक्षिण में, पश्चिम में, सब ही ओर से भक्ति का प्रवाह बहा आ रहा है। मुझसे तो इस आर्षसंस्कृति को विनष्ट होते नहीं देखा जाता। हम क्या मुसलमानों को बुरा कहते हैं? किन्तु वे हमारे धर्म का नाश क्यो करते हैं?"

हठात् गृहस्वामी ने कहा, "लखना! तेलियों को बौद्ध धर्म छोड़कर वैष्णव नहीं बनवा सकता? इनाम मिलेगा।"

लखना ने हँसकर कहा, "वे कब उधर जाना चाहते हैं स्वामी! सोचा था हम डर जाएँगे। इधर कुछ मुसलमान वह बंगीय बौद्धों का 'मुहम्मदपुराण' लेकर प्रचार कर रहे हैं कि मुहम्मद तो बोधिसत्व का अवतार है..."

वे दोनों हँसे। जब लखना चला गया, गृहस्वामी ने फिर सामने रखी किताबों को एक-एक करके दिखाना प्रारम्भ किया। उन्होंने अपने माथे पर आई बालों की लट हटाकर कहा, "हाँ तो, राजा नरसिंहदेव की आज्ञा से महाकवि ने विभाग-सार लिखा जिसमें सम्पत्ति के विभाजन और अधिकारों का वर्णन है। दान-वाक्यावली में दान की व्याख्या है, विधि है। ये गयापत्तलक है, जिसमें गया श्राद्ध की विधि है। ये दुर्गाभक्ति तरंगिणी, शैवसर्वस्वसार प्रमाणभूत हैं। वह वर्ष-कृत्य है जिसमें समस्त वर्ष के पर्वों का विधान है। और यह उनका पुराण संग्रह नामक ग्रन्थ है।"

इससे तो मैं ऊब चुका था। गृहस्वामी बड़े मग्न थे, किन्तु मुझे न जाने क्यों इस सबमें दिलचस्पी नहीं आ रही थी। तभी उन्होंने कहा, "और यह कीर्त्तिलता और कीर्त्तिपताका उनकी अवहट्ट की पुस्तकें हैं। राजा कीर्त्तिसिंह के युद्ध-विजय, राज्याभिषेक आदि अन्य घटनाओं का इनमें उल्लेख है।"

यह तो मेरा विद्यापति नहीं था। मुझे तो वह विद्यापति चाहिए था जो कि इन युग-बन्धनों के परे मानवमात्र की वस्तु हो चुका था। पाण्डित्य संसार में दुर्लभ नहीं, कवित्व दुर्लभ है। पनघट के पाषाण भी पनिहारिनों की रस्सियों से घिस जाते हैं, फिर मनुष्य-बुद्धि का क्या? यह विद्यापति तो एक ब्राह्मणमात्र था, इसमें

उसने संसार को नवीनता क्या दी ? कुछ नहीं। मनुष्य की भाव-सृष्टि में उसने और क्या जोड़ा ? और गृहस्वामी इसी पर गर्व कर रहे हैं। ठीक ही तो है, वे समझते हैं कि जो सम्पत्ति वे भोग रहे हैं वह उसी पाण्डित्य का परिणाम है। किन्तु गृहस्वामी उस कला को नहीं देख पा रहे जिसके द्वारा विद्यापति ने केवल बिसपी ग्राम की सम्पत्ति ही अर्जित नहीं की जिसे गृहस्वामी खा रहे हैं, वरन् ऐसी सार्वभौमिक सम्पत्ति कमाई जो जन-मन के लिए सदा के लिए अक्षय आनन्द का स्रोत बन गई है। गधा भी जब बोझ ढोते-ढोते आदी हो जाता है तब चुपचाप ही स्वामी का सामान गन्तव्य पर पहुँचा देता है। ऐसा ही तो है यह पाण्डित्य। मैं वेदों का पण्डित क्या हूँ ? अध्ययन विकास कर सकता है, किन्तु वह कभी भी मंजिल नहीं है। वह मनुष्य के बाह्य का आडम्बर रच सकता है, उसे सभ्य बना सकता है, किन्तु उसे सुसंस्कृत नहीं बना सकता। वह काम तो मानवीय संवेदनाओं के द्वारा ही पूर्ण होता है।

मैं तो कह पा चुका था, जिसके लिए मैं इतनी दूर से आया था। क्या है विद्यापति ? कुछ नहीं। उसके जीवन का ही क्या महत्त्व है ! इस आर्यदेश में सदैव ही लोक-कल्याण की भावना में मग्न दार्शनिक और कवियों ने अनाम रहकर ही मानव को अक्षय संस्कृति दान की है, और वे कभी किसी ऐहिक सुख के लिए झुके नहीं, क्योंकि उनमें आत्मबल था, उन्होंने अपनी दैहिक सत्ता के बन्धन को जितना जीता जा सकता था, जीत लिया था। मिथिला की सभा में न जाने कितने कवि थे, किन्तु वे उन्हीं प्राचीरों में लुप्त हो गए। प्रतिभा कितने भी बन्धनों में क्यों न रहे, यदि वह सच्ची साधना की पुत्री है, तो पत्थर में से भी पानी निकाल लेती है, यश तब मिलता है जब उसके लिए जिया नहीं जाता। जब अपनी हीनता की भावना लुप्त हो जाती है और कर्त्तव्यहीनता के स्थान पर ईर्ष्या का लोप करने वाली, स्पर्धा के अहं को नष्ट करने वाली कर्म की चेतना जाग उठती है, तब व्यक्ति में समर्पण ही संतोष बन जाता है, उसे ही देखकर संसार अपना शीश झुकाता है। यश तो पाषाण की मूर्त्ति में से उजागर होता है, यदि कलाकार पत्थर को भी अपने मन की आकृति देने में सफल हो जाता है।

पता नहीं कब तक मैं सोचता रहा, अन्त में गृहस्वामी ही मुझे ले आए। अनेक दिन फिर बीत गए। नित्य वे मुझे विद्यापति के सम्बन्ध की प्रचलित कथाएं सुनाया करते। यहाँ तक कि फिर तो स्वयं उनकी कविताएँ पढ़ते समय मुझे लगता मेरे सामने कवि ही मूर्तिमान रूप से उपस्थित है।

रात हो गई थी उस समय अँधेरी। मैं सो रहा था। दूर निर्जन में मैं न जाने कहाँ चला जा रहा था···सुदूर···

बियाबान···

अचानक मैं ठहर गया···

यह तो एक विशाल भवन था···

बिसपी का भवन···

कितना नया था यह···

बाहर कितने सेवक इधर-उधर घूम रहे थे···

कहीं वीणा की अस्फुट झंकार सुनाई दी···

मैं आगे बढ़ा···

चंपा की-सी गंध हवा पर बही आ रही थी···

पेड़ों के घने पत्तों में से धूप छनछन कर आ रही थी···

कही कोई पक्षी बोला, अनाहत-सा स्वर, दिव्य चेतना का-सा स्वर···

और मैंने देखा :

× × ×

वृद्ध कवि को खाँसी-सी उठी।

वह जाकर पलंग पर लेट गए।

"हरिपति कहाँ है ?"

दुल्लहि निकट आई।

"क्या है बाबा !"[1]

"तेरा भाई कहाँ है ?"

"वे तो खेतों की ओर गए है।"

"और तेरी माता कहाँ है ?"

"मन्दिर गई है।"

वृद्ध चुप हो गया।

आज वह सोच रहा था।

नाना प्रकार के पाप करके जो संपत्ति बटोरी थी उस सबको तो कुटुम्बी और सगे-सम्बन्धी मिलकर खा गए। अब कहाँ है वह वैभव ! वह राजसी मर्यादा। क्या लाभ हुआ उस सबसे ? अब तक का सारा प्रयत्न व्यर्थ ही तो गया !

अन्त निकट आ रहा है। जिन परिजनों ने सम्पत्ति को उड़ाया वे आज कहाँ हैं ? कोई भी पास नही है।

माधव ! हे माधव !

सचमुच आज मुझे विश्वास हो रहा है कि मृत्यु के उपरांत जीव के संग केवल उसके कर्मफल ही जाते हैं और समस्त धन-वैभव यहीं पड़ा रह जाता है।

कवि कहता है, "बेटी ! दुल्लहि !"

"हाँ, बाबा।"

1. मिथिला में पिता को बाबा कहते हैं।

"आ बेटी। मेरे पास बैठ।"

बेटी बैठती है। वह विवाहिता है। घर आई है।

पिता कहता है, "याद है न बेटी!"

बेटी आँख उठाकर देखती है।

"इसी घर में कितना कोलाहल हुआ करता था! कितने आनन्द! कितने हास-विलास! वे सब कहाँ गए? वे सब कहाँ लुप्त हो गए?"

"काल खा गया! उन्हें काल निगल गया!" वृद्ध फिर कहता है, "काल किसीको नहीं छोड़ता।"

और तब वह कहता है, "बेटी!"

"हाँ, पिता!"

"यह संसार जानती है कैसा है?"

"बाबा! तुमने कहा था यह भवसागर है।"

"कहा था, तब अनुभव नहीं किया था बेटी। तूने सागर देखा है?"

"देखा है बाबा, जगन्नाथपुरी में।"

"बस, बस। स्नान किया है उसमें?"

"किया है!"

"जानती है सागर! कैसे-कैसे विकराल जन्तु होते हैं उसमें। वैसे ही तो यह संसार भी है। इसमें भी तो मनुष्य को लोभ और काम के मगरमच्छ ग्रसते हैं। किन्तु मेरा तो सारा जीवन बिना माधव के चरणों की सेवा किए ही बीत गया। जीवन-भर मैं तो रमणियों से क्रीड़ासक्त ही बना रहा। मुझे भजन का अवकाश ही कहाँ मिला? मैं कैसे यह भवसागर तर सकूँगा?"

वृद्ध ने करुण स्वर में कहा, "मैं कैसा वज्र मूर्ख हूँ कि अमृत-समान गोपाल के चरणों को छोड़कर कालकूट के समान भयंकर रमणी-रूपी हलाहल को मन भरकर पिया है, तभी तो मेरा ऐश्वर्य और गौरव नष्ट हो गया है!

"मैं पापी हूँ, मैं पापी हूँ···"

वृद्ध रोने लगा।

"क्यों रोते हो बाबा?"

"अपने पापों की याद करके रोता हूँ बेटी।"

"तुमने पाप कहाँ किया बाबा? सारी मिथिला तो विद्यापति ठाकुर का नाम लेकर गर्व से सिर उठाती है। दिल्ली का सुल्तान ही देखो न! उसका सेनापति तुम्हें पकड़ ले गया था, किन्तु तुम्हारी सरस्वती के सामने उसकी एक न चली। जो मिथिला की प्रजा मिथिला के राजवंश की स्वतन्त्रता जाते हुए देख सकी, अपने विद्यापति ठाकुर के लिए तो वह पागल हो गई। सुल्तान को तुम्हें छोड़ना पड़ा।" पुत्री का स्वर स्फीत था। वह कहे जा रही थी, "बाबा! महामहोपाध्याय गणपति

ठाकुर ही विष्णु ठाकुर कुल-परम्परा में बढ़ते हुए गौरव के प्रतिनिधि थे, किन्तु तीसरी पीढ़ी में जो कर्मादित्य ठाकुर बिसपी में आकर बसे थे, उस बिसपी ग्राम का उपार्जन करने वाले राजपण्डित महामहोपाध्याय विद्यापति ठाकुर का यश तो दिगन्तों में फैल रहा है। फिर बाबा को इतनी वेदना क्यों हो रही है ?"

बाबा ने जैसे कुछ नहीं सुना।

पूछा, "आज कौन दिन है ? पूर्णिमा में कितने दिन है ?"

"आज तो बाबा त्रयोदशी है।"

"तो फिर कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी ही लगती है। आज ही इस दीर्घ जीवन का अंत आ गया लगता है।"

फिर वृद्ध लेटा-लेटा सोचने लगा, मानो वह अपने आप से बातें कर रहा था, "राजा सिर्वसिंह !"

"कौन ?" दुल्लहि चौंक पड़ी।

"कोई नहीं। राजा सिर्वसिंह रूपनारायण हैं।"

"कहाँ है बाबा !" दुल्लहि के स्वर में आतंक था।

वृद्ध ने मुस्कराकर कहा, "तो तुम आ गए मेरे वीरवर पराक्रमी रसिक शिरोमणि ! मित्र, देखो न ! वह सब वैभव जो तुमने दिया था वह अब कहाँ है ?"

"बाबा !" दुल्लहि चीख उठी, भयार्त्त स्वर से।

बाबा चौंक उठे।

"कौन ?"

"मुझे देखो, मुझे !"

"दुल्लहि !"

"हाँ, ऐसे क्यों देखते हो ?"

"कैसे बेटी !"

"कौन था ?"

"वही, सिर्वसिंह राजा। आए थे। वैसे ही थे, जैसा रूप मैंने देखा था। पूछते थे : कब चलोगे कविराज ?"

दुल्लहि की आँखों में पानी आ गया।

वृद्ध बड़बड़ाने लगा, "महादेव ! मेरे ममत्व को भुलाओगे तो नहीं ? मैं अधम पापी और परम पतित हूँ। जगत में मेरे जैसा कोई नीच नहीं हो सकता। जब मैं यमपुरी पहुँचूँगा और यम मुझसे पूछेंगे तब मैं क्या उत्तर दूँगा उन्हें ? जब क्रुद्ध होकर यमराज प्राण लेने को दूतों को भेजेंगे तब मैं कैसे अपनी रक्षा कर सकूँगा ?"

"मेरा नाम पुनीत है किन्तु आचरण तो अपवित्र हैं।"

अत्यंत याचना-भरे स्वर में कवि ने कहा, "देवाधिदेव ! मेरे विमुख तुम नहीं हो जाना। तुम ही तो अशरणशरण हो। हे शूलपाणि ! मुझ पर कृपा करो !

पुष्पों को चुन-चुन कर, बेलपत्र चढ़ाकर हे महादेव ! मैंने तुम्हारी सदा ही पूजा की है सदाशिव ! मैंने तुम्हारी तथा सप्त गौरियों की भली प्रकार पूजा की है। किन्तु तुम तो अपने नंदी पर चढ़े सदैव ही श्मशानों में भ्रमण करते रहते हो, तुम्हें किसी की प्रार्थना सुनने का अवसर ही कहाँ है ? भाँग पीने के बाद भी क्या तुममें किसी का दुख-दर्द समझने की सामर्थ्य बाकी रहती है ? हे देवाधिदेव ! न तो मैंने जप-तप किया है, न मैने दान-दक्षिणा दी है। तुम्हारी दुहाई देकर कहता हूँ कि मेरी आयु का तीन चौथाई भाग तो इसी प्रकार खाते और सोते हुए ही बीत गया है। अब मैं भवसागर से मुक्त होने की आशा भी करूँ तो कैसे ?"

कवि क्षण-भर चुप रहा। फिर कहा, "बेटी !"

"हाँ, बाबा !"

"तुझे कोई गीत याद है ?"

"बहुत-से याद है।"

"नहीं, वह याद है ?"

"कौन-सा ?"

"कब मेरे दुख हरोगे भोलानाथ···आज मैं सब भूलता जा रहा हूँ···सुनना चाहता हूँ···"

"गाती हूँ।"

दुल्लहि गाने लगी :

कखन हरब दुख मोर
हे भोलानाथ !

दुल्लहि का कोमल स्वर उठने लगा।

हे भोलानाथ। हे भोलानाथ !!

मेरा दुख कब हरोगे ?

सीधा ही तो प्रश्न था।

दुल्लहि गाती थी और उसे याद आ रहा था, यह गीत सारी मिथिला गाती थी।

स्वर की लोच जागी। उसने गाया :

दुखहि जनम भेल, दुखहि गमाएब
सुख सपनेहु नहीं भेल,
हे भोलानाथ···
हे भोलानाथ···

दुख में ही जन्म हुआ, दुख में ही गँवा दिया, सपने में भी सुख नहीं मिला···

दुल्लहि का स्वर अब विनती से भर गया :

अच्छत चानन अवर गंगाजल

बेलपात तोहि देव,
हे भोलानाथ···
हे भोलानाथ···

मैं अच्छत, चंदन, गंगाजल और बेलपत्र तुम पर चढ़ाता हूँ, मेरी पूजा को स्वीकार करो···मेरी याचना को स्वीकार करो···

दुल्लहि ने करुण स्वर से गाया :

यहि भवसागर
यहि भवसागर थाह कतह नहि
भैरव धरू कर आए
हे भोलानाथ···
हे भोलानाथ···

इस भवसागर की थाह किसी ने नहीं पाई। स्वयं काल-भैरव भी तो असफल हो चुके है··

और तब दुल्लहि ने पूर्ण विश्वास मे गाया :

भन विद्यापति मोर भोलानाथगति
देहु अभय बर मोहि,
हे भोलानाथ···
हे भोलानाथ···

विद्यापति कहता है कि हे भोलानाथ ! मुझे तो केवल तुम्हारा ही सहारा है, मैं तो तुम्हारी कृपा से ही इस अगम भवसागर को पार कर सकूँगा। हे भोलानाथ, मुझे अभय पद प्राप्त होने का वरदान दो।

गीत धीरे धीरे समाप्त हो गया।

कवि की आँखें एक अपूर्व उद्वेग से भर गईं। उसने शून्य दृष्टि से देखते हुए कहा, "यह झूठ है, यह झूठ है···"

"क्या झूठ है बाबा···"

वृद्ध ने कहा, "जो मैं जानता कि औढरदानी शंकर छलिया हो गए है तो मैं राम का गुलाम बन जाता। विभीषण ने कौन-से महान तप किए थे। वह तो केवल राम का जाप करके ही पृथ्वी पर अपने जन्म-स्थान में ही अचल राज्य पद प्राप्त कर गया। और बीस भुजा, दश शीश वाले शिव के शिष्य रावण ने अपनी बीसों भुजा और दसों शीश अर्पण करके शिव की पूजा की। उसने तो ऊँच-नीच का कोई विचार न करके अपने शीश ही भेंट कर दिए थे। जिसके एक लाख पुत्र और सवा लाख नाती थे जिसने सुवर्ण के अनेक दान दिए थे, उसका क्या अन्त हुआ ? कौन नहीं जानता कि उसके घर में सर्वनाश हो गया। देवाधिदेव ! क्या तुम मुझ पर दया नहीं करोगे ?"

बाहर पगचाप सुनाई दी।

"दुल्लहि ! माँ आ गई ?"

"आ गई लगती हैं।"

"उससे कहो वह स्नान करके आए। सचमुच यह संसार का समस्त भोग-विलास वृथा ज्ञात होता है। दुल्लहि ! यदि किसी के माता-पिता अपने सुकर्मों से सद्गति प्राप्त करते हैं तो उनके इस पुण्य कार्य में उनकी संतान को शांति प्राप्ति होती है।"

दुल्लहि बाहर चली गई।

वृद्ध फिर सोचने लगा। लगा सुदूर कहीं बाँसुरी बज रही थी। एक-एक कर असंख्य बार बिजली-सी मस्तिष्क में कौंध गई। वह वैभव !

"कौन सिवसिंह ! राजा सिवसिंह !"

"पिता !" दुल्लहि दौड़कर आई।

"बाबा ! कहाँ ! उठ रहे हो क्यों ?"

"माँ नहीं आई ?"

"नहीं आई हैं। आती होगी।"

"तो वह किसकी पगचाप थी ?"

"पता नहीं बाबा। कोई सेवक होगा।"

"सेवक नहीं। वही था वह !"

कवि पलंग से उठ गया, उसके पाँव काँप रहे थे···वह हिल रहा था

"बाबा !" दुल्लहि चिल्ला उठी। उसने कवि को सँभाला···

कवि बढ़ता गया···

"वह राजा सिवसिंह ही था···" कवि ने कहा फिर वह जाने किससे कहने लगा, "हाँ-हाँ···मैं आ रहा हूँ···"

"बाबा···"

"हाँ-हाँ, राजा ! वह गीत···हु-हु-हु···बड़ी याद है अभी तक···लखिमा देई के पति हो न ? रसिकराज···वह देखो···"

कवि ने द्वार पार कर लिया। उसकी दृष्टि अन्तराल में जैसे कुछ देख रही थी···

"बाबा ! कहाँ जा रहे हो···"

बाहर धूप थी।

हठात् कवि रुक गया।

उसने कहा, "दुल्लहि···"

"हाँ बाबा !"

"बुला तो, मेरे भोला को।"

"भोला !" दुल्लहि का स्वर गूंज उठा ।

"भोला भागता आया ।

विद्यापति ने कहा, "जा तो, पालकी ले आ···"

भोला फिर चला गया···

"कहाँ जाएंगे बाबा···ऐसे में···आपकी तबियत अच्छी नहीं है···"

वृद्ध ने मुस्कराकर कहा, "अच्छा हो जाऊँगा बेटी···"

"नहीं पिता ! आज धूप भी तो कुछ तेज है···"

"काल-सूर्य का ताप भी तो उससे शीतल हो जाता है मेरी बच्ची···"

"किससे बाबा···"

"पतित-तारिणी···भागीरथी से···"

पालकी आ गई। कवि पालकी में बैठ गया। दुल्लहि ने कहा, "मैं भी चलूंगी।"

"कहाँ चलेगी ममता !"

"तुम्हारे साथ !"

"कोई किसी के साथ नहीं जाता बेटी !"

"तो भी मैं चलूंगी···"

कवि ने कहा, "तो चल ··"

आज कवि को याद नही था कि बेटी धूप में पथ पर कैसे चलेगी। वह तो ध्यान में लीन था ।

पालकी चल पड़ी। कहारों के कंधे मचकने लगे···लड़की साथ भागने लगी···

पीछे से भोला चिल्लाया, "बिटिया हो बिटिया···"

किन्तु कवि जैसे सब कुछ भूल गया था ।

उसने कहा, "गाओ रे। भार हल्का करने को गाओगे नहीं ! गाओ ! आज ही तो गाने का दिन है···"

"बाबा ··" पीछे रह गई बिटिया चिल्लाती है···कहार भाग रहे हैं, वह सुकुमारी कैसे साथ चले···

पीछे से भोला का स्वर आ रहा है···बिटिया होऽऽऽ बिटिया···"

"बाबा ··"

"बिटिया हो···"

और पालकी के झोंके खाते हुए कवि के वृद्ध मुख से स्वर निकलता है :

बड़ सुख सार पाओल तुअ तीरे
छोड़इत निकट नयन बह नीरे···

कहार इस गीत को जानते हैं। महाकवि का यह गीत प्रसिद्ध है···

और भी लोग पथ पर सुनते हैं···

"कौन जा रहा है ?"

"विद्यापति ठाकुर।"

"कहाँ ?"

"गंगा-तीर पर।"

"क्यों नहीं ? ऐसे महात्मा भी नहीं जाएँगे।"

"धन्य जननी जिसने ऐसा जना !"

"धन्य स्त्री जिसका ऐसा सुहाग···"

और भी बहुत-सी बातें, परन्तु अब पथ के छोरों में गूँज रहा है--

कर जोरि विनमओं बिमल तरंगे
पुन दरसन होए पुनमति गंगे···

सो हे पुण्यतोया गंगे ! देख अब फिर कवि आ रहा है···फिर दर्शन करने आ रहा है···

अब पथ के लोग भी गा रहे हैं :

एक अपराध छमब मोर जानी
परसल माथ पाए तुअ पानी

हाँ, हाँ, कवि के अधरों पर मुस्कान है, उसका जल छूने तो दो···वह सारे अपराधों से क्षमा दिला देगी···वह तो सगर के साठ हजार पुत्रों को स्वर्ग ले गई थी···

अब दूर गंगा की धारा दीख रही है। धूप में चाँदी की धारियाँ खिंची हैं, चिलबिल, चिलबिल,···बह रही है धारा···अप्रतिहत आनन्द-सी उन्मुक्त···वही शान्त गौरव-गर्भिणी मंथर गति···ऋषियों और अवतारों के पवित्र स्पर्श से और भी पुनीतकृता···

कवि देख रहा है···आँखों में चमक आ गई है···

अब पीछे से 'बिटिया हो बिटिया' सुनाई नहीं देता···

अब 'बाबा हो बाबा' भी सुनाई नहीं दे रहा···

कवि का मन अलस है, निर्द्वन्द्व है, परम शान्त है···

माता जाह्नवी ! उद्धारिणी··· सकल पाप विनाशिनी ! मैंने व्यर्थ जन्म गँवाया, अरे तुझे तो देवाधिदेव भी अपने शीश पर धारण करते हैं···

माँ···

माँ···

अनन्तकाल से भारत-भूमि की तारिणी···मकरवाहिनि मुझे भी तार दे··· तू मेरी आत्मा को उस महान में मिला दे, जैसे तू स्वयं निरंतर महासिंधु में मिल जाती है···

अब नदी-तीर से स्वर आने लगा है···

कि करब जप-तप जोग धेआने
जनम कृतारथ एकहि सनाने···

"रोक दो पालकी !" कवि का स्वर सुनाई देता है।

पालकी रुक गई है।

कवि उतर रहा है। वह बड़बड़ा रहा है, "सचमुच ! मै क्यों भूल गया। जप-तप, योग और ध्यान क्या करेंगे ?" एक ही स्नान में जन्म कृतार्थ हो जाता है···"

कवि बढ़ रहा है···

अब चारों ओर से गीत उठ रहा है—

भनइ विद्यापति समदओ तोही
अन्त काल जनु बिसरब मोही···

"हाँ हाँ," कवि कहता है, "वह अंतकाल तक मुझे नहीं भूलेगी, वह मुझे नहीं भूली है उसी ने मुझे स्वयं अपने पास बुलाया है···"

कवि बढ़ रहा है···

जल काँप रहा है, उस पर सूर्य की किरणें पारे की-सी चमक रही हैं···नयन झपक जाते है, फिर भी पानी काँपता रहता है···

कवि के मुख पर अतीन्द्रिय आनन्द है, नयन मुँद-से गए हैं, उसके नेत्रों में एक अद्भुत तृप्ति दीख रही है, अनंतकाल की पाप की भावना में से निकली हुई कोई आत्मा जैसे एक तेजपुंज में समा जाने को बढ़ी जा रही है ··

सब स्थिर खड़े हैं, किसी में भी साहस नहीं है···

माँझियों के गीत की गूँज लहरों पर झूमकर आती है···

कवि बढ़ रहा है···

पीछे पुत्र हरिपति का शब्द बहुत दूर सुनाई देता है—"बा···बा ··"

कवि नहीं सुनता···वह थक गया है, वह बालू में गिर गया है···बैठ गया है···सतृष्ण···दिव्य तृष्णा-भरे नयनों से वह देख रहा है— माता जाह्नवी को···

समेट लो···माँ···समेट लो···

कवि अब लेटकर खिसक रहा है—

"बा···बा···हो···बा···बा···"

"माँ पतित-तारिणी ले चलो···ले चलो अब···"

उधर, माँझियों का दूसरे किनारे की ओर नाव से जाते हुए गीत का हिंडोल एक दूर की प्रतिध्वनि बनकर आता है—

कि करब जप-तप जोग धेआने···
जनम कृतारथ एकहि सनाने···

पता नहीं कब से यही विश्वास आया है और कब तक चलता जाएगा ··

माँ···

लहरें गर्जन कर रही हैं···कितनी हँस रही हैं···

विद्यापति ठाकुर ! विद्यापति ठाकुर ! कई लोग चिल्लाते हैं, किन्तु अब लहरें शान्त हो गई हैं। केवल स्वर गूंज रहा है —"जनम कृतारथ एकहि सनाने···"

अब सब कोलाहल बढ़ गया है···

"बा···बा होऽऽऽऽबा···बा···"

वह आ गया, वह हरिपति है···

"बाबा चले गए···"

"कहाँ···"

"गंगा आकर ले गई···"

हरिपति सुनकर उद्वेग से चिल्लाता है, "बाबा हो बाबा ··"

कुछ नहीं···केवल गंगा का कलकल निनाद, केवल अजस्र निर्घोष और कुछ नहीं···

"बाबा होऽऽऽबाऽऽऽबाऽऽऽ"

× × ×

जब मेरी नींद खुली, तब प्रभात की पहली आभा आकाश में झलमलाने लगी थी। उठकर बैठ गया।

उस झीने अँधेरे में मैंने किसी नारी के कोमल कंठ का गीत सुना—

"विरह व्याकुल बकुल तरु तर
पेखल नंद कुमार रे
नील नीरज नयन सयं सखि
ढरइ नीर अपार रे···"

हा हा हा ! मेरा हृदय क्यों इतना व्याकुल हो गया ! क्यों, मुझे ऐसा क्या हुआ ? यह कैसी वेदना मेरे मन में इस तरह कसमसा रही है। वही वेदना। तब मृत्यु में, अब जीवन के स्नेह में। कितना मीठा स्वर ! आत्मा की सन्धियों को आपूरित करने वाला।

मैंने आज विरह से व्याकुल नन्दकुमार को मौलश्री के पेड़ के नीचे देखा ! देखा है न मौलश्री का वृक्ष ! कितना सघन श्याम ! उसमें से तारकों-से झर-झर झरते कोमल चन्दनवर्णी फूल, जिनकी सुगंध से पवन की स्तब्धता भी लरजने लगती है, मानो वह एक वरदानों का स्रोत है जिसमें से अक्षय सुहाग बरसता रहता है। सघन पल्लवराशि कैसी मरकत और नीलम-सी दिखाई देती है। उसका गहरा कत्थई तना कितना मोहक होता है। साँझ की छाया में कोई उसके नीचे बैठे तो पता चले कि जब फूल चुपचाप झरते हैं तब सृष्टि के कितने गोपनीय सौन्दर्य अपनी सारी मधुरिमा लिए हुए आकर वहाँ सिमट जाते हैं। झरते फूलों

की सुरभि मन को कितना उन्मत्त कर देती है यदि कहीं अपनी प्यास अनबुझी रह गई हो ! वहीं हैं नन्दकुमार ! वे ही तो हैं जो ब्रज के चित्तचोर हैं ।

विरह व्याकुल बकुल तरु तर —

अरी सखी ! मैंने स्वयं देखा है ! झूठ नहीं कहती ! नीले कमल के-से स्निग्ध-कोमल-लजीले लाल डोरियों वाले जो मोहक नयन हैं न उनके ? उनमें से अपार नीर ढर रहा था···

हाय, हाय···छाती क्यों न फट गई···

मेरा यदुनन्दन रो रहा था···

क्यों नहीं रोएगा वह ? ममता में स्थैर्य है, किन्तु प्रेम में तो आवेश भी है । ममता में त्याग की भावना भी है, किन्तु प्रेम में प्राप्ति की उमंग भी तो है । वह शिव हो, किन्तु सुन्दर तो दूसरी ही बात है । पहली दैहिक सुख के बाद की आत्मा की तृप्ति है, संबल का सन्तुलन है, दूसरी तो अल्हड़ चपलता है, देह की वासनाओं का उदात्तीकृत स्वरूप है जिसमें संबल नहीं, सहायता नहीं, समर्पण की विह्वलता है । ममता में तृप्ति है, प्रेम में कचोट । ममता में नयनों में शीतलता है, प्रेम में आँखों में आँसू । एक में दुलार की लालसा है, दूसरी में कसक की ईप्सा ।

तभी स्वर आया—

पेखि मलयज पंक मृगमह
तामरस घनसार रे—

बींधती चली जा रही है यह पुकार मेरे रोम-रोम को भरती-भरती-सी, ऐसा लगता है जैसे आकाश के समस्त नक्षत्र जो रात-भर आलोक बनकर जगमगाते रहे हैं, अब प्रभात के झीने अन्धकार में सब रागों की अरूप द्रवता लेकर मेरे पिंड ब्रह्माण्ड में लीन होते चले जा रहे हैं । उस स्वर को गाने वाली की विभोर तन्मयता की वेदना मेरी आत्मा की चेतना को किसी ऐसे अज्ञात सागर में डुबाए दे रही है जिसका अरूप गर्जन मेरी शिरा-शिरा में एक स्फीत स्पंदन बन गया है, जिसकी प्रत्येक हिलोर मेरे हृदय को न जाने किन अज्ञात हर्षों की संवेदना में भिगोए दे रही है । सुन रहा हूँ मैं, सुन रहा हूँ मैं···कितनी करुणा है जो विसर्जन भी करती है किन्तु मन के भीतरी स्तरों में एक अपूर्व सृष्टि का सर्जन भी करती जाती है···

स्वर आ रहा है—

निज पानि पल्लव मूंदि लोचन
धरनि पड़ अंसभार रे···

वही मादक स्फुरण, वही अतीन्द्रिय प्रेरणा, मानो बगरते बसंत अब हवा पर झकोरे लेने लगे हों जिसको सूंघ-सूंघकर कोकिलों के गलों की मिठास हर एक

कण में विद्युत् की भाँति झमकने लगी है···

हे सुन्दरी, तेरे तन पर धारण कराए जाने वाले अंगराग, कस्तूरी, कपूर और कमल-पुष्प आदिक वस्तुओं को निहारकर नन्दकुमार दोनों हाथों से अपने नेत्रों को मूंदकर व्याकुल हो धरती पर गिर पड़े हैं···

आह ! कितनी गंधित लयात्मकता है, वही अननुभूत मंद्र रागिणी··· व्याकुलता की सृष्टियों के उन्मोचन···स्वरों में अतीत के चित्रों का पुनर्लेखन हो रहा है···

मैं सब कुछ भूलता आ रहा हूँ क्योंकि मेरा गोपाल दाह से स्मरण के शूलों में कसक रहा है; मिठास की यह झलक कितनी व्याकुल कर देने वाली है···

स्वर में प्राणों की मरोड़ है···

जैसे पूर्ण चन्द्र को देखकर समुद्र में ज्वार-भाटा आ रहा हो। मैं एक आक्षितिज शून्य में दिगंत-व्यापिनी श्री को अब व्याप्त होते हुए देख रहा हूँ···

जी करता है सुनता रहूँ···

सुनता रहूँ···

जीवन भी यदि एक नाद ही नहीं है तो इस जाल में फँसने की विवशता का आनन्द ही क्या है···

मृत्यु की असह यातना में भी कितना संतोष है। यदि वह ऐसी एक अमर तृप्ति ही हो···

और फिर स्वर प्रतिध्वनित हो रहा है —

वहय मंद सुगंध सीतल
मंद मलय समीर रे···

लो, सारे मधुवन में हिलोर-सी पुलकंत हो रही है। लताएँ चपल होकर झूम रही है। कितनी वासना है जो परागों के हिंडोलों पर चढ़कर झूल रही है···

अब तीव्र में ही स्वर की निर्यात तिरोहित होने लगी है···

सृष्टि के प्रथम प्रहर में मानो सारे विव्हर भर गए हैं, असंख्य प्रलयों का उन्माद अपनी चरम विनाशिनी सत्ता को प्राप्त करके अन्त में एक लयमात्र बनकर रह गया है···

मन्द सुगंधित शीतल मलयानिल बह रहा है···

मैं देख रहा हूँ, फूल कितने चपल हो उठे हैं, स्निग्ध मांसल दल कितने काँप रहे हैं, जैसे लाजवन्ती के होंऽ हों···

और तब स्वर सुनाई दे रहा है—

जनि प्रलय कालक प्रबल पावक
दहय सून सरीर रे···

किन्तु अभाव की दहक में वही पवन क्या प्रलयकाल की प्रचण्ड वह्नि जैसा

नहीं लगता ?

अब गायिका की व्यथा चपल हो उठती है—

अधिक वेपथ टूटि पर खिति
मसृन मुकुता माल रे
अनिल तरल तमाल तरुवर
मुंच सुमनस जाल रे—

व्यथा की बेला क्या है ? धैर्य ही तो है। और जब वही भग्न हो जाए तो उसकी लहरों को कौन रोके ? मेरा मुरलीधर इतना व्याकुल हो उठा है कि गले की स्निग्ध मोती-माला भी टूटकर पृथ्वी पर बिखर गई है ! देखो न, देखो न ! जैसे वायु से आन्दोलित तरल तमाल वृक्ष से झर-झरकर फूल बिखर जाते हैं वैसे ही तो यह मुक्ता बिखर गए हैं।

और यह मैं क्या सुन रहा हूँ—

मान मनि तजि मुदित चलु जहि
राय रसिक सुजान रे
सुखद सुति अति सरस दण्डक
कवि विद्यापति भान रे—

हे सुन्दरी, अपना मान छोड़। ओ मधुर दण्डक छंद-सी कर्णप्रिय वाणी बोलने वाली राधे ! हे रसिक सुजान ! अपना मान तज दे और माधव के पास चल··· कवि विद्यापति कहता है—

गीत समाप्त हो गया है।

मैं चौंक उठा।

मैं किन बंधनों में अपने को भूल गया हूँ ?

मेरा माधव तो बहुत दूर है !

मुझे तो वृन्दावन लौटना है।

यह मैं यहाँ आराम पाकर क्या भूल गया हूँ कि मुझे तो भक्ति की यह बहती गंगा ही असंख्य धाराओं में बहाने के लिए चारों ओर छूटे हुए भगीरथों की भाँति अपना जीवन समर्पित करना है।

उठ ! मेरे मन ! जाग !

चारों चरण पर स्थित धर्म के लिए गोपद कोई बंध नहीं है।

अतलांत का आतंक उसे ही हो सकता है, जिसको अपने पाँवों के नीचे की धरती का बोध नहीं हो।

तो चलूँ।

फिर···

वृन्दावन की ओर···

वहीं, जहाँ मेरा माधव है···
जहाँ मेरी राधा विरहिणी बैठी है···
कब से चले गए हैं उसके प्रियतम !
बताओ न कहाकवि !

स्वयं प्रियतम तो दूर देश चले गए हैं और दे गए हैं राधे को भेंट में यौवन रूपी काँटा !

आषाढ़ मास में जब नवीन मेघ चारों ओर छाते हैं तब वह प्रियतम के विरह में निरवलंब रहती है। उसे तो वे जोगिन का वेश धारण करा गए !

श्रावण मास में घनघोर मेघों से मूसलाधार वर्षा होती है, निविड़ांधकार के कारण मार्ग भी दिखाई नहीं पड़ता, चारों ओर विद्युत् कौंधती है, विरहिणी कामिनियों के जीवन कितने संकट में पड़ जाते हैं, उस समय तो वे मृत जैसी लगने लगती हैं !

हे सखी ! हे सखी ! सुनो न ! भादों आ गया है। घनघोर घटाएँ अविरल सघन धारासार वर्षा कर रही हैं। चतुर्दिक मयूर और दादुर शब्द कर रहे हैं। पुण्यवती स्त्रियाँ ही तो ऐसे में अपने पतियों के साथ शयन करती हैं, कि जब कभी मेघ-गर्जन होता है, या विद्युत् कौंधती है तब वे चमक-चमककर प्रियतमों की गोद में छिप जाती हैं।

हे सखी ! आश्विन भी तो आ पहुँचा। सरोवरों के तीरों पर चक्रवाक मिलकर कल्लोल करने लगे। परन्तु विरहिणियों का क्या हो ?

कार्तिक भी बीत चला। प्रतीक्षा के पल विरस हो गए। दीपावली की छाया के सघन तिमिर ने ही तो दुखियारी अबलाओं को घेर लिया है !

अगहन आया कि सोकर जागना और जागकर सोना, हतभागिनो के भाग्य में अब भी यही दो काम रह गए ! कैसी भयानक अग्नि भीतर ही भीतर अब तो भस्म-सी किए दे रही है !

पूस के छोटे दिन और ये लम्बी रातें ! प्रियतम का प्रवास ! कांति नष्ट हो गई। हे भगवान ! किसी को भी पति-वियोग न हो जाए।

हाय ! माघ में यह सघन पड़ता तुषार ! और भाग्यशालिनी बालाएँ झिलमिल कंचुकी पहनकर पीन स्तनों पर मणिमय हार पहने पतियों के संग सोती हैं। यह सुख तो सच क्या स्वप्न-सा नहीं है !

फाल्गुन आया ! होली आई, रंग-अबीरों की मस्ती झकोरे लेने लगी। कुसुम-सौरभ में मत्त कोकिलों ने पंचम स्वर छेड़ा और विरहिणी की छाती दरक-दरक गई।

प्रियतमा के यौवन के पूर्ण विकास का मास चैत आ गया। भ्रमर फूलों पर गुंजार करते हुए मधुपान कर रहे हैं।

और जाने दो। किन्तु वैशाख तो भूने दे रहा है! हाय! पंचबाण! ऐसे न बेध! न स्नेह बिंदु वर्षा! यह स्नेह की छत्रछाया!

रंग उजड़ गए। ज्येष्ठ ने तो सब कुछ छीन लिया। अब तो पति के अतिरिक्त और कोई सहारा ही नहीं।

विद्यापति की मंगल कामना तो ले लो कि हे ईश्वर! बालाओं की आशा पूर्ण कर!

× × ×

धूप अब आम के ऊपर छा गई थी।

मैं बाहर आ गया।

गृहस्वामी उद्यान में टहल रहे थे।

मैंने कहा, "अच्छा ठाकुर। मुझे आज्ञा दें। इतने दिन जो कष्ट दिया है, उसके लिए क्षमा करेंगे।"

"इसमें क्या कष्ट है? अभी रहें न! जाकर भी क्या करेंगे? सुना है प्रयाग के आस-पास मुसलमानों की बड़ी सरगर्मी है! अभी सुना है कि मालवा के मुसलमान शासकों और मुगलों में युद्ध हो चुका है। भारतभूमि तो लुटेरों का अड्डा हो गया। हुमायूं का बेटा अकबर बड़ा प्रतापी है। जगह-जगह विप्लव हो रहे हैं। कौन जाने क्या होगा? इधर सूरी भी बदला लेने की चिंता में हैं। ऐसे में आप कहाँ जाएँगे? काज़ियों के बहकावे में आकर जगह-जगह धर्मान्ध मुसलमानों के दल के दल लूटते फिर रहे हैं।"

मैंने कहा, "नहीं, प्रभु! मेरे तो जनार्दन रक्षक हैं, यह सूरी, यह मुगल भी भी उन म्लेच्छों-यवनों की भाँति है, जो कुछ दिनों के लिए पहले आए थे और आज उनका चिह्न भी नहीं है। भारतीय मनीषा इनके कुचले नहीं कुचली जा सकेगी। बताइए न, चार सौ वर्षों से जो भीषण विध्वंस यह बर्बर तुर्क कर चुके हैं उससे क्या हम मर चुके हैं?"

"नहीं," वे बोले, "हम फिर उठ रहे हैं और तब तक उठते रहेंगे जब तक कल्कि के रूप में स्वयं नारायण ही आकर पृथ्वी का उद्धार नहीं करेंगे।"

मैं नमस्कार करके चल पड़ा। अब मुझे लगा मेरे पीछे गृहस्वामी की दो आँखें थीं, दूर कहीं वृद्ध वैष्णव मेरी आशा में आँखें लगाए बैठा होगा···

परन्तु और भी ये दो आँखें किसकी थीं···

वही लखिमा की···

वही, जिसके कि महाकवि उपास्य थे···

दो आँखें···

उनमें पहले से कहीं अधिक तृप्ति थी···

यात्रा का गीत

चल पड़ा हूँ फिर एक बार।

उसी ओर जहाँ कोटि-कोटि जनों का मंगल तीर्थ है, जहाँ उस लीलाधर ने जन्म लिया था, जिसे संसार में आते समय ही कारागारों में से निकलकर विद्रोह के लिए जीवित रहना पड़ा था, जिसकी क्रीड़ा के अतरालों में ही दुष्टों और आततायियों का दमन होता रहा था···जिसने भारत को गीता का अक्षय उपदेश दिया था···

नाव चल पड़ी है, पटना से हम पश्चिम की ओर धारा काटते जा रहे हैं··· मैं त्रिवेणी पहुँचूंगा और फिर यमुना-मार्ग से सीधे वृन्दावन चला जाऊँगा···सर्वेश्वर ने ही इस भारत की पुण्यभूमि को इस प्रकार बाँध दिया है!

नाव बही जा रही है···वायु कितनी शीतल और कितनी मनोहारिणी है, पालों में हवाएँ भरे नावें बही जा रही हैं···मैं नाव में एक ओर टिका हुआ हूँ··· मेरे साथ अनेक यात्री हैं···वे काशी और वृन्दावन जा रहे हैं···उन्हें राज्यों की हलचल एक ऊपरी लहर की तरह मालूम पड़ती है। वे तो किसी शाश्वत सनातन में ऐसा विश्वास रखते हैं जैसे उससे ऊपर कुछ भी नहीं। मैं सोच रहा हूँ कि यह जो मानव का विश्वास है, वही क्या उनकी जीवंत शक्ति है, या उसका बंधन है? कृष्ण ने तो शस्त्र उठाकर आततायी का वध किया था। यह जो असंख्य-असंख्य प्रजा है, यह कैसे इतना अत्याचार सहे जा रही है! संवाद आ रहा है कि चारों ओर विप्लव हो रहे हैं। कोई भी शक्तिशाली राजा नहीं रहा है। दिल्ली पर मुगलों का राज्य है और वे चारों ओर भयानक आक्रमण करके सब कुछ को निगल जाना चाहते हैं। हे मधुसूदन! क्या यही वह पवित्र वसुधा है जिसके बारे में कहा जाता है कि समस्त धर्मों को जनमानस अत्यन्त सहिष्णुता से, आदर की भावना से देखता था। संघर्ष होते थे, किन्तु वे अपने को ऊपर उठाने के लिए, दूसरे को बल से नष्ट करने को नहीं। यदि ये बौद्धों की असहिष्णुता नहीं होती तो इस भारत में इतनी निर्बलता क्यों आती? किन्तु ब्राह्मण धर्म में ही कितनी फूट है। प्रत्येक जाति अपनी-अपनी रक्षा में निहित है और आततायी खूब आराम से शासन करते हैं। एक असहिष्णु धर्म के नाम पर सारी प्रजा पर कर लगाए बैठे हैं। वे भी सत्ता के लिए अपने धर्म वालों से परस्पर लड़ते हैं···।

और तभी धीरे से माँझियों में से एक ने गाना प्रारंभ किया। मैं सोचने लगा। इतने विध्वंस में भी, इतने विलास में भी इसे सांत्वना मिली है। मुझे लगा इसका भी एक कारण था। जितना ही अत्याचार बढ़ता था, बाह्य जीवन अवरुद्ध होता जाता था, बंधन घोंटते थे, उतने ही आनन्द और विलास की भावना विद्रोह करती थी क्योंकि उसी में उसे संतोष मिलता था।

इस गीत को सुनकर एक पगड़ी वाला यात्री अब घुटनों पर कुहनियां टेके गालों को हथेलियों पर जमाकर अपनी मूँछों के नीचे मुस्करा रहा है। उसके माथे पर रामानन्दी तिलक है। उसके पास बैठी वृद्धा एक शून्यदृष्टि से नदी की विस्तृत धारा को देख रही है। कौन जाने वह क्या सोच रही है। शायद सोचती है कि इस धारा पर न जाने किस आदिकाल से कितनी नावें चल चुकी है और इसी प्रकार चलती रहेंगी···

माँझी गाता है—

चिकुर निकट तम-सम
पुनु आसन पुनिम ससी,[1]

सब उसे देखते हैं, सबके नयनों में आशा है, रूप का उल्लास उतरा आ रहा है। प्रेम और स्नेह की धारा में अब रूप ही माध्यम बनकर नाव बन गया है, पार उतारने वाला, जितना ही आततायी का खड्ग उठता है, जितनी ही जीवन की यात्रा कठिन होती जाती है, जितनी ही वर्तमान की परिस्थिति दुख देती है, पारस्परिक संबंधों में जीविका के लिए संघर्ष और वैमनस्य जन्म लेता है, जितने ही समाज के, धर्म बंधन कचोटते है, उनकी शक्ति से आबालवृद्ध, धनी-दरिद्र, ऊँच-नीच में एक नयी चेतना जाग रही है, वह है समानता—परमात्मा के सामने समानता, जिस देवता से भय किया था अब मनुष्य उसके प्रेम का भूखा हो गया है। अब मनुष्य के नयन निरंतर सौंदर्य के स्वप्न में भरे रहते हैं। मनुष्यों की लुटती हुई यह भीड़ें अपना शाश्वत मानदण्ड उन स्थायी मूल्यों में ढूँढ़ रही है जिनसे मानवता जीवित रही है और रहेगी···पता नहीं मै ही ऐसा सोचता हूँ या और भी लोग ऐसा सोचते हैं···

वही स्वर—

चिकुर निकट तम-सम
पुनु आनन पुनिम-ससी
नयन पंकज के पतिआओत
एक ठाम रहु बसी—

---

1. केश समूह अन्धकार की भाँति है, और मुख पूर्णिमा के चन्द्रमा की भाँति है।

2. नेत्र कमल के समान हैं। कौन विश्वास करेगा कि अंधेरा, चन्द्रमा और कमल एक ही स्थान पर इकट्ठे हो गए हैं—

सब मुस्कराते हैं। लावण्य की अपनी प्रभा होती है और उसके आलोक में मनुष्य के न जाने कितने कोने उजागर हो जाते हैं···

ओ हो ! अब नदी में कैसी रोर उठी। सारे माँझी एक साथ गा उठे—

आज मोयें देखलि बारा
लुबुध मानस, चालक नयन
कर की परकारा···[1]

इतनी विह्वल कर देने की शक्ति है रूप में। कान्हू मांझी के हाथ की मांस-पेशियाँ फूल रही हैं, गिर रही हैं, नाव में एक युवती ने मुख तिरछा करके लज्जा और गर्व से कनखियों से देखकर पाँव का नाखून देखा है, एक बालक ने वृद्धा के कंधे पर का वस्त्र हाथ की छोटी-सी मुट्ठी में भर लिया है। स्वर बड़ा भारी है··· अब आकाश में बादल दौड़ रहे हैं, श्वेत से, मैले से, कुछ नीले, कुछ ऊदे, कुछ श्याम···सफेद पक्षी उड़े जा रहे हैं, पाँत की पाँत·· तीर पर दूर किसान काम कर रहे हैं···उनके खेतों को आततायियों के घोड़े रौंद जाते हैं, फसलें सो जाती हैं, धरती से उगे कन फिर धरती में मिलकर मिट्टी हो जाते हैं, श्रम व्यर्थ नहीं चला जाता, दारिद्र्य की लात पेट पर मारकर मृत्यु के जाल में फेंका जाता है, किन्तु पीढ़ी नही मरती, फिर इधर मनुष्य उठते हैं, इधर फिर धरती में से कन निकलते हैं, उत्थान और पतन का एक निरंतर प्रयोग-सा चल रहा है —जैसे बहुत दूर-दूर तक घास हैं, काँस है, हवा आती है सब सो जाते है, हवा निकल जाती है सब उठ खड़े होते हैं, कभी-कभी आग आती है तब यह काँस धू-धू कर जलती चली जाती है, किन्तु फिर पानी पड़ता है और फिर नये काँस लहलहा उठते हैं, लुटेरे इन्हें काट-काटकर अपने छप्पर सजाते हैं, फिर भी वे इन्हें खाकर समाप्त नहीं कर सकते, इनकी जड को नही काट सकते क्योंकि इनका धरती मे सम्बन्ध है, और हाय, कैसी दीनता है कि यह कटते रहते हैं ? क्यों नहीं यह उठ पड़ते ? उठेंगे। आत्मा का बल तो नहीं खोया है न ? वह बल कहाँ है ? वह अंतरात्मा में है, रूप और प्रेम में है। हममें शक्ति नहीं है, किन्तु हम शक्ति के स्वप्न के लिए जीवित रहते हैं, हम असंगठित हैं, परस्पर लड़ते हैं, किन्तु हम सदैव एकता और प्रेम के स्वप्न का दीपक हृदय में संजोए रहते हैं···वह सब एक अयथार्थ है, यथार्थ है मनुष्य के ही सुनिश्चित उज्ज्वल भविष्य की कामना में जीवित रहना। हम कलियुग में फँस गए हैं, किन्तु हमारी मनीषा अब पहले से कहीं अधिक बार ईश्वर को धरती पर लाती हैं, क्योंकि ईश्वर एक व्यक्ति से एक सृष्टि का सम्बन्ध है। वह हमारे प्रेम और आनन्द, सौन्दर्य और वासना, हमारी शाश्वत रागात्मकता का प्रतीक हो गया है, वह अब हमारी ही भाँति हो गया है, इस स्वप्न को कौन-सा बर्बर तोड़ सकेगा ?

---

1. आज मैंने ऐसी बाला देखी। काम हिल उठा, मन लुब्ध हो गया, अब मैं क्या करूँ ?

हर गुलाब को कुचलकर धरती में फेंकते समय याद रखो कि उसका शव धरती में अपने बीज ज़रूर छोड़ जाता है और ये अवश्य उगते हैं···

फिर रामेत माँझी अकेला गा रहा है—

सहज सुन्दर गोर कलेवर
पीन पयोधर सिरी,
कनक लता अति विपरित,
फरल जुगल गिरी···[1]

मारे माँझी गाते हैं—

फरल जुगल···फरल जुगल···
फरल जुगल गिरी···
ईऽऽऽऽऽ···
ईऽऽऽऽऽ···

और तब···
सहज सुन्द·
नया आवेश भर कर···
गोर कलेवर···
बड़ी रसपीनता आई है स्वर में···
पीन पयोधर सिरीऽऽऽऽऽ···
ओहो ! देखना कैसी लचक भर आई···
कनक लता···
और उसके साथ अब मुस्कान है···
और विपरीत···
भारी स्वर, नई स्फूर्ति···
फरल जुगल···
अभी बार और···
फरल जुगल···
अब अन्तिम झटका और लय ·
फरल जुगल गिरीऽऽऽऽऽऽ···

सब कुछ विचित्र हो गया है न ? उसे समझने के लिए कल्पना के पक्षियों को बहुत बड़े आकाश में उड़ना है, किन्तु वे पक्षी उड़ते हैं और फैल जाते हैं; उनकी समझ में आता है···यह उनकी अपनी भाषा है, जीवि : संस्कृति को जन-मानस

1. सहज सुन्दर गोरे तन की बाला है, पयोधरों की श्री सघन हैं, मानो उल्टी कनक लता में जैसे नारियल के दो फल लगे हों।

चाहिए, वह केवल पण्डितों के घरों की वस्तु बनकर कब तक रह सकेगी ··

अब फिर मेरा स्वप्न जाग उठा है।

× × ×

वीणा बज रही है। उसके धीमे-धीमे स्वर तमालों के नीचे तिरोहित हो रहे हैं।

एक अपूर्व सुन्दरी चली आ रही है। उसे देखकर लगता है जैसे देह रूपी कनकलता के सहारे निष्कलंक चन्द्रमा का उदय हुआ हो। उसके कमल के समान दोनों नेत्र तो अंजन-रंजित है और भौंहें बड़ी ही कुटिल तथा भावयुक्त हैं। उनकी चंचलता को देखकर लगता है जैसे विधाता ने चक्रवाक मिथुन को केवल अंजन-गुन के पाश में बाँध रखा हो। उसके उत्तुंग कुचों को छूती हुई गजमुक्ताओं की माला गले में पड़ी है। ऐसा लगता है जैसे कामदेव कण्ठ रूपी शंख में भरकर गंगा की निर्मल धारा को सुवर्ण के शिवलिंगों पर डाल रहा है।

एक व्यक्ति उपवन में मानसरोवर के विशाल पत्तों के पीछे खड़ा फव्वारे के पास से उसे देख रहा है। उसके नेत्र अपलक हो गए हैं।

तरुणी अब मल्लिका के पास आ गई है। फिर बढ़कर वह उपवन के पक्के कुण्ड में खिले कमलों को देखती हुई बैठ गई है।

वह व्यक्ति देख रहा है।

जहाँ-जहाँ वह युवती पग रखकर आई है, अभी तक व्यक्ति को वहाँ कमल झरते हुए दिखाई दे रहे हैं। जहाँ-जहाँ उसके अंग झलकते हैं, वहाँ-वहाँ बिजली की तरंग दिखाई दे रही है। जिस ओर वह देख लेती है वहाँ कमल के फूल खिल उठते हैं। जिधर वह मुस्कराती है, उधर ही अमृत की वर्षा हो उठती है, जिधर उसका कटाक्ष हो जाता है उस ओर कामदेव के पुष्पबाण पूरे वेग से चले जाते हैं।

युवक आगे बढ़ता है।

युवती चौंक उठती है।

युवक मुस्कराता है, युवती भी।

युवती प्रणाम करती है, युवक उसके हाथों को अपने हाथों में लेता है।

दोनों एक-दूसरे की ओर देखते रहते हैं।

देर तक नयनों की तृप्ति अन्तस् के द्वारों को खोलती चली जाती है। हठात् निस्तब्धता में कोई पक्षी मधुर स्वर से बोलता है। युवती चौंक उठती है।

बाहर कहीं तूर्य-निनाद होता है।

"महाराज," युवती कहती है, "मेरे महाराज !"

"मेरी लखिमा ! रानी !"

फिर दोनों एक परिरंभन में बँध जाते हैं।

एक मंदिम पगचाप सुनाई देती है।

दोनों अलग होते हैं।

"कौन ?"

"देवी ! कवि ठाकुर आए हैं।"

"कौन विद्यापति ठाकुर ?"

"हाँ, देवी !"

"आज यहाँ क्यों ?"

"देवी ! मैंने कह दिया, किन्तु वे नहीं सुनते ।"

"तूने क्या कहा ?" महाराज पूछते हैं।

"मैंने कहा : कवि ठाकुर ! आप तो राजपण्डित ठहरे। फिर न जानेंगे कैसे ? महाराज आज कई दिन के बाद तो युद्ध से आए है, वे आज पूर्ण विश्राम करना चाहते हैं ।"

"ऐसा कहा तूने ?"

"हाँ, देव ! कवि ठाकुर ने कहा, तो पूछकर आ कि क्या तेरा कवि ठाकुर महाराज के पूर्ण विश्राम में एक व्याघात तो नहीं है ?"

"तूने तब क्या कहा ?"

"पूछने आ गई।"

महाराज सोचते है, फिर कहते हैं, "कवि को बुलाकर ले आ यहीं।"

"यहीं ?" महारानी कहती है। नयनों में कुछ विस्मय है।

"तुम उसे नहीं जानती, देवी ! एक बार उसके कण्ठ-स्वर को सुनना तुम्हारे जीवन को सफल बना सकता है।"

"किन्तु महाराज यहाँ ? अभी पूर्णिमा का चन्द्रमा उदित होने वाला है, चारों ओर आनन्द ही आनन्द छाएगा, ऐसे समय मैं अपने और आपके बीच में किसी को भी नही देख सकती। यदि आप उन्हें बुलाएँ तो मै समझूँगी आप मुझे नहीं चाहते ।"

राजा देखता है।

रानी कहती है, "मैं केवल देह ही तो नही हूँ। आत्मा भी तो हूँ। मेरी भी तो कुछ लालसाएँ है। इस वैभव में न होकर एक दरिद्र की स्त्री होती तो कम-से-कम मैं स्वतंत्र तो होती। यहाँ चारो ओर मेरी आत्मा घुटती है, किसी से बात तक नहीं कर सकती !"

राजा सोचता है। वह इसे प्रेम करता है किन्तु नारी का अविश्वास भी विचित्र है। वैभव की भी अपनी मर्यादाएँ है। वह मर्यादाएँ ही ऐसे बंधन हैं जो उस वैभव के द्वारा प्राप्त अधिकारो के फल हैं, वे अधिकार औरों के अधिकारों से कहीं अधिक हैं। कोई चाहे कि इधर वैभव के सुख भी ले लूँ उधर संसार के अन्य आनन्द भी लूट लूं, यह कैसे सम्भव है। यह कहती है कि यह देह नही है, किन्तु

यदि पुरुष नारी को उसके देहत्व का आभास न दिलाए, तो क्या वह सचमुच पुरुष के आत्मिक दुलार के बल पर जीवित रह सकती है ? यदि पुरुष केवल आत्मा का सम्बन्ध रखे तो वह फिर कहती है कि तुम मुझसे दूर-दूर रहते हो। पता नहीं विधाता ने स्त्री को किस क्षण में बनाया था। सब कुछ छीन लेने वाला प्रेम क्या पुरुष को निरीह ही नहीं बना देता। राजा होने में, प्रजा का कार्य करने में समय जाता है। स्त्री कहती है कि पुरुष केवल आनन्द के समय में स्त्री की खोज करता है, अपने काम के समय वह उसे बिल्कुल भूल जाता है, जबकि स्त्री काम करते समय भी पुरुष का ध्यान रखती है। राजा नहीं सोच पाता। स्त्री सोचती है, सदा ही पुरुष के विषय में, सम्भव है। उसका केन्द्र भी तो परिवार ही है, पुरुष का केन्द्र परिवार नहीं, समाज है। पुरुष को कितने सुख-दुःख देखने पड़ते हैं तब किसी प्रकार वह जीवित रहने के संघर्ष में परिवार की नौका को लेकर निकालता है, स्त्री पुरुष के इन कार्यों को नहीं देखती, वह अपने ही स्वार्थ में मग्न रहती है।

राजा को सोचते हुए देखकर कहती है, "चलिए अब फिर वही दुःख-चिन्ता ! समझ में नही आता, आपको क्या हो जाता है ? कितनी आशा करती थी कि आएँगे, तब हम आनन्द मनाएँगे, और यहाँ कोई हमारे बीच में आ ही जाता है। इससे तो अच्छा यही था कि मैं मर जाती !"

राजा आँख उठाकर देखता है।

नारी ! और क्षुद्रत्व ! और वह भी प्रेम के आवरण मे।

दासी पूछती है, "तो देव ! कह दूँ वे चले जाएँ ?"

रानी कहती है, "कह दे, फिर कभी आएँ।"

राजा रोकता है, "क्या कहती हो ? वह विद्यापति ठाकुर है। कुल-परम्परा से हमारे राज्य के विद्वान परिवार का अति योग्य पण्डित है।"

"हमारे यहाँ के पण्डित तो राजाज्ञा मे ही चलते है महाराज," रानी कहती है, "राज ही तो सर्वोच्च होना है। राज की बात आप मुझसे नही करते, क्योंकि मैं स्त्री हूँ। फिर क्या रह गया देव ! और प्रेम भी आप तब ही करते हैं जब आपको राज से अवकाश मिलता है। मैं तो मानो कुछ हूँ ही नहीं !"

"तो फिर तुम चाहती क्या हो ?"

"वह तो शायद आप कभी समझेंगे नहीं। मेरी तो सारी आशाएँ ही चली गई।"

पुरुष का मन कचोट खाता है। वह कहीं इस सबसे दूर हो जाना चाहता है। कहता है, "वैभव चाहती हो, अधिकार चाहती हो, वह सब लेकर वहसब देना नहीं चाहती, जिनमें वैभव और अधिकार मिलते हैं। लोकहित मे जीवन-दान देने वाले प्राणी की वैयक्तिकता कितनी सीमित हो जाती है यह तो जानती हो न ?"

"क्या जानती हूँ, क्या नहीं, यह मेरा ही हृदय जानता है। आप तो मुझे अबोध

और मूर्ख समझते हैं । फिर आप मुझसे बड़े हैं, योग्य हैं, तो कुछ सिखाते क्यों नहीं ?"

एक और दासी आकर कहती है, "विद्यावति ठाकुर चले गए है।"

राजा के नयनों में रोष झलकता है, किन्तु वह उसे पी जाता है। उसे लगता है जैसे उनके और कला के बीच में नारी एक व्यवधान बनकर खड़ी हो गई है।

राजा की चेतना में विष-सा भर गया है, जो उसे झुलसा रहा है। सामने चन्द्रमा उग रहा है, किन्तु उसमें कोई जादू नहीं है। और स्त्री खड़ी है अवरुद्ध-सी, विधाता को शाप देती हुई-सी। राजा बैठ जाता है। रानी पास आती है। दासियाँ चली गई हैं, एकांत है।

स्त्री रोती है।

राजा नहीं समझता।

वह कारण जानना चाहता है।

वह देखता रहता है···

देखता रखता है···

मल्लिकाओं मे से गंध आ रही है···

कहीं मन्दिर में घण्टा-निनाद हो रहा है···

जीवन एक बोझ-सा है···

रानी अब रो चुकी है···

स्तब्ध बैठी है···

राजा उठ खड़ा होता है···

वह द्वार पर जा पहुँचता है ··

रानी मूर्च्छित हो जाती है···

दासियाँ जागती हैं···

राजा चला गया है···

बाहर के विशाल प्रांगण में विदूषक खड़ा है।

पूछता है, "महाराज ! आज दो-दो चन्द्रमाओं को छोड़कर कहाँ जा रहे हैं ?"

महाराज का मन स्थिर नहीं है। भर्राए स्वर से कहता है, "पिंगल ! जिस प्रकार दो दर्पण एक-दूसरे से चिपकाकर धर देने पर उनकी कोई भी पीठ बिम्ब ग्रहण नहीं करती उसी प्रकार मेरे मन में अंधकार छा रहा है।"

विदूषक कहता है, "महाराज ! एक चाकू लेकर दोनों की बारी-बारी से पीठ रगड़ना प्रारम्भ करें न ?"

"तो भी बिम्ब नहीं दीखेगा पिंगल ! केवल उनको आर-पार ही तो किया जा सकता है···"

विदूषक हतप्रभ होता है। कहता है, "तो देव ! फिर एक ही को रगड़िए न ?"

वह समझता है राजा हँसेगा। परन्तु राजा बाहर की ओर बढ़ता जा रहा है। उसने कहा है, "तो फिर दो में में किसको रगड़ना होगा !"

विदूषक अपना उपहास खो चुका है। राजा चला गया है। अब विदूषक को वामन और नपुंसक ने घेर लिया है और वे उसे छेड़ रहे हैं, किन्तु ब्राह्मण विदूषक का वास्तविक रूप गम्भीर है। वह उन्हें छोड़कर राजा के पीछे चल पड़ता है।

बाहर पूछता है, "महाराज कहाँ गए ?"

"कमल-तड़ाग की ओर।"

कमलों से तड़ाग भरा है। एक ओर के शान्त निर्मल जल में आकाश का पूरा चन्द्रमा उतर आया है और राजा निर्निमेष दृष्टि से देखता हुआ बैठा है।

विदूषक समीप जाता है।

राजा नहीं देखता। वह विचार-मग्न है।

विदूषक कहता है, "देव !"

"कौन ?"

"मैं हूँ, विदूषक !"

"बैठो।"

विदूषक बैठता है।

राजा नहीं बोलता।

विदूषक कहता है, "महाराज ! आज विद्यापति ठाकुर आए और चले गए !"

राजा मुड़ता है। उसकी आँखों में एक विशाल शून्य है। नारी का कौन-सा रूप है। राजा सोचता है। अच्छा होता मैं एक किसान होता। तब यही लखिमा मेरे हल जोतकर खेत में खड़े रहते समय सिर पर मट्ठा और रोटी लेकर आती। उस समय किसान अपनी भूख मिटाता और कार्यलीन रहता। स्त्री अपने सामाजिक कार्य करती। स्त्री जब आनन्द में लीन रहती है तब उसकी क्षुद्र वासनाएँ अधिक भड़क उठती हैं और कठोर जीवन से वह बचने का प्रयत्न करती है। उस समय उसके मन में हलाहल जन्म लेता है। उसे लगता है वह सब-कुछ खो रही है। पुरुष की वासना उतनी जघन्य नहीं होती जितनी स्त्री की। स्त्री अपनी वासना पर लज्जा का छद्म चढ़ाए रखती है और इसलिए वह बहुत ही भयानक होती है, क्योंकि पुरुष कैसा भी छलिया हो, उसकी वासना सरल होती है, नारी की वासना की भाँति गूढ़ और रहस्यमयी नहीं होती।

विदूषक देखता है। वह नहीं समझता। उसका कार्य हास-परिहास है, परन्तु वह एक अत्यन्त चतुर व्यक्ति है। उसे परिस्थिति को बनाते रहने का गुरुतर कार्य सँभाले रहने पर ही प्रशंसा मिलती है।

और राजा को लगता है कि वह एक विशाल वन में फँस गया है। वह एक सुन्दर हरिण की आँखों पर मोहित होकर बाण धनुष पर चढ़ाए उसके पीछे भागा

था। किन्तु वन के बीहड़ में उसने देखा कि वह जो दूर से हरिण लग रहा था वास्तव में एक इच्छारूप सिंहनी थी जिसके मुख पर अब एक विचित्र व्यंग्य-भरी मुस्कान थी।

राजा सिहर उठता है।

विदूषक देखता है। कहता है, "महाराज !"

राजा चौंकता है।

देखता है।

फिर मानो पहचानता है।

और उसकी आँखों में प्रश्न झलकता है।

"देव ! कवि ठाकुर ने बुरा माना होगा न ?"

"हाँ।"

"फिर ?"

राजा कहता है, "विदूषक ! तुम हास्य के सखा हो न ?"

"हाँ, महाराज !"

"किन्तु मूर्ख तो नहीं हो ?"

"देव ! सच कहूँ। मूर्खता का बाना धारण करने पर ही तो राजा-महाराजाओं से भी जो चाहे कह सकता हूँ। यदि मूर्ख न बनकर दार्शनिक का दिखावा किया होता और सम्मान की खोज की होती, तो क्या यह ग्रीवा कन्धों पर दिखाई देती ?"

राजा सिर हिलाता है।

विदूषक फिर कहता है, "मनोरंजन एक महान प्रेषणीयता रखता है। जो काम सहज हो सकते हैं वे तर्क से नहीं हो सकते, क्योंकि तर्क की नींव में सदैव अहं होता है और वह कभी सत्य को नहीं पकड़ता, वह तो एक कुठार की भाँति होता है।"

राजा सुनता है।

विदूषक गम्भीर है।

राजा कहता है, "और क्या यह सत्य नहीं है कि मनुष्य समुदाय में राजा होता है एक, क्योंकि धर्म उसे चाहता है।"

"हाँ, देव !"

"वह लोक का त्राता, एक पदाधिकारी मात्र है न ?"

"हाँ, महादेव !"

"पृथ्वी कभी स्वामीहीन नहीं रह सकती। राजा का पुत्र कर्मयोग से राजा बनता है न ?"

"सब यही कहते हैं।"

"तो ठीक यही न प्रमाणित हुआ कि जिस प्रकार वैद्य का पुत्र वैद्य होता है उसी प्रकार···"

विदूषक हँसता है।

"हँसते क्यों हो?"

"सोचता हूँ, कोई नई औषधि निकाली है!"

"अभी नहीं।" राजा कहता है, "सुनो तो। बताओ न? और कवि का पुत्र कवि हो सकता है?"

"नहीं।"

"कवि कैसे पैदा होता है?"

"देव! पूर्वजन्म के पुण्य से।"

"वे कौन-से पुण्य हैं!"

विदूषक अवाक् देखता है।

"सुनो विदूषक!"

"महाराज!

"जब से कवि ने देशी भाषा में कविता कहनी प्रारम्भ की है तब से तो एक अद्भुत माधुर्य आ गया है उसके काव्य में। तुमने सुना है?"

विदूषक कहता है, "क्यों नहीं देव! उनकी कीर्त्तिलता मैंने पढ़ी है।"

"अरे वह किशोरावस्था की रचना थी। जब उसी ने मिथिला को चमत्कृत कर दिया तब अब तो यौवन है कवि में। प्रगाढ़ मादकता है, अतीन्द्रिय सुख! वह अवहट्ट भाषा थी, अब तो वह लोकभाषा में ही कविता लिखने लगा है। सच विदूषक। मैं उसका मित्र होने में गर्व का अनुभव करता हूँ।"

"आप महाराज होकर? उसके अन्नदाता होकर?"

"हाँ, विदूषक! अन्न तो भगवान देता है। यह देश तो ऋषियों की पवित्र भूमि है। यहाँ सदा से ही विद्वानों का समादर रहा है। जानते हो, जब-जब स्मरण करता हूँ कि आज से दो सौ वर्ष पूर्व उस बर्बर बख्तियार खिलजी ने नालंदा के विशाल पुस्तकालय को जला दिया था, तब-तब मेरा हृदय भीतर ही भीतर सुलग उठता है। मिथिला स्वतन्त्र है। यहाँ तो कवि का पूर्ण आदर होना चाहिए। और कवि भी कैसा? विद्यापति-सा!"

राजा अपने-आप बड़बड़ाने लगा—कैसा लिखा है, मुझे तो याद हो गया है—हे माधव! जहाँ प्रेम-रस होता है, वहीं प्रेम-कलह भी होता है, परन्तु गुणवान व्यक्ति एक बार प्रीति-भंग हो जाने पर पुनः प्रीति करते हैं। हमने तो सर्वत्र ही ऐसी रीति होती सुनी है कि हार के बार-बार टूट जाने पर भी उसे फिर गूँथ लिया

जाता है।[1]

राजा के नयन कुछ विभोर-से दिखाई देते हैं। वह कहता है, "विदूषक !"

विदूषक शायद कुछ और सोच रहा है।

वह हठात् चिहुँककर कहता है, "हाँ, देव !"

राजा कहता है, मानो उसका ध्यान इस सब पर है ही नहीं :

"भनइ विद्यापति न कर उदास
बड़क वचन करिए विसवास।"

"तुमने सुना। विद्यापति क्या कहता है। बड़ों के कहने का विश्वास करो। कितनी सरलता से वह कितने गूढ़ तथ्यों को यों ही कह जाता है ! और तुमने उसकी यह अत्यन्त सुन्दर रचना सुनी है ?

की हम साँझक एकसरि तारा
भादव चौठिक ससी
रथि दुहु माझ कओन मोर आनन
जे पहु हेरसिन हँसी !

"आह रे ! क्या मैं संध्या की अकेली तारिका हूँ कि जिसे कोई भी नहीं देखना चाहता, या मैं भाद्रपद की शुक्ला चतुर्थी का शशि हूँ जिसे देखने से ही कलंक लगता ? मेरा मुख इन दोनों में से किसका-सा है कि तुम उसे हँसकर देखते तक नहीं।"

"विदूषक ! मैंने कहा, 'इससे आगे क्यों नहीं कहते कवि !' बोला, 'अभी स्फुरण नहीं हुआ महाराज !' मैंने कहा, 'होगा कविराज ! होगा !' "

विदूषक के नयनों में चिंता आती है और फिर एक उजाला-सा क्षण-भर चमकता है।

वह कहता है, "महाराज !"

"क्या है ?"

"प्रासाद से कवि लौट गया है !"

"हाँ।"

"अब ?"

"ब्राह्मण ही बताए।"

"वह क्या स्वयं लौटेगा ?"

"नहीं देवता।"

---

1. जतहि प्रेम-रस ततहि दुरंत
पुन कर पलटि पिरित गुनमेत।
सबतहु सुनिय अइसन बेवहार
पुनु टूटय पुनु गाँथिए हार।

"किन्तु लक्ष्मी की सभा से सरस्वती का चला जाना क्या इस प्रकार हमारी राज्यश्री का अपमान नहीं है !"

"निश्चय है !"

"तो महाराज को जाना होगा।"

"कहाँ ?"

"बिसपी।"

"किन्तु बिपसी भी राजा की है। कवि का सत्कार कहाँ हुआ ? कवि का अपना राज्य भी होना चाहिए न ?"

"देव ! मैं यही कहने वाला था।"

" तो फिर बिसपी का दानपत्र तैयार कराओ। मैं ही उसकी सूचना लेकर जाऊँगा। विद्यापति ठाकुर चाहे जिस राज्य में भी चला जाए, सारे राजा उसके लिए द्वार खोल देंगे।

" और अधिक इसलिए भी कि इसमें हमारा अपमान भी कर सकेंगे। "

राजा के मुख पर व्यंग्य दिखाई देता है। वह कहता है, "मेरे स्वतन्त्र राज्य का अपमान वे तुर्कों के दास करेंगे ? सिवसिंह रूपनारायण की भुजा जब खड्ग उठाती है..."

"तब वे गीदड़ों की भाँति काँपने लगते हैं महाराज ! किन्तु जब सूर्य चला जाता है तब गीदड़ कब हुँआ-हुँआ नहीं करते ?"

राजा मुस्कराता है।

दोनों प्रसन्न होते हैं।

"उठिए देव !" विदूषक कहता है, "जब हीरक-जड़ित अँगूठी उँगली पर चढ़ जाती है तब लोक यही कहता है—हीरे वाली अँगूठी, देह वाली नहीं।"

राजा प्रसन्न होकर उस पर गलहार फेंक देता है।

बिसपी के पथों पर रथ जा रहे हैं। घोड़ों की अयालें हवा में फरफरा रही हैं। उनके शरीरों पर सुनहला साज है।

लोग पथों के दोनों ओर खड़े चिल्ला रहे थे :

"महाराज सिवसिंह की जय !"

"महाराज रूपनारायण की जय !"

एक भवन में उदास कवि विद्यापति बैठा है।

एक युवती समीप खड़ी है। वह उसकी स्त्री है।

पूछती है, "कब तक बैठे रहोगे ?"

कवि कुछ नहीं कहता।

"राजा राजा ही होता है।"

कवि सुनता है।

"तुम केवल कवि ही हो न ?"

कवि देखता है।

"कवि राजा का आश्रित होता है।"

कवि चुप है।

"भट्टि, दण्डि, कालिदास, बाण, चंदवरदायी···"

कवि नहीं सुनना चाहता।

वह कहे जाती है, "सब ही अपने-अपने आश्रयदाताओं की प्रसन्नता देखकर चलते थे। तुम्हें विधाता ने गुण दिया है। उसका अनुचित अभिमान न करो। घड़े में रखे दीपक की ज्योति बाहर नहीं फैलती। मैंने तो न जाने क्या-क्या आशा की थी कि लोग विद्यापति का नाम सुनकर सिर झुकाते होंगे। अपार वैभव होगा। विद्यापति ठाकुर बड़े सरल होंगे।"

"मैं सरल नहीं हूँ ?"

"मैंने कब कहा !"

"तो फिर तुम कहना क्या चाहती थीं ?"

"तुम कभी नहीं समझोगे।"

"तुम्हें किसी का कष्ट है ?"

स्त्री कहती है, "तुम क्या मुझे धन की प्यासी समझते हो ?"

"फिर तुम्हारे कहने का मतलब ही क्या है ?"

"तुम तो मुझे मूर्ख समझते हो, जैसे मैं किसी भी उत्तरदायित्व को उठाने के योग्य ही नहीं।"

"कौन-सा उत्तरदायित्व उठाना चाहती हो ?"

"मैं तो कुछ भी नहीं चाहती। अब से तो मैं बोलूंगी ही नहीं कुछ।"

कवि नहीं समझ पाता।

स्त्री कहती है, "मैं कहती हूँ, तुम्हारे पास खाने को नहीं है क्या ? राजा के पास जाने की आवश्यकता ही क्या है ? अरे जो है उसी में गरीबी में दिन काट लेंगे।"

गरीबी। कवि सोचता है। घर में दास हैं, दासियाँ हैं। फिर भी गरीबी ! खेत हैं, सब कुछ है। कैसी है यह स्त्री। वह फिर कहती है, "सोचती थी आभूषणों से लदी रहूँगी, पर नहीं हैं तो मैं क्या माँगती हूँ ! ऐसे ही अच्छे हैं हम ! हैं न ?"

कवि का मन विक्षुब्ध हो रहा है।

स्त्री फिर कहती है, "पहले तुम संस्कृत के ग्रंथ लिखते थे, सम्मान था। अब क्या देशी भाषा के गीत लिखने लगे हो। जिनके लिए लिखते हो वे क्या कुछ समझते हैं ?"

"तो क्या तुम मुझे चाहती हो कि मैं परिपाटियों में ही पड़ा रहूँ ? तुम मुझे

काव्य-क्षेत्र में भी सलाह दोगी ?"

"मैं क्यों दूँगी ? मैं क्या पढ़ी थोड़े ही हूँ। मैं जानती हूँ, तुम मन-ही-मन मुझसे इसलिए घृणा करते हो। तुम्हें तो किसी पंडिता से विवाह करना चाहिए था, जो तुम्हारे कार्य में तुम्हारी सहायता भी करती। मेरा क्या है। दासी हूँ। पड़ी रहूँगी। तुम्हें चिन्ता करने की आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी। मुझे कुछ जरूरत होगी तो मैं तो माँ के घर से मँगा लूँगी। आखिर तो उसने मुझे जनम दिया है !"

कवि के पास इन तर्कों का उत्तर नहीं है। वह नहीं जानता इस बवंडर के मूल में क्या है? महत्वाकांक्षा ? यश और सम्मान की भूख, या वैभव की लालसा ? फिर साथ ही त्याग की भावना का छल क्यों ?

वह चुप बैठा रहता है।

स्त्री कहती है, "मैं कहती हूँ, मुझे क्षमा कर दो ? तुम्हारे सिवाय मेरा है ही कौन ? स्त्री हूँ, अबला हूँ। तुम जैसे कहोगे वैसे ही चलूँगी। मेरी उपेक्षा न करो। स्त्री सब कुछ सह सकती है किन्तु यह उपेक्षा नहीं। अपमान मुझे बुरा नहीं लगता, वह तुम कर सकते हो, परन्तु मुझसे घृणा मत करो।"

कवि का संसार लुप्त हो गया है।

"मैं लिखना चाहता था।" कवि कहता है।

"तो लिखो न !"

"अब नहीं लिख सकता।"

"क्यों ?"

कवि नहीं बोलता। स्त्री कहती है, "कहते क्यों नहीं, मैं तुम्हारे काम में एक बाधा बन गई हूँ --है न यही बात ? हाय रे मेरे भाग्य ! किसी साधारण पुरुष से विवाह होता तो अपनी छोटी-सी गिरस्ती में स्वामिनी तो होती ? यहाँ तो सब-कुछ होने पर भी कुछ नहीं है ! जो कुछ सुख था, वह तो बचपन में ही भोग लिया। अब क्या रखा है !"

"तो अब क्या तुम्हें कुछ दुख है ?"

"जाने दो, अब तो इस बात को यहीं समाप्त कर दो।"

"तुम्हीं ने तो कहा था कि तुम्हारी आशाएँ नष्ट हो गई हैं···"

"छोड़ो न ! उसके लिए मैं तुमसे क्षमा माँग तो चुकी हूँ। तनिक भी मजाक तो तुम समझते ही नहीं। न जाने मुझे कितनी बार रुलाना तुम्हें अच्छा लगता है, मुझे लगता है मैं तो पागल हो जाऊँगी···"

स्त्री रोने लगती है।

पराजित-सा कवि उठता है। वह बाहर आता है। द्वार पर कोलाहल हो रहा है।

"महाराज शिवसिंह की जय !"

"महाराज रूपनारायण की जय !"

"महाराज सिवसिंह रूपनारायण की जय !"

कवि देखता रह जाता है।

हाँ, सामने महाराज ही हैं।

"स्वागत महाराज !"

"प्रणाम ब्राह्मण," महाराज कहते हैं।

"सुदामा के घर ? आज स्वयं महाराज कृष्ण !"

विदूषक कहता है, "कलियुग का फेर है न कवि ! कब तक मुरारी बैठे रहते कि सुदामा आए, आए। और जब नहीं ही आया तो क्या करते ?"

कवि अवाक् हैं। पलकें भीग जाना चाहती हैं।

विदूषक ताम्रपत्र पढ़कर दे रहा है।

गाँव के भद्र और साधारण पुरुष जयजयकार करते हैं :

"महाराज सिवसिंह रूपनारायण की जय !"

"विद्यापति ठाकुर की जय।"

जय ! जय !

धूलि ! धूलि से भी ऊपर जय !

धूलि ! धूलि के अंतराल में लय !

धूलि ! धूलि के नीचे स्नेह का अपराजित संचय !

गाँव के लोग प्रसन्न ! अकारण ही प्रसन्न। ग्राम विद्यापति को मिला है। किन्तु वे अत्यधिक गद्गद ! क्योंकि अब विद्यापति बहुत बड़ा आदमी है। बड़ा आदमी देता कुछ नहीं, फिर भी लोक रहता है विनीत और मगन। केवल दो-चार ईर्ष्यालु हैं। एक फुसफुसाता है, "कोई गड़बड़ ज़रूर होगी।" "अरे भैया ! कोई यों घर आकर नहीं दे जाता !" "और फिर क्या विद्यापति ठाकुर में गणपति ठाकुर की-सी मेधा है !" "वे तो और ही बात थे।" "पर राजा भी तो असली गुणी थे।" "सिवसिंह का क्या ?" "नाम करना चाहते हैं अपना।" "राजा भोज कहलाना चाहते हैं ! वाह-वाह ! जैसे कि नये भोज ! तैसे ही नये कालिदास !" फिर एक हास्य, बड़ा धीमा, फिर बड़ा विषैला।

उधर राजा कहता है, "कवि !"

"महाराज ! पधारें।"

वे भीतर जाते हैं। साथ में विदूषक भी।

"कवि !" महाराज आसन पर बैठकर कहते हैं, "मेरी मिथिला सूनी हो गई है।"

मिथिला का इन सबको बड़ा अभिमान है। यह सीता की जन्मभूमि है। यह जनक की शासन-भूमि है, उस जनक की, जो विदेह कहलाता था। यह याज्ञवल्क्य

की भूमि है, जिस पर एक समय ब्रह्मचर्चा हुआ करती थी।

"क्यों महाराज?" कवि पूछता है।

"कवि नहीं रहा था।"

"कवि तो अनेक हैं देव!"

"मेरा शेखर, मेरा पुनीत कहाँ है?"

"वह तो अकिंचन है महाराज!"

"वही तो अभिनव जयदेव है।"

अभिनव जयदेव!!

जय जगदीश हरे...

जय जगदीश हरे...

ललित लवंगलता परिशीलन
कोमल मलय समीरे--

और कवि ने गाया था—

सरस वसंत समय भल पाओल
दखिन पवन वह धीरे—

"चलना होगा कवि!" विदूषक कहता है।

कवि की ओर देखकर महाराज के स्वर निकलते हैं:

की हम साँझक एकसरितारा
भादव चौठिक ससी
रथि दुहु माझ कओन मोर आनन
जे पहु हेरसि न हँसी।

हठात् कवि गाने लगता है—

साए साए कहह कन्हु
कपट करह जनु
कि मोरा भेल अपराधे...

कहीं एक कोने में कोई जल्दी-जल्दी लिख रहा है। वह कवि का लेखक है, सतत उद्यत और तत्पर...

राजा के नयनों में आनन्द फैल गया है, विदूषक के होंठों पर तृप्ति की मुस्कान है। कवि भूल गया है...

न मोयँ कबहु तुअ अनुगति चुकलिहुँ
बचन न बोलल मंदा

सामिसमाज प्रेम अनुरंजिए
कुमुदिनि सन्निधि चंदा।[1]

कवि चुप हो गया है।

राजा पूछता है, "और आगे?"

कवि नहीं बोलता।

"तो फिर चलो। वहीं पूर्ण होगी।"

"वहाँ मुझे आपने नहीं रुकवाया?"

"नहीं।"

"तो?"

"लखिमा देई ने।"

"महारानी ने!"

"हाँ, मित्र!"

"क्यों देव?"

"नारी का स्वभाव!"

अपनी स्त्री की कवि को याद आती है। वह कहता है, "किन्तु नारी तो राधा थी

विदूपक कहता है, ' कवि और राजा दोनों सुनें। पुरुष की कल्पना की नारी, इस पृथ्वी पर घूमती ही नहीं। पुरुष अपनी कल्पना में केवल अच्छा चित्र बनाता है, किन्तु नारी के ऐहिक रूप में रहने वाली लालसा, तृष्णा, वासना और उसके अहं को छोड़ देता है, इसीलिए वह भूल जाता है। स्त्री की खुशामद करने से ही निस्तार होता है।"

राजा कहता है, "अच्छा! आज तुम्हारी सफलता का रहस्य जाना।"

"महाराज! कहते हैं, प्राचीनकाल में मगध में एक नंद नामक राजा था। उसका एक शकटार नामक मंत्री था। एक रात शकटार की स्त्री रूठ गई। शकटार ने पूछा, 'तू कैसे मनेगी?' उसने कहा, 'जो तू सिर मुड़ाकर आए तो मैं मनूं।' शकटार ने सिर मुड़ाकर उसे प्रसन्न किया। राजा नंद की भी स्त्री रात में रूठ गई। राजा ने पूछा, 'तू कैसे मनेगी?' वह बोली कि 'तू अपने मुंह में घोड़े की लगाम डाल और मैं तुझे चलाऊँ। चलते में तू घोड़े की तरह हिनहिनाता रहियो।' राजा ने यही किया। प्रातःकाल सभा में शकटार के मुड़े सिर को देखकर राजा नंद ने कहा, 'कहो अमात्य, सिर कैसे मुड़ाया—घर में सब कुशल तो हैं?' अमात्य

1. हे सखा, कान्हू से कहो, मुझसे कपट न करें, मेरा अपराध क्या है? न तो मैंने तुम्हारी आज्ञा मानने में कभी चूक की है, न कभी दुर्वचन ही कहे हैं। हे स्वामी, मेरे साथ प्रेम को उसी प्रकार निबाहिए जिस प्रकार चंद्रमा कुमुदिनी के निकट रहकर उसे अपने प्रेम द्वारा अनुरंजित करता है।

मन-ही-मन लज्जित हुआ, किन्तु वैसे बड़ा चतुर था। तुरन्त बोला, 'महाराज ! रात मैंने स्वप्न में देखा कि एक स्त्री अपने वीर पति के मुँह में लगाम डाले चला रही है और वह बिचारा हिनहिनाता भाग रहा है। इसी की लाज में मैंने तो सिर मुड़ा डाला !' "

तीनों हँसते हैं।

विदूषक फिर कहता है, "कामिनी है न महाराज ! उसमें जो मान होता है न देव ! उसे पुरुष समझेगा ? उसे तो स्त्री ही वृद्धा हो जाने पर नहीं समझ पाती ! कामी उस नारी के मान का दास बन जाता है। योगी उसे देखकर भाग जाता है। आनन्द भी लेती है, किन्तु पुरुष को स्वार्थी कहती है और मातृत्व में तो उसने बड़ा ही भारी अहसान मानो पुरुष पर लाद दिया हो ! बिचारा गृहस्थ ! क्या-क्या झेले ! क्या-क्या न झेले !"

तीनों फिर हँसते हैं।

कवि-पत्नी सुन रही है। क्रोध से होंठ काटती है। सोचती है, ग्राम क्या मिल गया, इन्होंने सब-कुछ उगल दिया होगा ? नहीं तो राजा और विदूषक को क्या पता चलता ! देखूँगी, मैं तो जानती ही थी कि मुझसे मन-ही-मन घृणा करते हैं ! हाय, विधाता, तूने मुझे स्त्री क्यों बनाया, जो मैं इतना सब-कुछ करके भी ऐसी निराश्रित हूँ।

किन्तु वह क्या जाने बात लखिमा की हो रही है।

कवि-पत्नी सोच रही है, आज प्राण ही त्याग दूँगी।

किन्तु कवि चला गया है। उसे राजा ले गया है।

राजधानी में हलचल व्याप गई है।

"राजा ने बिसपी दे दिया।"

"किसको !"

"विद्यापति ठाकुर को !"

"धन्य है।"

"क्या धन्य है ? वाह ! क्या न्याय है ?"

यों मिली-जुली बातें। घात-प्रतिघात।

राजोद्यान सज रहा है। आज भी पूर्णिमा का-सा ही चंदा निकलेगा। उतना ही विशाल। कुछ छोटा हो जाएगा, किन्तु दिखाई नहीं देगा वह भेद !

लखिमा सुन रही है।

दासी सिर पर चंदन-जल छिड़क रही है।

महारानी को कभी-कभी मूर्च्छा आ जाती है।

वह पूछती है, "तो महाराज, आज पुष्करोद्यान में ही रहेंगे ? मल्लिका कुंज में नहीं आएँगे ?"

"लगता तो ऐसा ही है, देवी !"

एक और दासी अरगजा-लेप कर रही है।

हठात् रानी कहती है, "मैं शृंगार करूँगी। मैं भी चलूँगी वहीं। अब नहीं सहा जाता।" दासियाँ जाती हैं।

रात हो गई है। लो, वह लाल-सी चमक झाड़ियों के पीछे कैसी है ? अरे वही तो चन्दा है। अजीब-सा है न ! लाल ! जैसे पिघलता-तपता हुआ सुवर्ण। कितना सुन्दर है। अब वह धीरे-धीरे आकाश में ज्योतिपिण्ड की भाँति चढ़ता जा रहा है, और पता नहीं, क्यों समस्त वसुंधरा दूध से नहाई जा रही है !

अब वसंत का आनन्द थिरकने लगा है।

चारों ओर अबीर और गुलाल उड़ रहा है। सुन्दरियाँ चलती हैं तब पायलों की झनक-झनक से दिगंतों में वासना गमगमाने लगती है।

राजा बैठा है।

कवि गा रहा है।

ऋतुराज के आगमन से वृन्दावन मानो नवीन हो उठा है। नये-नये वृक्षों में नवीन पुष्प खिले हैं। नया ही वसंत है, नवीन मलयानिल बह रहा है और नये भ्रमरों के झुंड मस्ती से पागल हो उठे हैं। नये प्रेम में बेसुध होकर नवलकिशोर कृष्ण यमुना-तीर पर सुशोभित सुन्दर नवीन कुंजों में विहार कर रहे हैं। आम्र की नवीन मंजरियों के मधु को पीकर मत्त हुई कोकिला कुंजों में कूक रही है। सारी नवयुवतियों का चित्त भी प्रेम-रस से उन्मत्त हो उठा है और वे नवीन प्रेमरस की खोज में कुंज की ओर जा रही हैं। इसी मस्ती से विभोर वातावरण में नवल-किशोर और नागरि किशोरी भाँति-भाँति से मिलकर आनन्द मनाते हैं। कवि विद्यापति की मति इस मादक आनन्द से प्रेरित होकर इच्छा करती है कि वे दोनों ऐसी ही क्रीड़ा नित्य ही किया करें।

चारों ओर आनन्द छा गया है। ऐसा लगता है जैसे लता और वृक्षों ने मंडप जीत लिया है और चन्द्रमा की निर्मल ज्योत्स्ना ने चारों ओर उज्ज्वल प्रकाश विकीर्ण करके मानो भीतों पर सफेदी कर दी है। सरोवरों में पड़े पद्मनाल के जाल ही विवाह के इस अवसर में निर्मित किए गए ऐपन के चौक हैं और वृक्षों के कोमल लाल-लाल किसलय ही प्रकृति के परिधान हैं। आज विवाह की लालसा से ही ऋतुराज वसंत अपना पूर्ण शृंगार करके वनस्थलीरूपी वेदी पर आ गया है। सुहागिनों की भाँति भ्रमरियाँ मंगल-गान कर रही हैं। वरराज वसंत ने पुष्पों के मकरन्द को हस्तोदक बनाया है और चन्द्रमा अभिन्न मित्र-सा आ गया है। मन को प्रफुल्लित करने वाला मन्द समीर चारों ओर लहरा रहा है। चम्पा और पलाश के सुनहले तथा माधवी लता के श्वेत पुष्प के स्तबक मानो तोरण हैं और वेलवृक्ष से निरन्तर झरते पुष्प हैं धान का लावा जिन्हें पृथ्वी पर बिखेरा जा रहा है···अनन्त-

यौवना प्रकृति को सुनहले केशर-कुसुम मिले हैं सिंदूर से और वसन्त को बालाओं का मान। यह तो कामदेव का कौतुक ही जो ठहरा।

युवतियाँ, तरुणियाँ, लोक-लाज त्यागकर नाच रही हैं। आज व्यापारी-श्रेष्ठ वसन्त राजवर के रूप में जो आ गया है। सुलक्षण नारियाँ, हस्तिनी, चित्रिणी, पद्मिनी, श्यामा, वयस्का, नव बालाएँ मिलकर मंगलकार्य में रत हो गई हैं। सबने श्रृंगार किया है, कोई रेशमी सुन्दर वस्त्र धारण किए है, कोई अपनी शंख-सी सुन्दर ग्रीवा पर मालाएँ डाले है। किसी ने चन्दन घिसकर कटोरे में रखा है और कोई सुहागिन आँचल में कपूर और पान भरे खड़ी है। किसी के शरीर पर मले केशर की गंध आ रही है और किसी की मोतियों से भरी माँग पर आलोक झिलमिल कर रहा है। विभोर हो रहा है नृत्य।

राजा कुसुम्भा पी रहा है।

अब नृत्य में वसन्त का स्वागत हो रहा है···

नवीन कोमल पल्लवों का आसन बिछा दिया गया है, श्वेत कमलों से मंगल कलश की स्थापना की गई है।

नर्तकी नृत्य कर रही है। पुष्पों से टपकता पराग अब उसकी मुद्राओं में गंगाजल की भाँति बह रहा है और दीप बुझाने के लिए बढ़े हाथों ने हठात् अशोक की कोमल लाल-लाल पत्तियाँ हिला दी हैं··

तो वह वसन्त को चूम रही है···

चन्द्रमा है कि जमाया हुआ दही और भ्रमरी कैसी नाइन-सी घूम-घूमकर सारे नागरिकों को न्यौता दे आई है। वृक्षों के किसलय से रेशमी दुकूलों पर केतकी का पराग मांगलिक छींटों-सा लग रहा है···

कवि ने देखा। बाईं ओर झाड़ी के पीछे क्लांतवदना कोई एकाकिनी खड़ी थी। कवि ने सहसा गाना प्रारंभ कर दिया :

कोलाहल करता हुआ मलयानिल दसों दिशाओं में बह रहा है अतः हे सखी ! वाद न कर। साधन नहीं रहा तो मन्मथ ने मानिनियों के मन को ही नीरस कर दिया। हे सखी ! शीत और वसंत में विवाद हो गया है। कौन करेगा उनकी जय-पराजय का निर्णय ? लो ! दोनों ने चुना है दिवाकर को और महापंडित द्विजवर कोकिल को साक्षी। उसने तो कह भी दिया है। दिवाकर का निर्णय है। नवीन किसलय ही जय-पत्रक हैं, उन पर भ्रमर पंक्तियों से लिखे हैं ये अक्षर ! वादी वसंत से प्रतिवादी शिशिर भयभीत हो गया है और तभी तो वह ओस की बूँदों के रूप में प्रकट हुआ है। कुंद के सुन्दर कुसुम खिले हैं और कैसे प्रयत्न से वसंत विजयी हुआ। कवि विद्यापति गाता है, राजा सिवसिंह इस रस को जानते हैं।

अचानक उस क्लांतवदना के अश्रु गालों पर टपक पड़े हैं। कवि देखता है। सब विभोर हो रहे हैं। चाँदनी में दीपमालिकाएँ कितनी सुन्दर लग रही हैं !

ध्वनि आती है—द्रिगि द्रिगि धौद्रिम द्रिमिया···

यह लो, नृत्य प्रारंभ हो गया है। वही रास, आनन्द, करताल सम पर उठते हैं। मृदंग बजने लगा है। मादल बोलता है···डिमडिम डफ डिमिक डिम। मंजीरों से स्वर आता है, रुनझुन, रुनझुन···किंकिणियाँ रणन करती हैं। वलयों से कन-कन की झंकार झूमती हैं। मधुवन में तुमुल रास हो रहा है। बीन और मुरज बज रहे हैं—सा रे ग म प ध नि सा···सा रे ग म प ध नि सा—आरोह और अवरोह के स्वर गूंज रहे हैं··स्वर मंडल में राव हो रहा है···श्रम से स्वेद ने नर्तकियों को भिगो दिया है, उनकी कवरियाँ चंचल होकर खुल गई हैं, गलों में पड़ी मालती की मालाएँ टूटकर मानो मोती बिखेर रही है।

और कवि गाता है :

हे मानिनी ! अब मान करना उचित नहीं है। इस समय तो ऐसा लग रहा है जैसे कामदेव सोते से जाग उठा हो। कैसी शीतल रात्रि है ! चन्द्रमा झकाझक चमक रहा है। ऐसा समय फिर नहीं आने का। इस अवसर पर प्रियतम से मिलने में जो सुख है, उसे तो वही जान सकता है, जिसने इसका कभी अनुभव किया हो !

झाड़ी के पीछे नारी के मुख पर एक शांति छा गई है। कवि तन्मयता से गा रहा है···

रभसि रभसि अलि
विलसि विलसि करि
करए मधुर मधु पान,
अपन अपन पहु
सबहु जेमाओलि
भूखल तुअ जजमान।[1]

नारी मुस्करा उठती है, मानो उसकी चेतना में कोई सौम्यता भर गई है। अब उसका वह कुंठित अहं नहीं है सामने···वह धीरे-धीरे गल रहा है···

कवि गाता है—हे सखी ! तेरी त्रिबली की छवि ऐसी सुन्दर है मानो त्रिवेणी की ताल तरंग में गंगा-यमुना का संगम हो रहा है और संगम-स्थान पर उरज रूपी शंभु की स्थापना की गई है। हे बाले ! तेरा व्याकुल प्रिय इस तीर्थराज के संगम पर तुझसे दान माँगता है। तू उसे अपना सर्वस्व दान कर दे।

हे बाले ! मन की दशा बड़ी चंचल होती है। वह दीप की लौ की भाँति कभी

1. इस समय भ्रमर उमंग में आकर इठलाता हुआ सुन्दर पुष्पों के मधु का पान कर रहा है। हे सखी ! सभी अपने-अपने प्रियतमों को तृप्त कर रही हैं, तुम्हारे पति ही हैं जो रस से वंचित और भूखे हैं।

स्थिर नहीं रहता। तू अपने ज्ञान को सावधान कर। कवि विद्यापति कहता है कि अधिक संचित काम-पीड़ा बड़ी दुखदायिनी होती है···

नारी बाहर आ गई है। उसके सिर पर इस समय फूलों की मालाएँ हैं और हाथों में कुसुमों के आभूषण !

"कौन ! महारानी !" वृद्ध मन्त्री चमत्कृत-सा धीरे से पूछता है।

"हाँ।" सेनापति कठोर भ्रू-चालन करके स्वीकार करता है···

महारानी कहती है, "कवि ठाकुर !"

"महारानी !"

"क्या यह वासना ही नहीं है ?"

सेनापति प्रसन्न है, मंत्री भी।

किन्तु ठाकुर कहता है, "अनादि काल से यह सृष्टि शिव और पार्वती और राधा-माधव की क्रीड़ा से ही जीवन और शक्ति ग्रहण करती रही है। नारी का रूप ही समस्त संप्रदायों में अपनी साधनाओं का उद्गम रहा है। महाशून्य की कल्पना का लौकिक आनन्द इसीलिए स्त्री-पुरुष-मिलन के सुख की चरमासक्ति में गिना गया है। महारानी ! इसी आनन्द की अनुभूति में महाकवि कालिदास ने नारी को पार्वती के रूप में देखा था और उस उदात्त भूमि तक लाने के लिए जिसमें वासना अपने नग्न और पूर्ण रूप में होते हुए भी कल्मष से परे होती है; नारी की क्षुद्रता को हटाने के लिए महाकवि ने उससे तप करवाया था, जिसके कि फलस्वरूप वह अन्ततोगत्वा परमशिव पर लौकिक सर्जन के देवता काम के माध्यम से उसके अनंग बन जाने पर भी प्रेम के बल पर विजय प्राप्त कर सकी। जो इस लोक की व्याप्ति में परमात्मा के प्रसादों में काया को भूल जाता है और आंगिक सुख से अलग करके आत्मिक सुख को देखता है, वह वास्तव में सत्य को नहीं देखता। वासना को केवल अंग-चेष्टाओं में ही समाप्त करना तो वज्रयानियों और वाम मार्गियों का काम है। किन्तु वामा से परे तो योगी भी नहीं, क्योंकि वे वामा को कुण्डलिनी के रूप में देखते हैं। वासना एक सत्य है और वह एक लीला है, जिसकी वेदना में भी मिठास है, यदि वह प्रेम की विभोरता में तल्लीन है। यही तो राधा-माधव, शिव-शिवा की भूमियों का प्रसाद है।

राजा सिवसिंह तल्लीन बैठा है। महारानी कहती है, "महाकवि ठाकुर ! आप अमर होंगे, आप शाश्वत रहेंगे। आपने मेरे मन का संशय मिटाया है। वे इसी मार्ग से मिल जाते हैं न ?"

नारी आँखें उठाती है।

उन आँखों में गर्व है, आनन्द है, तृप्ति है, विभोरता है, वासना है, स्खलन का सुख है, माधुर्य है, अमर प्रतीक्षा की दुरूहता है, प्राप्ति को असीम बनाकर दूर से देख लेने की क्षमता है। वे आँखें देखती हैं। वे आँखें नहीं देखतीं। इनमें लज्जा

भी है, समर्पण भी, एक गोपनीयता है, एक रहस्य है, और फिर मुखरता भी है। अरूप की मूर्तिमती सत्ता उनमें आराधना का केन्द्र बन गई है, वैसे वे एक महा-शून्य-सी हैं जिसकी समता के लिए महापण्डित और महायोगी व्याकुल हो रहे हैं। इस क्षण जैसे उस स्थान से क्षुद्रता, अहं और नीचता का तिरोधान हो गया है। वे आँखें हैं कि युगांतरों में गूँजने वाली मुरारी की बेसुध कर देने वाली बाँसुरी की तान का मोहक सम्मोहन बरौनियों की छाया बनकर आत्मलय की पुतलियों में साकार जीवन की धारा को धीरे-धीरे स्पंदित कर रहा है।

कवि देखता है।

महामन्त्री नहीं समझता। न सेनापति समझता है।

किन्तु राजा सिवसिंह समझ रहा है। वह चुप है, शांत !

सभा विसर्जित हो गई है।

पंडित और विद्वानों में बातें चल रही हैं।

पक्षधर मिश्र कहते हैं, "कवि ठाकुर मेरे सहपाठी ठहरे !"

"क्या बात है !" नीलाम्बर कहते हैं। "तभी तो देसी भाषा का ठाठ बाँधा है। वाह, क्या कविता है !"

"संस्कृत तो अच्छी जानते हैं ?" रत्नाकर मिश्र कहते हैं।

"जानते क्यों नहीं हैं ?"

"फिर क्यों श्रम का नाश करते हैं ?"

"अरे भाई ! संस्कृत तो पुरुषों की वस्तु है।"

"तो मिथिला के पुरुषों के लिए वे लिखते कहाँ हैं ?"

"वे तो स्त्रियों के लिए लिखते हैं।"

"हाहाहाहाहा···"

"खूब कहा···"

"कुछ झूठ है ?"

"शिव शिव !"

"झूठ का क्या काम ?"

"किन्तु यह तो अच्छा नही।"

"राजा ही जाने।"

"राजा से क्यों न कहें !"

सभा हो रही है। कवि भीतर जाने वाला है।

सहसा दासी आकर कहती है, "कवि ठाकुर ! महारानी बुलाती हैं इधर !"

कवि जाता है।

"प्रणाम, कवि ठाकुर !"

सौभाग्यवती रहें, देवी !"

"आप जानते हैं ?"

"क्या महारानी !"

"आज पंडितों ने आपके विरुद्ध अभियोग लगाया है।"

"मेरे विरुद्ध ! क्यों ?"

"वे कहते हैं अवहट्ट तक तो ठीक था, किन्तु यह जो गँवारों की भाषा में विद्यापति कविता कहते हैं, वह क्या राजसभा के गौरव को गिराने वाली बात नहीं है ?"

"देवी क्या कहती हैं ?"

"मैं ?"

"हाँ, देवी !"

लखिमा नहीं बोलती। केवल देखती है। अब कवि के मानस में वे आँखें उतर गई हैं।

"कवि ठाकुर," लखिमा कहती है, "मुझे तो उन्ही कविताओं में अपने जीवन की सार्थकता दिखाई देने लगी है।"

कवि का हृदय हिलोरें भर रहा है।

दासी कहती है, "चलें कवि ठाकुर ! महाराज बैठे हैं।"

"चलता हूँ।"

"जाएँ।" लखिमा कहती है, "एक दिन अवश्य ही मनुष्य आपके गीतों में राधा-माधव के प्रेम की अमरता को देखेगा।"

"आपको विश्वास है, देवी !"

"है, कवि ठाकुर।"

कवि मुड़कर कहता है, "चल।"

दासी आगे चलती है।

सभा में सब दिग्गजों की भीड़ है।

महाराज कहते हैं, "कवि ठाकुर ! तुमने सुना ?"

"क्या देव ?"

"लोग कहते हैं कि कवि ठाकुर की भाषा ग्रामीण है।"

"मैं भी ग्रामीण हूं, देव !"

"किन्तु अब तो नागरिकों में है।" सेनापति कहता है।

"हाँ, परन्तु मेरी कविता इतने-से घेरे के लिए ही तो नहीं है न ?" राधा-माधव की लीला-सभाओं के लिए, मनुष्यमात्र के लिए है न ?"

कोई उत्तर नहीं दे पाता।

"सुना आप लोगों ने ? कवि ठाकुर क्या कहते है ?" महाराज कहते हैं।

विद्यापति गर्व से कहता है, "महाराज ! गर्वोक्ति न हो तो कहूं ? आज्ञा

है ?"

"निर्भय !"

"तो सुनें। बालचन्द बज्जावइ भासा, दुहूँ नहिं लागइ दुज्जनहासा।[1] यह मैंने बहुत प्रारंभ में कहा था।"

"यह आपका किस पर आक्षेप है ?" सेनापति कहता है।

"आप ही क्यों यह सुनकर क्रुद्ध हैं ?" कवि पूछता है।

वृद्ध मंत्री को हँसी आती है, मुँह फेर लेता है। सब मुस्करा जाते हैं।

सभा विसर्जित हो जाती है।

कवि लौट रहा है।

एक माधवी कुञ्च के पीछे एक स्त्री खड़ी उसे अपलक निहार रही है।

दासी कहती है, "महारानी !"

स्त्री नहीं चौंकती।

पूछती है : "क्या है ?"

"देवी ! नील-कमलों का हार गूँथ दूँ ?"

"हाँ, गूँथ दे।"

"महाकवि गए देवी !"

"चले गए !"

"बुलाऊँ ?"

"नहीं। कवि बार-बार नहीं बुलाए जाते। वे तो देवता के समान होते है।"

"देवता !"

"हाँ, री !"

"कवि ठाकुर तो कहते हैं कि हमारे महाराज शिव के अवतार हैं।"

"तो अवश्य हैं।"

"क्यों देवी ?"

"कवि ठाकुर जो कहते। वे तो भगवान।

दासी नहीं समझती।

"मैं जाऊँ, देवी ?"

"तू जा !"

"आप चलेंगी !"

"तू चल।"

दासी चली जाती है।

---

1. बालचन्द्रमा और विद्यापति की भाषा, इन दोनों को दुर्जनों के हास्य नहीं लगते।

महारानी खड़ी देखती रहती है। अब कवि नहीं दीख रहा है, किन्तु वह इसी पथ से गया जो है।

वृद्ध मंत्री का रथ धीरे-धीरे जा रहा है। नदी-तीर पर माँझी गा रहे हैं··· जिसका मन जिस पर अनुरक्त होता है वह वहीं घुस-पैठ करता है। चाहे जितने यत्न से मन को बाँधकर रोक रखो वह तो उसी ओर दौड़ पड़ता है, बिल्कुल उसी प्रकार जैसे नीचे स्थान में पानी स्वतः भर जाता है। कवि विद्यापति कहता है कि इस रसरीति को केवल लखिमा देवी के प्राण-वल्लभ, समस्त गुणों की खान महाराज सिवसिंह ही जानते हैं।

वृद्ध मंत्री कहते हैं, "अरे विश्वनाथ !"

"हाँ, महाराज।" सारथि कहता है।

"क्या गाया, इसने क्या गाया ?"

"ऐं, महाराज !"

"ये लखिमादेवी का नाम लेता था न ?"

"हाँ, प्रभु !"

"बुला तो इसे।"

"प्रभु ! वह कवि ठाकुर का गीत गाता था।"

"कवि ठाकुर। कवि ठाकुर क्या लखिमादेवी का नाम भी गीतों में जोड़ रहा है कि राह-बाट के लुच्चे ऐसे गंदे गानों में मिथिला के कुलीन राजवंश की महारानी का नाम जोड़ते हैं ?"

"नहीं, प्रभु !"

"क्या नहीं प्रभु ? मैंने सुना है न ?"

"हाँ, प्रभु ?"

"लौट चल। मैं महाराज से कहूँगा।"

रथ लौट आता है।

द्वार पर सेवक झुकते हैं।

"आज्ञा प्रभु !"

"महाराज हैं भीतर ?"

"हैं प्रभु !"

"क्या करते हैं ?"

"कवि ठाकुर से गीत सुनते हैं। लखिमादेवी भी हैं।"

वृद्ध मंत्री के पाँव ठिठकते हैं। वे लौटते हैं।

"सूचना दे दूँ, प्रभु !"

"नहीं।"

"क्यों प्रभु···! मिलेंगे नहीं !"

"फिर मिलूंगा। मुझे गीतों का नहीं, राजकाज का काम है।"

"यहाँ तो प्रभु !" सेवक लाचारी की मुद्रा दिखाता है। जैसे यहाँ तो बहुत बुरा काम हो रहा है किन्तु मैं क्या करूँ।

वृद्ध चला जाता है। तब वह अपने साथी से कहता है, "बूढ़ा बड़ा खिसिया रहा है। कवि ठाकुर ने तो मज़े बाँध दिए। क्या कविता लिखी है···

वह धीरे-धीरे गाता है :

अँगने आओब जब रसिया
पलटि चलब हम इषत हँसिया।
रस नागरि रमनी
कत-कत जुगनि मनहि अनुमानी

वह उठता है और फिर कुछ नृत्य-सा करता है—

आवेसे आँचर पिया धरबे
जाएब हम न जतन बहु करबे।
कँचुआ धरब जब हठिया
करे कर बांधब कुटिल आध दिठिया।

सब प्रसन्न होते हैं। वह फिर गाता है :

रभस माँगव पिया जबहि
मुख मोड़ि विहँसि बोलब नहि नहि।
सहजहि सुपुरुख भमरा
मुख कमलक मधु पीअब हमरा।
तखन हरब मोर गेआने
विद्यापति कह धनि तुअ धर धेआने।[1]

उसी समय सेवक मुड़कर देखता है और 'बाप रे बाप' कहकर सामने के कुंज में जा छिपता है। वृद्ध मंत्री क्रोध से देख रहे हैं, वे गाना सुनकर लौट आए हैं।

1. हे सखी, जिस समय मेरे रसिया मेरे आंगन में आएंगे मैं उन्हें देख मंद-मंद हंसती हुई पलट-कर चलूंगी। मैं रसीली बड़ी चतुरा हूं। कितनी-कितनी युक्ति से मान मनवाऊँगी। जब आवेश में वे मेरा आंचल पकड़ेंगे, भले ही वे कितना भी यत्न कर लें, मैं पास न जाऊंगी। जब वे हठ करके मेरी चोली पकड़ेंगे तब हाथ पकड़कर कठोर दृष्टि से देखूंगी। वे जब रतिक्रीड़ा चाहेंगे तब मैं मुंह मोड़ मन ही मन हंसकर भी 'नहीं', 'नहीं' ही कहूंगी। किन्तु भ्रमर तो स्वभाव से ही फूलों का मकरंद पीता है, वैसे ही मेरे मुख-कमल के रस को वे भी सहज ही पिएंगे। उस समय तो वे मेरे सकल ज्ञान को हर लेंगे। विद्यापति कहता है कि हे बाले, तेरा ऐसा विचार सचमुच अनुपम और धन्य है।

"क्या देख रहे हैं, महामंत्री !" एक गंभीर स्वर सुनाई दिया है। वह वृद्ध राजपुरोहित हैं।

वृद्ध मंत्री को बोलने में समय लग रहा है।

"आपने सुना !" वे कहते हैं।

"क्या ?"

"यही, जो वह गा रहा था ?"

"वही क्या गा रहा था ? मिथिला ही जो गा रही है। उसी का क्या दोष है ?"

"तो क्या यह ठीक हो रहा है ?" मंत्री कहता है।

"भगवान जाने।"

"आप धर्म की स्थापना कहते हैं। ब्राह्मण शास्त्र की मर्यादा देता है ! आप क्यों चुप हैं ? यह जो वासना का नग्न ताण्डव हो रहा है, वह क्या ठीक है ?"

"ठीक कहाँ है ?"

"फिर उसका उपाय ?"

"कोई नहीं।"

"क्यों ?"

"क्योंकि पहले राजा ही विद्यापति ठाकुर के प्रशंसक थे, अब तो कवि रानी के भी उपास्य हो गए हैं।"

"यह आप क्या कह रहे हैं ?"

"राजपुरोहित होकर क्या इतना भी नहीं जानूंगा कि क्या कह रहा हूँ !"

"किन्तु राजा राजनीति से दूर हुए जा रहे हैं।"

"प्रेम-रस की यही तो बात है महामंत्री ! हम और आप तो अब वृद्ध हो गए हैं न ?"

वे हँसते हैं।

वृद्ध मंत्री नहीं हँसते।

उनके मन में दावानल सुलग रहा है। वे नहीं समझ पाते।

रथ पर लौटते हैं।

मार्ग में किसान खेतों में गाते हुए सुनाई देते हैं :

सुनु रसिया
अब न बजाऊ विपिन बंसिया···

वे नहीं सुनना चाहते किन्तु ध्वनि फिर भी कानों में पड़ रही है। वे मन ही मन कहते हैं :

भज गोविंदं,
भज गोविंदं,

गोविंदं भज
मूढमते···

किन्तु मन नहीं लग रहा है···

सुनाई देता है···

अनुभव ऐसन मदन भुजंगम
हृदय मोर गेल डसिया···

फिर वही कामदेव भुजंग बन गया। हृदय को डस गया ! अनाचार···

भज गोविंदं,
भज गोविंदं,
गोविंदं भज
मूढमते···

और फिर स्वर सुनाई देता है :

विद्यापति कह···

वही विद्यापति !

जिधर देखो विद्यापति !

मिथिला पागल हो गई है ?

हाँ, मिथिला पागल हो गई है।

रात हो गई है।

दासी कहती है, "देवी ! सोई नहीं ?"

"नींद नहीं आ रही है।"

"क्यों देवी ?"

"पता नहीं।"

"आज वृद्ध मंत्री क्रुद्ध होकर कहते थे···"

"क्यों कहते थे ?"

"क्या ?"

"मिथिला पागल हो गई है।"

"क्या भला ?"

"क्यों ?"

"जिधर देखो वहीं विद्यापति गूंज रहा है।"

"सच !"

और वही आँखें फिर चमक उठती है···

वही आँखें, समुद्र के कूलों-सी, अथाह तरंगों वाली···

"मालती कहाँ है ?"

"बाहर है देवी !"

"उसे बुला तो।"

मालती आती है।

"मालती !"

"हाँ देवी !"

"तू गाती है बहुत सुरीला।"

"कहाँ देवी, मैं तो···"

"तो गा न ? सखि कि पुछति···"

मालती बैठ जाती है। तानपूरा छिड़ता है। एक वीणा मिलाती है। मंदारिका मृदंग संभालती है।

मालती गाती है। गीत के विभोर स्वर फूट निकलते हैं :

हे सखी ! प्रेम के क्षेत्रों में मेरे अनुभवों को मुझसे क्या पूछती हो ? प्रीति और अनुराग की बातें तो वही बता सकता है जिसने क्षण-क्षण पर प्रेम के नये-नये अनुभव ग्रहण किये हों।

मालती का स्वर अत्यन्त मधुर हो जाता है :

जनम अवधि हम रूप निहारल
नयन तिरपित भेल
सेहो मधु बोल स्रवनहि सूनल
स्रुति पथ परस न भेल

रानी झूम रही है।

क्यों न झूमे ! जनम अवधि तो रूप देखा, और नयन तृप्त ही नहीं हुए। वही मीठे बोल सुनते जीवन निकल गया किन्तु कभी कानों की तृप्ति नहीं हुई।

रूप भी, माधुरी भी। कितनी डुबान, सराबोर ··तन्मयता का अछोर पथ··· दूर-दूर तक एक ही लय···

और फिर किस सुहागिन के साथ रात बिता दी तुमने कान्ह ! यह मैं कब पूछती हूँ ? मैं तो बस इनता जानती हूँ कि लाख-लाख युग तो बीत गये परन्तु हृदय में तुम्हारी प्रीति को धारण करने पर भी अभी हृदय में शीतलता नही छाई। रस तो रसिक ही जानते हैं। अनुभव को क्या कोई देख सकता है ? विद्यापति कहता है, लाखों में भी हृदय को शीतल करने वाला एक नहीं मिलता।

गीत थम जाता है, धीरे-धीरे उतर कर।

रानी विभोर बैठी रहती है···

आँखें कैसी खुली रह गई हैं·· जाने कैसा अमृत भर गया है इन आँखो में !

और यों आनन्द की कली सिरजती है, आनन्द ही फूल बनता है, उसी के पराग में, उसी में सुरभि है, जो उसी के पवन पर हिन्डोलित होकर, उसी के अंतराल में व्याप्त हो जाया करती है।

किन्तु सब कुछ आनन्द नहीं है।

वृद्ध महामन्त्री द्वार पर पूछता है, "महाराज हैं भीतर ?"

"हैं प्रभु !"

"व्यस्त हैं ?"

"आपके लिए कभी नहीं, ऐसा वचन है।"

प्रसन्न होकर भी वे चिंतित ही हैं। ड्योढ़ी पार करके दूसरी ड्योढ़ी पार करते हैं।

"महाराज !!"

"आइए मंत्रिश्रेष्ठ !"

वृद्ध बैठते नहीं।

बैठें ब्राह्मण देवता।"

"देव ! जिस दिन इस भूमि में ब्राह्मण बैठ जाएगा, उस दिन फिर खड़ा कौन रहेगा ?"

"क्यों, क्या हुआ ?"

"दिल्ली के सुल्तान ने मिथिला की ओर आँख उठाई है। धराशायी बंगाल को रौंदकर वह फिर दोनों ओर से मिथिला को भस्म कर देना चाहता है। और आप महाकवि विद्यापति ठाकुर के प्रेम-रस में डूब रहे हैं।"

"महामंत्री !" भीतर के प्रकोष्ठ के द्वार से तीखा स्वर सुनाई देता है।

"कौन ?" महाराज देखते हैं।

महारानी !

महारानी हँसकर बढ़ती है और कहती है, "तो मंत्रिश्रेष्ठ भयभीत हो गए हैं। मेरे स्वामी को आप नहीं जानते ब्राह्मण देवता ! महाकाल शिव ने जिस प्रकार देवताओं के रक्षक कार्त्तिकेय को जन्म देने के पूर्व आनन्द किया था न, वैसे ही मेरे स्वामी ने भी आनन्द किया है। कवि ठाकुर की पदावली क्लीव और लोलुप नहीं बनाती मन्त्रिश्रेष्ठ ! वह जीवन के आनन्द को भोगने की क्षमता देती है।"

प्राँगण के द्वार पर घोड़ा रुकता है।

घोड़े से उतरता है विद्यापति। हाथ में लंबा खड्ग है।

लखिमा की आँखों में वही युगों की तृप्ति अतृप्ति बनकर झलक रही है।

विद्यापति पुकारता है, "शिव के अवतार हैं !"

"हैं, कवि !" रानी कहती हैं।

राजा मुस्कराता है।

"तत्पर हैं न महाराज ?" कवि पूछता है।

"तुम चलोगे, कवि ?"

"निश्चय !"

"फिर गीत कौन लिखेगा ? मैं तो प्रहरी हूँ, मुझे जाना है, तुम क्यों ?"

"प्रहरी आप हैं, मैं नहीं ?"

विदूषक कहता है, "तो सभी प्रहरी हैं। कहीं मैं तो नहीं हूँ ?"

महाराज कहते हैं, "नहीं विदूषक ! पहली खेप पुरुषों की जा रही है।"

सब हँसते हैं।

महाराज कहते हैं, "मन्त्रिश्रेष्ठ ! चिंतित क्यों हैं ?"

महाराज चलते हैं। भीम गजराज की गति है उनकी ! लखिमा देखती है। तृप्त होती हैं आँखें। फिर भर आती हैं। कहती है, "ठहरें महाराज !"

"क्यों देवी !"

"मंगल अर्चना तो कर लूँ।"

दासियाँ दौड़ती हैं।

तब रानी थाल उठाकर रोली को पानी में भिगोकर आरती करके घोल धरती पर गिराती है।

"कहें देवी !" कवि कहता है, "तू मिथिला का, मिथिला तेरी !"

"तुम कहो कविराज !"

"मैं तो युद्धभूमि में भी कहूँगा।"

"चलोगे कवि ?" राजा पूछते हैं।

"कौन रोकेगा मुझे ?"

"मिथिला।"

"क्यों ?"

"मिथिला को गीत चाहिए।"

"वह कौन-सा गीत है, देव ! जो मिथिला की स्वतंत्रता से भी बड़ा है ?"

"है कवि, है।"

"मैं नहीं जानता देव।"

"इसी से तो तुममें गंध है रे सुवर्ण।"

"कैसे महाराज !"

"तुम इस समय आवेश में जो हो।"

"क्यों देव !"

"क्योंकि मैं महाराज हूँ और देख रहा हूँ कि बहुत ही महत्त्वपूर्ण दिखाई देने वाले यह संघर्ष वास्तव में मूल संघर्ष नहीं हैं। मिथिला हार भी सकती है, शिवसिंह मर भी सकता है, किन्तु क्या मिथिला मर जाएगी ?"

"क्या कहते हैं महाराज !" वृद्ध मंत्री कहता है, "यह तो कायरता की बात है ?"

"कायरता नहीं मंत्रिश्रेष्ठ ! सत्य है ! जो कायर हैं वे मृत्यु के भय से सदैव सुनहला देखकर अपने को छलने का प्रयत्न करते हैं। जो जानता है कि युद्ध में

विनाश भी है, मृत्यु भी, और तब भी वह नहीं डरता, विचलित नहीं होता, वही क्षत्रिय है। एक ओर हाथ में खड्ग लेकर उससे टपकती लहू की बूँदें देखकर मुस्कराना और दूसरी ओर पुष्पमाल लेकर उसकी गंध का आनन्द लेते हुए गीतों में डूबकर जीवन के दोनों पक्षों का आनंद लेना केवल उसी क्षत्रिय का काम है, जो जीवन को देता है औरों के लिए, और जो सुख लेता है लोक को सौंदर्य देने के लिए। यही मैंने किया है महामंत्री। मैंने रस की धारा में स्नान किया है, धन्य हों यह विद्यापति ठाकुर, जिन्होंने मेरे रोम-रोम को तृप्त किया है। मेरे पास कल के लिए कुछ नहीं है, जो है सो आज के लिए, अब के लिए है, और कवि के पास वह है, जो आज के लिए भी है, कल के लिए भी। यह न समझें कि कायर विद्यापति की कविता सुनकर सच्चा आनन्द ले सकते हैं। कह नहीं सकता, भाग्य अज्ञात है, जिऊँगा या मरूँगा, किन्तु इस तलवार का पानी और कवि ठाकुर के गीत का हिंडोल कभी धोखा नहीं देगा। मैं ढोंगी नहीं हूँ जो लोक-मानस का आनन्द छोड़कर धर्म के बंधनों में बँधा रहता। मिथिला का मैं प्रहरी हूँ और अब मुझे विदा दें।"

बाहर तूर्यनिनाद हो रहा है। नरसिंहे बज रहे हैं। नगाड़े की धक-धक-धक-धक भीषण स्वर से हृदयों को आवेश से भरे दे रही है।

महामंत्री कहते हैं, "महाराजाधिराज! दिल्ली सुल्तान फीरोज़ तुगलक की मृत्यु के उपरांत कोई भी समर्थ शासक दिल्ली में नहीं रहा है। अभी-अभी तैमूरलंग भयानक रक्तपात करके इस देश को हत्या और लूट से रँग गया है। गुजरात, मालवा और जौनपुर के मुसलमान शासक स्वतन्त्र हो रहे हैं। जगह-जगह राजपूत राजा सिर उठा रहे हैं। ऐसे समय दिल्ली का निर्वीर्य सुल्तान मिथिला को दबाने आया है। यह तो कुछ नहीं कर सकता। अभी तो दिल्ली अकालों की मार से उठ भी नही पाई है। रोज़ सिंहासन पर दिल्ली एक नया शासक देखती है। इकबाल खाँ और सुल्तान महमूद का साथ बन गया। परन्तु चला नहीं। तब सुल्तान ने जौनपुर के इब्राहीमशाह की भी सहायता माँगी। किन्तु जब काम न चला तो वह कन्नौज में आ गया। और उसके व्यभिचार और अत्याचार से प्रजा त्राहि-त्राहि करने लगी। यह तुर्क बड़ा ही विलासी है। इकबाल को सुल्तान के सूबेदार खिज्र खाँ ने युद्ध में मार डाला है। यह दुर्बल सुल्तान महमूद ही भाग्य से इस समय दिल्ली का सुल्तान है। और उसी ने अपने घोर विलास की तृष्णा में लूट से अपने असंतुष्ट सिपाहियों को बहलाने के लिए मिथिला की वीरभूमि की ओर ललचाकर देखा है। खिलजियों के समय में, जबकि भयानक संकट था, मिथिला केवल कर देकर बच गई थी। इसके उपरांत कोई इसे नहीं दबा पाया। बोलिए! क्या आज्ञा है?"

"युद्ध!" शिवसिंह गरजते हैं।

गरजती है सेना !

महल के झरोखे से लखिमा की आँखों का पानी गिरता है।

सेनाएँ सिंहद्वार से बाहर निकल जाती हैं।

रानी एक लंबी साँस छोड़ती है। कहती है, "मालती ! जीवन तो असार ही है न ?"

"सभी पुरुष कहते हैं देवी···"

"हाँ, किन्तु कवि में स्त्री भी होती है···तभी वह संकट में, विनाश में, हाहाकार में भी···जीवन के शाश्वत रस को नहीं भूलता और उसे जगाए रखता है··· वही तो मेरे कवि ठाकुर करते हैं···"

फिर वह आँखें पोंछती है···

और फिर आँखें मींचकर प्रणाम करती है, सर्वव्यापक को···

कुछ दिन बीत जाते हैं।

विजयी सेनाएँ मिथिला में लौट रही हैं। विद्यापति ठाकुर घोड़े पर गा रहे हैं :

महाराज सिवसिंह ने दूरस्थ दुर्गम गढ़ों को केवल अपनी हुंकार और उमंग से ही तोड़ डाला और अति दुर्गम गुप्त गढ़ों को बात की बात में नष्ट कर दिया। महाराज सिवसिंह ने दिल्लीपति सुल्तान की सीमा को पहुँची हुई मर्यादा को भी रणभूमि का दर्शन कराया।

"जय जय···"

"महाराज सिवसिंह की जय···"

"शत्रु-विक्रम···दिल्ली सुल्तान-विजेता महाराज सिवसिंह की जय···"

तुरंगों के गमन का एक स्वर···

भाले ढालों से टकराते हैं···

स्त्रियाँ गवाक्षों से लवा, फूल फेंकती है; रोली, अबीर हवा में फैल रही है··· पथ के दोनों ओर किसान, नागरिक, दल के दल लोग खड़े हैं। महाराज ऊँचे हाथी पर हैं, कवि घोड़े पर से गाता है, आज उसका स्वर गंभीर मेघ-गर्जन-सा है···

डंके का कठोर शब्द, चंचल वायु में लहराती पताकाओं से सुसज्जित रण-भेरी, कोहल तथा शंखनिनाद से त्रिलोक को कंपित करने वाली वाहिनी के साथ जय-ध्वनियों से समस्त व्यापक वसुन्धरा और त्रिभुवन एक साथ गुंजायमान हो उठे, जिस प्रकार केतकी पुष्प का सौरभ चारों ओर के मलय को सुरभित बना देता है।

पार्वत्यनद जिस प्रकार प्रचण्ड वेग से बहता है और वायुमण्डल में जिस वेग से गरुड़ उड़ता है, उसी प्रकार सूर्य के समान तपस्वी और प्रतापी महाराज

सिवसिंह ने अपनी सेना के साथ यात्रा की है। महाराज सिवसिंह की वाहिनी की प्रचण्ड गति से स्वर्णगिरि सुमेरू कम्पायमान होने लगा, जय-जय-निनाद से समस्त पृथ्वी आक्रांत हो गई, और आकाश भी जयजयकार की प्रतिध्वनि से गूँजने लगा। तुरंगों की हिनहिनाहट और पदातिकों के पदों की चाप से उत्पन्न घोर शब्द को कौन सह सकता है !

शत्रुओं के रुधिर में भीगी हुई तलवारें समरांगण में इस तरह अपनी चंचल छटा छिटकाने लगीं जैसे वर्षा के मेघाडम्बर में दमकती विद्युच्छटा अपना तीव्र प्रकाश दिखाकर छिप जाती है। भीषण रणभूमि में उन्नद्ध योद्धाओं की गर्जना मेघों की तुमुल गर्जन और कठोर कड़क की भाँति सुनाई देती थी। असंख्य तुरंगों की भारी टापों से धरित्री चूर-चूर हो गई और चारों दिशाएँ और दिग्कोण धूलि से आच्छादित हो गए। भयंकर बाणों की धारासार वृष्टि से व्योम आपूरित हो गया और शत्रु के शोणित से वसुधरा इस प्रकार भीग-भीग गई जैसे आषाढ़ की घनघोर वर्षा से जलप्लावन हो जाता है। संग्राम-भूमि में रुण्ड और मुण्ड नाचते फिरते थे और शृगाल प्रसन्न हो-होकर चिल्ला रहे थे। चारों ओर एक भयानक शब्द सुनाई देता था। भूत और प्रेत रक्त, मांस और मेद से तृप्त होकर बीभत्स आनंद से कूदने लगे। बैताल भूत-पिशाच जी-भरकर शोणित पीकर उन्मत्त-से धूधड़ाम करते नाचते-कूदते गिरने लगे। महाराज सिवसिंह की सेना ने अरियों को खंड-खंड करके नष्ट कर दिया और समस्त रणभूमि को शत्रुओं के रुण्ड-मुण्डों से ढककर अलंकृत कर दिया। उनका देदीप्यमान कलेवर पूर्णिमा के चंद्रमा की भाँति प्रकाशवान और केतकी पुष्प की भाँति सुगंधित हो उठा। अभिनव जयदेव सुकवि विद्यापति कहता है कि महाराज सिवसिंह ने अपने सुकृत और सुन्दर प्रबन्ध से राजा राम की भाँति फिर इस संसार में धर्म की प्रतिष्ठापना की है और अपने अतुलनीय दानों से दधीचि की अमर कीर्त्ति को गौरवान्वित किया है। नरों के इन्द्र महाराज देवसिंह के प्रिय पुत्र महाराज सिवसिंह पुरुषसिंह हैं, वे समस्त गुणों की खान हैं, और शत्रुओं का समूल विध्वंस करने वाले हैं। केहरी की भाँति एकच्छत्र राज्य करने वाले महाराज सिवसिंह स्वयं समस्त कलाओं के निधान हैं।

जय···जय···

दिल्ली-मुल्तान-विजेता महाविक्रम महायोद्धा की जय···

मिथिला-मुकुट चूड़ामणि महाराज सिवसिंह की जय···

पुरुष-पराक्रम महातेजस्वी सकलगुण-निधान दिगत-व्याघ्र महाराज सिवसिंह की जय···

अब नगाड़े बजते हैं ··धक्धक्···धक्धक् · ललनाएँ शंख फूँकती हैं···

गवाक्ष से महारानी गलहार फेंकती है। पुष्पमाल जाकर महाराज के गले में

गिरता है।

तुमुल निनाद होता है···जय···जय···

और तब एक फूल गिरता है, विद्यापति के ऊपर, कवि उठाकर सिर पर चढ़ाता है और सेना निकल जाती है···

जयजयकार गूँजता रहता है, गूँजता रहता है···

जय···जय···पराक्रम और जय···

युद्ध समाप्त हो गया है। महारानी प्रसन्न रहती हैं। कई दिन व्यतीत हो गए हैं। कवि बिसपी गया है।

लौटते ही सेवक कहता है, "प्रभु !"

"क्या है, मधाई ?"

"महाराज के यहाँ से घुड़सवार आया था।"

"क्या संवाद ले आया ?"

"महाराज अस्वस्थ हैं।"

"कब से ?"

"तीन दिन हुए।"

"मुझे आज सूचना दी ?"

"कहते थे, पता चला था, कवि ठाकुर यहाँ नहीं हैं। आज पुछवाया था कब आ रहे हैं ? मैंने कहलवाया आज ही। बोला वह : महाराज ने स्मरण किया है।"

"तो रथ तैयार खड़ा है न ? कह दे खोले नहीं।"

"प्रभु, तनिक विश्राम कर लेते ?"

"महाराज की अस्वस्थता जानकर विश्राम करूँ ?"

सेवक चला जाता है।

प्रासाद के विशाल अलिंद के सामने रथ रुकता है। कवि उतरता है।

विशाल प्रकोष्ठ में महाराज सुवर्ण के पलंग पर लेटे हैं। बड़े-बड़े पंखे लिए दो सेवक खड़े हैं।

कवि कहता है, "अभिवादन करता हूँ महाराज !"

"कौन ? कवि ठाकुर !"

"हाँ, महाराज ! इस दीन को इतना अकिंचन समझा कि स्मरण तक नहीं किया ?"

पर्दा हटता है।

महारानी आती हैं।

पलकें कुछ भारी हैं।

"कवि ठाकुर, प्रणाम !"

"अखंड सौभाग्यवती रहें महारानी !"

"तुम्हारी जिह्वा पर सदैव सरस्वती जीवित रहे।"

"मुझे बुलवाया तक नहीं।"

"हाँ, मैंने महाराज से कहा था।" महारानी कहती हैं।

द्वार पर सेवक आकर कहता है, "देव ! छोटे महाराज पधारे हैं।"

"कौन पद्म ? बुला ले।"

पद्मसिंह आते हैं। बैठते हैं। यथोचित वार्तालाप होता है।

सिवसिंह कहते हैं, "कवि ठाकुर ! मेरे बाद मिथिला के सिंहासन के उत्तराधिकारी पद्मसिंह ठीक रहेंगे न ?"

पद्मसिंह कहते हैं, "क्या कहते हैं भैया ! यह कैसा अपशकुन है !"

लखिमा की आँखों में पानी भर आता है।

वह देखती है।

कवि पत्थर की मूर्ति-सा लगता है।

कठोर ! स्तब्ध ! अपलक !

क्या हुआ ?

"कवि ठाकुर !" महाराज कहते हैं।

वह नही बोलता, जैसे सुन नहीं रहा है।

"कवि ठाकुर !"

"ओह ! ऐं ? हाँ !"

"विद्यापति ठाकुर !"

"कौन ? महाराज !"

"क्या हो गया तुम्हें ?"

"कुछ नही, कुछ नहीं।"

"परन्तु तुम यों कैसे बोलते हो ?"

"क्या कहा थ। आपने अभी, क्या कहा था···"

"कब ?"

"कुछ देर हुए···"

"तुम्हीं कहो न ?"

"वही कि मेरे बाद···"

"हाँ, ठीक नहीं लगा ?"

"तो क्या···तो क्या···"

"क्या बात है। कहो न ?"

"नहीं···नहीं···एक दिन···एक दिन···"

"कवि ठाकुर···"

"हाँ, महाराज ! एक दिन सब ही को जाना पड़ता है, आज नहीं कल···कल

नहीं परसों···और मैं तो भूल ही गया था···जाना ही होगा···महाराज को भी···मुझे भी, एक दिन सब ही चले जाएँगे ! फिर मैं क्यों भूल गया इस सत्य को ! महाराज मुझे तो ऐसी भूल पड़ गई थी कि मैं इस आनन्द को शाश्वत समझने लगा था। वाह रे कवि ठाकुर ! तुझ-सा भी कोई मूर्ख होगा इस लोक में ! लखिमा देई !"

"कवि ठाकुर !" वह रो देना चाहती है।

"सब जाएँगे न ? फिर मैं क्यों प्रीति करूँ ? प्रीति से तो अंत में हृदय विदीर्ण ही होगा न ?"

महाराज कहते हैं, "तुम ही ने तो गाया था कवि ठाकुर उस दिन—

अनुखन माधव माधव सुमरत
सुन्दरि भेलि मधाई
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल
अपने गुन लुबुधाई।
माधव अपरुब तोहर सिनेह !
अपने विरह अपन तनु जरजर
जिबइत भेलि संदेह।
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि
छल-छल लोचन पानि,
अनुखन राधा राधा रटइत
आधा आधा बानि,
राधा सयं जब पुनतहि माधव
माधव सयं जब राधा
दारुन प्रेम तबहि नहि टूटत
बाढ़त विरहक बाधा।
दुहु दिसि दारु-दहन जैसे दगधइ
आकुल कीट परान
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि
कवि विद्यापति भान।"[1]

1. प्रत्येक क्षण तुम्हें याद करते-करते हे माधव ! राधा अपने को ही माधव समझने लगी है। वह अपने भाव-स्वभाव भूलकर अपने ही गुणों पर अपने को माधव समझकर मुग्ध हो गई है। हे माधव ! तुम्हारे प्रति उसका अपूर्व स्नेह है। अपने को माधव जान वह अपने ही विरह में क्षीण होती जा रही है। उसका शरीर इतना जर्जर हो गया है कि उसके जीवित रहने में संदेह लगता है। भोर ही से उसकी यह दशा देख सखियों के लोचन

धीरे-धीरे सुनाते-सुनाते महाराज की आँखें कुछ मुंद जाती हैं मानो वे ध्यान में लीन हो गए हों।

राजवैद्य आते हैं। वे धीरे से नाड़ी पकड़ते है, फिर ऐसे चौंक उठते हैं जैसे बिच्छू ने डंक मार दिया हो।

"महाराज !" उनका विकृत और आतंकित स्वर गूंज उठता है। पद्मसिंह चिल्ला उठते हैं, "वैद्यराज !"

वैद्यराज हताश-से खड़े हो जाते है मानो सब कुछ लुट गया हो। लखिमा फूट-फूटकर रोती है। पद्मसिंह अपने माथे पर बार-बार हाथ का आघात करते हैं। चारों ओर स्त्रियाँ हाय-हाय की करुण ध्वनियाँ करती रो रही हैं। ऐसा दारुण क्रन्दन हो रहा है कि सारा प्रासाद मानो अब पिघलकर पानी होकर बह जाएगा।

किन्तु कवि स्तब्ध बैठा है।

"कवि ठाकुर !!" रोते हुए पद्मसिंह कहते हैं।

"शान्त रहें छोटे महाराज ! देखिए न ? महादेव लौट गए। शिव अवतार लेकर आए थे अब कैलास लौट गए है। कितने शान्त हैं। अचानक कैसा मादक यौवन है, किन्तु परमयोगी की भाँति निर्मम ! कोई बंधन नही। वे तो पशुपति हैं, अपनी ही लीला से जो पाश धारण किए थे, उन्हें तोड़ देने में क्या देवाधिदेव को कुछ भय लगा ? नहीं। देखिए न ? वे युगांत की समाधि में प्रलयों को अपने भीतर लीन कर गए हैं। विदग्ध काम अनङ्ग बनकर उनके चरणों पर मानो सो गया है। कैसी सम्मोहिनी मुस्कान है इन होंठों पर !"

और कवि देख रहा है।

अपलक··· विभोर··· अतिन्द्रिय-सी ज्योति मानो उसके शरीर-दीपक में से स्फुरित होने लगी है···

पद्मसिह कहते हैं, "विचलित राजलक्ष्मी ! तू कब स्थिर होगी ? दारुणी ! वज्र-हृदये ! गए महाराज देवसिंह गरुड़ नारायण। आह ! ओइनी छोड़कर उन्होंने देवकुली में राजधानी बसाई और आज देवकुली का सूर्य भी अस्त हो गया। यही

छलछला आए। किन्तु राधा तो अब 'राधा राधा' ही रटती है। कभी चेत होने पर वह राधा बन जाती है, कभी माधव हो जाती है। उसकी विरह पीड़ा में तो कभी बाधा नहीं पड़ती। कितनी दारुण है उसकी वेदना !

यह दारुण दहन दोनों ही अवस्थाओं में उसका [illegible]न किए दे रहा है। वह तो मानो दोनों ओर से जलती लकड़ी के बीच बैठे हुए एक कीट के समान है ! कवि विद्यापति कहता है कि हे माधव ! प्राणवल्लभ ! चन्द्रमुखी राधा को अपने दर्शन देकर उसकी विरहावस्था का अन्त करो।

—प्रस्तुत पद विद्यापति की अटूट गहराइयों का परिचय देने वाला है।

है पिता के असंख्य तुलादानों का पुण्यफल कि आज महाराज सिवसिंह निस्संतान अपने यौवन में चले गए। यही है वह प्रचण्ड पराक्रम जिसने अभी कुछ दिन हुए दुर्दम दिल्ली सुल्तान की विशाल वाहिनी के पाँव उखाड़ दिए थे?"

विद्यापति उठ खड़ा हुआ है। वह कहता है, "ठहरो युवक! महाराज की विरुदावली तो मैं गाऊँगा न?"

लखिमा चिल्लाती है, "कवि ठाकुर! महाराज नहीं रहे। आँखें खोलकर देखिए।"

वह फिर फूट-फूटकर रोने लगती है।

"कौन नहीं रहे?"

"महाराज···" मालती कहती है। वह सुबक रही है।

"महाराज नहीं रहे! तो फिर मैं अब अपने प्रेम-गीत सुनाऊँगा किसे?" कवि कुछ विस्मय से पूछता है।

"महाराज मर गए हैं, कवि! महाराज मर गए हैं।" विक्षोभ से पद्मसिंह कवि के कंधे झकझोर कर कहते हैं, "जागो···मैं कहता हूँ, जागो···"

"मर गए? महाराज···"

कवि कहता है और फिर शब्द उठता है—

"हाहाहाहा···महाराज चले गए! मेरे मित्र! मेरे सखा चले गए।"

अब कवि कभी इधर कभी उधर देखता है। वह कहता है, "छिः, मरे नहीं मूर्खो! सो रहे हैं।"

वह पुकारकर कहता है, "महाराज! मेरा नया गीत नहीं सुनेंगे?"

पद्मसिंह अत्यन्त कातर हो आँखों को हथेलियों से छिपा लेते हैं।

लखिमा कहती है, "कवि! तुम तो सरस्वती के वरद पुत्र हो, पूछो न महाराज से···"

कोई नहीं बोलता।

कवि फटी-फटी आँखों से देखता है···

राजा के होंठों पर मुस्कान छा रही है···

हठात् कवि का कठोर हास्य गूँज उठता है और फिर गूँजता है, "चले गए निर्मम···निर्दयी छोड़ गए···"

चले गए निर्म···म···

निर्द···यी···छोड़···ग···ए···

कवि अब भाग गया है।

भवन के बाहर कई लोग बैठे हैं। कवि प्रकोष्ठ में बन्द है। कहीं वह भाग न जाए।

एक व्यक्ति दीप लेकर जाता है। कवि कहता है, "मित्र! तुम्हारी चिता

जल रही है ?"

दीप हटा दिया जाता है।

सारी रात यों ही बीतती है।

भोर होती है, आकाश में सुवर्ण जलने लगता है। कवि कहता है, "महाराज! आपकी चिता की लपटें आकाश तक छा गई हैं !"

और मध्याह्न में लोग आकर देखते हैं, कवि थककर सो गया है। वे कुछ नहीं कहते।

कई दिन बीत गए हैं। लखिमादेई कहती है, "मालती !"

"हाँ, देवी !"

"कितना एकांत है।"

मालती समझती है। अब लखिमादेई महारानी नहीं हैं। पद्मसिंह राजा हैं। वे दिल्ली सुल्तान के आधीन हो गए हैं। इस ओर लखिमादेई के प्रासाद में नीरवता रहती है।

लखिमा पूछती है, "मालती ?"

"हाँ, देवी !"

"अभी कब तक जीवित रहना पड़ेगा ?"

"जितने दिन भगवान चाहेंगे।"

और वह क्या उत्तर दे। वैसे जीवन में आनन्द है ही क्या जो वह मृत्यु के विचार का प्रतिकार करे।

"कैसा लगता है सब !" महारानी कहती हैं, "सच, विश्वास नहीं होता कि यह वही संसार है। जिसे उस दिन देखा था। वह मानो एक स्वप्न-लोक की बात थी।"

मालती देखती है।

लखिमा की आँखों में एक नवीन चमक भरती जा रही है।

"देवी !"

"क्या है मालती ?"

"गाऊँ, देवी ?"

"कौन-सा गीत ?"

"प्रेम भरा कोई।"

"नहीं।"

"क्यों देवी ?"

"कवि ठाकुर नहीं गाते न ?"

"नहीं देवी !"

"क्यों नहीं गाते मालती ?"

"उनके मित्र नहीं रहे हैं न ?"

"नहीं मालती ! अब उन गीतों को सुनने के योग्य ही कोई नहीं रहा है ? वीर ही प्रेम करते हैं और जीवन के ओज में ही उदात्त गौरव भी पलता है। न शिव के अवतार हैं, न अब कवि का शृंगार ही जागता है। पराधीन मिथिला में महाकवि क्या आनन्द की हिलोर उठाएँगे ?"

"ठीक कहती हैं देवी।"

"किन्तु कवि ठाकुर अमर होंगे मालती ! वे बहुत बड़े मानव हैं, वे तो देवता हैं !"

"हाँ, देवी ! महाराज की मृत्यु ने उन्हें सब कुछ भुला दिया है।"

लखिमा सुनती हैं। कहती हैं, "सब कुछ। याद भी करें तो क्या ? मिथिला में अब है ही क्या ? किन्तु वे क्या सभा में नहीं आते ?"

"महाराज बुलाते हैं कभी, तो आ जाते हैं।"

"कविता नहीं सुनाते ?"

"कभी बहुत कहा तो कोई धार्मिक रचना सुनाते हैं। कभी प्रार्थना, कभी नचारी। और कहते हैं घर पर धर्म-ग्रंथों के बारे में कुछ लिखा करते है। अधिक बातें भी नहीं करते।"

"ठीक ही तो है।"

"क्यों देवी ?"

"जो पराक्रमी नहीं हैं, वे प्रेम भी क्या करेंगे ? पराजित जीवन को धर्म की रूढ़ियाँ ही तो सम्बल के रूप में चाहिएँ। वही तो कवि ठाकुर भी करें रहे हैं। वह रसवती धारा बहाना क्या अब उनके बस में है · "

"क्यों देवी ! क्या वे नहीं गा सकते ?"

"नहीं मालती, अब वे मुरझा गए हैं · किन्तु मुझे विश्वास है कि यदि वे यहाँ आएँगे तो अवश्य गाएँगे और अबकी बार उन गीतों में बड़ी करुण वेदना छलक निकलेगी···"

"क्या वे कभी आएँगे देवी ?"

"आएँगे मालती ! भगवान ने चाहा तो अवश्य आएँगे।"

और फिर उन आँखों में आलोक-सा पुलक उठता है।

× × ×

अंधकार में अब भी आँखें तैर रही हैं। कहाँ है कवि ! कहाँ है विद्यापति ठाकुर ! क्या अब वह नहीं आएगा। महारानी लखिमा केश खोले विधवा के रूप में खड़ी सामने कृष्ण की मूर्ति को देख रही हैं··

अब माँझियों की पतवारों की छपाक्-दपाक सुनाई दे रही है। बूढ़ा सो रही है। युवती भी। बालक सुखनिंदिया सो रहा है। वह अजातशत्रु है, वह महल

में भी ऐसे ही सोता, कुटिया में भी ऐसे ही।

अचानक कहीं एक खड़खड़ाहट सुनाई देती है।

सब चौंक उठते हैं।

मैं देखता हूँ। अंधकार में कुछ भी नहीं दिखाई देता। आकाश के नक्षत्र अपनी ज्योति के भाले फेंक तो रहे हैं, किन्तु वे बहुत दूर हैं, वे भाले पास नहीं आते, उनकी नोंकें बहुत दूर दिखाई देती हैं, जिनको अंधकार ने ग्रस लिया है। विशाल जलधारा का एक स्तब्ध-सा गहरा-सा निनाद हो रहा है। वायु प्रशान्त है। सामने की ओर के पेड़ों के झुंडों ने अंधकार को बहुत गहरा बना रखा है। वहाँ घोड़ों के पाँवों का पानी में खलभलाना सुनाई पड़ता है। कभी-कभी कवच से खड्ग टकराते है।

"तुर्क !" एक मांझी अत्यन्त भय से कहता है।

सबकी नींद टूट जाती है।

"बोलना नहीं।"

"सूरी के राज्य में तो कुछ शांति थी।"

"अब तो मुगल हैं। चारों ओर जिसके जो मन में आता है, वही करता है। दिल्ली का सुल्तान अभी बहुत सशक्त नही।"

"दल के दल लुटेरे घूम रहे हैं।"

"हाय, अब क्या होगा ?"

"नाव मंझधार में ले चलो।"

"पर हम उल्टे खे रहे हैं।"

"तो फिर धार में छोड़ दो।"

"कहाँ पहुँचेंगे फिर ?"

"कही भी। मरने से तो यही अच्छा है।"

कोई कहता है, "वासुदेव के धाम जाने में भय क्यों !"

"तो क्या मारे जाएँ ?"

"नारायण ही रक्षक है।"

"ठीक है", एक स्वर और, "लौटकर भी कहाँ जाएँगे ?"

"तो चलो तीर की ओर !"

"स्वयं मौत के मुँह में ?"

"जल में ही क्या करोगे ?"

"वे तीर मारेंगे !"

"नाव डूब जाएगी।"

"हाय···मेरा बच्चा···"

"तो मर गया रे···"

"दादी ! ता बात है···"

एक डगमग, एक छपाक !

"कुछ हो, कुछ न हो।"

"युवती तो गंगा मैया की गोद में चली गई।"

"धन्य है बहन !"

"तेरी जय हो !"

"गंगा मैया !"

"पतित तारिणी !"

"जय हो !"

"जय हो !"

"अब कलंक का डर नहीं।"

"तो चलो किनारे पर !"

"ओ नहीं, ऐसे कोई खा जाएगा।"

"जान से ही तो मारेगा न ?"

"मार लेने दो !"

"भगवान बचाएगा···"

"हम अपने पूर्व जन्म के पाप झेल लेंगे···"

"उनसे कोई बचा है क्या···"

"राजा राम नहीं बचे···"

"हाय···मेरा बच्चा···"

"डर मत दादी ! कृष्ण को तो बन्दी-गृह में भी कंस नहीं मार सका था··

"लेकिन मेरा बच्चा···"

"भगवान से बढ़कर इसका रक्षक कौन है···"

"मझधार में खे चलो···"

"नहीं जा सकते···"

"क्यों ?"

"वह देखो !"

छपाक्, छपाक्···

छपछाप, छपछाप···

छपक छपक छपछाप···छापछप···

"दोनों तरफ से घेरा डाला गया है।"

"हाय, हाय···लुटेरे हैं···"

एक स्वर आता है, "किनारे चलो, किनारे···"

बड़ा कठोर स्वर है।

एक बड़ा विकराल अट्टहास तीर पर सुनाई देता है।

"हाय रे दैया···"

"दैया रे···"

"चुप रहो···चुप रहो···"

"मरना है तो वीरता से मरेंगे···"

"डरने से तो ये म्लेच्छ बहुत सिर पर चढ़ते हैं···"

"हाय, तुम तो मरने से भी नहीं डरते···"

"दादी···चुप क्यों है···धीरज क्यों नहीं बँधाती···"

"बेटा, रोकर समय न गँवाओ, भगवान को याद करो···"

"तेरा बच्चा, दादी···"

"भगवान ने उसे जन्म दिया है, वही रखेगा···"

"तुझे डर नहीं लगता ?"

"डर किसका···सब तो गोपाल का है···मैं तो उसकी शरण में जा रही थी। उसे इतनी उतावली हो गई कि राह में ही लेने आ गया···"

मैं सुनता हूँ, मेरे रोंगटे खड़े हो गए हैं···

"माँझी !"

कोई उत्तर नहीं···

"माँझी···"

"मुझसे कहो···"

"यह जवान क्यों नहीं बोलता···"

"डरो मत ! माँझी नहीं भागता।"

"माँझी चुप क्यों है ?"

"सोच रहा है, तीर पर कैसे छिपे ?"

"यहाँ से तो न भागेगा ?"

"नहीं ! नदी में तो हम तुर्क को भी डूबने को नहीं छोड़ते। गंगा मैया की आन है। जल में पहले माँझी मरेगा, तब ही यात्री। माँझी अपना धरम नहीं छोड़ सकता।"

"धरम से धरती टिकी है।"

"कितने दिन का तुर्क है ?"

"यह धर्म सनातन है।"

"इसके लिए ही भगवान धरती पर उतरे हैं बार-बार।"

"हिरनाकुश गया, रावण गया, कंस गया।"

"ये क्या इनसे भी बड़े हो गए ?"

"अरे, काल का धक्का इन्हें भी लगेगा।"

"लगेगा और लगकर रहेगा, पर धरम न मिट जाएगा हमारा ?"

"वह क्या मिटेगा ! नरकासुर न छीन सका उसे।"

"यह क्या मारेगा हमें।"

"ओ बस देह को मार लेगा।"

"मार ले देह को। आत्मा तो अमर रहेगी !"

"देह तो वस्त्र की भाँति है। ओढ़ी, छोड़ दी। आत्मा का क्या बिगड़ता है ?"

"कुछ नहीं, डरो मत !"

"कौन डरता है। कौन डरता है;

माधव, गोपाल···

हरे मुरारे···

राधे गोविंद हरि···

राधे गोविंद हरि···

हरि बोल···

हरि बोल···

और अँधेरा अब हल्का लगता है···नाव तीर की ओर बढ़ी जा रही है।

अब कोई नहीं डरता।

मन में दीपक जल रहे हैं।

तीर पर कोलाहल हो रहा है।

नाव किनारे लगती है। तुरंत ही कुछ भीमकाय तुर्क नाव से लोगों को घसीटने लगते हैं। अब हाहाकार मचने लगता है, क्योंकि देह वस्त्र ही सही, परन्तु वस्त्र को बेकायदे खींचने से दर्द होता है। यह मनुष्य की देह साधारण वस्त्र नहीं, इसका सीधे आत्मा से सम्बन्ध है। आत्मा भी इसमें तभी तक रहती है जब तक इस वस्त्र के ताने-बाने ठीक जुड़े रहते हैं। पता नहीं, ऐसा क्यों होता है !

"ओ बुढ़िया तू है···

"कोई जवान भी है···"

"होती तो तुम्हारे लिए क्या वह छूटी रहती···"

"हा ··हा···हा···"

फिर एक झकझोर···

"अरे, अरे बच्चा है···"

"एक के दो हो गए बेटे ! इसे बो दे, चार निकलेंगे···"

"सच," मैंने कहा, "चार नहीं, चार सौ···"

"सच !"

पाँव मेरा कटकर झूलने लगा। तलवार का भरपूर हाथ था।

मैं रोता नहीं। हँसता हूँ।

"हँसता है ये ?"

"काफिर !"

"आदमी गजब का है।"

"अलग ठेल दो, फिर देखेंगे···"

सरदार, माल ज्यादा नहीं···"

"तो जाने दो···"

"कितने मरे···"

"पता नहीं···"

"सुबह देखा जाएगा।"

"सुबह तक तो गीदड़ बराबर कर लेंगे।"

"घास है घास।"

"दीन की तलवार है, सरदार !"

"सबाब है···"

हाहाहा···

और फिर एक रुदन।

अब दो मेरी ओर।

मैं पड़ा हूँ।

"पाँव कट गया।"

"तो मेरा वार था वह।"

"परसों का तुम्हारा हाथ याद है। सीधे पड़ा था। सिर को बीच में से बाँट दिया था खड़ा।"

"क्या जाने ऐसे कट जाते हैं, इनमें दम नहीं।"

"खोपड़ी में भूसा होता है।"

"हाहाहाहा···"

"लेकिन बगावत इनके लहू में है···"

"सारे किसान···"

"लगान दो, तो जंगल भाग गए···"

"एक-एक गाँव में आग लगानी पड़ेगी···"

"बड़े सरकश हैं···"

"इनके ठाकुर भले, जो हारे तो मान तो भी जाते हैं···"

"मगर यह छुटके-पुटके जमींदार तो···"

"कसम से जो कहा है मुल्ला अब्दुल कादिर बुदायूनी ने..."

"अकबर शाह की ही फतह समझो···"

"तब तो जियाद क़ायम रहेगी···"

"कौन जाने···"

"अभी तो बेगमात काफिरों से चिढ़ी रहती हैं···"

"काफिर···बुतपरस्त, घिनौने कुत्ते···

"इनसे जजिया लेना हमारा हक है···"

"फिर ये मानते क्यों नहीं···"

"हिन्दू बड़ा जिद्दी होता है···"

"और जिसमें ये बिरहमन !"

"दोजख की मार हो इन पर !"

"लेकिन ये जो मुसलमान हुए हैं देसी कुत्ते ! उनकी जुर्रत देखो कि हमारा मुकाबला करने चले हैं !"

"अजी, अपने को बराबर समझते हैं !"

फिर आपस में कुछ तुर्की में बातचीत हुई, जो मैं समझ नहीं सका।

मैं पड़ा हूँ। पाँव से खून बहुत बह गया है। कंधे की धोती मैंने बाँध ली है। छूने से पता चलता है कि सब भीग गई है।

एक तुर्क आ रहा है, उसके हाथ में मशाल है। फरफराती ज्योति निकट आती है। अब मैं देखता हूँ। मेरे पास रामते माँझी का सिर पड़ा है। सिर ! केवल सिर गर्दन से टपक रहा है लहू ! और उसके दाँत हँसते हुए-से चमक रहे हैं। उसकी आँखें खुली हुई हैं। वह जैसे मुझे अब भी देख रहा है, एकटक। शायद मौत के बाद भी वह मेरा साहस परख रहा है। तो क्या मैं हार जाऊँगा ? परंतु हारने को अब है ही क्या। मेरा पाँव तो कट गया है। मैं जा भी कहाँ सकता हूँ। मेरा सर चकरा रहा है। मुझे स्वयं आश्चर्य हो रहा है कि मैं अभी तक मूर्च्छित क्यों नहीं हो गया हूँ। क्या मैं नहीं मरूँगा ?

हाँ, मुझे तो अभी काम है। क्या काम है मुझे ? वाह ! मुझे वैष्णव की वृद्ध आँखें बुला रही हैं। मुझे तो लखिमा की आँखें आगे ले जा रही हैं। मैं तो गोपाल का सेवक हूँ। भक्ति की धारा की बूँद हूँ। अभी तो मुझे, विद्यापति ठाकुर की पदावली पहुँचानी है। उसको पहुँचाने के पहले क्या मैं मर जाऊँगा ? महाकवि की काव्य-मंदाकिनी मेरे देश का गौरव है।

इसी सिलसिले में मैंने काँख में दबे ग्रंथ को टटोला है।

मशाल के प्रकाश में इस बात को एक तुर्क ने शायद देख लिया।

उसने कहा, "इसके पास कुछ है···"

"क्या है···"

"देखो···"

"निकाल काफिर···"

मैं कह रहा हूँ, "नहीं, मेरे पास कुछ नहीं है···"

"तो फिर क्या छिपा रहा है···"

"वह सोना नहीं, चाँदी नहीं···"

"तो क्या है आखिर···"

"वह तो एक किताब है···"

"देखें कैसी किताब है···"

"गीतों की है···"

"कैसे गीत हैं इसमें···शायरी है···"

"पता नहीं···इसमें भक्ति के गीत हैं···"

"भक्ति क्या···"

"क्या यार वक्त बरबाद कर रहे हो ! होगी कोई काफिरों की जहालत !"

"नही, नहीं···" मैं कह रहा हूँ, "प्रेम के गीत हैं···"

"मुहब्बत के···"

"तो ला, मैं याद कर लूँ कुछ, काफिरों की छोकरियों को फँसाने के काम आएँगे···"

"हाहाहाहा···"

"खूब कहा यार···"

"क्यों, ठीक है न ?"

"और काफिरों को लौडियों का काम ही क्या है ?"

"हाय, कोई-कोई तो···"

'वाह···"

"वाह-वाह···"

"हाहाहाहा···"

"हाहाहाहा···"

"लेकिन कमबख्त यों ही मरती हैं···"

"और अपने-आप···"

"निकाल बे ! देखें, कैसी किताब है···"

"नही, नहीं दूँगा···"

"अबे लँगड़े···"

"नहीं, नहीं, छूना नहीं···"

"अच्छा ! तू इतना पाक है···"

"छीन ले इससे···"

"दे एक लात···"

"हाय गोविंद···

माधव ! !

हरे मुरारे···

जनार्दन···

वासुदेव"

"किसे आवाज़ दे रहा है···"

"इसके देओता हैं सब···"

'कोई है मौके पर बचाने वाला···"

"कोई नहीं···"

"अच्छा, यह है किताब···"

"यार, यह पत्तों की किताब···"

"फेंक इसे···"

"नहीं···"

"लाहौल बिलाकूवत ! क्या करना है इसका !"

"कसम से यार बख्तियार खिलजी गाज़ी था। उसने, कहते हैं, काफिरों की सबसे ज्यादा किताबें जलाई थीं।"

"इसे मुझे दे दो···इसे मुझे दे दो···" मैं कह रहा हूँ···

"क्या करेगा लँगड़े, अब तू यहीं मर जाएगा···"

मैं क्या कह सकता हूँ ! किन्तु मुझे लग रहा है उस किताब में मेरे प्राण है।

तुर्क किताब की गाँठ तोड़ देता है।

फिर चुरमुर करके पत्ते तोड़कर पाँवों से नीचे कुचल देता है···

मैं नहीं देख पाता···

मैं मूर्च्छित हो जाता हूँ···

कितना विस्फारित-सा गहन अंधकार में ग्रस्त एक विस्तृत आकाश है और निविड़ की साँय-साँय-साँय सुनाई दे रही है। दिगंत की व्यापकता में एक ही निस्तब्धता छा रही थी। कोई पीड़ा नहीं, केवल अस्तित्व। अस्तित्व में न संवेदना न प्रतिकार। केवल सत्ता। चारों ओर निरावलंब अंधकार ! तारे नहीं, आविर्भूत-सी तरलता का एक आच्छादन। और कुछ नहीं। न घोड़ों की रूँद न किसी घायल का चीत्कार, न गीदड़ों की हुमक।

मैं फिर सो रहा हूँ।

कब तक सोता रहा, पता नहीं।

जब देखा तो पौ फट रही है। तीर पर एक जोगी आ रहा है।

"पानी···"

"पानी···पा···नी···"

जोगी ठिठकता है।

"कौन है वहाँ !"

"पा···नी···"

जोगी पास आता है।

"इतने घायल ! खून-खराबा !"

"पा···"

जोगी खप्पर में पानी लाता है···बूँद-बूँद कर पीता हूँ मैं अधखुले नेत्रों से देखता हुआ।

पीकर फिर लेटा रह जाता हूँ···

पाँव कट गया है···

आह···

बड़ा दर्द है !

आह···

जोगी चला जाता है। कुछ देर में बहुत-सी जड़ी-बूटियाँ लेकर लौटता है। फिर वह मेरे पाँव को खोलता है और उन जड़ियों को हथेलियों पर मसल-मसलकर निचोड़ने लगता है। जलन के मारे मैं फिर चीखकर मूर्च्छित हो जाता हूँ···

जब आँख खुलती है, देखता हूँ जोगी मुस्करा रहा है।

"अब कैसी है तबियत···"

मैं बोलना चाहता हूँ, लेकिन हलक सूख गया है।

वह फिर पानी गले में डालता है, लगता है अमृत मेरे भीतर उतर रहा है। मैं पीता जाता हूँ।

"बस, बस···अब फिर और थोड़ी देर बाद।"

मैं पड़ा रहता हूँ···

जोगी फिर चला जाता है।

जंगल में से कुछ नई बूटियाँ तोड़ लाता है और धीरे-धीरे उनका रस मेरे होंठो में निचोड़ता है। हरियाँध आ रही है···कच्चाँध···मुझे अच्छा नहीं लगता ···किन्तु जोगी के हाथ बड़े कठोर हैं। उसके सिर पर जटाएँ बँधी हैं। माथे पर भस्म लगी है। कटि पर मृगचर्म बँधा है।

"अच्छा है?"

"हूँ।"

"किसने किया यह?"

"तुर्कों ने।"

"तुर्कों ने !"

"हाँ।"

"अकबर शाह तो ऐलान करता है कि हिन्दुओं पर अत्याचार मत करो।"

जोगी के होंठ फड़कते हैं।

वह फिर कहता है, "चल सकेगा बच्चा ?"

"कहाँ ?"

"मेरे साथ !"

"मैं असमर्थ हूँ।"

"ठाकुर तक। ठाकुर ने अकबर शाह की दासता स्वीकार की है।"

मैं नहीं उठ सकता।

"मेरी आत्मा तो मर चुकी है। अब कहीं जाकर भी क्या करूँगा ?"

तभी घोड़ों की टापों के बजने का स्वर आता है। मैं चौंकता हूँ।

एक नंगा साधु घोड़े की पीठ पर सवार आ रहा है। वह निकट आकर घोड़ा रोककर देखता है और कहता है, "कौन हो तुम लोग ?"

उसके हाथ में त्रिशूल है, बगल में खड्ग।

"मैं जोगी हूँ। यह कोई घायल यात्री है।"

"इसे किसने मारा ? डाकुओं ने ?"

"नहीं, तुर्कों ने।"

"तुर्कों ने !"

साधु शंख फूँकता है। फिर जोर की आवाज आने लगती है, जैसे कई घोड़े दौड़ रहे हों। मेरे देखते ही, न हो तो कम-से-कम पाँच हजार नागा बाबाओं की घोड़ों पर चढ़ी सेना आ पहुँची है। उनके हाथों में त्रिशूल हैं और शरीरों पर भस्म लगी है। वे नंगे बदन हैं, नितांत नंगे। दाढ़ियाँ। सिर पर जटाएँ। ऊँचे-ऊँचे पुष्ट तुरंग। और साधु भी दृढ़ांग। चारों ओर धूलि छा गई है।

एक साधु बढ़कर कहता है, "क्या है भैरवानंद !"

"तुर्कों ने यहाँ हिन्दुओं को मारा है।"

"अकबर शाह की घोषणा झूठी है।"

"सब एक हैं, जैसे तुर्क, वैसे मुगल।"

"लूट में सब बराबर।"

एक और कहता है, "फिर लौटना उचित नहीं।"

"बिल्कुल नहीं।" भीड़ चिल्लाती है।

"खिलजी के समय में जोगियों ने टक्कर ली थी। और उसके बाद हमने ली है।"

तब मुझे पता चला। वे नागा थे, जो कुम्भ का पर्व पड़ने पर तीर्थस्नान करने वाली प्रजा की रक्षा करने को जाया करते थे। वे अपने प्राणों की बाजी लगा देते थे। और इसीलिए उनको प्रजा भोजन देती थी। वे प्रयाग जा रहे थे। दल के दल साधु आते थे और न जाने कब से सशस्त्र युद्ध के लिए तत्पर रहते थे और प्रजा को बचाया करते थे, क्योंकि ऐसे दिनों में तुर्कों की डाकेजनी बढ़ जाया

करती थी। बाबा लोग लड़ते थे, मरते थे···और मैं समझ नहीं पाया हूँ कि प्रजा किस प्रकार निरंतर मरती-कटती भी अपनी परंपरा को निभाती चली आ रही है···मानो केवल इसीलिए कि आततायी इससे जलता है, और इसीलिए मानो अपना विद्रोह प्रकट करने को वह निरंतर टक्कर लेने आती है···

"यात्री ! तुम कौन हो ?"

"ब्राह्मण हूँ।"

जोगी कहता है, "गोरखनाथ तुम्हारी रक्षा करें। प्रजा की रक्षा करने जाओ। ब्राह्मण को मैं सँभाल लूंगा।"

हमारे देखते-देखते वह सारी घुड़सवार सेना लौट जाती है और फिर उनके पीछे उठती धूलि भी शांत हो जाती है।

मैं, जोगियों से मिल चुका हूँ। वे वेद को नहीं मानते। वे ब्राह्मण को सर्वोच्च नहीं मानते। किन्तु वे इस विध्वंस को अच्छा नहीं गिनते। तुर्कों को अभी तक जोगियों और हिन्दुओं का भेद पता नहीं है।

मैंने कुहनियों के बल उठने की चेष्टा की।

जोगी ने सहारा देकर मुझे बिठाया और एक पेड़ के सहारे टिका दिया।

"चल सकोगे ?"

"एक हाथ में डंडा दे दो, एक से मुझे सहारा दो। थोड़ा चलने का यत्न करूँगा।"

जोगी ने मुझे कंधे पर उठा लिया है और सामने के गाँव ले गया है। लेकिन गाँव खाली पड़ा है। "सारे किसान भाग गये हैं क्योंकि लगानों की मार ने उन्हें खोखला कर दिया है। एक बार सूरी के सिपाही लगान वसूल करके ले जा चुके है, फिर मुगलों के सिपाही ले जा चुके हैं, जब सूरी के सिपाहो दण्ड देने आये हैं कि तुमने सूरी-प्रजा होकर मुगलों को कर क्यों दिया···इसी का दण्ड है।" गाँव के एक खंडहर में से एक वृद्ध निकलकर कह रहा है। वह छिपकर बचा रहा है।

मैं वहीं टिक जाता हूँ। वृद्ध मुझे लाकर एक रोटी देता है। मैं कुछ नहीं पूछता···चुपचाप खाने लगता हूँ···

जोगी शून्य दृष्टि से देख रहा है।

वृद्ध कहता है, "योगिराज ! क्या इसी पृथ्वी पर एक दिन महायोगी मत्स्येंद्रनाथ और गोरखनाथ जैसे व्यक्ति थे···"

जोगी कुछ नहीं कहता।

वृद्ध कहता है, "अस्सी बरस का बूढ़ा हूँ। मेरे सामने ही कितनी बार विध्वंस ।"

और मैं सहारा लेकर बैठकर गाता हूँ···

बेरि बेरि अरे सिव यों तोय बोलों
फिरसि करिअ मन माय।
बिनसंक रहह भीख माँगिए पए
गुन गौरव पुर जाए !

जोगी और वृद्ध दोनों बैठ जाते हैं। वे भी चाहते हैं मेरी बारंबार प्रार्थना से शिव मेरी ओर ही नहीं, सबकी ओर कृपादृष्टि फेरें···मेरा क्या है मैं तो निःशंक रहकर भीख माँग सकता हूँ, किन्तु तुम्हारे गुण-गौरव का तो लोप हो जाएगा···!

और मैं गाता रहता हूँ···वे सुनते रहते हैं···फिर न जाने कहाँ से चींटियों की तरह रेंगते हुए अनेक स्त्री-पुरुष जंगल में से निकलते चले आते हैं और फिर वे घोड़ों की टापों से रुँदी हुई धरती को देखते हुए समीप आते चले जाते हैं और फिर, फिर सब गाने लगते हैं···

बेरि बेरि अरे सिव···

बेरि बेरि यानी बारंबार यानी अविनश्वर···

···जो कभी न मरेंगे···न समाप्त ही होंगे···अक्षय और अमर···

उपसंहार

यद्यपि मैं ठीक हो गया हूँ, किन्तु मेरे पास अब विद्यापति की अमूल्य पदावली नहीं है। केवल वे ही पद मेरे पास हैं जो मुझे याद हो गए थे। मैं समझता हूँ कि मैंने असफलता पाकर भी असफलता नहीं पाई है। कौन जाने वृद्ध वैष्णव मर चुका होगा। उसकी आँखें भी चिता की लपटों में जल चुकी होंगी। गृहस्वामी भी बिसपी में मर चुके होंगे। उनकी भी आँखें चिन्ता में जल चुकी होंगी। किन्तु ये किसकी आँखें हैं जो अभी तक मेरी ओर देख रही हैं!

लखिमा की आँखें···

किन्तु अब मैं कैसे जा सकता हूँ···

अब मैं जर्जर हो गया हूँ, अब मेरा एक पाँव कट चुका है, मुझमें शक्ति नहीं है। मैं जानता हूँ कि प्रेम का संदेश किसी एक कवि की ही एकमात्र संपत्ति नहीं है, युग की धारा में अनेक बूँदें होती हैं, किन्तु फिर भी विद्यापति ठाकुर की रचनाएँ, काश! मैं वृन्दावन पहुँचा पाता। कौन जाने वे कब पहुँचेंगी। इतिहास बड़ा निर्मम होता है, कौन जाने वह खो ही जाएँ! और फिर न जाने अभी भारत के भाग्य में कितने तूफान और शेष हैं!

मेरे माधव! मेरा भारत कभी लुप्त तो नहीं हो जाएगा! इस भारत-भूमि की संतान कभी इतनी जघन्य तो नहीं हो जाएगी कि अपनी आत्मा में से विश्वास ही खो बैठे! नहीं, मुझे ऐसा नहीं लगता। आधार वे ही खो देते हैं जो केवल एकमात्र अंध-विश्वास में पला करते हैं। जिनके मन में एक व्यापक सत्ता को ग्रहण करने की शक्ति, हर युग बंधन में भी मौजूद रहती है, वे कभी एकदम नष्ट नहीं हुआ करते, वे तो अपना विकास किया करते हैं। एक आँधी आती है, चली जाती है, आँधियाँ पत्थर लुढ़का सकती हैं, पर्वतों को नहीं हिला सकतीं, चाहे उनमें कितनी भी प्रचंड शक्ति क्यों न हो। गिरियों के भाल आकाश की वंदना करते हैं, पृथ्वी का गौरव प्रतिध्वनित करते हुए···

मैं कब से कहना चाह रहा हूँ, किंतु कह नहीं पाया, न जाने क्यों ऐसा लगता है कि जो कुछ मैं अपने शब्दों में बाँध देना चाहता हूँ वास्तव में भावनाओं की बात है···

लोई का ताना

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ में कबीर की झांकी है।

वैसे कबीर के जीवन-सम्बन्धी तथ्य अधिक नहीं मिलते। मैं उनके साहित्य को पढ़कर जिन निष्कर्षों पर पहुँचा हूँ उन्हीं को मैंने उनके जीवन का आधार बनाया है। कबीर पहले निम्नजातीय हिन्दू बनकर रहना चाहते थे, पर रामानंद की दीक्षा के बाद वे जात-पांत की ओर से संदिग्ध हो गए। वे पहले अवतारवाद मानते थे। फिर वे निर्गुण की ओर झुके। फिर योगियों के रहस्यवाद और षट्चक्र साधना आदि की ओर। बाद में वे सहज साधना में चमत्कारवाद से आगे बढ़ गए। अन्त में तो वे एक नई भूमि पर पहुँच गए जिसका वर्णन यहाँ मैंने किया है। कबीर को लोगों ने गलत समझा है। कबीर में सूफ़ीमत, वेदान्त, रहस्यवाद, नारीनिन्दा तथा अनेक बातें हैं जैसे संसार की असारता पर ज़ोर, मायावाद आदि का वर्णन, पर ये अनेक विकास की मंजिलें हैं। वे धीरे-धीरे आगे बढ़ गए हैं। वे कितने बढ़ गए थे यह समझना तब और भी अधिक आश्चर्य देता है जब हम सोचते हैं वे आज से सैंकड़ों बरस पहले थे। कबीर के चेलों ने ब्राह्मणों की नकल ली। कबीर के विद्रोह और सत्य को दबा दिया गया। कबीर इतिहास में एक उलझन बन गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ब्राह्मणवादी आलोचक थे। उन्होने कबीर को नीरस निर्गुणिया कह दिया। वे कह गए हैं कि कबीर ने कोई राह नहीं दिखाई। कबीर ज्ञान को रहस्य में डुबाता था। साधारण जनता कबीर को समझ नहीं सकी।

यह सब ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण है अतः त्याज्य है। अवैज्ञानिक है।

कबीर निर्गुण के परे थे। कबीर ने जो राह दिखाई वह मानवता को कल्याण की ओर ले जानेवाली थी। वे भारतीय संस्कृति के नाम पर भेद-भाववाले ब्राह्मण-वाद को नहीं मानते थे। वे इस्लाम का विरोध करके भी उससे घृणा नहीं करते थे, और उसे मुक्ति का पथ भी नहीं समझते थे। कबीर ने जनता का दलित जीवन देखा था, तुलसीदास की भाँति नहीं, एक जुलाहे की भाँति। वे सगुण ईश्वर को मानकर ब्राह्मणवाद के नियमों में बंध नहीं सके। पर उनका रहस्य भी ऐसा न था कि वे संसार को छोड़ देते। घर में पत्नी थी, पुत्र था। पर पत्नी और पुत्र के ही लिए डूबे रहकर दूसरों का गला काटना वे माया कहते थे। कबीर ने कहा कि इंसान को किसी रूढ़ि की जरूरत नहीं, वह ईश्वर के लिए झगड़े, यह

व्यर्थ की बात है। ईश्वर रहस्य इसीलिए है कि मनुष्य अपनी सीमित बुद्धि से उसे जान नहीं सकता, जो जानकार बनते थे उनको उन्होंने झूठा कहा। कबीर ने ही कहा था कि प्यारे, आसमान पर ताकना छोड़ दे। मन की कल्पना और भरमना छोड़ दे।

ये क्या शून्यवादी के शब्द हैं ?

कबीर ने दूसरों के बल पर खानेवाले साधुओं का घोर विरोध किया था। वे तो मेहनत का खाना चाहते थे। साधारण जनता ने कबीर को समझा था। उसी ने कबीर को मुल्ला, पंडित, जोगी आदि के पुरोहितवर्ग और सत्ताधारियों से बचाया था। पर बाद में कबीरपंथियों ने कबीर को मिटा दिया। परवर्तियों ने कबीर को चमत्कारों से ढक दिया गया।

कबीर ने हिन्दू-मुसलमान दोनों को नितान्त निम्नजाति के आदमी की आँखों से देखा था। पर चेले पढ़े-लिखे थे। उस समय मुसलमान शासकों की शक्ति भी बढ़ गई थी। सारी भारतीय जातियों का संगठन हो रहा था। निम्नजातीय जनता के रूप में कबीर के अनुयायी भी दलित थे। शासन मुस्लिम था। अत: इस्लाम पर अत्याचारों के नाम चढ़ते थे। उस समय कबीर पंथ हिन्दू मत ही बन गया था।

कबीर ने तो भारत के सांस्कृतिक जन-जागरण की नींव डाली है। उसके युग के बंधन थे, और उनकी उस पर छाप है। वह धीरे-धीरे विकास करके कितना आगे आ गया था !

भाषा में उसने क्रान्ति की। बिल्कुल जन-भाषा बोली। तुलसी की भाँति वक्त-बेवक्त संस्कृत की बैसाखियाँ नहीं लगाईं। तुलसी के देवता आखिर संस्कृत बोलते थे। कबीर ने जनता के उपमान लिए और जीवन के अच्छे आचरण पर—सामाजिक आचरण पर ज़ोर दिया। जहाँ तुलसीदास सारे अनाचार की जड़ कलि को मानते थे, कबीरदास कलि का नाम नहीं लेते। वे तो मोह, लोभ, दंभ और धन को ही इस माया और अनाचार का मूल मानते हैं।

कबीर का मुख्य संदेश प्रेम का है।

अब प्रस्तुत पुस्तक के बारे में कुछ और बातें साफ कर दूं।

कबीर पढ़े-लिखे न थे। कविता लिखते नहीं थे। वे तो फौरन सुनाने वालों में थे। लोग लिखा करें, उन्हें इससे बहस नहीं थी। वे तो कह देते थे। इसी से मैंने उनकी कविताएँ उनके मुँह से परिस्थितियों के बीच में सुनवाई हैं।

दूसरी बात है कमाल के द्वारा कथा कहलवाना।

कमाल कबीर का पुत्र था। कमाल के बारे में प्रसिद्ध है—

बूढ़ा बंस कबीर का,
जब उपजा पूत कमाल।

परन्तु यह विद्वानों द्वारा कबीर की पंक्ति नहीं मानी गई। कमाल के बारे में किंवदंती है कि कबीर के बाद जब उसने पिता के नाम पर पंथ चालू करने से इंकार कर दिया तो कबीर के चेलों ने उसे ऐसा नाम दे दिया। कबीर की पत्नी लोई थी। कबीर की कविताओं में उसका नाम है।

तथ्यों के अभाव में कबीर के जीवन का पूरा चित्र देने में कमाल ने सहायता दी है। पहले कमाल उपसंहार में अपनी परिस्थिति बताता तब कबीर मर चुका है और पंथ बन गया है। 'उपसंहार से पहले' में कबीर की मृत्यु के बाद गुरु की कविताओं को सुनाकर आपस में लड़ने वाले चेलों का वर्णन है। फिर 'आरम्भ' तक कबीर के विशेष रूप हैं। मरजीवा वाला अध्ययन कबीर की महानता, नया पथ और उसके चिंतन को स्पष्ट करने को है। अन्तिम अध्याय में कबीर के जीवन के मोड़ हैं।

कमाल ही बोलता है। मैं नहीं बोलता। अपने युग के बंधनों में रहकर जो कमाल कह सकता है वह कहता है, बाकी मैं भूमिका में कहे दे रहा हूँ। कबीर निस्संदेह तत्कालीन जीवन में क्रान्ति का बीज था। दुर्भाग्य से बाद में फिर वह वर्गसंघर्ष, जातिसंघर्षों में दब गया। तब वर्गसंघर्ष का मतलब वर्णसंघर्ष ही था।

—रांगेय राघव

उपसंहार

"मैं कमाल हूँ। मेरे बाप का नाम कबीर था और माँ का नाम लोई था।"

"तुम क्या करते हो?"

"काशी में जुलाहे का काम करता हूँ।"

"फिर यहाँ क्यों आए हो? यह तो हरिद्वार है!"

"जानता हूँ, लेकिन क्या करूँ? भटकता फिरता हूँ।"

"क्यों, ऐसी क्या मुसीबत आ गई तुमको।"

"मैं तुम्हें कैसे बताऊँ?"

"शादी हो गई?"

"नहीं।"

"तो बताने को बाकी क्या रह गया। घर में प्रबन्ध नहीं है तो अपने-आप साधु बन जाओगे। लेकिन कबीर का नाम तो हम लोगों ने सुना है। वह तो आदमी साधू था न?"

"हाँ, संत थे और कवि थे।"

"अच्छा! कविता भी करता था?"

"अरे क्या तुम काशी कभी नहीं गए?"

"मैं तो और भी ऊपर हृषीकेश में रहता हूँ।"

"तुमने उनका नाम नहीं सुना?"

"सुना तो सही। पर उधर तो हम पण्डों में उसकी तारीफ नहीं है। वह तो मठों और मंदिरों का शत्रु था। हमने तो यही सुना था कि आदमी बड़ा अक्खड़ और फक्कड़ था।"

कमाल हँसा।

पण्डा चौंका। पूछा: "क्यों हँसते हो?"

"मैं यही तो सोचता था।"

"क्या?"

"तुम कहते हो वह गद्दीदारों का दुश्मन था। ठीक यही न?"

"हाँ-हाँ।"

"और जानते हो, काशी में उनके चेलों ने क्या किया है?"

"नहीं।"

"उन्होंने कबीर के नाम पर ही पंथ चला दिया है, गद्दी लगा बैठे हैं।"

कमाल फिर हँसा, उसकी आवाज़ में व्यंग्य और विक्षोभ था। पण्डा कुछ ताज्जुब में आ गया।

कमाल ने फिर कहा : "जानते हो उन्होंने मुझसे क्या कहा ?"

"क्या कहा ?"

"कहने लगे—कबीर का बेटा कमाल ही लायक आदमी है, वही कबीर साहब की जगह अब उनके मन्त्र का प्रचार कर सकता है।"

"कैसा मन्त्र ?" पण्डा ने पूछा, "मन्त्र का अधिकार तो ब्राह्मण को है !"

"तो तुम्हारी मन्त्र-परम्परा तुम्हें ही मुबारक हो पण्डित। मेरा बाप तो कभी इन चीज़ों से प्रभावित नहीं हुआ और फिर मैं कैसे होता ?"

"क्यों नहीं, आखिर तो बाप का ही बेटा ठहरा !"

मैंने कहा—"नही बाबा ! मुझे गद्दी-वद्दी नहीं चाहिए। मेरा बाप गद्दीधारियों के ही ख़िलाफ़ तो जन्म-ज़िन्दगी लड़ता रहा।"

"अरे तुम जुलाहे हो ! तुम्हारी बयणजीवी जातियां पंजाब से लेकर बंगाल तक धीरे-धीरे मुसलमान हो गई हैं।"

"क्यों न हों ? पण्डित ! क्या कोई बुरा काम करते हैं जुलाहे ? तुमने उन्हें नीचा समझा तो वे क्या करते ?"

"अरे तुम शाक्त, वाममार्गी, देवीपूजक ! ब्राह्मणों के पुराने विरोधी !! मुसलमान न होओगे तो क्या करोगे ?"

"मैं एक बात पूछ लूं पण्डित !"

"पूछो।"

"बताओ ! हिन्दुओं में जो नीचे हैं, पर मुसलमान नही हुए, वे कहाँ रहे ?"

"वे शूद्र हैं।"

"तो जो मुसलमान हो गए वे ?"

"वे धर्म नाश करके म्लेच्छों के, यवनों के दास बन गए, उन्होंने तो अपने यह लोक और वह लोक दोनों बिगाड़ लिए।"

कमाल ने कहा : "यही मेरे पिता कहते थे। वे कहते थे कि भाइयो ! तुम नीचे माने जाते हो। हिन्दू अपने देश के वासी हैं। वे तुम्हें नीच मानते हैं। मुसलमान शासक परदेसी हैं। अगर वे तुम्हें मुसलमान बनाते हैं और तुम मुसलमान बनकर अपने को आजाद समझने लगते हो, तो क्या उससे समस्या का हल हो जाता है ?"

"क्या मतलब ?"

"अरे यह तो साफ है। मान लो मैं जो जुलाहा हूँ हिन्दुओं में नीच माना जाता

हूँ। अगर मैं मुसलमान हो जाता हूँ तो हिन्दू मुझे बात-बात में दबा नहीं सकते, लेकिन फिर भी आदमी-आदमी के बीच दरार बढ़ती चली जाती है।"

"कैसी दरार ? यह दरार आज की है ? सनातन काल से भगवान ने यह दरार बना रखी है रे जुलाहे।"

"भगवान ने कि आदमी ने ?"

"आदमी ! आदमी क्या होता है ? आदमी तो निमित्त है, जो होता है वह असल में उसी की इच्छा है।"

"लेकिन मेरे पिता कहते थे···"

"अरे तेरे पिता कहते थे !! उसने शूद्रों और जुलाहे-कोलियों की भीड़ इकट्ठी कर ली, वरना जुलाहे का क्या कहना, क्या न कहना ! हिश, क्या समय आ गया है ! प्रभु ! कैसा कलि का प्रकोप है ! अभी तक वे नाथ जोगी थे, उनकी मुसीबत थी, अब यह एक नई परेशानी खड़ी हो गई। क्यों रे ? तेरा बाप सहजयानी था ?"

"नहीं।"

"तो ?"

"वह आदमी था।"

"यानी बाकी सब जानवर हैं ?"

"यह तो मैंने नहीं कहा।"

"तो फिर तेरा मतलब क्या था ?"

"मैं तो सिर्फ यही समझा हूँ कि बाकी सब लोग जात-पाँत, धर्म-भेद और सम्प्रदायों में बँटे हुए हैं। किसी पुरानी विरासत से बँधे हुए है। मेरा बाप कहता था कि इन सब बंधनों से परे भी एक सत्य है।"

"वह क्या है ?"

"मनुष्यत्व !"

"तो तेरे बाप का अर्थ था कि यह पवित्र भारत भूमि, यह देवभाषा, यह भव्य मन्दिर, यह प्राचीन मर्यादा, सबको छोड़कर मुसलमान बन जाया जाए !"

"नहीं।"

"तो ?"

"उनका कहना था कि जिस तरह हिन्दू अपने भेद-भावों में फँसे हुए हैं, उसी तरह मुसलमान भी अपने दूसरे ढंग के घमंड में चूर हो रहे हैं। इन दोनों को असली मर्म नहीं मालूम।"

"वह तो सिर्फ तेरे बाप को मालूम था ? उसका मतलब यह है कि मुसलमान आते हैं, आ जाने दो। ठीक ही तो है। जुलाहे का क्या जाएगा ? जुलाहा कभी राजा तो बनेगा नहीं। अरे जो कुलीन हैं, जो अधिकारी हैं, उनकी क्या परिस्थिति होगी ?"

कमाल मुस्कराया।

"क्यों हँसता है रे जुलाहे ?"

"पण्डित ! ठीक बात है। मेरा बाप यही कहता था।"

"क्या कहता था ?"

"यही कि जिनकी जात नीच है उनके लिए ये ब्राह्मण और ये मुल्ला दोनों समान हैं। वे हिन्दू समाज के जात-पाँत के भेद को देखकर फूट डालकर अपने फायदे के लिए लोगों को मुसलमान बनाकर उसका इस्तेमाल करते हैं, और इस तरह संस्कृति और धर्म की रक्षा के नाम पर, नीचों को ऊपर उठाने के अहंकार के नाम पर, हिंसा पलती है, घृणा बढ़ती है। वह मनुष्य को फिर जातियों में बाँटती है और छुआछूत बढ़ती है।"

"अरे जा-जा जुलाहे के निखट्टू पूत ! तेरी ये मजाल कि हम ब्राह्मणों को तू सबक देने लगा ? प्रभु ! इस कलि में क्या-क्या नहीं होगा ?"

"महाराज ! व्याकुल न हों, मैं स्वयं चला जाता हूँ।"

"अरे अब तू जाकर भी क्या करेगा जुलाहे ? तेरा बाप तो सत्यानास के बीज बो गया ! क्यों रे ? मैं पूछता हूँ काशी में क्या धरम नही रहा ? इतने-इतने दिग्गज विद्वान् वहाँ रहते हैं ? उन्होंने नहीं रोका उसे ?"

"उसे किसने नहीं रोका ब्राह्मण देवता ! उसे सुल्तान लोदी ने रोका, मुल्लाओं ने रोका, महंतों, मठाधीशों और पण्डितों ने रोका, उसे पेशेवर साधुओ और संन्यासियों ने रोका, उसे नाथ जोगियों ने घोलकर समाप्त कर देने की चेष्टा की, उसे सूफियों ने अपने संप्रदाय में मिलाकर मिटा देने की कोशिश की, लेकिन वह !! वह नहीं मिटा। न सुल्तान की तलवार उसे काट सकी, न मुल्लाओं के फतवे उसका सिर झुका सके। महंतों, मठाधीशों और पंडितों की जीभ उसके सामने लड़खड़ा गई। उसने मुफ़्तखोर साधुओं को बताया कि जिंदा रहते हो तो हाथ-पैरों से कमाकर खाओ, उसने नाथ जोगियों से कहा कि नहीं, स्त्री पाप नहीं है, वह घृणित नहीं है। उसने सूफियों के उस छद्मवेश को प्रकट कर दिया जिसकी आड़ में वे इस्लाम का प्रचार किया करते थे। वह मेरा बाप कबीर था ! वह मेरा बाप कबीर था !"

"अरे तेरा न था तो क्या मेरा था। तू तो ऐसा खुश हो रहा है जैसे जैन अपने तीर्थङ्कर की याद करके मग्न हो जाते हैं।"

"यही तो मुझे साले डालता है।"

"क्या भला ?"

"कबीर के चेले कबीर की हत्या कर रहे हैं।"

"सो क्यों ?"

"वे कबीर को अवतार बनाने की ही कोशिश कर रहे हैं और झूठे चमत्कारों

को दर्ज कर-करके वे कबीर को गिराने की कोशिश कर रहे हैं। वे बड़प्पन की एक ही कल्पना करते हैं। जो आज बड़े कहलाते हैं उनकी नकल करके उन जैसा हो जाना ही उनकी दृष्टि में महानता है, जब कि ये बड़े कहलानेवाले, उनके बड़प्पन के ढंग, ये सब बहुत छोटे हैं···सब बेकार हैं···"

'अरे चल-चल···सिर पर ही चढ़ा जाता है! दूर हो जा मेरी आँखों के सामने से। हँसता है? कमबख्त! दूर हो जा।"

"हँसता हूँ तुम्हारा छोटापन देखकर पण्डित! यह सब कुछ बदल जाएगा। सब कुछ बदल जाएगा। ये सब छोटे सत्य हैं। अविनाशी-अव्यक्त पुरुष का सत्य इन सबसे परे है। उसका तत्त्व समझना मनुष्य के लिए कठिन है, क्योंकि वह अपनी ही रूढ़ियों में बँधा हुआ है। उसको ही माया और अहंकार ने बाँध रखा है। मैं स्वयं चला जाता हूँ। जहाँ-जहाँ भी मैं जाऊँगा यही कहता फिरूँगा। मैं चला जाऊँगा, पर मेरा एक गीत सुन लो ब्राह्मण देवता।"

"नहीं, मुझे नहीं सुनना है कुछ!"

"अच्छा, मैं जाता हूँ, गाता जाऊँगा, जो सुन सको वह यहीं बैठे-बैठे सुन लेना।"

कमाल बाहर आ गया और गाने लगा---

सुनता नही धुन की खबर,
अनहद्द बाजा बाजता
रस मंद मंदिर गाजता
बाहर सुने तो क्या हुआ॥
गाँजा अफीमो पोस्ता
भाँग औ' शराबे पीवता
इक प्रेमरस चाखा नही
अमली हुआ तो क्या हुआ॥
कासी गया औ' द्वारका
तीरथ सकल भरमत फिरै।
गाँठी न खोली कपट की
तीरथ गया तो क्या हुआ॥
पोथी किताबे बाँचता
औरों को नित समझावता।
त्रिकुटी महल खोजै नहीं
बक-बक मरा तो क्या हुआ॥
काजी किताबें खोजता
करता नसीहत और को।

मरहम[1] नहीं उस हाल से
काजी हुआ तो क्या हुआ ॥
सतरंज चौपड़ गंजिफा
इक नर्द[2] है बदरंग की ।
बाजी न लाई प्रेम की
खेला जुआ तो क्या हुआ ॥
जोगी दिगम्बर से बड़ा
कपड़ा रँगे रंग लाल से ।
वाकिफ नहीं उस रंग से
कपड़ा रँगे से क्या हुआ ॥
मंदिर झरोखे रावटी
गुल चमन में रहते सदा ।
कहते कबीरा हैं सही
घट-घट में साहब रम रहा ॥
सुनता नहीं धुन की खबर
अनहद्द बाजा बाजता ॥

संगीत दूर होता चला गया ।

1. परिचित
2. निराकार

उपसंहार से पहले

बलूचिस्तान हिंगलाज में देवी मंदिर के बाहर दो आदमी बातें कर रहे थे।

"तुम कहाँ जाओगे ?"

"मैं बड़ी ज्वालामुखी तक यात्रा करने जाऊँगा।"

"वह तो ईरान के भी पार है न ?"

"हाँ, कोहकाफ़ के पास है।"

"कोहकाफ़ ! वहाँ की तो परियाँ प्रसिद्ध हैं ?"

"मैं वाममार्गी नहीं हूँ। मुझे परियों से क्या काम ?"

"स्त्री से काम सदा ही पड़ना चाहिए," पहले वाले ने कहा और कहते हुए मुस्कराया।

इसी समय घोड़े पर सवार एक आदमी आकर वहाँ उतरा। उसने मुँह पर साफे का छोर ऐसे बाँध रखा था कि ढाटा-सा लगता था।

"अरे कौन है भाई ?"

"मुझे नहीं पहचाना ?" कहकर उसने ढाटा खोल दिया।

"अरे !" पहला वाला आदमी हर्ष से उठ खड़ा हुआ—"जोगी कमलू ! तुम कब आए ?"

"आया हूँ यह तो देख ही रहे हो। पर तुम्हारी यह धूल बला की मुसीबत हो गई।"

"आओ, आओ ! काशी होके आया है तो आदमी ही न रहा।" पहले वाले ने कहा।

"उज्झकनाथ !" आगंतुक ने बैठते हुए कहा—"तुम नहीं समझोगे। मैं जो देखकर आया हूँ वह तुम्हें आखिर सुनाऊँ भी तो कैसे ?"

"अरे सुनाते रहना, पहले गाँजा तो पियो। इधर तो मैंने ऐसी आदत डाल ली है कि हाथ-भर ऊँची झल्ल उठा देता हूँ।"

वह अपने उस्तरे से मुँडे सिर पर हाथ फेरकर मुस्कराया और उसने उठने की मुद्रा में देखा।

जोगी कमलू ने गले में पड़ी मालाओं के गुरियों को उँगलियों से सुलझाया और ठोड़ी पर लटकती दाढ़ी को खुजाकर धीरे से कहा : "मैं गाँजा नहीं पीता।"

उज्झकनाथ चौंक उठा। कहा : "क्यों ! क्या तू अब वैष्णव हो गया ?"

"नहीं।"

"तो ?"

"उज्झकनाथ ! जिसे हम सब कुछ समझते हैं, वह तो कुछ भी नहीं है।"

उज्झकनाथ नहीं समझा। कोहकाफ़ जाने वाले यात्री ने कहा : "मेरा नाम हरनाथ है। मैं जात का हाड़ीमारंग हूँ। बंगाल का वासी हूँ। तुम क्या कहते हो ?"

"तुम्हें यहाँ आए कितने दिन हुए ?" जोगी कमलू ने पूछा।

"यहाँ तो मैं सात दिन पहले आया था। पर बंगाल छोड़े मुझे सात बरस हो गए।"

'फिर काशी से कब आए ?"

"समझ लो चार-पाँच बरस बीत गए। काशी से मथुरा गया था। वहाँ बादशाह सिकन्दर लोदी की पचीस एक कोस पर लड़ाई हो रही थी। बदलगढ़ के चंदवार ठाकुरों से घमासान हो रही थी। मैं फिर जालन्धर चला गया। पठानकोट होता हुआ यहाँ आ गया हूँ।"

"तभी तुम नहीं जानते।"

"क्यों, गोपीचंद के मठ की तरफ इधर से मैं सिंध जा सकता हूँ न ?"

"तुम तो कोहकाफ़ जा रहे थे ?" उज्झकनाथ ने कहा।

"अरे तो घूम कर चला जाऊँगा।" हरनाथ ने कहा—"तुम कहो, तुम काशी में क्या देख आए हो ?"

जोगी कमलू कुछ देर चुप रहा। फिर कहा : "सतगुरु कबीर साहेब का स्वर्गवास हो गया।"

"कौन ? मैंने भी यह नाम सुना तो है। मुझे चित्तौड़ में कुछ जोगियों ने उसके बारे में बताया था।"

"उसके-उसके क्या करते हो जी ! तुम्हें इज्जत से बोलना नहीं आता !"

"हाँ, हाँ, अपनी बात तो यही है भाई। अभी कुछ दिनों पहले एक आई पंथी भैरों का चोला चढ़ाए हाथ में अग्यारी लिए मिला था, वह कहने लगा कि गुरु दत्तात्रेय और गुरु गोरखनाथ के बीच में आई महाराज का औतार हुआ। कहने लगा, वह बड़ा पहुँचा हुआ था। तुम भी उसी की-सी बातें करते हो ?"

"नहीं, नहीं, मैं वह सब नहीं कहता। मैं तो सतगुरु कबीर साहेब की बात कहता था।"

"अलख निरंजन !" हरनाथ ने कहा—"आदेश ! आदेश !"

उज्झकनाथ ने चिलम मे गाँजा भरते हुए कहा : "जय गुरु गोरखनाथ ! अरे

कमलू, तूने बताया नहीं, कि कबीर साहेब के मरने की ऐसी कौन-सी बात है आखिर ? देख—

इक लाल पटा एक सेत पटा
इक तिलक जनेऊ लमक जटा
जब नहीं ऊलटी प्राण घटा
तब छोड़ जाइगे लटा पटा।

बोल ! सुना !

"वाह, वाह !" हरनाथ ने कहा—"चरपटनाथ तो चर्पटनाथ ही थे। पर गुरु गोरखनाथ कह गए हैं—

आवै संगैं जाइ अकेला
तार्थं गोरष राम रमेला ॥
काया हंस संग ह्वै आवा
जाता जोगी किनहुँ न पावा।
जीवत जग मैं मूवाँ मसाँणं
प्राँण पुरिस कत कीया पयाँण
जाँमण मरणाँ बहुरि बिओगी।
ताथैं गोरष भैला जोगी।

कमलू जोगी इस समय मग्न-सा होकर उठा और नाच-नाचकर गाने लगा—

सुगवा पिंजरवा छोरि भागा
इस पिंजरे में दस दरवाजा
दस दरवाजे किवरवा लागा
अँखियन सेती नीर बहन लाग्यो
अब कस नाहि तू बोलत अभागा
कहत कवीर सुनो भाई साधो
उड़िगो हंस टूटि गयो तागा।
सुगवा पिंजरवा छोरि भागा ॥

हरनाथ और उज्झकनाथ आश्चर्य से देखने लगे। हरनाथ ने कहा : "जोगी !"

परन्तु कमलू मस्त था। उसने कहा : "जोगी ! जानते हो ! सद्गुरु ने धरती को पाप से उबार लिया। वे बड़े पहुँचे हुए थे। उनका-सा तो कोई हुआ ही नहीं।"

"क्या कहते हो ?" हरनाथ ने काटा—"गुरु गोरखनाथ अमर हैं। वे सुनेंगे तो अवश्य दंड देंगे।"

"देंगे तो सद्गुरु इस दीन की रक्षा करेंगे।" कमलू ने कहा।

"तुम गुरुगोरष पर संदेह करते हो ?" उज्झकनाथ ने कहा—"अरे सुनो—

ॐ आदेस अलख अतीतं
तदा न होती धरती न आकासं।
तदा काले सिभू भई हमारी उतपन्य।
माता न लेबी दस मास भारं
पिता न करिबा आचार बिचारं
जोनी न आयबा, नाभि न कटाइबा
पुस्तग पोथी ब्रह्मा न बजायबा।
तहाँ अलेष पुर पटणि अनोपम
सिला तहाँ बैठे गोरषराई।
तुम दमड़ी-चमड़ी का संग्रह करो
गुर का सबद लै लै दोजिग भरो॥
गुप्ती चक्र चलावो हथियार
षडित बुधि बहोत अहंकार।
ऊभा ते सिध बैठ तै पाषांण।
श्री गोरख वाचा परवाँण।
अनन्त सिधाँ मैं रह रासि कही।
गोदावरी कै मलै ऐसी भई॥

"अहाहा," हरनाथ ने चिमटा बजाते हुए दाद दी।

कमलू जोगी ने झूमकर गाया—

धुंधमई का मेला नाहीं
नहीं गुरु, नहि चेला
सकल पसारा जेहि दिन माँही
जेहि दिन पुरुष अकेला।
गोरख हम तबके वैरागी।
हमरी सुरति नाम से लागी॥
ब्रह्मा नहि जब टोपी दीन्हा,
बिश्नु नहीं जब टीका।
सिव सक्ती के जन्मो नाँहीं
जबै जोग हम सीखा।
सतजुग में हम पहिरि पाँवरी
त्रेता झोरी झण्डा
द्वापर में हम अड़बंद पहिरा
कलउ फिरौं नव खण्डा।

काशी में हम प्रकट भये हैं
रामानन्द चेताए।
समरथ को परवाना लाए
हंस उबारन आए।
सहजै सहजै मेला होइगा
जागी भक्ति उतंगा।
कहैं कबीर सुनों हो गोरख
चलो सबद के संगा।

हरनाथ खीझ उठा। उसने कहा : "अरे जा-जा। बड़ा आया ब्रह्म का रूप बन कर। सुन—यों कथंत गोरष जती।

वहाँ चलिबे का करौ विचार
अगम अगोचर सुलप आकार।
घड़ा देवरा औघड़ देव
तहाँ जोगेस्वर लाग्या सेव।
पंच मेला मिल पूर्‌या नाद
धरणि गगन बिच भई अवाज।
दीपक एक अषंडित बिन बाती
तहाँ जोगेस्वर थापनाँ थापी,
अगम अगोचर सकल, ब्रह्मांड,
ता दीपग कैं चरण न प्यंड
सिषा न नैन सीस नहि हाथ
सो दीपग देख्या जती गोरबनाथ।"

कमलू जोगी ने दोनों कंधों को फड़काया और अब ताली बजा-बजाकर झूमता हुआ गाने लगा—

झीनी झीनी बीनी चदरिया
काहे कै ताना काहे कै भरनी
कौन तार से बीनी चदरिया
इँगला पिंगला ताना भरनी
सुषमन तार से बीनी चदरिया।
आठ कँवल दल चरखा डोले
पाँच तत्त गुन तीनी चदरिया।
साँई को सियत दस मास लागै
ठोक-ठोक के बीनी चदरिया।
सो चादर सुर नर मुन ओढ़े

ओढ़ि के मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ी
ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।
झीनी-झीनी बीनी चदरिया।

तब वहाँ कमलू जोगी अकेला रह गया। उज्झकनाथ और हरनाथ चले गए थे। किन्तु कमलू का मन भर आया। उसे खेद था कि उन्होंने उसकी बात को सुना ही नहीं। यह तो एक प्रकार की जड़ता थी। यदि सामने ठहरने नहीं पाए तो उन्होंने सिर क्यों नहीं झुकाया?

सद्गुरु की मृत्यु की वेदना, और उपेक्षा ने उसे व्याकुल कर दिया। वह अपने को समझाने को गाने लगा—मानो वह अप्रत्यक्ष अहंकार को वायु में से भी हटा देना चाहता था—

रमैया की दुलहिन लूटा बजार।
सुरपुर लूट नागपुर लूटा
तीन लोक मचा हाहाकार।
ब्रह्मा लूटे महादेव लूटे
नारद मुनि के परी पिछार।
स्रिंगी की मिंगी करि डारी
पारासर कै उदर विदार।
कनफूंका चिदकासी लूटे।
लूटे जोगेसर करत विचार।
हम तो बचिगे साहब दया से
सब्द डोर गहि उतरे पार।
महत कबीर सुनो भाई साधो
इस ठगिनी से रहो हुसिआर!
रमैया की दुलहिन लूटा बजार।

गाते-गाते कमलू अपने को भूल गया।

संध्या गहरी हो गई थी। घोड़ा हिनहिना उठा। कमलू उठ खड़ा हुआ और उसने घोड़े की पीठ पर हाथ फेरकर कहा—"वह सचमुच गुरू था। वह सचमुच गुरू था।"

और उसका गला रुँध गया। उसे कबीर साहेब के अंतिम दर्शन याद आ रहे थे और फिर उसके होंठों से हल्का-सा शब्द निकला—सद्गुरु, सद्गुरु···

रात और उतर आई।

सूर्यास्त हो गया

मैं कमाल ही हूँ। मैं उस दृश्य को भूल जाना चाहता हूँ परन्तु भूल नहीं पाता। क्या करूँ?

पिता ने अपने सफेद केशों पर हाथ फेर कहा : "बेटा कमाल!"

मैंने कहा : "दादा, तुम थक गए होगे। कब तक बुनते रहोगे? क्या तुम मुझपर अपना भार एक दिन भी नहीं छोड़ सकते?"

झोंपड़े में निस्तब्धता थी। पिता ने करुणा-भरी आँखों से देखकर कहा था : "बेटा! जब तक आदमी जिए, उसे काम करना चाहिए। अपने पेट के लिए काम करना तो जरूरी है। हाथ-पाँव काम करते रहते हैं तो चलते रहते हैं, उन्हें हराम के खाने की आदत नहीं डालनी चाहिए।"

"थोड़ा आराम कर लो दादा!" मैंने फिर कहा था। उन्होंने कहा : "बेटा तू नहीं मानता तो यही सही।"

मैंने उन्हें खाट पर लिटा दिया था। उनका शरीर पतला-दुबला था। मूंछें सफेद थीं। पाँच दिन की बढ़ी हुई सफेद बालोंवाली दाढ़ी बड़ी अच्छी-सी लग रही थी। वे तब सौ से ऊपर थे। मैं बुनता रहा। उस समय उन्होंने कहा : "कमाल!"

"हाँ दादा।"

"बेटा, तू डरता है!"

"किससे दादा?"

"मौत से?"

मैं डर गया था। पूछा था : "ऐसा क्यों कहते हो? मैं तो डर रहा था, उसी दिन से डर रहा था जिस दिन तुमने भरी सभा में कहा था कि अगर काशी में मरने से स्वर्ग मिलता है, तो तुम्हें वह स्वर्ग नहीं चाहिए। तुमने कहा था कि मगहर ही में मरूंगा, भले ही मरकर गदहे का जन्म लेना पड़े।"

"तू इस सबमें विश्वास करता है, बेटा!" उन्होंने लेटे-लेटे कहा था—"बुद्धि से सोचकर देख। तू ही बता। काशी अगर महादेव की है, और महादेव सर्वव्यापी है, तो मगहर क्या महादेव का नहीं है?"

"क्यों नहीं होगा?"

"फिर एक स्थान में पुण्य क्यों, दूसरे में पाप क्यों?"

"ठीक तो है दादा ! यह तो गलत है।"

"काशी के पण्डे लोग इस तरह प्रचार करके यहाँ आकर मरने वालों की संख्या बढ़ाते हैं और खूब धन कमाते हैं, इसके अतिरिक्त इसमें कोई सत्य नहीं है।"

"जाने दो दादा।" मैंने कहा था—और फिर काम में लग गया था। कुछ देर बाद पिता ने कहा था : "कमाल बेटा !"

"हाँ दादा !"

"आज काम बन्द कर दे।"

"क्यों दादा !"

"बेटा : अब मैं जा रहा हूँ।"

"कहाँ ?"

"वहाँ जहाँ सब ही एक दिन चले जाते हैं, और जाने के बाद फिर कभी लौट-कर नहीं आते।"

"क्या कहते हो दादा ! क्यों बुरी बात मुंह से निकालते हो ! मेरा तो इस संसार में तुम्हारे सिवाय कोई नहीं है ?"

"इस संसार में कोई सनातन होकर नहीं आता पुत्र ! सब आते हैं, सब चले जाते हैं। नाग और गरुड़ दोनों का नाश हो जाता है। कपटी और सत्यवादी दोनों ही चले जाते हैं। गुण और निर्गुण की पहचान करने वाले, पापी और पुण्यात्मा कोई भी अमर नहीं होता। अग्नि, पवन और पानी, यह सृष्टि, यहाँ तक कि विष्णु-लोक भी प्रलय की छाया में विनष्ट हो जाता है। माया मत्स्यरूप धारण करती है, यम अहेर करता है, हरिहर, ब्रह्मा भी जिससे नहीं उबर सके, उससे मनुष्य कैसे पार पा सकता है ? राम और लक्ष्मण चले गए। किन्तु सीता को संग नहीं ले जा सके। कौरवों को जाते हुए देर नहीं लगी पुत्र ! धारा नगरी को सुशोभित करने वाले भोज से भी नहीं रहा गया। पाण्डव चले गए, कुन्ती जैसी रानी चली गई, सुबुद्धि का भण्डार सहदेव भी चला गया। चलती बार कोई कुछ भी तो नहीं ले जा सका। मूर्ख मनुष्य ही बहुत कुछ संचय करता है। अपनी-अपनी करके सब चले गए, किसी के हाथ कुछ नहीं लगा। रावण भी अपनी कर गया, और दशरथ का बेटा राम भी अपनी करके चला गया।"

मैं सुनता रहा। मुझे लगा इतिहास के विराट प्रकरण मेरी आँखों के सामने से जा रहे थे। मैंने देखा, विकराल काल सबको खाए जा रहा था। क्यों सब कुछ नष्ट हो जाता है ? फिर इस संसार में तत्त्व ही क्या है ?

मैंने कहा—"दादा ! सब कुछ नष्ट हो रहा है। फिर यह परिवार क्या है ? यह क्या बंधन नहीं है ? तुम बता सकते हो मुझे तुम्हारे बिना कितना दुःख होगा ?"

पिता ने कहा : "बेटा ! सत्य यही है कि इस संसार में दो नियम हैं। जन्म और

मृत्यु। मैं मृत्यु से डरता नहीं। किन्तु केवल इसलिए सोचता हूँ कि मनुष्य इस जीवन में असंख्य पाप और हिंसा करके अपने लिए सुख एकत्र करने में लगा रहता है। वह यह भूल जाता है कि मृत्यु अवश्यम्भावी है, वह निश्चय ही आती है। तू ही सोच ! नाश का ज्ञान रखने वाला क्या कभी पाप करेगा ? वह तो जितने दिन रहेगा स्नेह और समता से ही इस संसार में रहेगा। यह सब लोग अपने निराधार जड़ विश्वासों में बँधे हुए हैं।"

मैं रो पड़ा। मैंने कहा : "पिता क्या मनुष्य का हृदय कुछ नहीं है ? क्या उसे रोना नहीं आएगा ?"

पिता ने धीरे से कहा : "पुत्र ! संसार में स्त्री के साथ रहना पाप नहीं है, वह तो सृष्टि का क्रम है। संतान को पालना माया नहीं है। किन्तु जो संतान और नारी से अपना सम्बन्ध अटूट चाहता है वही भूला हुआ है। सृष्टि का क्रम है, सब आता है, सब मिट जाता है। प्रकृति के नियम को देखकर दुख करना मनुष्य का अज्ञान ही होता है। यह अज्ञान ही मनुष्य को असह्य वेदना देता है।"

पिता चुप हो गए। मैंने उनके पाँव पकड़ लिए और कहा : "यदि यह संसार व्यर्थ ही है तो इसके लिए इतने हाहाकार क्यों ?"

"हाहाकारों का मनुष्य ने निर्माण किया है पुत्र !" पिता ने सोचते हुए कहा—"सृष्टि ने मृत्यु दी है, तो जन्म भी दिया है। एक को बढ़ाकर दूसरे को घटाना ठीक नहीं है। परन्तु मृत्यु जीवन के साथ अवश्य है और क्योंकि संसार के लोग अपने क्षुद्र व्यक्तिगत जीवन को अमर समझ बैठते हैं, उनको चिल्लाकर याद दिलाना पड़ता है।"

पिता ने कहा : "पुत्र ! माता-पिता जन्म देकर बालक को अपना कहकर स्वार्थ से पालते हैं। बाघिन रूप धारण करके उसे कमिनी खा लेना चाहती है। पुत्र-कलत्र सियारों की तरह मुंह फाड़े खड़े रहते हैं। कौआ और गिद्ध दोनों उसकी मृत्यु चाहते हैं। स्यार और कुत्ता उसकी राह देखते हैं। धरती कहती है, यह मुझे मिल जाए। पवन कहता है, मैं उड़ा ले जाऊँगा। अग्नि कहती है, मैं इस शरीर को जलाऊँगी। श्वान कहता है, इसके जल जाने पर मैं इसका उद्धार करूँगा। जो केवल विषयों में भूले रहते हैं उनके लिए मैं यह बात कहता हूँ। 'मेरा-मेरा' कहकर स्वार्थ में भूले हुए लोग छटपटाते हैं। मनुष्य की पवित्र सत्ता हरि-स्मरण के लिए मिली है। हरि क्या है कमाल ? वह सृष्टि का अज्ञात महान रहस्य, जो मूलतः आलोक है, प्रेम है, सहज है, उसकी अनुभूति यह मनुष्य ही तो प्राप्त कर सकता है।"

मैंने देखा धीरे-धीरे धुँधलका छाने लगा था। पिता गुनगुनाने लगे—

भूला लोग कहै घर मेरा
जा घरवा में फूला डोलै

सो घर नाहीं तेरा,
हाथी घोड़ा बैल बहाना
संग्रह कियो घनेरा
बस्ती में से दियो खदेरा
जंगल कियो बसेरा ।।
गाँठी बाँधी खरच न पठयो
बहुरि कियो नहिं फेरा
बीबी बाहर हरम महल में
बीच मियाँ का डेरा ।।
नौ मन सूत अरुझि नहि सूझै
जनम - जनम अरुझेरा
कहत कबीर सुनो हो संतो
यह पद करो निवेरा ।

मैंने सुना तो मेरी वेदना अपने-आप स्थिर हो गई । वह उतरता अँधेरा पिता के चरणों पर मेरे भय का अन्त हो गया । वह मेरा पिता था । जिसने मुझको पाला-पोसा, वहीं तो मेरे जीवन का शाश्वत अभय था । उसके ही सहारे से मैं अपने को पूर्ण समझता था । किन्तु पिता की इस वाणी ने बताया कि सृष्टि के क्रम में सबका ही नियंत्रण है, जिसको मनुष्य अपने सीमित सामान्य साधनों से काट नहीं सकता । और मुझे पिता के वे पहले के शब्द याद आने लगे—इस संसार में जिसे देखा दुखी ही देखा । तन धारण करके किसी ने भी सुख नहीं पाया । मैं उदय-अस्त की बात करता हूँ तुम इसे विवेक से सुनकर विवेचन करो । इस पथ पर सब ही दुखिया हैं, गृहस्थ या वैरागी, जोगी, जंगम, सब ही को दुख है और तापस को तो दूना दुख है ।

मैंने दुहराया—तापस को तो दूना दुख है । तपस्वी को ? दूना ??

झोंपड़े की नीरवता अब गहरी हो गई थी । पिता को जैसे अब मेरी याद नहीं थी । वे अपने गहरे सोच में पड़ गए थे ।

मैंने उठकर दीपक जला दिया । उसका हल्का प्रकाश झोंपड़े की भीतों पर काँपने लगा और वह मुझे उस समय अच्छा लगा । उसमें कितनी सांत्वना थी ! वे खाट पर सीधे लेटे थे । उनका चौड़ा और दीप्त भाल दिखता था, और मैं सोच रहा था, यही है वह माथा जिसने हजारों आदमियों को हिला दिया था । वह गरीब पैदा हुआ था । आज भी गरीब था । जीवन-भर मेहनत करके इसने कमाई की और कितना शांत, कितना पवित्र होकर लेटा हुआ है यह ? मैं सोचने लगा, हम सब आत्मा को मानते हैं । पिता भी समझते हैं कि वह एक विरानी वस्तु है जो पाँच तत्त्व के इस पिंजरे में आती है और अनदेखे ही चली जाती है और यह देह

बिना पानी के ही डूब जाती है। राजा, रानी, अभिमानी चले जाते हैं। मुझे गीता की बात, जो मैंने साधुओं की रम्मत में सुनी थी, याद आने लगी—वह आत्मा न जन्म लेती है, न मरती है, वह अमर है। जैसे पुराने वस्त्र छोड़कर नये वस्त्र मनुष्य धारण कर लेता है, वैसे ही एक चोला छोड़कर वह दूसरे शरीर का चोला धारण कर लेती है। यहाँ जोग करने वाले योगी और कथा सुनने वाले भोगी चले जाते हैं।

फिर पिता के शब्द याद आए। उन्होंने कहा था—यह तो पाप-पुण्य की हाट लगी हुई है। धरम यहाँ दण्ड लेकर दरबानी करता है। केवल भक्ति रखने वाला ही अपनी मति को स्थिर रखने में समर्थ होने पर काल से पराजित नहीं होता।

यह सत्ता महासमुद्र में उठी हुई एक लहर के समान है जो उठती है और फिर लय हो जाती है।

और अभी मैं सोच रहा था कि मुझे एक विभोर किन्तु पराभूत-सी चेतना की अनुभूति मिली।

मैंने सुना, वे अत्यन्त गम्भीर और संयत स्वर से गा रहे थे। मुझे आश्चर्य हुआ।

परन्तु मैंने देखा, वे मुस्करा रहे थे और उनकी आँखें अब दीपक की रोशनी को देख रही थीं। उस वक्त मुझे लगा जैसे दीपशिखा स्थिर हो गई थी। झोंपड़े में एक नई आभा फैल रही थी। और शब्द मेरे कानों में पड़ने लगे—

कौन ठगवा नगरिया लूटल हो
चंदन काट कै बनत खटोलना
तापर दुलहन सूतल हो।

मैंने अपनी चेतना में देखा और वह कल्पना मेरी सीमाओं को तोड़ने लगी। मुझे लगा मैं किसी इतने महान् व्यक्ति के पास था कि मुझे आश्चर्य हुआ। और संसार? संसार उनसे डरता था, घृणा करता था। लोग उन्हें दार्शनिक कहते थे। मैं देख रहा था कि वह आदमी, उस आदमी का हृदय, उस आदमी की चेतना, यह सब कितने अधिक कोमल थे!

वह मेरे पास भी थे, फिर भी मुझे लग रहा था कि जितना ही मैं हाथ पसारता हूँ, उतने ही वे मुझसे दूर हो जाते थे। उस क्षण मुझे लगा, मैं वहाँ अपने लिए नहीं, उनके लिए हूँ। किसी का आलोक या महानता अपने-आप में पूर्ण नहीं है। उनका बड़प्पन या अन्धकार मिटाने की शक्ति को दिखाने के लिए उनकी तुलना की एक वस्तु उनके सामने रहनी ही चाहिए। ऐसा ही मैं कमाल हूँ, जो भाग्य से कबीर जैसी महान् आत्मा के पास आ गया हूँ। क्या है यह मेरी सत्ता, कुछ नहीं। बल्कि मुझे लगा कि इस अधमुंदे नयनों वाले महाकवि के लेटे हुए शरीर के सामने मैं जो चलते-फिरते होने के कारण, यों अपने को नायक समझ रहा हूँ, वह मेरी

भूल ही है। नायक तो लेटा है। मैं जो कुछ हूँ उसके कारण हूँ।

और तब आत्मा की अनुहार का लरजता स्वर मुझे सुनाई दिया :

उठो सखी मोर माँग सँवारो
दुलहा मोसे रूसल हो।

वह रूठना कितना मधुर था। मैं तन्मय हो गया। एक विशाल जीवन अपने अन्तिम क्षण में आत्म-यातना को प्रेम की सरस अनुभूति में भिगोकर संसार को दिए जा रहा था। अनन्त था वह जीवन का अभिनय, कितनी मादकता थी इसमें !

और पिता का स्वर सुनाई दिया—

आए जमराज पलँग चढ़ि बैठे
नैनन आँसू टूटल हो।

मैं चौंक उठा। यमराज !!

पिता ! वे जा रहे हैं !!

और मैं खड़ा-खड़ा भूल गया हूँ !

आखिर क्यों ?

क्या यह ममता से विरक्ति मुझे अपने पिता के द्वारा ही विरासत में नहीं मिली है ?

परन्तु क्या वह इतनी बड़ी है कि मुझे बाँधे रह सके। ठीक है कोई शाश्वत नहीं होता। पिता भी तो सौ बरस से ऊपर हैं। क्या वे जिए ही जाएँगे ?

नहीं।

तो क्या वे चले जाएँगे ?

यही मेरी समझ में नहीं आ रहा था। मैं वहाँ अपने पिता को नहीं देख रहा था, मुझे वहाँ अनेक शताब्दियों का ज्ञान दिखाई दे रहा था। मुझे युग ही साकार रूप में दिख रहा था। मुझे लग रहा था, वह मनुष्य की देह धारण करने वाला ही नहीं था, वहाँ मुझे मनुष्य की आत्मा के सच्चे दर्शन हो रहे थे।

और फिर स्वर उठा—

चारि जने मिलि खाट उठाइन
चहुँ दिसि धू धू ऊठल हो
कहत कबीर सुनो भई साधो
जग से नाता छूटल हो।

वहीं मैं अपना संतुलन खो बैठा और खाट की पाटी पकड़कर रोने लगा। उस समय दीपक के प्रकाश में जब पिता ने मेरी ओर देखा तो मुझे लगा सचमुच वह टूटता हुआ नाता फिर जुड़ गया है, अब वह नहीं टूटेगा क्योंकि स्नेह के बंधन में खिंचने की शक्ति होती है।

पिता ने कुछ नहीं कहा। वे मेरे सिर पर हाथ फेरते रहे। मचते हुए हाहा-

कार शांत हो गए। सब कुछ केन्द्रीभूत हो गया, सब कुछ पास आ गया। उस झोंपड़े में कबीर के स्पर्श से दीपक के प्रकाश में बैठा हुआ मैं अपने मोह, ममता और स्नेह की स्तर-स्तर जमी पर्तों को उघड़ते हुए देखता रहा।

आधी रात हो गई थी।

मैंने देखा वे शांत सो गए थे। मैंने लेस उढ़ा दी। वे किसी गहरे स्वप्न में उलझे हुए-से दिखाई दे रहे थे। वह न जाने किस विराट यात्रा का अन्त था, या किसी नवीन महान् यात्रा का उपक्रम था। मैं नहीं जानता। वे जब बात करते थे तो ऐसा लगता था, जैसे वे किसी गूढ़ रहस्य को समझते हैं, जैसे समझते तो नहीं, परन्तु उसकी उन्हें अनुभूति हो चुकी है और वे उसे समझाने की चेष्टा करते हैं तो शब्द निर्बल हो जाते हैं, वे जो कहना चाहते हैं, निस्संदेह वे उसे नहीं कह पाते। और मैं सोचने लगा, क्या वे फिर ऐसे ही किसी रूप के विषय में आज फिर सोच रहे थे ! अनाहत नाद !! वह नाद जो किसी प्रकार के संघर्ष से जन्म न ले ! पिता उसे बोलती देदीप्यमान शीतल ज्वाला का आलोक कहा करते थे···

मुझे लगा इस समय खाट पर वही आलोक मुस्करा रहा था···

सुबह जब मैं उठा तो आवाज़ सुनकर।

धीरा कहार था। उसने पुकारा : कमाल भैया ! कमाल !

मैं बाहर आया।

अरे बाहर आकर तो क्या देखता हूँ, कि देखता ही रह गया। मेरे पिता के पास कुछ युवक आया करते थे। वे उनकी कविताओं को लिख लिया करते थे। कभी-कभी मैं भी लिख लेता था। पिता के पास सदा ही साधु-सन्तों की भीड़ रहा करती थी।

मगहर में तो वह भीड़ बढ़ गई थी। बल्कि माँ के मरने के बाद से तो हम दोनों की कमाई साधु-सन्तों की सेवा में ही उठ जाती थी। पिता आगे-आगे चलते। संग भीड़ चलती। कभी पिता गाते, भीड़ दुहराती। परन्तु मैंने जो आज देखा वह तो बात ही और थी।

सारा मगहर निस्तब्ध इकट्ठा हो गया था।

उस भीड़ की उदासी में मेरे पिता की ऐसी महानता छिपी थी कि मैं सिहर उठा। मुझे याद आया, अँधेरी काली रात छा रही थी। आकाश में घमंड करती घटाएँ छा रही थीं। सनसनाती हवा शीतल-सी बह रही थी। मैं उस दिन न जाने पिता के किसी गूढ़ पद का चिंतन कर रहा था। और अचानक वह ठंडी हवा मेरे शरीर में लगी तो मैं सिहर उठा था। उस सिहर में कितना अव्यक्त आनन्द था ! वह किसी अप्रत्यक्ष आनन्द का झिलमिलाता-सा आभास था जो आया था, जिसने सुप्त रोम-रोम को जगाया था और फिर अन्तरिक्ष तक सनसनाहट-सी फैलाकर

वायु की अँधेरी तरलता पर झूमकर मचलने लगा था। वैसे ही सिहरन-भरी आनन्द की अभिव्यक्ति मुझे हुई। मैं कवि नहीं हूँ, मैं दार्शनिक नहीं हूँ, मुझमें पिता की-सी महानता की छाया भी नहीं, न मुझमें कभी उसकी-सी आत्मविस्मृत सत्यान्वेषण की वह अटूट तन्मयता ही रही है, जो लघु को दीर्घतम बना देती है। पर उस भीड़ को मैं देखता रह गया।

वहाँ हिन्दू भी थे, मुसलमान भी थे और स्वर उठा : "क्यों कमाल! तूने बताया तक नहीं? सद्गुरु का समय आ गया है···"

मैंने दोनों हाथ उठाकर दयनीय स्वर से कहा : "ऐसा नही कहो दयालुओ! ऐसा कठोर वचन मत कहो···"

मेरे पसीजे हुए शब्दों ने उन्हें आर्त्त कर दिया। वह वेदना जैसे सबको छू गई थी।

मुझे अनुभव हुआ कि आदमी जब तृष्णा, ईर्ष्या, अहंकार और स्पर्धा से शीघ्र ही कुछ प्राप्त कर लेने के लिए काम करता है, तब वह अपने भीतर ही असहिष्णु हो जाता है और अपने कार्य की छोटी-से-छोटी असफलता भी उसे बहुत ही बड़ी-सी दिखाई देती है। उसे अपनी ठीक बात में भी तब विश्वास नहीं रहता क्योंकि एक अहंकार का उद्वेग उसकी नींवों को ठोस भूमि पर खड़ा नहीं रहने देता। वह डरता है। यदि वह नास्तिक होता है तो उसे अँधेरा घेर लेता है। यदि वह आस्तिकता की डाँवाडोल विश्वास की किरण पकड़कर झूलता है तब वह मृगतृष्णा में भटकने लगता है। मैं स्वयं नहीं जानता कि अभावग्रस्त मानव को किस प्रकार त्याग का अहंकार करके जीवन बिताने की सचाई मिल सकती है। परन्तु कबीर का जीवन यह अपूर्णता नहीं थी। चरमशांति थी वहाँ। निर्द्वन्द्वता आत्मसंतोष और आत्म-यातना से नहीं आती। यह दोनों तो एक ही पहलू के क्रम से सामाजिक और व्यक्ति-गत पक्ष हैं। वह तो तब मिलती है जब भीतर कोई रिक्त ही बाकी नहीं रह जाए।

पिता महान् हैं। वे पढ़े नहीं हैं, पर दुनिया उनसे पढ़ती है। मैं पढ़ा हूँ, लिखा हूँ क्योंकि उनके कारण, बचपन से ही कुछ पढ़े-लिखे लोग घर पर आते रहे हैं, उन्होंने मदद की है, फिर भी मैं अनुभव करता हूँ कि जो वे जानते हैं, वह मैं नहीं जानता।

मैंने कहा : "वे सो रहे हैं। भाइयो वे सो रहे हैं।"

पूर्ण शांति छा गई। मानो असंख्य मेघों की गर्जना थम गई हो और सब चुप हो गए हों।

मगहर की छोटी-सी बस्ती में आज काम-धंधा बंद था। सब बैठे थे। मुझे सबसे बड़ा आश्चर्य अब हुआ। मैंने हिन्दू और मुसलमानों की बातें सुनीं।"

"कबीर साहेब हिंदू थे।"

"हिंदू कैसे हुए ? वे तो हम जैसे मुसलमान थे !"

मुझसे सहा नहीं गया। आखिर तो जो जिस दायरे में रहता है, वह उससे बाहर की बात सोच भी नहीं सकता। हिंदू और मुसलमान दो अलग-अलग कुओं में पड़े हुए मेंढक थे। उनकी सारी परम्पराएँ, उनके सारे फैलाव वहीं तक तो जाकर पहुँचते थे !! मुझे खेद हुआ, जीवनपर्यन्त मेरे बाप ने जो कहा उस पर अभी से चोट होना शुरू हो गई थी। वे उन्हें भी बाँट लेना चाहते थे।

और इसका भी मूल क्या था ! श्रद्धा, आदर और प्रेम। यही तो वे कबीर साहेब के लिए लेकर आए थे। उनकी राय में इससे और कुछ अच्छा वे कर भी तो नहीं सकते थे।

मैंने समझाना चाहा, पर सोचा जाकर पिता को जगाकर कहूँ, वे हँसेंगे और फिर कुछ कहेंगे तो सारी भीड़ शर्मिन्दा हो जाएगी। यही सोचकर मैं अन्दर गया। पर जब मैं भीतर गया तब देखता ही रह गया।

साहेब तो सो गए थे। मैं उनका बेटा, उस समय मंत्रमुग्ध-सा खड़ा रह गया। वे ऐसे थे कि उनकी शोभा मैं कभी भी नही कह सकूँगा। वह ऐसे दीप-से दिखाई दे रहे थे, जैसे बिना ज्योति के उजियारी फैल गई थी। अक्षय पुरुष के पास हंस पहुँच गया था। वहाँ पद्मों की परछाइयों में माथे पर छत्र लगा हुआ था और मेरे पिता जैसे चन्द्र, भानु और तारागणों के भीतर से निकलती ज्योति-किरणों को देखकर चकित हो गए थे। आज हंस ने सुख पाया था ! यही वह आदिवाणी थी, जिसका वेद भी अन्त नहीं पा सका था।

सद्गुरु हंस का रूप धारण करके समस्त शोक छोड़कर अपने लोक को चला गया था ! भृंग ने कीट को पलटकर भृंग बना लिया था और अपना जैसा रंग देकर उसे संग उड़ा ले चला था। नासूत से परे मलकूत पहुँचने पर उसे विष्णु की ठाकुरी दीख पड़ी थी। इन्द्र, कुबेर बैठे थे, रंभा नाच रही थी, तैंतीस कोटि देवता खड़े थे। हंस बैकुण्ठ को छोड़कर आगे चला, शून्य में जगमग ज्योति जगने लगी। ज्योति-प्रकाश में निज तत्त्व को देखकर वह हंस स्वयं ही निर्भय हो गया और उसके समस्त संशय और आतंक दूर हो गए।

नूर के महल और नूर की भूमि पीछे छूट गई। नवां मुकाम भी पार हो गया। आनंद से सब फंदों को छोड़ता वह हंस तो सत्यलोक पहुँच गया।

पुरुष ने जब हंस को दर्शन दिया तब जन्मजन्मान्तर का ताप मिट गया, अखण्ड प्रेम जाग्रत हुआ था, अपना ऐसा रूप बना लिया था, जैसे सोलह सूर्यों का आलोक भास्वर हो उठा।

अंडकटाह पार हो गए। भ्रम और कर्म की सीमाएँ पीछे छूट गई।

मैं अवाक् खड़ा रहा। शायद मैं अपने को भूल गया था। मैं केवल महात्मा के अन्तिम दर्शन करता रहा।

उस समय मुझे सुन पड़ा, कोई गा रहा था—

सुरत सरोवर न्हाइ के मंगल गाइये
दरपन सब्द निहार तिलक सिर लाइये।
चल हंसा सतलोक बहुत सुख पाइये
परसि पुरुख के चरन बहुरि नहिं आइये।
अमृत भोजन तहाँ अमी अँचवाइये
मुख में सेत तँमूल सब्द लौ लाइये।
पुहुप अनूपम वास हंस घर चलि जिये
अमृत कपड़े ओढ़ि मुकुट सिर दीजिये।
वह घर बहुत अनन्द हंसा सुख लीजिये
बदन मनोहर गात निरखि के जीतिये।
दुति बिन मसि बिन अंक सो पुस्तक बाँचिये
बिन करताल बजाय चरन बिन नाचिये।
बिन दीपक उँजियार अगम घर देखिये
खुल गये सब्द किवाड़ पुरुष सों भेंटिये।
साहब सन्मुख होय भक्ति चित लाइये
मन मानिक सँग हस दरस तहँ पाइये।
कहृ कबीर यह मंगल भाग न पाइये
गुरु संगत लौ लाय हंस चल जाइये।

वही, वही तो है यह ! हंस ! पहले यह सोहंग था, फिर पलट कर हंस हो गया। गगन-गुफा में अजर रस झरने लगा था। बिना बाजे की झंकार उठ रही थी, केवल ध्यान की अटूट तल्लीनता थी। वहाँ ताल नहीं था पर जहाँ-तहाँ कमल फूल रहे थे, उन पर हंस चढ़कर केलि कर रहा था। बिना चन्दा के ही उजियारी फैली थी, और हंस दिखाई दे रहा था। युगों-युगों की तृष्णा बुझ गई थी।

कौन गा रहा था, मैं नहीं समझा। मुझे लग रहा था वहाँ मेरा पिता नहीं था, अविद्या की गाँठों को खोलकर संचित ज्ञान पड़ा हुआ था।

मैं जब बाहर निकला तो आनन्द से मन ओत-प्रोत हो रहा था। मैं अपने-आप विह्वल होकर, नाचकर गाने लगा था—

दुलहिन गावहु मंगलचार
हम घर आए हो राजा राम भरतार,
तन रति कर मैं मन रति करिहौं
पाँचों तत्त्व बराती
राम देव मोहिं ब्याहन आए
मैं जोबन मदमाती।

लोगों ने आश्चर्य से देखा परन्तु मैं आगे बढ़ा और गा उठा—

सरिर सरोवर वेदी करि हौं
ब्रह्मा वेद उचारा,
रामदेव सँग भाँवर लैहों
धन धन भाग हमारा,
सुर तैंतीसो कौतुक आए
मुनिवर कहस अठासी,
कह कबीर मोंहि ब्याहि चले हैं
पुरुष एक अविनासी।

उस अविनाशी पुरुष से होते हुए तादात्म्य में मैंने अपनी अन्तरात्मा में मृत्यु पर होती हुई विजय देखी, जो जीवन की शाश्वत मुक्ति बनकर जग रही थी। मुझे नहीं मालूम कि उस समय मुझे क्या हो गया था। वहाँ एक अतीन्द्रिय साधना-पुरुष के अन्त में से मुझे एक नया सृजन होता हुआ लगा। वह कितना निस्तब्ध था, किन्तु कितना शांतिदायक था, कि आज भी मैं उसको अपनी चेतना से खो नहीं सका हूँ। उस विरक्ति ने एक अटूट भक्ति का रूप धारण कर लिया था। वह भक्ति कितनी भी शून्य और रहस्यवादी क्यों न हो, क्या उसका आधार सामाजिक नहीं था? क्या वह सहज मानवीयता के पारिवारिक स्वरूपों को लेकर जीवित नहीं हो उठी थी!!

जय! सद्गुरो की जय!!

भीड़ निनाद करने लगी। उस कोलाहल को सुनकर मेरा हृदय टूक-टूक होने लगा।

अरे मेरा बाप भीतर खाट पर मरा पड़ा था और मुझे धिक्कार कि मैं रोया तक नहीं! मैं भागा। मैं फूट-फूटकर रोने लगा। वह मुझे छोड़ गया था। हाय मैं अकेला रह गया हूँ। अब मेरा कोई सहारा नहीं है।

हठात् मैं चौंक उठा।

आलम कह रहा था : कौन होते हो तुम छूनेवाले? जन्म-ज़िन्दगी तुमने उसे नीच कहा। कबीर साहेब तुम्हारे नहीं हमारे थे। हम ही उन्हें बाइज़्ज़त दफ़न करेंगे।

और विक्रम कह रहा था : अरे जाओ, जाओ! तुम मुसलमानों ने इन्हें ज़िन्दा मरवा देने की कोशिश की। वह हिन्दू थे। और हिन्दुओं के ही कंधों पर चढ़कर वे आज जाएँगे।

मुझे लगा मेरा हृदय फट जाएगा। क्या सचमुच संसार इतना मूर्ख है, मैंने सोचा। झगड़ा और वही झगड़ा, सो भी किसके पीछे? उसी कबीर के जो इन

दोनों का मज़ाक उड़ाता था ? जो मानव था, केवल मानव था।

मुझे लगा कि इस अज्ञान के पीछे श्रद्धा करने के योग्य भी एक वस्तु थी। वह थी मेरे पिता की श्रद्धा जो इन दोनों के भीतर समान रूप से थी। वह महाकवि इन दोनों के क्षुद्र बंधनों से इतना ऊपर उठ गया था कि दोनों ही उसको अपना स्वीकार करते हुए नहीं झिझकते थे। और मेरे सामने यह विराट भारत देश आया। एक ओर हम थे, नीच, जो नीच समझे जाते थे। मेरे पिता उन नीचों में पलने वाली महानता के प्रतीक थे, दूसरी तरफ इस्लाम था, जिसके नारों से सारा देश गूंज रहा था, तीसरी तरफ प्राचीन ऊँची जातियों के विशाल मन्दिरों के घण्टों की घनघनाहट थी, जो इस्लाम के सिपाहियों के घोड़ों की सुमों की आवाज को डुबाने के लिए अपने आपको बहरा बनाकर बज रहे थे, गूंज रहे थे, और फिर हम थे, जो सवर्णों की धरती पर खून दे-देकर विजयी घोड़ों के द्वारा उठाई हुई धूल को दबाए रखते थे, फिर भी अपने को नीच ही कहा जाते हुए सुनते थे, और मेरे पिता एक ऐसे नये स्वप्न की खोज में थे जहाँ हिन्दू हिन्दू नहीं था, जहाँ मुसलमान मुसलमान नहीं था, इन सबसे ऊपर मनुष्य था, एक नया आदमी, नया आदमी···

मुझे लगा, दिशाएँ पुकारने लगीं—कमाल ! पहला नया आदमी सो गया है, पहला नया आदमी सो गया है···

लेकिन मैं जाग रहा हूँ, मैंने कहा, और तब जब कि दोनों झगड़ा करने वालों का अहंकार उद्दण्ड हो रहा था, मैंने कहा : "यहाँ लड़ो नहीं। जानते हो तुमने मेरे पिता की चादर पर क्या चढ़ाया है ?"

"फूल हैं।" उन्होंने कहा।

मैंने कहा : "फूल हैं ! बेजान समझे जाने वाले पेड़ जब धरती में से रस खींचकर अपने यौवन की सबसे सुन्दर भेंट देते हैं तब वे फूल बनते हैं। तुमने देवता पर चढ़ाने वाली वस्तु को मेरे पिता पर श्रद्धा से चढ़ाया है। क्योंकि पिता अब मिट्टी हो गए हैं। तुम मिट्टी के पीछे लड़ना चाहते हो ? उठा लो यह फूल, बाँट लो इन्हें, गाड़ दो, जला दो, इस दुनिया के पहले इन्सान को अपने छोटे धर्मों के दायरों में बाँधने के लिए काटो नहीं, वह तुम्हारे दफनाने और जलाने से बड़ा नहीं हो सकेगा, वह जिन्दा था, तब तुमने उसे क्यों नहीं बाँट लिया ? तब तुम लोग डरते थे। तुम्हारा सुल्तान काँपता था, तुम्हारे मुल्ला डरते थे, तुम्हारे पण्डित और तुम्हारे विशाल मंदिर जो अन्याय के प्रतीक बनकर खड़े थे, सब डरते थे। चले जाओ !! आदर और प्रेम के नाम पर, श्रद्धा के नाम पर, तुम उस आज़ाद आदमी को अन्त में गुलाम नहीं बना सकते। वह तुम सबसे ऊपर था। जो तुम्हारे दायरों को चुनौती देकर जीता रहा। तुम्हारे धर्मों के ऊपर अपने सत्य का झण्डा फहराता रहा, उसे तुम अपने धर्मों में दफनाना या जलाना चाहते हो ? यह असम्भव, यह असम्भव है···"

और मैं पिता के पाँव पकड़कर रोने-चिल्लाने लगा : "पिता ! देखते हो ? यह

लोग क्या कह रहे हैं ? यह लोग अभी तक अंधे हैं। कल तक तुम मशाल उठाए खड़े थे, तो इन सबका अँधेरा तुम्हारी अँगड़ाइयाँ लेकर बढ़ती मशाल की लपटों को देखकर काँप रहा था और आज तुम सो गए हो, तो यह समझ रहे हैं कि मशाल धूल में गिर गई है, पर नहीं, ऐ हिन्दू-मुसलमानो ! वह मशाल मेरे कबीर के रक्त के स्नेह से भीगी हुई है, वह एक गरीब की इज्जत है, वह नीच जात का बड़प्पन है, वह एक अनपढ़ का ज्ञान है, वह दुतकारे हुए की अपराजित मानवीयता है, उसे तुम तो क्या इतिहास भी नहीं बुझा सकेगा, वह अमर है, वह अमर है…"

पिता का बाना

वह एक और चित्र था—उसे मैं क्या कहूँ, इतिहास बोलने लगेगा···

लोई झोंपड़े में लेटी हुई थी। कबीर बाहर से आया था।

"लोई !"

"आ गए?" लोई ने उठकर कहा—"कहाँ चले गए थे, सुबह से यह बेला होने आई। वहीं गए होगे ?"

वह रूठी हुई थी।

"कहाँ ?" कबीर ने मुस्कराकर पूछा।

"अरे उन्हीं कनफटों के पास।" लोई ने कहा —"क्या कहा था ? मैं तो सोच भी नहीं पाती कि तुमने ऐसा कहा होगा ?"

"क्या कहा था लोई ?" कबीर ने कहा और रोटी हाथ में ले ली। "बताऊँ ?"

नारी की झाई परत
अन्धा होत भुजंग,
कबिरा तिनकी कौन गति
जो नित नारी को संग !

कबीर हँसा। लोई ने कहा : "तुम भुजंग हो न ? क्यों ? नारी ऐसी बुरी होती है ? मैंने तुम्हारा कुछ नुकसान किया है ?"

कबीर ने कहा : "अरी यही तो मैंने उन नारी से डरे हुओं से कहा था। नारी की छाया से साँप तक अन्धा हो जाता है, यानी जो ज़हरीला होता है !"

"और आगे ? ठहरो चटनी पीसती हूँ। आज और कुछ रहा ही नहीं।" लोई ने सिल-लोढ़े को सँभाला और मिर्च पीसने लगी—"बोलो। मैं तुम्हें नरक में भेजूंगी ? क्यों ?"

चटनी लेकर कबीर ने कहा—"तू समझती नहीं लोई।"

"क्यों ?"

"वे जो नारी को विषय की ही वस्तु समझते हैं, उनके लिए क्यों नहीं ऐसा कहा जाए ? अगर मैंने सब नारियों के लिए ऐसा कहा होता, तो तुझ-सी घरवाली के साथ रहता ? कहीं अकेला भटकता नहीं ?"

लोई मुस्कराई। मानो प्रसन्नता आई है, उसे वह छिपाना चाहती है। कहा : "यही तो मैं भी सोचती थी। जिसने पतिबरता के इतने गुन गाए हों वह क्या कनफटों की-सी बातें करेगा ?"

लोई गाने लगी—

कबिरा सीप समुद्र की
रटै पियास पियास
और बूंद को ना गहै
स्वाति बूंद की आस।
चढ़ी अखाड़े सुन्दरी
मांडा पिउ सों खेल
दीपक जोया ज्ञान का
काम जरै ज्यों तेल।

लोई ने अपने गाने को सँभाला और कहा : "क्यों कंत, तुमसे नारी के लिए तो इतनी अटक लगा दी, पर पुरुष पर वन्धन न दिया ?"

"लोई !" कबीर ने पानी पीकर कहा—"पुरुष पतंगा है। वह सतगुरू के बिना कहाँ बचता है ! परनारी तो पैनी छुरी है, वह तो अङ्ग-अङ्ग काट देती है।"

"तुम मुझे देखकर कहते हो। वैसे तुम भी तो पुरुष हो। तुम लोगों के मन में एक अहंकार रहता ही है, तभी तो स्त्री को तुम नीचा समझते हो। तुम भी कनफटों में रहते, जो मैं न होती।"

"क्यों, तू न होती तो मैं कहीं वाममार्गियों में जा मिलता तो ?"

वह हंसा। और कहा : "इन दो अंतियों के बीच में ही सहज जीवन है लोई।"

कबीर खाता रहा, लोई देखती रही। लोई कहने लगी : "कमाल की मुझे चिन्ता रहती है। तुम दिन-भर अपनी धुन में लगे रहते हो और तरह-तरह के आने-जाने वाले साधुओं के साथ वह बैठा रहता है।"

कबीर ने कहा : "वह कोई ऐसी बात नहीं है। मनुष्य अपने विचार अपने-आप बनाता है, लोई। वन जाने से कोई लाभ नहीं होता। योग और भोग घर में भी तो हो सकते हैं। वन जाने पर भी अगर रोना-कलपना बना रहा तो उससे लाभ ही क्या ? कुलबोरनी अगर गंगा नहा भी आए तो उससे फायदा क्या ?"

अभी वह अपनी बात पूरी कर भी नहीं पाया था कि द्वार पर कुछ कोलाहल-सा सुनाई दिया। लोई चौंक उठी। कबीर बाहर निकल गया। लोई भी पथ पर आ गई। देखा, नाथ जोगियों का एक हुजूम आया था और प्रजा के लोग

उनको प्रणाम कर रहे थे। कबीर क्षण-भर देखता रहा और फिर उसने कहा, "साधुओ, प्रणाम ! कहाँ से आना हुआ ?"

जोगियों का नेता सिर पर घनी जटाएँ लिए, भौंह ताने खड़ा था। उसने कबीर की ओर ऐसे देखा जैसे वह किसी अत्यन्त दीन वस्तु की ओर देख रहा था।

जुलाहा रामा आगे आया। उसने कहा, "अरे कबीर, ये लोग बड़ी दूर से आए हैं। देस-देस घूमते हुए, लोगों को उबारते हुए।"

कबीर मुस्कराया।

उसने योगी की ओर देखा और कहा—

अवधू भजन भेद है न्यारा।
क्या गाये, क्या लिखि बतलाये, क्या भरमे संसारा।
क्या संध्या तरपन के कींने जो नहिं तत्त बिचारा ॥
मूंड़ मुंड़ाए जटा रखाए क्या तन लाए छारा।
क्या पूजा पाहन की कीने क्या फल किये अहारा ॥
बिन परचै साहब होइ बैठे करके विषय ब्योपारा।
ज्ञान ध्यान का करम न जाने बाद करै हंकारा।
अगम अथाह महा अति गहरा बीजन खेत निबारा।
महा सोध्यान मगन है बैठे काट करम की छारा ॥
जिनके सदा अहार अतर में केवल तत्त बिचारा।
कहत कबीर सुनो हो गोरख, तरैं सहित परिवारा ॥

योगी उद्भ्रान्त हो गए।

रामा चिल्लाया, "कबीर, तू जोगियों की बेइज्जती कर रहा है। अरे सुन्न में समाधि लगाने वाले संसार छोड़कर घर से निकले हैं। तू मामूली गिरस्त होकर इनसे टक्कर ले रहा है ?"

लोई ने कहा : "क्यों नहीं, जिस माँ ने जनम दिया है उस माँ के लिए जोगियों ने यही तो किया कि उसे घर में छोड़कर चले आए।"

योगी आगे बढ़ा। उसने कहा, "तू माया है, तू काम है, तू संसार में शृंखला है। जब नागिन लपलपाती हुई उलटकर आकाश की ओर चढ़ती है तब तू ही महाकुण्ड में अग्नि जलाकर उसको सोख लेने के लिए लपलपाने लगती है।"

योगी के उस रौद्र रूप को देखकर उपस्थित लोग आतंकित हो उठे। लोई सहम गई।

योगी ने अपना रंग जमते हुए देखकर फिर चिल्लाकर कहा : "ओ गृहस्थो, काल के रूप में माया तुम लोगों को ग्रसे हुए है। तुम अव्यक्त पुरुष की ज्योति को नहीं समझ सकते। तब पक्षी आकाश की ओर नहीं, धरती के गर्भ में उतरने

लगते हैं, तब वृक्षों के पत्ते नहीं निकलते, बल्कि आग के अंकुर फूटने लगते हैं, तब जानते हो, क्या होता है ? गाय बाघ को खाने लगती है।"

उस समय योगी के मुख पर विजय का आभास दिखाई दिया। वह स्वर उठाकर चिल्लाया, और उसका त्रिशूल ऊपर उठ गया। उसने कहा, "अलख निरंजन।"

सारे योगियों ने दुहराया, "आदेश, आदेश !"

पथ पर खड़ी हुई स्त्रियाँ काँपने लगीं। रामा ने बढ़कर योगी के पैर पर सिर रख दिया। कुछ बूढ़ी स्त्रियों ने इशारे किए। मलूकचन्द की स्त्री ठिगा गोरी थी, और सुन्दरी थी। यौवन की झनझनाती हुई प्रत्यंचा में बँधकर उसका लावण्य धनुष के समान झुकने के बहाने तन गया। उसे अपने ऊपर गर्व था। जिस समय वह भिक्षा देने के लिए बाहर आई तो योगी ने उसकी ओर मुड़कर भी नहीं देखा। वह चली गई। रामा ने कहा, "देखा कबीर, महाराज ने अपना काम भी नष्ट कर दिया है।"

कबीर आगे बढ़ा।

उसने कहा, "रामा, मैं एक गीत और सुनाना चाहता हूँ।"

गीत का नाम सुनकर रामा तो चौंक उठा, किन्तु लोई ने कहा, "सुना कन्त। डर किसका है ?" --मानो उसे विश्वास था कि जो उसका पति कहेगा वह अवश्य ही एक नया सत्य होगा।

भीड़ और पास आ गई।

कबीर गाने लगा—

मन ना रँगाये, रँगाये जोगी कपरा।
आसन मारि मँदिर में बैठे
नाम छाँड़ि पूजन लागे पथरा।
कनवा फड़ाय जोगी जटवा बढ़ौले।
दाढ़ी बढ़ाय जोगी ह्वै गैलें बकरा।

योगी चिल्लाए : "बन्द करो, वरना हम तुम्हारी बस्ती को भस्म कर देंगे।"

उनके त्रिशूल तन गए थे। हवा में उत्तेजना फैल गई थी, किन्तु उस समय लोई ने चिल्लाकर कहा, "जोगी, किसे डराते हो ? इतना भी सुनने का धीरज नहीं तो साईं से बिना दया के मिलोगे भी कैसे ?"

भीड़ पुकार उठी, "वाह कबीरा गाए जा !"

और कबीर जो अभी तक हँसता हुआ खड़ा था उसने फिर हाथ उठाकर गाया—

जंगल जाय जोगी धुनिया रमौले
काम जराय जोगी ह्वैगैलें हिजरा

मथवा मुँड़ाय जोगी कपड़ा रँगैले
गीता बाँचि कै होई गैलें लबरा।
कहत कबीर, सुनो भई साधो
जम दरवजवाँ बाँधरि जल पकरा।

भीड़ ने ठहाका लगाया। रामा भाग गया। छिगा लज्जा छोड़कर खिल-खिलाकर हँसी। योगी क्रोध से त्रिशूल तानकर आगे बढ़ा, किन्तु उसी समय छिगा कबीर के सामने आ गई और देखते ही देखते अनेक स्त्रियों ने कबीर की रक्षा के लिए उसे घेर लिया। योगी चक्कर में पड़ गए। एक बुढ़िया जुलाहिन चिल्लाने लगी :

"अरे किसकी मजाल है जो बस्ती में खून-खच्चर करे! एक तो हम खिलाएँ और ऊपर से इनकी गाली खाएँ? मरे चले आते हैं यहाँ लड़कों को बहकाने। घर को आग लगा आए तो पेट को क्यों नहीं लगा लेते?"

भीड़ ने फिर ठहाका लगाया।

जब कबीर भीड़ में से निकल आया तो उसने देखा कि जोगियों का पता भी न था और रामा कान पकड़े कह रहा था :

"जान बची लाखों पाए। अब नहीं जाऊँगा, न किसी को बुलाऊँगा।"

कबीर ने कहा, "रामा, शृंगी चमकाने से क्या होता है? सारे बदन पर भभूत मल लेने से क्या मन का मैल जल जाता है? अगर नंगे रहने से ही योग हो जाता तो काशी के सारे ढोरों को योगी क्यों नहीं कहा जाता?"

भीड़ छँट गई। छिगा एकटक कबीर की ओर देख रही थी। लोई ने इसे देख लिया। कबीर ने छिगा के नयनों को क्षण-भर देखा और धीरे से कहा—

कबिरा माता नाम का मद मतवाला नाँहि,
नाम पियाला जो पियै सो मतवाला नाँहि;
घायल ऊपर घाव है टोटे त्यागी सोय,
भर जीवन में सीलवँत बिरला होय सो होय;

छिगा ने सुना, झुककर कबीर के पाँव छुए और लौटकर अपने घर की ओर चलने लगी।

कबीर ने कहा—
प्रीत बढ़ी है तुझ से बहु गुनियाला कंत,
जो हँस बोलौं और से नील रँगावों दन्त।
नैनों अन्तर आव तू नैन झाँप तोंहि लैंव,
ना मैं देखौं और को ना मैं देखन दैंव।

छिगा चली गई।

लोई ने कबीर का हाथ पकड़ लिया और कहा : "कन्त, आज जान बच गई?

जोगी चले ही गए, नहीं तो खून-खच्चर हो जाता। ऐसी क्या जरूरत थी कि इतना साफ-साफ कह दिया? सच, मैं तो डर गई थी।"

कबीर ने निर्भय दृष्टि से लोई की ओर देखा और बड़बड़ाया—

गगन दमामा बाजिया पड़त निसाने घाव।
खेत पुकारै सूरमा अब लड़ने का दाँव।
तीरतुपक से जो लड़ै सो तो सूर न होय,
माया तजि भकती करै सूर कहावै सोय।
सिर राखे सिर जात है सिर काटै सिर होय,
जैसे बाती दीप की कटि उजियारा होय।

लोई ने देखा और मुस्कराई। वह मुस्कान एक अक्षय विश्वास था मानो प्राणों के कारागृह के द्वार खुल गए थे—और जिस आलोक को आज तक वह पत्थरों और लोहे से जड़े हुए वातायनों मे देखा करती थी वह आज उस द्वार में से भीतर प्रवेश कर रहा था।

झोंपड़ा अपने दारिद्र्य को लिए खड़ा था। चारों ओर जुलाहों की बस्ती में आज की घटना पर तरह-तरह की बातें हो रही थीं। रामा जनमत के कारण चुप था किन्तु उसके मन में अभी तक सन्देह और आतंक असंतोष को बैसाखियों पर लँगड़ी रूढ़ियों को खड़ा करने का प्रयत्न कर रहे थे। छिगा छप्पर के नीचे बैठी आज सोच रही थी कि वह कितनी महान छाया के सामने से निकल गई थी। यह भाव भी उसके सामने स्पष्ट नहीं था। उसे ऐसा लग रहा था जैसे बहुत दूर बहुत ऊँचे पहाड़ के ऊपर कोई देवता का मन्दिर था जहाँ वह जा रही थी, गई थी, किन्तु पहुँचने पर भी उसे लगा था कि देवता अब भी उतनी ही ऊँचाई पर था जितना वह धरती पर से सिर उठाकर देखती थी।

लोई ने पीढ़ा बिछा दिया था। कबीर सूत की पौनी सुलझाता हुआ बैठा था। लोई ने घड़े उठा लिए और पानी भरने चली गई। कमाल भीतर आया।

"दादा," उसने कहा, 'तुम कहाँ चले गए थे?"

कबीर ने मुस्कराकर कहा, "बेटा, तुझे ढूँढ़ने गया था।"

अबोध बालक समझ नहीं सका। उसने कहा, "दादा, झगड़ा क्या हो रहा था?"

कबीर ने उत्तर दिया, "बेटा, आज बस्ती में अन्धों के बीच में एक हाथी आ गया था।"

"फिर?" कमाल ने पूछा।

"फिर?" कबीर ने कहा—

"ज्यों अँधेरे को हाथिया सब काहू को ज्ञान,
अपनी अपनी कहत हैं काको करिये ध्यान।"

कमाल ने देखा और आँखें फाड़कर देखता रह गया।

नाथ जोगियों की बात काशी में फैल गई।

और कुछ ही दिन में सारी काशी बौखला उठी।

मुल्ला लोग कहने लगे। पंडित लोग कहने लगे। कहने को क्या नहीं कहा।

एक मुल्ला नमाज़ पढ़कर निकला। उसने कुछ नीच जात के लोगों को कलमा पढ़ाया था। कबीर राह पर जा रहा था।

देखा तो गाने लगा—

अल्लाह राम जीव तेरी नाईं
जन पर मेहर करहु तुम साईं।
क्या मूँड़ों भीमहि सिर नाये क्या जल देह नहाए,
खून करै मसकीन कहावै गुन को रहे छिपाए।
क्या भो उज्जू मज्जन कीने क्या मसजिद सिर नाए।
हृदये कपट नेजाव गुजारै का जो सक्का जाए।
हिन्दू एकादशि चौबिसि रोजा मुसलिम तीस बनाए
बारह मास कहो क्यों टारो ये केहिमाहँ समाए।
पूरब दिसि में हरि को बासा पश्चिम अलह मुकामा
दिल में खोज दिले में देखो यहै करीमा रामा।
जो खोदाय मस्जिद में बसतु है और मुलुक केहि केरा,
तीरथ मूरत राम निबासी दुइ महँ कितहूँ न हेरा।
बेद किताब कीन किन झूठा झूठा जो न बिचारै।
सब घट माँहि एक करि लेखै भै दूजा करि मारै।
जेते औरत मर्द उपाने[1] सो सब रूप तुम्हारा
कबिर पोंगडा[2] अलह राम का सो गुरुपीर हमारा।

भीड़ ने जयजयकार किया। नीच जातों में हल्ले हो गए। औरतों ने कबीर पर फूल बरसाए। बच्चे उसके नाम का जयजयकार करने लगे।

नाथ जोगी सामने नहीं आते थे। वह उनकी असांसारिकता को देखकर मज़ाक उड़ाता था। उनके जादू-टोने फीके पड़ने लगे। भीख पर पलते साधुओं के विरुद्ध उसने जो पुकारा तो काशी के बच्चे दुहराने लगे—

सती न पीसै पीसना
जो पीसै सो राँड़
साधू भीख न माँगई
जो माँगै सो भाँड़!

1. उपाने = उत्पन्न 2. पोंगड़ा = बालक

वह गरीब था। जुलाहा था। मेहनत करता। खाता। परिवार पालता। पोथी वालों को देखकर लड़के चिढ़ाते—

मेरा तेरा मनुआं कैसे एक होइ रे।
मैं कहता हूं आंखिन देखी,
तू कहता कागद की लेखी,
मैं कहता सुरझावन हारी
तू राख्यो अरुझाई रे।
मैं कहता तू जागत रहियो
तू रहता है सोई रे,
मैं कहता निर्मोही रहियो
तू जाता है मोही रे।
जुगन जुगन समझावत हारा
कहा न मानत कोई रे।
तू तो रंडी फिरे बिहंडी
सब धन डारे खोई रे।

उसने एक अत्यन्त धनी सेठ के द्वार पर लगी भूखों की भीड़ देखकर एक दिन गाया—

नाम सुमिर, पछतायगा।
पापी जियरा लोभ करत है
आज काल उठि जायेगा।
लालच लागी जनम गंवाया
माया भरम भुलायेगा।

वेश्याओं के कोठों की ओर जाते सुन्दर युवक तरुणों को देखकर उसने सुनाया —

भजु मन-जीवन नाम सबेरा,
सुन्दर देह देख निज भूलो
झपट लेत जस बाल बटेरा
यह देही को गरब न कीजै
उड़ पंछी जस लेत बसेरा।

बाजार में घबड़ाहट फैल गई। रईसों के बेटे लोकलाज से छिप-छिप कर भागने लगे।

भरे मन्दिर में उसने गुसाइं जी पर चोट की—

ऐसी दुनिया भई दिवानी
भक्ति भाव नहिं बूझै जी

कोइ आवै तो बेटा माँगै
यही गुसाईं दीजै जी
कोई आवै दुख का मारा
हम पर किरपा कीजै जी
कोई आवे तो दौलत माँगे
भेंट रुपैया लीजै जी,
कोई करावै ब्याह सगाई
सुनत गुसाईं रीझै जी,
साँचे का कोई गाहक नाहीं,
झूंठे जगत पतीजै जी,
कहै कबीर सुनो भाई साधो
अंधों का क्या कीजै जी !

नीच जातियों में तो खलबली मच गई थी। वे कबीर को घेरे रहते। घर पर लोई देखती। कबीर अलमस्त फक्कड़ बैठा रहता। गुसाईं जी का नौकर फटकारने आया। बोला—"ऐ जुलाहे ! जानता है किससे टक्कर ले रहा है ?"

गुसाईं ने नाथ जोगियों को खबर भेज दी थी। वे भी कबीर की हत्या करना चाहते थे। कबीर ने भीड़ में ही कहा : "टक्कर !!"

खुल खेलो संसार में बाँधि न सक्कै कोय।

जा जाकर कहदे—कबीर ने कहा—

जाको राखै साइयाँ मारि न सक्कै कोय।

नौकर के पीछे और नौकर आ गए थे। पर कबीर ने तान छेड़ दी—

डर लागै हाँसी आवै
अजब जमाना आया रे !!
धन दौलत ले माल खजाना
वैश्या नाच नचाया रे।
मुट्ठी अन्न साध कोउ माँगै
कहैं नाज नहिं आया रे
कथा होय तहँ स्रोता सोवैं
वक्ता मूँड़ पचाया रे।
होय जहाँ कहिं स्वाँग-तमासा
तनिक न नींद सताया रे,
भंग तमाखू[1] सुलफा गाँजा
सूखा खूब उड़ाया रे॥

---

1. तमाखू शब्द क्षेपक लगता है क्योंकि कबीर के समय में भारत में तमाखू नहीं थी।

और जब यह संवाद गुसाईं जी के पास पहुंचा वे क्रुद्ध हो उठे। बोले : "वह ईश्वर को तो मानता है न ?"

ऋषि ने कहा : "मानता है महाराज, पर वह वेदों को नहीं मानता। कहता है, व्यर्थ है। महाराज ! वह तो कहता है, संस्कृत कुएँ का बँधा हुआ पानी है,

बहता पानी तो भाखा है। [अर्थात् जन भाषा]

"अच्छा !!' गुसाईं जी ने सिर हिलाया।

"बलख क्या हो आया, मुसलमान हो गया ! पहले तो अवतारों को मानता था।"

"अब नहीं मानता ?" वे चौंके।

"मानता ? महाराज ! वह तो खुलेआम कहता है कि राम को दशरथ का बेटा मैं नहीं मानता। मेरा राम तो उससे परे है, उससे भी परे है !"

"निर्गुणिया है ?"

"नहीं महाराज। वह तो कहता है—

निर्गुन सगुण से परे तहँ हमारा ध्यान !"

"अरे तेरा ध्यान !!" एक वृद्ध ब्राह्मण ने घृणा से कहा।

"महाराज, पहले से तो वह बहुत बदल गया है।" ऋषि ने कहा—"पहले वह जोगियों से उलटवासियाँ कहता था, छेड़ता तो तब भी था, पर अब तो खुले-आम इज्जत उतारता है। उसे डर ही नहीं। मैंने कहा तो बोला कि साईं मेरा रक्षक है। क्या कहता है, जानते हैं—

बाल न बाँका करि सकै जो जग बैरी होय।"

"अच्छा !!" गुसाईं जी ने कहा। – "वह है किस पथ का ?"

"किसी का नहीं म्हाराज। बस भक्ति, ज्ञान की अजीब बातें कहता है। जात-पाँत वह नहीं मानता। कुछ पंडित कथा बाँच रहे थे। उधर भूखे इकट्ठे हो रहे थे। पण्डितों ने उन्हें शोर करने पर डाँटा तो झट भूखों की ओर खड़ा होकर बोल उठा—

कबिर दुआ है कुकरी
करत भजन में भंग,
याको टुकड़ा डारि कै
सुमिरन करो निसंक।

पंडित बिचारे कहाँ से लाते। चले आए।"

"सर्वनाश हो गया," गुसाईं जी ने कहा।

वृद्ध ब्राह्मण ने कहा : "अब क्या कहें ? गंगा घाट पर मैं माला फेर रहा था। उधर से कुछ औरतें निकलीं। मैंने माला फेरते-फेरते देखा कि कोई उन्हें छेड़ न दे, बस झट ही तो बोल उठा—

माला फेरत जुग भया फिरा न मन का फेर
कर का मनका डारि दे मन का मनका फेर।
कबिरा माला मनहिं की और संसारी भेख
माला फेरे हरि मिलैं गले रहँट के देख।
माला तो कर में फिरै जीभ फिरै मुख माँहि
मनवाँ तो दहुँदिसि फिरै यह तो सुमिरन नाँहि।

सब औरतें हँसने लगीं। मेरी तो नाक कट गई। और यही नहीं। पिण्डदान देने बहुत-से गाँव के लोग आए थे। पण्डा बता रहे थे, वे सिर मुँड़ा रहे थे। बोल उठा—

मूंड मुँडाये हरि मिलैं सब कोइ लेउ मुँड़ाय,
बार-बार के मूँड़ते भेड़ न बैकण्ठ जाय।"

गुसाईं जी ने कहा : "उसकी पिटाई क्यों नहीं होती ?"

"महाराज, सारी नीच जातें उसके साथ हैं। अकेला तो उसे वे लोग छोड़ते ही नहीं, शेर बना घूमता है।"

"अजी !" पुजारी नैन उजागर ने कहा : "कथनी-करनी का बड़ा हुल्लड़ मचा रखा है उसने।"

"तो भई, वह कहता क्या है ? सगुण नहीं, निर्गुण नहीं, फिर है क्या उसका भगवान ?"

"महाराज मैंने पूछा था।" ऋषि ने कहा। "बोला, न वह भारी है, न हल्का है, मैंने तो उसे देखा नहीं। और जो देख भी लिया होता तो तुम विश्वास कब करते। साईं जैसा है वैसा ही रहेगा। उसे अद्‌भुत मत कहो, और कहते हो तो छिपाकर धर लो। वह सब तो वेद-कुरान में भी नहीं लिखा। न कोई पाता है, न खोता है, उसके[1] पक्ष में तो सब भरपूर है, ज्यों का त्यों है।"

"उसका गुरु कौन है ?"

"गुरु तो वह गोविंद से बड़ा बताता है।"

"सूफी है, यवन ?"

"नहीं महाराज।"

"तो सहजयानी होगा या पुराना शैव तो नहीं है ?"

"नहीं महाराज।"

"शाक्त है ?"

"शाक्तों के लिए तो उसने ज़ोर से कहा था—

कबिरा संगत साधु की
जौ की भूसी खाय

1. ईश्वर

खीर खांड भोजन मिलै
साकट संग न जाय।

"शाक्त गाली देने लगे। रोकने वालों ने रोका तो कबीर ने कहा कि कुत्ते और शाक्त को बोलने दो, जवाब मत दो।"

ऋषि ने आँखें फाड़ दीं।

"बाप रे! डरता नहीं। वे तो भयानक लोग होते हैं ऋषि ?"

"महाराज! कल तो उसने ग़ज़ब कर दिया। कुछ सिपाही जुलाहों को मार रहे थे। कुम्हार चाक चला रहा था। कबीर आगे बढ़ आया और ललकारकर बोला—

माटी कहै कुम्हार ते तू का रूँदे मोहि,
इक दिन ऐसो होयगा हौं रोदोंगी तोहि।"

"सिपाही चले गए?"

"हाँ महाराज। नगर में कुछ तपस्वी आए थे। लोग उनके दर्शन करने जा रहे थे। एक साधू जीवित ही समाधि में उतरने वाला था। कबीर ने फट्ट ही तो चोट कस दी।"

"क्या कहा?"

"क्या कहा था?" ऋषि ने वृद्ध से पूछा।

"बोला," वृद्ध ने कहा—

दुर्लभ मानस जन्म है देह न बारम्बार
तरवर ज्योंपत्ता झड़ै बहुरि न लागै डार।

हमने रोका, बुद्धि की दुहाई दी तो बोल उठा—तुम तो चेले हो। आज़ाद नही हो। बँधे हुए हो—

जैसा अनजल खाइये तैसा ही मन होय,
जैसा पानी पीजिये तैसी बानी होय।"

गुसाई जी हिल उठे।

काशी के दशाश्वमेध घाट पर ब्राह्मणों में स्नान करते हुए बहस हो रही थी।

रघुपति मिश्र ने कहा: "क्या कहते हो। हम नहाकर चले तो कहने लगा—उस नहाने-धोने से क्या लाभ जो मन का मैल नहीं जाय। पानी में मछली तो सदा ही पड़ी रहती है पर धोने से क्या बास जाती है?

पण्डित कथावाचक राधेशरण ने कहा—"मैं तो काशी छोड़ जाऊँगा।"

"क्यों क्यों?" सबने पूछा।

पण्डित रुँआसे होकर बोले: "अब मुझे ही बताना होगा। बोला —

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित हुआ न कोय
एकै अच्छर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय।

मैंने जो घूरकर देखा तो बोल उठा—

पण्डित और मसालची दोनों सूझे नाहिं
औरन को कर चाँदना आप अँधेरे माँहि।

पण्डित नीलकण्ठ भी साथ थे। हमने कहा—जुलाहे! तू समझ! पण्डित नीलकण्ठ ने भी कहा तो बोलने लगा—

ज्यों अँधरें कौ हाथिया सब काहू को ज्ञान
अपनी-अपनी कहत हैं काको धरिये ध्यान।

अब भी काशी में रहने का धरम है? ब्राह्मणों को ऐसे जुलाहे फटकारने लगेंगे तब तो काम चल चुका। प्रजा क्या कहेगी?"

"प्रजा वही कहेगी जो अब कह रही है। सारे शूद्र उसी की जय बोला करते हैं। सत्यानास हो गया। मुझे भंगी छू गया। मैंने खड़ाऊँ मारी तो बोला—

पंडित देखा मन यों जानी!
कहु धौं छूत कहाँ ते उपजी
तबहिं छूत तुम मानी
नादरु बिंदु रुधिर एक संगै
घट ही मैं घट सज्जै
अष्ट कमल[1] को पुहुमी आई
कहँ यह छूत उपज्जै।
लख चौरासी बहुत वासना
सो सब सरि जो माटी
एकै पाट सकल बैंठारे
सींचिलेत धौं काटी।
छूतहिं जेवन छूतहि अचवन
छूतहि जग उपजाया,
कहत कबीर ते छूत बिबर्जित
जाके संग न माया।

"अनर्थ हो रहा है। ब्राह्मणो! जागो। धर्म के लिए उठो। उधर यवनों ने तो नाश कर ही रखा है, और यह नीच लोग तो वेद का टाट ही उलट देना चाहते हैं…"

1. आठ कमल का शरीर।

पण्डित रघुपति मिश्र ने हाथ उठाकर कहा—"दीनबंधु, दयानिधे, शिव-शम्भो, शिवशम्भो···"

× × ×

कबीर ने कहा : "लोई, मुझे चारों ओर मुसीबत दिखाई देती है। लोग जो कहते हैं वह करते नहीं। कथनी आसान है, मीठी है, करनी कठिन है, विष है। लेकिन कथनी छोड़कर करनी पकड़ने से ही विष भी अमृत हो जाता है।"

लोई ने बैठकर चर्खा चलाते हुए कहा : "कंत, मुझे तुम्हारे वे दिन याद आते हैं जब तुम जोगियों में उलटबाँसियाँ गाते फिरते थे।"

कबीर ने कहा : "मैं अपने जीवन को पलटकर देखता हूँ लोई। मुझे अजीब-सा लगता है। मैं नीच कुल में जन्मा। रामानन्द गुरु ने मुझे चेत दिया। वह सचमुच एक झटका था। मैंने देखा, मैं उस उपदेश के फलस्वरूप एक बार अपने पुराने भय और बंधन तोड़ सका। मैंने देखा, जोगी-सूफी, अवतारवादी, पुराण-वादी, वेद और कुरानवादी सब छोटे थे। और मैंने देखा भगवान का रहस्य इन सबसे परे है। मैं उसे ही गाता रहा लोई, पर अब देखता हूँ, अब अनुभव करता हूं, कि संसार तो प्रेम है। धरम क्या है ? संसार में ढंग से रहना धरम है और कुछ नहीं।"

लोई ने उठकर कहा : "कमाल पूछता था।"

"क्या ?"

"यही कि दादा बदलते क्यों हैं ?"

"उससे कह लोई—

मारग चलते जो रै
ताको नाहीं दोस
कह कबीर बैठा रहे
ता सिर करड़े कोस।
कहता तो बहुता मिला
गहता मिला न कोइ
सो कहता बहि जान दे
जो नहि गहता होइ
करनी बिन कथनी कथै
अज्ञानी दिन रात
कूकर ज्यों भूंकत फिरै
सुनी सुनाई बात।"

लोई मुस्कराई। बोली : "यही मैंने कहा था।"

"क्या कहा था लोई।"

"यही कि जिस तरह पहले घुटनों पर चलते हैं, फिर दोनों पाँव पर चलते हैं, उसी तरह आदमी की समझ भी धीरे-धीरे ही पकती है।"

लोई का ताना

मैंने पूछा था : "अम्मा ! दादा कहाँ चले गए हैं ?"

अम्मा तब बैठी ताना कस रही थी। वह काम करती गई और उसने कहा था। मैं पूछता, वह बताती।

"बेटा ! मैं कैसे बताऊँ ?"

"क्यों ?"

"केवल यही जानती हूँ कि वे चले गए हैं।"

"तो क्या माँ, वे हमें छोड़कर चले गए हैं ? जैसे और साधू-संन्यासी-जोगी घर छोड़कर चले जाते हैं ?"

"नहीं बेटा ! वे ऐसे न थे। वे तो गृहस्थ थे और उन्होंने कभी वन को अपनी मुक्ति का रास्ता नहीं समझा।"

"तो फिर वे क्यों गए ?"

"बेटा ! दुनिया को जब तक आदमी घूम-फिरकर देख नही लेता तब तक उसे चैन नहीं आता।"

माँ चुप रही थी। मैंने उसके मुँह पर एक करुण छाया देखी थी। उसने फिर कहा : "बेटा ! तेरा बाप कोई मामूली आदमी नहीं है, इतना मैं जानती हूँ। वह बड़ा कवि है। लोग उसका नाम डरते हुए लेते हैं। जब वह काशी में था, तब लोग उससे घबराते थे। वह साधुओं की संगत में बैठता था। साधुओं से बड़े-बड़े सवाल-जवाब होते थे। साधू हार जाते थे। एक दिन किसी ने कह दिया कि कबीर तो लबार है। घर में नारी के मोह में फँसा हुआ है और दुनिया को उपदेश देता फिरता है। आदमी ही तो थे वह भी, बात लग गई, चले गए।"

माँ ने आँखें पोंछीं।

"तो क्या वे अब कभी नहीं लौटेंगे ?"

"वे अवश्य लौटेंगे बेटा। जरूर आएँगे। वे क्या वहाँ शांति पा सकते हैं। नहीं, कभी नहीं। वे तो कहा करते थे—

तेरा साईं तुज्झ में
ज्यों पुहुपन में बास
कस्तूरी का मिरग ज्यों
फिर फिर ढूंढे घास।

यह कहकर तो उन्होंने रमते जोगियों को चुप कर दिया था बेटा।"

माँ ने बड़े कोमल और मीठे स्वर से गाया और मैंने उसके मुँह पर दिव्याभा देखी—

जा कारन जग ढूँढ़िया
सो तो घटि ही माँहि
परदा दीया भरम का
तातें सूझै नाहि।
जेता घट तेता मता
बहु बानी बहु भेख
सब घट व्यापक है रहा
सोई आप अलेख।
भूला भूला क्या फिरै
सिर पर बँधि गई बेल
तेरा साईं तुज्झ में
ज्यों तिल माँही तेल।
ज्यों तिल माँही तेल है
ज्यों चकमक में आगि
तेरा साईं तुज्झ में
जागि सकै तो जागि।
पावक रूपी साइयाँ
सब घट रहा समाय
चित चकमक लागै नहीं
ताते बुझि-बुझि जाय।

माँ गाकर शांत हुई। मैंने पूछा : "अम्मा !"

"क्या है बेटा ?"

"माँ, लोग कहते हैं, वे सबसे लड़ जाया करते थे ?"

"झूठ कहते हैं बेटा। बस उनमें एक बात थी। वे बुराई को देखकर चुप रहना नहीं जानते थे। ढोंगी से उन्हें चिढ़ थी। बहुत-से लोग मन्दिर में बैठे माला जपते हैं, मुंह से राम-राम करते हैं, छुआछूत करते हैं, पर हिंसा भी करते हैं। यह सब उन्हें पसन्द नहीं था। वे तो कहते थे—

शून्य मरै अजण मरै
अनहदहू मरि जाय
राम सनेही ना मरै
कह कबीर समुझाय।"

मैंने पूछा : "माँ ! वे क्या जोगियों की तरह लोगों को डराते थे ?"

माँ ने सिर हिलाकर बड़े गर्व से कहा—"बेटा ! कैसे कहूँ ? जोगी क्या होंगे उनके सामने। वे तो प्रेम के भूखे थे। प्रेम ! प्रेम ही उनका जीवन था पुत्र !"

माँ अपने उल्लास को छिपा नहीं सकी, उसने कहा —"प्रेम की साधना करते-करते तो उन्होंने देखा था कि यह सारा संसार प्रेम के ही बल पर चल रहा है।" माँ ने गाया—

सीस उतारैं भुइँ धरैं
ता पर राखै पाँव
दास कबीरा यों कहै।
ऐसा होइ तो आव !
छिनहिं चढ़ै छिन उतरै
सो तो प्रेम न होय,
अघट प्रेम पिंजर बसै
प्रेम कहावै सोय,
जब मैं था तब गुरु नहीं
अब गुरु हैं हम नाहिं,
प्रेम गली अति साँकरी
ता मैं दो न समाँहि।

माँ तो अपने को भूल गई थी। उसे उन शब्दों में लग रहा था जैसे पिता सामने खड़े हो गए हों। उसने कहा : "बेटा, प्रेमरस पीने की चाह रखने वाला कभी मान नहीं रख सकता, एक म्यान में दो खड्ग तो साथ-साथ रह ही नहीं सकते। तेरे पिता क्या यही नहीं कहते थे ? मैं कैसे मान लूँ कि वे इसीलिए घर को छोड़ गए हैं ? उन्होंने ही तो कहा था—

काँच कथीर अधीर नर
ताहि न उपजै प्रेम
कह कबीर कस नीस है
कै हीरा कै हेम।
कसत कसौटी जो टिकै
ताको शब्द सुनाय
सोई हमारा बंस है
कह कबीर समुझाय।

माँ जब अकेली होती तो मैं देखता कि वह ताने पर काम करती रहती, पर कभी-कभी वह विह्वल स्वर मे बोलने लगती : चले गए हो चले जाओ। पर सच कहो, तुम्हें कभी घर की याद नहीं आती ? तुम्हें कभी कमाल याद नहीं आता ?

आखिर जिस बड़े धन को खोज-खोजकर हार रहे हो, उसे घर बैठे क्या जीत नहीं सकते थे ? मैं जानती थी, तुम कभी-कभी घबरा जाते हो। मैं जानती हूँ, तुम जोगियों की तरह नीरस नहीं थे। तुमने कभी मेरा अपमान नहीं किया। और उस बार तुम सात दिन को चले गए थे तो तुमने क्या कहा था—

विरहिन देय सँदेसरा
सुनो हमारे पीव
जल बिन मच्छी क्यों जिये
पानी में का जीव !
अँखियाँ तो झाई परी
पंथ निहार निहार,
जीहड़ियाँ छाला परा
नाम पुकार पुकार।

मैंने हँसकर कहा था : ओ बैरागी ! क्या कहते हो। कोई सुनेगा तो क्या कहेगा।

पर तुमने कहा था : लोई ! मैं और तू दो नहीं हैं। प्रेम तो मैंने तुझसे ही सीखा है। मैं तेरी वेदना को जब समझता हूँ तब ही मुझे लगता है, मैं राम के पास पहुँच गया हूँ। तेरे विरह की शक्ति ही मेरी जड़ता को, मेरे अहंकार को नष्ट करती है। तू होती है तो मैं राम को अपने में पाता हूँ, मुझे फिर तृष्णा नहीं रह जाती लोई। तू प्यार करना जानती है। इस प्रेम से ही अंडकटाह चल रहा है। यह एक तरह का आलोक है।

माँ ने आँखें पोंछ ली थीं और वे फिर अपने-आप से कहने लगी थीं—मेरे कंत ! तुम चले गए हो। दुख तो होता है पर जब तुम लौटकर मिलोगे तब कितना न अच्छा लगेगा। तुम अपना भरमना छोड़ आओगे और मैं फिर जी उठूंगी। मुझे एक-एक बात याद है। तुम आओ। मैं तो अभी से गाती हूँ बलम, तुम जहाँ भी हो वहीं से सुनो, तुम्हीं तो कहते थे, फिर आज क्या याद नहीं आएगी—

कै विरहिन को मीच दै
कै आपा दिखलाय
आठ पहर का दाझना
मोंपै सहा न जाय
येहि तन का दिवला करें
बाती मेंलों जीव
लोहू सींचों तेल ज्यों
कब मुख देखों पीव।

हुवस करै पिय मिलन की
औ सुख चाहै अंग
पीर सहे बिनु पदमिनी
पूत न लेत उछंग।
मूए पीछे मत मिलौ
कहै कबीरा राम
लोहा माटी मिल गया
तब पारस केहि काम।
पिय बिन जिय तरसत रहै
पल पल विरह सताय
रैन दिवस मोहि कल नहीं
सिसक सिसक जिय जाय।

और माँ फूट-फूटकर रोने लगी थी। मैं भी रोने लगा था, पर माँ को पता न चल जाए इसलिए मैं भीतर नहीं गया था, बाहर ही घुटनों में मुंह दिए बैठा रहा था। कब तक माँ रोती रही थी, यह याद नहीं रहा, पर जब भीतर गया था तो देखा था, माँ धरती पर छाती के बल सो गई थी, उसके मुंह के चारों तरफ उसके सिर के खुले बाल बिखर गए थे। और नींद में भी उसके मुख पर मुझे एक बड़ा मीठा-सा दुलार दिखाई दिया, वह कितनी करुण थी···मेरी माँ···मेरी अम्मा ···मेरा वह पेड़, जिसने धूप में जल-जलकर भी मुझ पर छाया कर रखी थी···

माँ ने कहा था—

एक दिन कबीर बाजार में चला जा रहा था। गुसाईं हरिहरानन्द चले आ रहे थे। उनकी बड़ी प्रसिद्धि थी कि वे त्यागी थे। उनके दर्शनी उनके साथ-साथ आ रहे थे।

कबीर उन्हें देखकर एक किनारे हट गया।

गुसाईं जी ने देखा। अभी तक उसने प्रणाम नहीं किया था।

पूछा, "ऋषिलाल !"

"हाँ महाराज !" ऋषिलाल ने कहा। वह उनका चेला था।

"यह जुलाहा वही है न जिसने काशी में ऊधम मचा रखा है ?"

उस वक्त भीड़ जमा होने लगी।

ऋषि ने कहा, "देखता नहीं। गुसाईं म्हाराज चले आ रहे हैं। कैसा कलि है। प्रणाम तक नहीं किया जाता। जानता नहीं वे कितने त्यागी हैं !"

कबीर खड़ा रहा। फिर उसने चिल्लाकर कहा—

कबिरा खड़ा बजार में सब की माँगै खैर,
ना काहू से वास्ता ना काहू से बैर।

भीड़ और पास आ गई।

कबीर ने फिर कहा—

कबिरा खड़ा बजार में लिये लकुटिया हाथ
जो घर जाले आपना सो चलै हमारे साथ।

ऋषि पीछे हट गया। भीड़ चिल्लाई : कबीर की जय!

"अरे!" ऋषि ने कहा, "अन्धे हो गए हो! अच्छे-बुरे की पहचान नहीं! काशी का त्यागी-परमार्थी खड़ा है और तुम जय कबीर की बोल रहे हो! इसका धर्म कहाँ है?"

गुसाईं जी ने कहा, "जाने दे वत्स! उसे छोड़। राह चल। कलि की कुचाल है। समय का फेर है।"

कबीर ने कहा "गुसाईं महाराज की जय! वे जय चाहते हैं तो क्यों नहीं बोलते तुम? अरे पागलो! काशी के रहने वालो!

जहँ आपा तहँ आपदा
जहँ संसय तहँ सोग,
कह कबीर कैसे मिलैं
चारों दीरघ रोग।"

ऋषि क्रुद्ध हो उठा। उसने कहा, "ए जुलाहे! तू नहीं जानता तू किससे बात कर रहा है?"

कबीर ने हाथ जोड़कर कहा, "महाराज! आप क्रोध न करें। उसका पाप मुझे चढ़ता है क्योंकि आपका तप मेरे कारण घट रहा है।"

कोटि परम लागे रहै एक क्रोध की लार
किया कराया सब गया जब आया अहँकार।
माया तजी तो क्या भया मान तज्या नहिं जाय,
जेहि मानै मुनिवर ठगे मान सबन को खाय।

ऋषि भभूका हो गया। गुसाईं जी ने देखा तो भन्ना उठे। पर भीड़ ने कबीर को घेर कर कन्धों पर उठा लिया था।

जब वह घर आया, लोई ने कहा, "घर में तो कुछ खाने को नहीं बचा। अभी तुम्हारा काम भी पूरा नहीं हुआ। फिर क्या करोगे? मेरी चिन्ता मत करो। मैं तो भूखी रह लूंगी, पर तुम्हें तो भूखा नहीं देख सकती।"

कबीर सोचता रहा। फिर कहा, "लोई! हम गरीब हैं। लेकिन क्या तू इससे डरती है?"

लोई ने अभय नेत्रों से देखा।

कबीर ने कहा, "यह गरीबी बहुत अच्छी है लोई। गरीब ही सबका मुंह देखता है। दीन को कोई नहीं देखता। दीन को गर्व नहीं होता। मुझे यह दीनता भली लगती है लोई, यह नर को देवता बना देती है। दीन ही सबसे आदर से बात करता है। वही तो बड़ा है लोई जिसमें स्वभाव की नम्रता है।"

लोई ने कहा : "हम मेहनत करके खाते हैं कंत। किसी का माल तो नहीं मारते ?"

कबीर ने कहा : "हम झुकते हैं, परन्तु अपने को यों झुकाना अच्छा है, कि दूसरों के लिए झुकना। झुकने वाला पलड़ा ही तराजू में भारी होता है लोई। पानी ऊपर नहीं टिकता, नीचे आकर टिकता है। जो नीचा होकर भरता है वह पीता भी है, जो सिर्फ ऊंचा बनता है, वह तो प्यासा ही चला जाता है। ये जो दबे हुए आधीन हैं, नीचे-नीचे हैं, यह सब पार लग जाएँगे लोई, पर जो ऊँचे हैं, कुलीन हैं, इनका जहाज़ अभिमान का है, वह इस संसार के समुन्दर में हमेशा डगमगाता है। यह डूब भी जाएगा।"

लोई ने कहा : "दीन हम नहीं हैं कंत ! बीन तो वे हैं जो आत्मा बेचकर पाप से पेट भरते हैं, जो कुछ दिनों के रहने के लिए दूसरों के पेट काटते है, गर्व करते हैं। लेकिन मैं तो और बात कहती थी !"

"वह क्या ?"

"जो कहीं कोई साधू आ गया तो कैसे सत्कार करोगे ?"

कबीर ने दरी पर लेट लगाते हुए कहा—

चाह गई, चिन्ता गई
मनुआ बेपरवाह
जिनको कछू न चाहिये
सोई साहंसाह।
मरि जाऊँ माँगूं नहीं
अपने तन के काज
परमारथ के कारने
मोहि न आवै लाज।

लोई प्रसन्न-सी पास पड़ी चटाई पर लेट रही।

माँ ने कहा, "बेटा कमाल !"

मैं पट्टी-बुदका लिए बैठा था। पड़ौस के बच्चों से मैं अच्छा लिखता था। माँ ने मेरी पट्टी देखी। मुझे क्या खबर थी कि वह कुछ भी पढ़ना नहीं जानती थी। पर उसकी आँखें तेज़ थीं।

मैंने पूछा : "अम्मा ! कैसी लिखी है ?"

"अच्छी है बेटा।" माँ ने कहा और खाट की पाटी से पीठ टेककर बैठ गई। बोली, "तू अपने मन से कुछ लिख सकता है ?"

"नहीं अम्मा ! कोई बोल दे तो लिख लूँगा।"

"सच !!" माँ की आँखों में आँसू आ गए। वह बहुत प्रसन्न हुई थी। उसकी खुशी देखकर मेरी हिम्मत बँधी थी। कहा था, "तू बोल माँ। मैं लिखूँगा।"

"लिख लेगा ?" उसने अचरज से पूछा।

"क्यों नहीं माँ ! तू बोल तो सही।"

"अच्छा लिख।" माँ ने कहा।

मैं लिखने लगा। माँ बोलने लगी—

मन तू मानत क्यों न मना रे।

"धीरे-धीरे बोल अम्मा।"

"अच्छी बात है।"

माँ बोलती गई। मैं लिखता गया।

लिखकर मैंने कहा, "पढ़कर देख अम्मा ! ठीक लिखा है ?"

वह क्षण-भर ठिठकी। फिर उसने पढ़ा :

मन तू मानत क्यों न मना रे
कौन कहन को कौन सुनन को
दूजा कौन जना रे।
दरपन में प्रतिबिंब जो भासै
आप चहूँ दिसि सोई
दुबिधा मिटै एक जब होवै
तो लख पावै कोई।
जैसे जल ते हेम बनत है
हेम धूम जल होई
तैसे या तत वाहू तत सों
फिर यह अरु वह सोई,
जो समझै तो खरी कहन है
ना समझै तो खोटी,
कह कबीर दोऊ पख त्यागै
ताकि मति है मोटी।

माँ चुप हो गई। मैंने कहा, "ठीक है ?"

"हाँ।"

"बिल्कुल ठीक है ?" मुझे आश्चर्य हुआ।

"हाँ !" माँ ने कहा।

"यह कैसे हो सकता है !" मैंने कहा, "आज तक ऐसा कभी नहीं हुआ। अब के कैसे जादू हो गया ? तू बताती क्यों नहीं ?"

माँ ने मुझे रूठा देखा तो मुझे छाती से लगा लिया। कहा, "बेटा ? बहुत दिन बाद वह दिन भी आ गया। तेरे बाप के अनमोल बोल बिखरे पड़े हैं। उन्हें तू बटोर लीजो भला।"

माँ को कितनी शान्ति मिल रही थी। मुझे तब मालूम न था कि वह पढ़ना-लिखना नहीं जानती थी। पर वह इतना जानती थी कि यह सब कुछ कीमती था, जिसकी रक्षा करना आवश्यक था।

उस समय मैंने पूछा था, "माँ ! तू ही क्यों नहीं लिखती ?"

माँ ने कहा था, "बेटा ! मुझे उनकी बहुत-सी बात याद हैं। ऐसी मन पर लकीर-सी खिची धरी है। तू लिखेगा न ? आ काम बाँट लें, मैं बोलूंगी, तू लिखेगा। ठीक है न ?"

"हाँ !" मैंने सिर हिलाकर कहा था। माँ ने मुझे चूम लिया था। सच, मैं पिता की धरोहर ही तो था !!

और फिर माँ लिखाती, मैं लिखता।

उस दिन शाम हो गई थी।

माँ बड़ी-सी नाँद में घड़े से पानी डाल रही थी।

उसी समय द्वार पर मैं चिल्लाया, "माँ ! देख तो, ले दादा आए हैं।"

माँ के हाथ से घड़ा छूट गया।

मैंने देखा सिर उठाए हुए मुस्कराते हुए मेरे पिता ने कहा, "फुटा कुंभ जल जलहि समाना !"

माँ ने लाज से माथा ढंक लिया और मुस्करा उठी। उस समय वह पूर्ण तृप्त-सी खड़ी रही।

पिता अचकचा गए, कहा, "मैं आ गया हूँ लोई !"

"तुम गए ही कहाँ थे कंत ! मुझे तो यह याद नहीं कि तुम्हारे बिना भी मैं कभी यहाँ रही थी।"

पिता की आँखों में आँसू आ गए, जैसे वे इतने दिनों बाद आज पूर्ण हो गए थे। उन्होंने गद्गद स्वर से कहा—

जिन पावन[1] भुई[2] वहु फिरे
घूमे देस बिदेस

1. पाने को।
2. पृथ्वी पर।

पिया मिलन जब होइया
आँगन भया बिदेस
नोन गला पानी मिला
बहुरि न भरि है गौन,
सुरत शब्द मेला भया
काल रहा गहिमौन !
कहना था सो कह दिया
अब कछु कहा न जाय,
एक रहा दूजा गया
दरिया लहर समाय ।

और वे दोनों एकटक देखते खड़े रहे । दोनों के नयनों से आँसू बह रहे थे । मैं समझा नहीं । मैंने पिता का हाथ पकड़ लिया और कहा, "अम्मा ! देख, दादा आए हैं ।"

माँ चौंक उठी । उसने आँसू पोंछ लिए । पिता के चरण छुए और ऐसे हँस-कर खड़ी हो गई जैसे वे कहीं बाहर से नही आए थे, सिर्फ बाजार होकर आए थे ।

पिता बैठ गए । मैंने देखा, वे बेसुध-से थे ।

मैंने कहा : "दादा, कहाँ गए थे ?"

पिता ने मेरा सिर चूमकर कहा, "बेटा, मैं राम ढूंढ़ने गया था ।"

"कौन राम दादा ? मिला ? कहाँ तक गए थे ? कहाँ मिला ?"

पिता ने मुस्कराकर कहा—"मिल गया बेटा । बलख तक गया, पर कहीं नहीं मिला । वह तो मैं घर ही छोड़ गया था ।"

"घर में ? कहाँ है दादा ?"

"करघे में है वेटा । यही अन्न देता है न ? मेहनत करके खाना ही राम का 'र र' है । और दूसरों की उससे सेवा करना ही उसका 'म म' है । इसके अलावा कुछ नहीं है ।"

माँ पास आकर बैठ गई । कहा : "कंत ! कमाल बहुत रोता था ।"

"झूठी," मैंने कहा, "मैं रोता था कि तू रोती थी ! तू ही तो कहती कि···"

"छि: छि: बेटा ! क्या कहता है ?"

मैं चुप हो गया तो दादा ने कहा, "बता बेटा । कह न ! क्या कहती थी अम्मा !"

मैंने माँ की ओर देखा । माँ मुस्करा रही थी । आँखों से मना कर रही थी, मैं देख रहा था, पर होंठों की मुस्कान में साहस भी तो दे रही थी । मैं कभी पिता की ओर देखता, कभी माँ की ओर । पिता ने देखा तो कहा, "यही तो है वह

राम। भगवान भी तो माँ ही है। वह भी इतना ही स्नेही है, वह भी तो इतना ही पूर्ण है। लोई ! उसे मैं बाहर ढूंढने गया था !"

"यही तो माँ कहती थी।" मैंने कहा।

माँ ने मुंह फेर लिया, लजाकर। मैंने कहा, "दादा। अम्मा कहती थी, तेरे दादा बहुत अच्छे आदमी हैं पर मुझे एक ही दुख लगता है कि वे इतने समझदार होते हुए भी अपनी असलियत को भूल गए। अगर हम माया भी थे, तो उन्हें कायरों की तरह घर छोड़ जाना चाहिए था ! लोभ-मोह-काम को जीतना था तो एकांत में जाकर क्या छोड़ना ! जहाँ भगवान की जरूरत है वहीं तो उसकी साधना करनी चाहिए !"

पिता क्षण-भर अवाक् रहे। फिर कहा, "तूने रटा है यह सब, क्यों ?"

"माँ ने सिखाया था।"

"क्यों ?"

"कहती थी, अगर मैं मर गई तो पिता के मिलने पर यही कह दीजो।"

पिता बैठकर माँ की ओर देखते रहे। उनके नेत्रों में क्या था यह तो मैं नहीं जानता, पर माँ शरमा गई थी। पिता ने बड़ी देर तक देखा और फिर उन्होंने धीरे से कहा था, "ठीक कहती है लोई। जो हंस की तरह दूध-पानी अलग कर लेता है, वही पार उतर पाता है। साहेब का ही तो दीदार सब जगह दिखाई दे रहा है। उनकी बनाई दुनिया में अपने मन के मैल की परछाँही को माया बनाकर दूसरों पर थोपना पाप ही तो है। आधा भरा घड़ा ही छलकता है बेटा। लोई ठीक कहती है। पानी से ही हिम बनती है, हिम ही गलकर पानी बनता है। जो होता है वही बनता है, कहने लायक कुछ भी नहीं रहता बेटा।"

और वे बोल उठे—

> गगन गरजि बरसै अमी बादल गहरि गँभीर
> चहुँ दिसि दमकै दामिनी भीजै दास कबीर ॥
> अब गुरु दिल में देखिया गावन को कछु नाहिं
> कबिरा जब हम गावते तब जाना गुरु नाहिं।

और पिता ने कहा, "लोई ! बहुत दिन पहले तूने कहा था न, तो मुझे अब मालूम हुआ है। मैं जब एक से लगा, तो सब एक हो गया। सब मेरा हो गया, मैं सबका हो गया, मुझे आज कोई दूसरा दिखाई नहीं देता।"

माँ उठी। रोटी ले आई।

मैंने कहा, "माँ ! तू क्या खाएगी ? रोटी तो यह तीन ही थीं।"

माँ ने मुझे फटकारते नयनों से देखा।

परन्तु पिता के नयनों में फिर आँसू आ गए। कहा, "लोई ! बैठ आज हम तीनों मिलकर खाएंगे। दूर-दूर तक भटकता रहता हूँ। आज प्रकाश मिल रहा है

तो उसे पूर्ण अविनासी हो जाने दे। वह प्रेम और संसार में ही मनुष्य को मिलता है। वह रहस्य है और अगम है, सबके परे है, परन्तु उसका अन्तिम सान्निध्य इस ममता और निष्कलंक प्रेम में ही है। वह भटकन जो इस प्रेम को बुरा कहती थी, उसने मुझे संन्यासियों की तरह भीख माँगकर जंगल, वन, ग्राम, पहाड़ों पर ढोंगियों और अतृप्त छटपटाती आत्माओं के साथ घुमाया। वही माया थी। वह अहं ही माया का मूल था। वह माया, घृणा का ही परोक्ष रूप थी। उसने सहज सत्य को ढक लेना चाहा। मैं उस माया को छोड़ आया हूँ। मेरा साईं यहीं है लोई। वह माया ठगिनी नैना झमका कर रोक रही थी। उसने बड़े-बड़े ज्ञानियों को डुलाया है, उसने हाथ की मुट्ठी में सार तत्त्व को बंद करवा के, त्रिभुवन में चक्कर लगवाए हैं। बड़े-बड़े महात्माओं को उस मन के भय ने कभी स्त्री, कभी बालक, कभी घर, जाने क्या-क्या रूप धर कर डराया है। गोरख, मच्छेन्द्र, दत्तात्रेय, राम, सब उसके चक्कर में फँस गए। साईं ने मेरी रक्षा कर ली है लोई। साईं ने मुझे बचा लिया। मेरे यहाँ तू थी। तूने मुझे बताया है..."

और पिता ने अत्यंत व्याकुल परंतु विभोर स्वर में कहा---

हरि से तू जनि[1] हेत कर
कर हरिजन से हेत
माल मुलुक हरि देत हैं
हरिजन हरि ही देत।

माँ बैठ गई। पिता ने एक-एक रोटी बाँट दी। मैंने कहा, "खाओ दादा। तुम्हें मालूम है, माँ मुझे तुम्हारा कौन-सा गाना सुनाती थी ?"

माँ ने कहा, "तू खाता है कि बात करता है ?"

पिता ने कहा, "क्या गाती थी बेटा ?"

मैंने धीरे से कहा—

प्रीतम को पतियाँ लिखूँ
जो कहुँ होय बिदेस
तन में मन में नैन में
ताको कहा संदेश।

पिता ने सुना तो रोटी रख दी। झूमने लगे। कहा : "लोई। वाह !"

उठा बगूला प्रेम का तिनका उड़ा अकास
तिनका तिनका से मिला तिनका तिन के पास।

और माँ ने धीरे से कहा, "याद है। उस दिन क्या कहा था तुमने—"

सौ योजन साजन बसै

1. मत

मानो हृदय मँझार,
कपट सनेही आँगने
जानु समंदर पार।
यह तत वह तत एक है
एक प्रान दुई गात,
अपने जिय से जानिये
मेरे जिय की बात।

पिता ने कहा, "लोई, आज मैं मुक्त हो गया हूँ लोई। आज कोई फाँस नहीं रही—

कबिरा हम गुरु रस पिया बाकी रही न छाक,
पाका कलस कुम्हार का बहुरि न चढ़सी चाक।

तब माँ के कहने से हम खाने लगे थे। एक-एक ही तो रोटी थी। खतम हो गई। माँ ने और पिता ने पानी पिया। मेरा पेट तो वह मोटी रोटी खाकर भर गया। पर वे दोनों भूखे रह गए।

माँ ने पूछा नहीं कि पिता कहाँ-कहाँ गए थे। मुझे कौतूहल हो रहा था। मैंने मौका देखकर पूछा, "दादा!"

"क्या है रे?"

"तुमने क्या-क्या देखा दादा?"

"कुछ नहीं देखा बेटा। जो देखने लायक था वह तो घर में ही था। सब चलने-चलने की कहते थे, मुझे अंदेसा तो होता था, कि जब साहब से ही परिचय नहीं है, तो कौन-सी ठौर पहुँचेंगे? बाट विचारी क्या कर सकती है अगर पथिक सुधार के नहीं चले। अपनी राह छोड़कर कोई दूर-दूर चलने लगे तो? ऐसा कोई न मिला जो हमें उपदेश देता। ऐसा कोई न मिला जिससे मन लगकर रहता। सबको मैंने अपनी-अपनी आग में ही जलते हुए देखा। जैसे कथनी हो वैसी ही करनी भी चाहिए कमाल!"

मैं समझा नहीं। माँ जरूर सुनती रही। उसने कहा, "भूल क्यों नहीं जाते उस सबको।"

पिता क्षण-भर माँ की ओर देखते रहे। कहा, "लोई, मैं क्या करूँ? तेरा संग पाकर भी मैं न सुधरा।"

संगत भई तो क्या भया हिरदा भया कठोर
नौ नेजा पानी चढ़े तऊ न भीजै कोर।
गुरू बिचारा क्या करै शिष्यहि में है चूक
शब्द बाण बेधे नहीं, बाँस बजावै फूँक॥

माँ ने कहा, "तुम सच नहीं मानोगे।"

वह प्रसन्न थी। वह आनन्द तो मैं नहीं समझा था, पर आज तक वह चेहरा नहीं भूला हूँ। आज मुझे याद आने पर लगता है कि वह तो माता धरती थी, खूँदी गई, रौंदी गई, सूरज ने तपाया, पवन ने धू-धू करके अंग-अंग की चाम को छार-छार कर दिया, पर जब बादल आया और बरसने लगा तो उसने एक भी शब्द नहीं कहा कि तू कहाँ चला गया था। बादल बरसा, रोम-रोम सिंचित कर गया। धरती हँस उठी, उमँग उठी। उसने फिर फूलों की झड़ी लगाई। और मैं क्या कहूँ—

आसमान का आसरा छोड़ प्यारे उलटि देखो घट अपना जी
तुम आप में आप तहकीक करो तुम छोड़ो मन को कल्पना जी
बिन देखे जो निज नाम जपे सो कहिए रैंन का सपना जी
कबीर दीदार परगट देखा तब जाप कौन का जपना जी।

आरम्भ

शाम हो गई थी। विश्वनाथ के मन्दिर में घण्टे बजने लगे थे। घननन-घननन का नाद गूंज रहा था। बाहर बने विशाल बंदी काले पत्थरों के कारण चमक रहे थे। मन्दिर के विशाल स्तम्भों पर अँधेरे की छायाएँ पड़ने लगी थीं। और दीपाधारों में लटकती दीपशिखाएँ जगमग-जगमग कर रही थीं। असंख्य दर्शनी आते, घण्टों को बजाते और फिर भीतर चले जाते, शिवलिंग का दर्शन करते और लौट आते। भीतर से कभी-कभी समवेत वेदध्वनि उठती और तब गंधधूम और फूलों की सुगन्धि कांपने लगती।

पथ पर एक सोलह बरस का लड़का खड़ा था। वह डरता हुआ-सा देख रहा था। हठात् वह आगे बढ़ आया। उसने कहा, "काका !"

"कौन ?" एक अधेड़ आदमी ने मुड़कर कहा, "कबीर !"

"हाँ काका, मैं ही हूँ।"

"अरे तू यहाँ क्या कर रहा है ?"

"कुछ नहीं ! वैसे ही खड़ा था।"

"लेकिन यह वैसे ही खड़े होने की जगह तो नहीं। वह तो गनीमत है तूने आगे जाकर अपना आसन नहीं जमाया, वर्ना बुरे हाथ पड़ते।"

"क्यों ?"

"जैसे तू जानता नहीं। तू जुलाहा, मैं जुलाहा। कौन नहीं जानता कि यहाँ के पुजारी कितने कट्टर हैं ! कोई देख लेता तो बावेला मच जाता। काशीराज तक खबर पहुँचती। वे सारे जुलाहों को आड़े हाथों लेते। और मेरी तो आफत ही थी। मैं ठहरा देवीलाल, उनके मनसबदारों का जुलाहा। मुझसे कहते, क्यों देवी ! तूने भी जोगियों के असर में सिर उठाया है ? क्या कहता मैं कबीर ! चल बेटा, घर चल।"

"डरते क्यों हो काका ?" कबीर ने कहा, "मैं क्या भीतर थोड़े ही जाता था ? पर हमें वे इसी से तो नहीं जाने देते न कि हम नीच जात माने जाते हैं ? काका, हम नीच जात क्यों हैं ?"

देवीलाल ने कहा, "शश···धीरे बोल बेटे ! तूने इनका घमण्ड नहीं देखा।"

"घमण्ड ?" कबीर ने कहा, "मैं देखता आया हूँ, आज। दावत हो रही थी।

झूठन फिक रही थी। बाहर भंगी बैठे थे और वहाँ ठाकुर ऐसे झूठन फेंकता था कि कुत्ते और भंगी के बच्चे साथ-साथ झपटते थे। कितना भयानक लगता था वह सब ! इतने बेरहम यह कैसे हो जाते हैं काका ?"

काका देवीलाल ने कहा, "चल बाहर। रुके मत तू कबीर ! गरीब की हर जगह आफत है। जिस पर जात अगर नीच हो गई तो समझ ले सत्यानास हो गया। क्यों तू क्यों मरता है ?"

"मैं मरता नहीं काका। सोचता हूँ। वह तो बड़ा महन्त है न ?"

"हाँ बेटा, उसका बड़ा मान है।"

"मान है, पर काम तो उसके बड़े नीच हैं काका। सुबह कहारिन को छेड़ रहा था। वह रो रही थी।"

"कोई कुछ कह रहा था ?"

"कुछ नहीं।"

"देख ले तू ही। अभी तीन दिन पहले की बात है। पण्डों ने औरत के ज़ेवर उतार लिए और ल्हास गंगा में उतार दी। जिजमान रोता-चिल्लाता लौट गया। कोई सुनता है ?"

"काका ! वे पण्डित जी जो गंगा तीर पर कथापुराण सुनाते हैं, वे तो दया-धरम की बात करते हैं ?"

"क्या कहता है वह ?"

"यही कि ब्राह्मण की पूजा करो और अपना लोक-परलोक बनाओ।"

"सो तो ठीक कहता है वह। सब मानुस एक-से तो नहीं होते कबीर !"

"पर मुझे वह सुनकर अजीब-सा लगता है। क्या सचमुच हम इन लोगों से कुछ नीचे हैं ?"

देवीलाल उत्तर नहीं दे सका। वह आगे चलता रहा। कबीर ने ही फिर कहा, "जिसके संग दस-बीस हो जाते है वही महन्त हो जाता है काका।"

"बड़ा बातूनी है तू रे !"

"काका, मैं तो बदला लूंगा।"

"किससे ?"

"उसी महन्त से !"

"किस बात का ?"

"काका, तमाम पुजारी यहाँ-वहाँ जगह-जगह खूब पैसा लूटते हैं। यह मन्दिर है। छुआछूत तो ऐसी जबर्दस्त है कि देखकर मेरा दिल काँप जाता है। परन्तु इनके कर्म तो इतने नीच हैं कि कहा नहीं जाता। पाखण्ड, घृणा, अहंकार और ईर्ष्या ही इनके भीतर भरी हुई है।"

"भरी हों तो वे अपना फल आप पाएँगे कबीर ! तुझे ओखली में सिर देने

की जरूरत ही क्या है बेटा ? भगवान को ही सुख देना मंजूर होता तो वह नीच कुल में हमें जनम ही क्यों देता ? और जब जीवन में नरक पाया ही है तब उसे चुपचाप भोगकर अगला जनम क्यों न ठीक बना लिया जाए ?"

जुलाहों की बस्ती आने लगी। देवीलाल चला गया। कबीर खड़ा रहा। वह अभी घर जाना नहीं चाहता था। अभी उसके भीतर तरह-तरह के विचार उठ रहे थे। जब वह घर पहुँचा तब आधी रात थी।

× × ×

कबीर धीरे से टट्टी हटाकर भीतर घुसा।

"कौन है ?" नीमा ने बिस्तर में पड़े-पड़े पूछा।

"मैं हूँ अम्मा !"

"कहाँ चला गया था बेटा ?" वृद्धा ने खाँसते हुए कहा, "तेरा बाप जब से चला गया तब से मैं ही तो हूँ। क्या तुझे मेरी याद नहीं आती ?"

"अम्मा !" कबीर ने उसके पास बैठकर कहा, "कैसी बात करती है ! मैं गया ही कहाँ था ?"

और उसकी आँखों में वृद्ध नीरू का चित्र खिंच गया। वही तो उसका पिता था, पालने वाला था। माँ ने ममता में कितना मर्मांतक आघात किया था।

नीमा खाँसने लगी। खाँसते-खाँसते उसकी आँखों में पानी आ गया।

कबीर को लगा खाँसती माँ थी, पर फंदा उसकी अपनी ग्रीवा में अटक रहा था। उसने खाट पर बैठकर माँ को सहारा दिया। पानी पिलाया। कुछ देर बाद जब नीमा सुस्थिर हुई तो उसने कहा, "बेटा !"

"क्या है, माँ !"

"जानता है मैं बूढ़ी हूँ।"

"नहीं, मुझे यह भयानक बातें नही सुननी हैं।"

माँ हँसी। वह दुलार की उमड़ती धारा थी। कहा, "बेटा ! अब मैं जिऊँगी भी तो कितने दिन ? आखिर तुझे कोई तो सहारा चाहिए। रोटी कौन करेगा तेरी ?"

"मैं खुद कर लूंगा अम्मा ! तू फिकर न कर।"

"अच्छा सुसरे ! मैं अब बन्द कर दूंगी, तो दो दिन में तुझे आटे-दाल का भाव मालूम पड़ जाएगा।"

वृद्धा हँसी। कबीर भी। वृद्धा ने कहा, "बेटा ! तू माँ को चाहता है, उसके बारे में कुछ भी बुरा नहीं सोचना चाहता न ? पर एक बात याद रख ले, जैसा एक दिन तेरा बाप चला गया, वैसे ही एक दिन तेरी यह माँ भी चली जाएगी और बाप की कमी को तो बेटा मैंने खलने न दिया, पर मेरी कमी को पूरा करने के लिए क्या तुझे किसी नये सहारे की जरूरत नहीं है ?"

कबीर नहीं बोला। लगता था वह सोच रहा था। मृत्यु आएगी। वह अवश्य आती है।

और जिस क्षण मनुष्य की जीवन की ममता और शक्ति ठहरकर मृत्यु के बारे में सोचने लगती हैं उसी क्षण उसमें एक नयी तन्मयता जाग्रत् हो उठती है, जो जीवन का सम्मान करना जानती है।

माँ ने फिर कहा, "बेटा! इस दुनिया में कोई किसी का सहारा नहीं होता, पर घर वाले ही उन सबके मुकाबले में अपने होते हैं। मरे की मिट्टी तो अपना धरम सँभालता है, पर जीती मिट्टी के लिए भी तो करने वाला कोई होना चाहिए। तू बाहर से आता है, उस वक्त कोई दो बात पूछने को न होगा, तो तुझे यह घर काटने को दौड़ने लगेगा कबीर! आदमी चाहता है कि कोई उसके सुख-दुख में सवाल-जवाब करे। तू रूठे कोई मनाए। कोई और मान करे, तो तू उसे समझाए। बेटा, आपस की प्रीत से ही यह दुनिया हल्की होकर चलती है।"

"तू यही बातें करती रहेगी, या मुझे कुछ खाने को भी देगी?" कबीर ने कहा।

माँ हँसी और फिर खाँसी ने घेर लिया।

कबीर ने देखा, वह कंकाल खाँसी की चपेट से थर्रा उठता था। जैसे साक्षात् मृत्यु ने बुढ़ापे के जाल में फँसा लिया था और बार-बार झकझोर उठता था। जीवन क्या सचमुच ऐसी ही दीर्घ यंत्रणा थी। कबीर को लगा वहाँ माँ नहीं थी, एक प्राणी अपने जीवन के लिए मृत्यु से संघर्ष कर रहा था। वह चित्र भीतर उतर गया। जब पिता मरे थे, उनका चित्र उसे याद नहीं है। तब वह सात बरस का था। तब से अपमान में वह जीती रही है। उसने चक्की पीसी है, ताना बुनकर बाना डालना उसी ने कबीर को सिखाया है। उसका ही सिखाया कबीर वस्त्रों को ले जा, ले जाकर बाजार में बेचता रहा है। जो कुछ आमदनी होती रही है, उसी से दोनों किसी तरह पेट भरते रहे हैं। कभी-कभी जब किसान आते हैं तब काशी के जुलाहों में जान में जान आती है। वर्ना सिपाही आते है तो मन चाहे मोल उठा ले जाते हैं। उनकी बात सुनने वाला कोई नहीं। किसान लगान देते नहीं थकता, चमार बेगार देता है। जगह-जगह बंधन है, अछूत हैं, और कबीर जुलाहा बैठा-बैठा देखता है कि ऊँची जात के लोग, मुसलमान सिपाही, सब, सब ही जुलाहों को दबाते हैं और वे दबते हैं। लेकिन क्यों?

कबीर माँ की पीठ सहलाने लगा। बूढ़ी कुछ देर में ठीक हुई और उसने धीमे से कहा, "रोटी वहाँ हँडिया में कपड़े में लिपटी रखी है बेटा। ले ले। मुझसे उठा नहीं जाता। हे भगवान! बुला क्यों नहीं लेता?"

वह फिर कहने लगी, "बेटा! मेरी मान जा, बूढ़ी की असीस ले। छोटी-सी बहू ले आ, फिर देख तेरे आँगन में कैसा उजाला हो जाएगा।"

"अच्छी बात है माँ" कबीर ने कहा, "पहले रोटी खा लूँ फिर विचार करूँगा।"

"तेरी मर्जी।" बुढ़िया ने कुछ खीझकर कहा, जैसे इतनी मेहनत उसने व्यर्थ ही की थी, जैसे वह तो रस्सी सरकाती गई, पर घड़ा पानी नहीं, सूखे कुएँ की तह में जाकर टकराया। और वह फिर लेट गई।

कबीर रोटी लेकर बाहर हल्की चाँदनी में आ गया और खाने लगा। उस समय पीछे किसी की हल्की पगचाप सुनाई दी।

"कौन ? लोई" कबीर ने कहा, "इस समय ? जानती है कौन-सा पहर है ?"

वह पतली-दुबली पन्द्रह साल की लड़की अपने मैले लहंगे को समेटकर बैठ गई और कहा, "मुझसे पूछते हो ? तुम्हें क्या पहर-घड़ी की चिंता नहीं ? मैं कब से बैठी तुम्हारी राह देख रही हूँ।"

"क्यों ?" कबीर ने कहा, "सोई नहीं ? घर के लोग कहाँ गए ?"

"सो गए। सबकी अकल मेरी तरह खराब तो नहीं।"

कबीर ने हाथ रोटी से अलग करके कहा, "तू तो कभी ऐसा नहीं कहती थी लोई। आज कैसे कहती है ?"

"कहती हूँ यों कि मेरी बनाई चटनी पत्ते पर रक्खी सूख गई और मैं बैठी रही कि कब तुम आओ, कब खिलाऊँ। जानती हूँ माँ बीमार है। तुम्हें तो कोई फिकर नहीं। बेचारी दिन-रात खटती है। मुझे तो दर्द होता है।"

कहकर उसने पत्ता हाथ से निकालकर सामने रख दिया। बोली, "चख के देखो, कितनी अच्छी बनी है !"

कबीर ने खाकर कहा, "बहुत स्वाद की बनो है लोई। माँ के बाद मुझे तेरे ही हाथ का बनाया अच्छा लगता है।"

लोई लजा गई। कहा, "क्या बकते हो ! आधी रात के बखत कोई ऐसा कहता होगा ? कोई सुनेगा तो क्या कहेगा ?"

कबीर ने टोका, "अरे मैंने ऐसा क्या कहा है री जो इतनी घुड़कती है ? अभी तो तुझे माँ के लिए दर्द आ रहा था न ?"

"अच्छा तुम्हें नहीं आता ?" लोई ने पूछा।

"क्यों नहीं आता लोई। मैं क्या बैठा रहता हूँ ? तू बता। मैं दिन-रात बुनता रहता हूँ, तब कहीं जाकर पेट भरता है। तू क्या जुलाहिन नहीं है, तू क्या हालत नहीं जानती ?"

"मैं सब जानती हूँ पर रोती नहीं तुम्हारी तरह। तुम्हें तो रट लग जाती है तो बस लग ही जाती है।"

माँ ने पुकारा : "बेटा कँबीर !"

"हाँ अम्मा, आया !" कबीर ने उत्तर दिया।

"क्या कर रहा है बेटा वहाँ ! अरे ओस गिर रही है। वहाँ तेरे पास कौन है बेटा ?"

"माँ लो···"

"छिः" लोई ने मुँह पर हाथ रख दिया, "चिल्लाते क्यों हो ? ऐसे बदनाम क्यों कराते हो ? नहीं समझते तो चुप रहो।"

कबीर ने मुस्कराकर कहा, "आया अम्मा, लो अभी-अभी आया।"

लोई ने कहा, "मेरा नाम यों चिल्लाते हो, पहले इसका हक पा लो कबीर। ऐसे ही आधी रात को न अलख जगाने दूंगी मेरे नाम की।"

"अच्छी बात है लोई।" कबीर ने कहा : "तेरा दादा न मानेगा तो ?"

"क्यों न मानेगा ? तू क्या जुलाहा नहीं है ?"

"हूँ तो।"

"फिर आदमी है कि जानवर है ?"

"आदमी-सा ही लगता हूँ, पर यह तो तेरे भाई-बन्धों पर है, वे तो उसे ही आदमी मानेंगे जो उन जैसे होंगे।"

"क्या मतलब ?" लोई ने खीझकर कहा, "वे तुम्हारी मत में मानुस नहीं हैं ?"

कबीर ने कहा, "जा परमेसुरी ! ताना खैंचती तो आफत करती है।"

"कैसे चली जाऊँगी ! आधी रान तक क्या मैं चटनी लिए बैठी थी !"

"तो ?"

"तुम्हें हया नहीं, लाज नहीं, मुझसे कहलवाते हा।"

"आखिर बात क्या हुई, कह न ?"

"दादा, मेरा ब्याह तय कर रहे हैं। तुम क्यों नहीं अम्मा से कहलवाते ?"

"क्या कहलवा दूं ?" कबीर ने पूछा, "यही ठीक रहेगा कि हमारे घर में आदमी कम हैं। एक चटनी पीसने वाली चाहिए। ठीक रहेगा ?"

लोई मुस्कराई। कहा, "मैं तुम्हें इतनी लड़ाका दिखती हूँ, क्यो : मेरा क्या है। सूखी-रूखी खाओगे, आप बुद्धि ठिकाने लग जाएगी ! अच्छा मैं जाती हूँ।"

"ठहर लोई। दिन-भर के बाद अब तो मिली है।"

"मैं तो पहले भी मिल सकती थी। पर तुम ही चले गए थे।"

"कहाँ गया था, जानती है ?"

"नहीं।"

"मैं मरघट गया था।"

"हाय राम !" लोई ने कहा, "मैं भी तो पूछूं क्यों ?"

"लौट रहा था लोई। रास्ते में मैंने मुर्दा जाते देखा। कोई बूढ़ा था। बड़ी झालर-वालर बजाकर ले जा रहे थे। मैंने सोचा, क्या बात है, जाकर देखनी तो चाहिए, सो चला गया।"

लोई डरी-सी बैठी रही।

"तू बोलती क्यों नहीं ?" कबीर ने पूछा।

"मैं अब बोलूं भी क्या ?"

"क्यों ?"

"तुम तो जोगी हो रहे हो !"

कबीर उसके मुख को एकटक देखता रहा । लोई ने धीरे से कहा, "ऐसे न देखो, मुझे डर लगता है ।"

"क्यों ?" कबीर चौंक उठा ।

"इस तरह देखते हो जैसे मुझे कुछ पराया समझते हो । अविश्वास से कुछ जो ढूंढ़ते-से लगते हो, तो मुझे लगता है कि मैं तुमसे बहुत दूर हूँ । यह मुझे अच्छा नहीं लगता ।"

कबीर ने उसका हाथ पकड़कर कहा, "लोई ! मैं तुमसे दूर नहीं हूँ । मैं अपने-आपसे जब दूर होने लगता हूँ तब मुझे कुछ डर-सा लगने लगता है ।"

"अपने-आपसे कौन दूर होता है भला ?"

"मैं होता हूँ लोई । राह पर चलते हुए लगने लगता है कि देह जली जा रही है और इस शकल-सूरत का आदमी जो कबीर-कबीर कहलाता है, वह असल में कोई और ही है, जिसे जानना चाहिए । और मरघट में मुझे वहाँ जान-पहचान-सी लगी । मुझे लगा मैंने वहाँ इतना दुख देखा, इतना दुख देखा कि मुझे जीवन में एक विश्वास-सा हो गया है ।"

"विश्वास !" लोई ने धीरे से कहा, "जो इसे खोदते हैं वे कभी चैन नहीं पाते, ऐसा दादा कहते थे ।"

"तू समझती है लोई !" कबीर ने आश्चर्य से पूछा ।

"नहीं ।" लोई ने कहा, "कुछ नहीं समझती, पर तुम्हें समझती हूँ ।"

दोनों निस्तब्ध-से एक-दूसरे को देखते रहे । लोई ने धीरे से हाथ अलग कर लिया । कबीर ने कहा, "कहाँ जाती है लोई ?"

"अब मैं तब ही आऊँगी कबीर ! जब तुम मुझे दिन-दहाड़े हजार जुलाहों के बीच सामने से बाजे बजवाकर लाओगे । अब चटनी बंद ।"

तभी माँ ने पुकारा, "अरे आया नहीं बेटा···"

"आया अम्मा···" कबीर ने कहा, और लोई पाँव दबाती हुई चली गई··· चुपचाप···

होली आ गई थी । काशी की सड़कों पर आज धुंध-सी मच रही थी । धूल के अंबार उठ रहे थे और भाँग और शराब के नशे में चूर, अबीर और गुलाल उड़ाते झुण्ड के झुण्ड लोग टोलियाँ बनाकर गाते, ढोल बजाते, नाचते जा रहे थे । बच्चे रंग फेंकते । औरतें छतों पर बैठी थीं और घूंघट खींचे रंग डालती थीं, नीचे सड़कों पर मर्द नाचते थे । चारों ओर हुड़दंग मच रहा था ।

नीमा सुबह से ही बैठी थी। उसने पुकारा, "बेटा कबीर !"

"क्या है अम्मा !" कबीर ने पास आकर कहा।

"बेटा ! तू नहीं गया कहीं ?" माँ ने कहा।

"कहाँ जाऊँ, अम्मा !" कबीर ने कहा, "सब लोग तो भाँग पीकर झूम रहे है। मुझे नशा करना अच्छा नहीं लगता।"

नीमा हँसी। कहा, "अच्छा तो चूड़ी पहनकर भीतर जा बैठ !"

बात तीर-सी लगी।

कुछ देर बाद कबीर खिसक चला।

उदास-सी छत की मुंडेर के पीछे लोई बैठी सी रही थी।

कबीर स्तब्ध-सा देखता रहा। फिर कहा, "लोई !"

उसने मुड़कर देखा। कहा, कुछ नही। फिर डोरे को मुँह में रखा और उसका छोर बँटने लगी।

कबीर ने फिर कहा, "लोई !"

"क्या है ?"

"तू क्या सोच रही है ?"

"कुछ नहीं।"

उसका मान आज साधारण नहीं था। कबीर उसके पास बैठ गया। वह खुद सोच में पड़ गया था। उसके माथे पर बल-से पड़ गए थे। उसका मौन देखकर लोई को चिन्ता होने लगी। उसने उसकी ओर न देखकर कहा, "क्या सोच रहे हो ?"

"कुछ नहीं," कबीर ने कहा।

लोई मुस्कराई। कहा, "तुम बड़े चालाक हो, मैं जानती हूँ।"

"क्यों लोई ?" कबीर ने कहा, "तूने मुझे सीधे जवाब दिया था ?"

लोई की मुस्कान फिर ढह गई। कबीर ने देखा। हाथ पकड़कर कहा, "तुझे कुछ दुख है लोई ?"

"दुख !" लोई ने कहा, "क्यों होने लगा मुझे ?"

और उसने तीक्ष्ण दृष्टि से देखकर कहा, "तू समझता है मैं कुछ जानती नहीं। क्यों ?"

उस 'तू' में विक्षोभ था, क्रोध था, परन्तु हृदय के स्वत्वानुभव की अनुभूति थी। 'तू' सुनकर कबीर चौंका नहीं। भरे-भरे नेत्रों से देखता रहा। फिर पूछा, "क्या जानती है तू ?"

"मैं पूछती हूँ तू किसलिए कमाता है ?"

"पेट के लिए लोई।"

"किसके ?"

"अपने और माँ के।"

"बस ?"

"और तो अभी घर में कोई नहीं।"

"और जो आएगा उसके लिए तेरे पास क्या है ?"

"मेरा हिया।"

लोई ने सिर हिलाकर कहा, "अरे मैं पहले ही तेरी बातें जानती हूँ। यों नहीं बहलूंगी। कुछ मेरा बाप भी तो कहेगा ! बिरादरी क्या कहेगी ? तू कल अपने पैसे उस लँगड़े और अंधे सूरा को दे आया था, परसों मैंने देखा था तूने चार कौड़ियाँ एक साधू को दे दी थीं। तू बड़ा दाता है न ? ला मेरे लिए क्या लाया है ?"

"तेरे लिए !" कबीर ने कहा, "मैं तेरे लिए इन सबसे अच्छी चीज लाया हूँ। देख। यह है। बोलती मिट्टी।"

"कौन ?"

"मैं हूँ, जो !"

लोई हतप्रभ नहीं हुई। उसने कहा, "धिक है तुझे, जो बोलकर भी मिट्टी ही बना रहा, मानुस न हुआ।"

"लोई !!" कबीर के मुख से हठात् निकला। आज उसमें जैसे बिजली दौड़ गई। "लोई !!!" उसने फिर कहा। मानो फिर उसका गला रुँध गया और कुछ कह नहीं सका।

लोई ने कहा, "आज तू मुझसे होली खेलने आया है न ?"

"हाँ लोई। पर मेरा मन इस सुख में रमता नहीं।"

"क्यों ?"

"यह सब मुझे चलता हुआ दिखाई देता है। देखता हूँ, संसार में घोर अन्याय हो रहा है। यज्ञ करने वाले अन्न को जलाते हैं, जोगी जीवन बिताते हैं तो जगह-जगह घूमते फिरते हैं। ब्राह्मणों को अहंकार नीच जाति, नीच जाति कहकर हमारा अपमान करता है। हम जुगी हैं तो क्या आदमी नहीं हैं लोई ? मुसलमान रोज लोगों को बहकाते हैं, गरीब लोग हाहाकार कर रहे हैं। चारों तरफ मजबूरियाँ खड़ी हैं। मैं देखता हूँ तो एक सुलगन-सी उठ खड़ी होती है। तुझे कोई चिन्ता नहीं होती ?"

"किसकी ?" लोई नैं पूछा।

"यह जो दुनिया में इतनी बेचैनी फैली हुई है ?"

लोई मुस्कराई। कहा, "मुझे उस सबकी बेचैनी नहीं होती, केवल एक बेचैनी होती है।"

कबीर ने प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा।

लोई ने कहा, "केवल यही कि तू बेचैन रहता है। जुगी जुलाहे क्या और नहीं हैं जो तू इतना व्याकुल है। मैं पूछ सकती हूँ काजी जी क्यों सहर के अंदेसे से इतने दुबले हैं ?"

"तू स्त्री है," कबीर ने कहा, "माया तेरे घट-घट में है।"

लोई ने कहा, "साधुओं ने तुझे बौरा दिया है कबीरे ! अगर स्त्री माया है तो पुरुष क्या है ? सब भटक रहे हैं। सिद्धों की-सी अटपटी बानी न बोल, न नाथों-कापालिकों की तरह डराने की कोशिश कर। बंगाले-कामरूप की जादूगरनियों की बात सुनती आई हूँ। वह सब झूठ होगा। लोग चाहते हैं कि कुछ कर दिखाएँ, पर राह नहीं मिलती। गरीब का क्या ? तू पागल है। ऐसी बात करके तू मेरा अपमान करता है, उसे तू जानता नहीं, खैर, मैं उसे पी जाऊँगी, पर मुझे यों न सता कि जाकर मरघट में बैठा ल्हासों को जलता देखा करे। अरे यहाँ इतने जीते हुए हाथ-पाँव चलाते हैं, वे तुझे आश्चर्य से नहीं भरते ? तू मिट्टी को जलते देख के डरता है, मिट्टी को हँसते-रोते देखकर तुझे अच्छा नहीं लगता ?"

"यह एक मेला है लोई ! लगता है, उठ जाता है। जो इसी में भूला रहता है, वह क्या जान सकता है ? इसी को सब कुछ समझ लेने से ही तो आगे चलकर इतना दुख होता है।"

"दुख !" लोई ने कहा, "तू जानता है दुख क्या है ?"

कबीर ने धीमे से कहा, "इस दुनिया की रीत उल्टी है लोई।" यह रंगी को नारंगी और माल को खोया कहती है। जो चलती है उसे गाड़ी कहती है, बता इस सबको देख मैं अगर रुँआसा हो जाता हूँ तो क्या बुरा करता हूँ ?"

"बात के फेर में पड़ा तू अपने को भूल रहा है।"

"नहीं लोई।" कबीर ने कहा, "सुबह-सुबह जब तू चक्की चलाती है तब मेरा दिल काँप उठता है। दो पाटों के बीच में आकर कोई नहीं बचता।"

"जगत का नाता तोड़कर ही क्या चैन मिल जाता है कबीर ? माना कि मैं माया हूँ, पर मुझे किसने बनाया ?"

"भगवान ने !"

"और तुझे किसने बनाया ?"

"उसी ने।"

"तो मैं-तू जब एक-से हैं, तो मुझसे अभिमान करने का हक रखता है ?"

"नहीं।"

"फिर मुझे क्यों जलाता है ?"

लोई की आँखों में आँसू आ गए। उसने कहा, "तू उदास रहता है। खोया-खोया रहता है। आखिर क्यों ? सच, तुझे मन में कभी कुछ-कुछ-सा नहीं होता ?"

"होता है लोई।"

"तो फिर तू दूर-दूर क्यों रहता है कबीर ?"

कबीर ने लोई के आँसू पोंछ दिए। लोई गर्व से नीचे देखने लगी। कबीर ने कहा : "अब भी तुझे दुख है ?"

"नहीं।" लोई ने कहा, "तू कहता है मैं माया हूँ। मुझे माया ही कह, पर जो माया भगवान ने बनाई है, वह क्या इसीलिए अच्छी नहीं है कि वह बाँधे रखती है ? उसी भगवान की सौगात है। बावरे ! मैं न होऊँ तो यह संसार की माया बढ़ेगी कैसे ? कैसे सदा-सदा, युग-युग तक आदमी भगवान की चिन्ता करेगा, कैसे उसका नाम इस धरती पर गूँजा करेगा ? कबीर !"

"क्या है लोई ! तू मुझसे क्या-क्या कह जाती है। मैं इतना सब सुनकर आता हूँ। वह सब क्षण-भर में तेरे सामने लरज-सा जाता है। तू माया कहाँ है ? तुझे देखता हूँ तो मुझे बंधन नहीं लगता; सहारा-सा मिलता है।"

"मैं नहीं समझती कि यह क्या है ? यही तो वह लगन है जो मुझे तेरा बनाए रखती है। मैं तेरे पास रहूँ तो क्या तुझे पाप लग जाएगा ?"

"नहीं लोई। कभी नहीं। तू इतनी पवित्र है।"

लोई शर्मा गई। कहा, "तू है संन्यासी ही। यह न भूल कि मैं तेरी कौन हूँ। हूँ कुछ ?"

कबीर उसे मुस्कराता हुआ भरी-भरी आँखों से रहस्य-भरी मुस्कान लिए देखता रहा। देखता रहा। लोई ने माथे पर घूंघट खींचकर मुस्करा कर कहा, "सच कह। फिर तो मेरा खून नहीं जलाएगा ?"

"नहीं।" कबीर ने कहा।

"तो जा सबके संग होली खेल। मैंने तेरे लिए गुंजिया छिपाकर रखी हैं। तू रंग में भीगकर आ, मैं तुझे अपने हाथ से खिलाऊँगी।"

"अब तो मैं रँग गया लोई।"

"कैसे ?"

'तेरे रंग में।"

"यही नहीं चाहती मैं।" लोई ने कहा, "यही मुझे डराता है। मैं दुनिया में सब कुछ नहीं हूँ कबीर। जैसे तेरे लिए बहुत कुछ है, वैसे ही उस सब में एक मैं भी हूँ। ये जो घर छोड़कर भागते हैं, वे एक आँख से दुनिया को देखते हैं। अगर वे मन का तोल बराबर रखें तो लोगों का लाभ हो, नहीं तो हाँ और ना के पलड़े हमेशा होड़ करते रहते हैं। एक तरफ मरघट है, योग है, त्याग है, वन है, संन्यास है, दूसरी तरफ दुनिया है, लोगों का लाभ है, मदद है, पाप का पर्दाफाश करना है, दुख उठाकर भागना नहीं, यहीं रहकर सचाई के लिए लड़ना है। मैं अकेली उस सबको नहीं झेल सकूँगी। दो पाँवों पर बोझ सँभाल, एक पर न चल। गिर जाएगा। मुझे चाहते हुए तू दुनिया को न भूल, उससे घिन न कर, मुझे अंधा होकर

प्यार न कर। मैं तो तेरी साथिन हूँ। जो तेरे लिए अच्छा है, सो मेरे लिए अच्छा है। तू कमा के गेहूँ, चना, जौ, ला। मैं पीस के रोटी करूँगी। तू खा और मुझे खिला। अपना काम तू कर, अपना काम मैं करूँगी। मैं ताना डालूंगी, तू बाना डाल। तू मेरे पास आए तो आँख खोलकर आ। ऐसा न कर कि मुझे यह लगे कि तू सुपने में मिल रहा है। तू दूर चला जाता है, तब भी मुझे पास ही लगता है। आँखों का अन्तर भले ही पड़ जाए, पर प्राण तेरे ही पास रहते हैं।"

लोई ने कबीर का हाथ पकड़ लिया और कहा, "मैं समझती नहीं, गलत तो नहीं कहती ?"

कबीर चौंक उठा। बोला, "जो तू कहती है वह मुझे अच्छा लगता है।"

"यह मैं नहीं चाहती। तू अच्छा लगता है तो सुनता है, पहले से मन में बना लेता है, तो अच्छा लगता है, और अगर पहले से मन में बना लेगा कि अच्छा नहीं लगेगा, तो उस दिन तुझे मेरी बात भी अच्छी न लगेगी। मैं यह नहीं चाहती। मैं कहूँ तो सुन। फिर तू कह, मैं सुनूं। जो तुझे ठीक न लगे उसे तू बता, जो मुझे ठीक न लगे वह मैं कहूँ। हम-तुम अलग-अलग नहीं कबीर, हम-तुम संगी-साथी हैं।"

और कबीर ने वह एक नवीन मार्ग देखा। वह एक समन्वय था, जो किसी प्रकार की भी दासता को अस्वीकृत करता था। वह उत्तरदायित्व को सम करके झेलना था, जहाँ व्यक्ति की पूर्णता थी, किन्तु अपने को विनष्ट करने वाली अंध पराजय नहीं थी। उसने कहा, "लोई !"

"क्या है ?"

"सब रसायन मैं किया
प्रेम समान न कोय
रति एक तन में संचरै
सब तन कंचन होय।
जोई मिलै सो प्रीति में
और मिलैं सब कोय
मन सो मनसा ना मिलै
देह मिलैं का होय !

लोई के नेत्रों में आनन्द के दीपक जग उठे मानो पुतलियों के अन्धकार में जीवन्त आलोक सुलग उठा, जैसे तूफानी लहरों के बीच किसी दीपस्तम्भ पर में से किरणें हवा को काटती अन्धकार को फोड़े दे रही थीं। कबीर ने फिर कहा—

जल में बसे कमोदिनी
चंदा बसै अकास
जो है जाको भावता

सो ताही के पास।
नैनों की करि कोठरी
पुतली पलँग बिछाय
पलकों की चिक डारि कै
पिय को लिया रिझाय।

लोई ने आनन्द से नेत्र मूंद लिए। कबीर ने उसके बालों पर हाथ फेरते हुए कहा—

"अगिनि आँच सहना सुगम
सुगम खड़ग की धार
नेह निभावन एक रस
महा कठिन ब्यौहार।
जा घट प्रेम न संचरै
सो घट जान मसान,
जैसे खाल लुहार की
सांस लेत बिनु प्रान!"

लोई ने उसके वक्ष पर सिर धर दिया और विभोर हो गई।

कबीर देखता रहा।

उसने कहा, "लोई!"

वह चौंक उठी। उसने आँखें खोलीं। उन नयनों में कितना जीवन था! कबीर को लगा जैसे अमृत का समुद्र लहरा रहा था। मन ने कहा, कौन कहता है स्त्री माया है, पाप है? वह जननी है, वह आद्या सृष्टि है। वही पूर्ण है। पुरुष उसका अंश है। स्वयं अनन्त भगवान भी स्त्रीहीन नहीं है। इसे छोड़कर बन जाने में क्या लाभ है! वे जो भटक रहे हैं उन्हें यह केवल कामिनी ही दिखाई देती है। वह पुरुष की विकृत वासना ही है जो इसे देखकर केवल कामिनी देखता है। वह इसकी आत्मा के पूर्णत्व को नहीं देखता।

लोई ने कहा, "कबीर! मैं यहाँ नहीं रहूँगी।"

"कहाँ जाएगी लोई?" कबीर ने चौंककर पूछा।

"तू मुझे ले चल। देख तेरी माँ भी बूढ़ी हो गई है।"

कबीर क्षण-भर सोचता रहा।

"क्या सोचता है! धन की चिन्ता करता है? जैसे तू रहता है, मैं रहूँगी। यहीं क्या फरक है। धन तो आता-जाता है कबीर। मन का विश्वास मुझे दे दे, फिर मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।"

कबीर ने कहा, "नहीं लोई।

पौ फाटी पगरा भया
जागे जीवा जून
सब काहू को देत है
चोंच समाता चून।
मन के हारे हार है
मन के जीते जीत
कह कबीर पिउ पाइए
मन ही की परतीत।"

लोई आनन्द से उठ खड़ी हुई और फिर इससे पहले कि कबीर उठे उसने पास रखे मटके को उठाकर कबीर पर उँडेल दिया। कबीर भीग गया। कबीर ने उसको पकड़ लिया और कहा, "अब तुझ पर कौन-सा रंग डालूं?"

लोई ने मुस्कराकर कहा, "मैं तो उसी दिन से रंग गई हूँ जिस दिन तुझे देखा था···"

मरजीवे[1] को तो देखो···

जिन्दगी पुकारती है : कमाल रुककर देख !!
और मैं बहुत दिन बाद मुड़कर देख रहा हूँ।
लेकिन जो तब भी था, अब भी है, आगे भी रहेगा···
वह नये मानव का विद्रोह था !
स्वतन्त्रता···बुद्धि की पूर्ण स्वाधीनता के लिए मनुष्य ने पुकार उठाई थी···

पिता कहा करते थे—

काल्ह करै सो आज कर
आज करै सो अब्ब
पल में परलै होइगी
बहुरि करैगा कब्ब।

कर्त्तव्य के लिए वे देरी नही सह सकते थे।

और सचमुच मैं कुछ न कर सका। प्रलय हो ही गई।

कबीर को चेलों ने डुबा ही दिया, क्योंकि मठ बना, धन आया, और मोह ने सत्य को ढँक लिया।

पर यदि मैं कुछ नहीं कर सकता तो क्या यह भी न कहूँ कि मेरा बाप वह ही नहीं था, जिसे शून्य-शून्य कहकर सब बखानते हैं। वे उसे महान कह देते हैं पर उसकी उन बातों को नहीं कहते, जो उसका अपना चिन्तन था। मैंने तो उपसंहार से आरंभ की झलक देखी, पर मैं वह फिर कहूँगा, क्योंकि मेरा बाप दीन जुलाहा था। उसने पहले ब्राह्मण को पूज्य समझा था। फिर उसका विकास हुआ। वह जोगियों से प्रभावित हुआ। फिर जब वह जागा तो उसके भीतर की शक्ति जागी। उसने इन सब बंधनों को तोड़ दिया।

वह संस्कृति का पुनर्जागरण था, दीन जनता का पहला स्पष्ट सस्वर निनाद था। पर उसे लोगों ने दबा दिया है।

क्या वह दब सकेगा ?

---

1. मृत्युंजय

वह तो मेहनत की कमाई पर पलने वाला आदमी था···दलित, जात भी, कुल भी, धनहीन, परन्तु अपराजित···

मैं बताऊँगा कि वह पग-पग पर बढ़ा और फिर दीपक में से दीपक जलाता चला गया !

फिर ब्राह्मण, जोगी, तुरुक, सबने अँधेरे के पर्दे लटका दिए। और कबीर के चेलों ने उनकी नकल की, कबीर के विद्रोह को उन्होंने उसके प्रारम्भिक जीवन के शून्यवाद से ढँक दिया, जब वह जोगियों के प्रभाव में था···

मैं तो वह दिखाऊँगा जो लोग आज भूल चले हैं !

पिता दूसरों की व्यर्थ वितंडा की शक्ति से दुखी हो जाते थे। उन्होंने एक दिन व्यथित होकर कहा था—

अपनी कह मेरी सुनै
सुनि मिलि एकै होय
मेरे देखत जग गया
ऐसा मिला न कोय।
देस देस हम बागिया
ग्राम ग्राम की खोरि
ऐसा जियरा ना मिला
जो ले फटकि पछोरि।
भक्ति भक्ति सब कोई कहै
भक्ति न आई काज
जहँ को किया भरोसवा
तहँते आई गाज।
सब काहू का लीजिए
साँचा शब्द निहार॥
पच्छपात ना कीजिये
कहै कबीर विचार।

मैंने कहा था, "दादा ! फिर धर्म क्या परम्परा से पिता से पुत्र को नहीं मिलेगा ?"

कबीर ने कहा था, "नही बेटा ! धर्म कोई रूढ़ि तो नही ? मनुष्य का कल्याण ही धर्म है। अपना ही विश्वास अपना ही बंधन बन जाए यह क्या ठीक है ?"

"नहीं है दादा !" मैंने कहा था। "पर संसार में सब तो सोचते नहीं।"

"इसीलिए कुछ लोग सबको मूरख बनाते हैं।"

वे सोचने लगे थे। फिर कहा था, "वे मन मिलाने के लिए बात नहीं करते। वे सन्देह बढ़ाने को बहस करते हैं ताकि उनके चेलों पर उनका प्रभाव

बढ़ता रहे।"

"तुम्हें दुःख होता है ?"

"होता है बेटा !"

"क्यों ?"

"क्योंकि मैं उन्हें सोचने के लिए कहता हूँ। और वे लीक पर ही गाड़ी चलाए जाते हैं।"

"इससे उन्हें फायदा क्या है ?"

"वे कीचड़ में फँसना नहीं चाहते। सोचते हैं जो राह है वही काफी है।"

"पर वे जिन रास्तों पर चलते हैं, वे कीचड़ में ही तो बने हैं ?" मैंने पूछा था।

पिता प्रसन्न हुए थे।

कहा था, "कमाल ! तू समझता है ?"

"मैं नहीं जानता।" मैंने कहा था। "परन्तु तुम जो कहते हो, वह सब तुम्हें कहाँ मिला ? साधुओं के पास बैठने से दादा ? तुम तो पढ़ना-लिखना भी नहीं जानते ?"

पिता ने मुस्कराकर गाया था :

"मैं मरजीवा समुद्र का
डुबकी मारी एक
मूँठी लाया ज्ञान की
जामें वस्तु अनेक।
डुबकी मारी समुद्र में
निकसा जाय अकास
गगन मंडल में घर किया
हीरा पाया दास।
जा मरने से जग डरै
मेरे मन आनन्द
कब मरिहौं कब पाइहौं
पूरन परमानन्द।"

उन्होंने कहा था, "जो मौत से नहीं डरते, वे जान लेते हैं।"

"क्या दादा ?"

"यह संसार धोखे की आड़ में चलता है।"

"तो वे कहते क्यों नहीं ?"

'अपने स्वार्थों से डरते हैं।'

"क्या हैं वे ?"

"धन के बन्धन।"

"उन्हें तोड़ना कठिन ही क्या है ?"

"बेटा ! पेट नहीं बोलने देता। वह ही मौत से डराता है। मौत क्या है ? बुद्धि को बेच देना।"

मैंने देखा था। वे चिन्तित लग रहे थे।

मैंने कहा था, "दादा !"

"क्या है ?" वे चौंक उठे थे।

"मौत में आनन्द है ?"

"उसमें है जो निर्भयता का फल है, वही माया को काटना है। आदमी की माया उसका संसार है।"

"तो यह संसार छोड़ना चाहिए ?"

"नहीं, इस दुनिया को कौन छोड़ता है ? मैंने छोड़ी है क्या ?"

"नहीं।"

"बेटा ! माया का अर्थ है मनुष्य के वे बन्धन जो उसे मनुष्य होने से रोकते हैं।"

"मैं नहीं समझा दादा।"

"बेटा !" पिता ने साँस खींचकर कहा था, "भगवान क्या है बता सकता है ?"

"वही तो सब है।" मैंने उत्तर दिया था।

पिता ने कहा था :

"भजूं तो को है भजन को
तजूं तो का है आन
भजन तजन के मध्य में
सो कबीर मन मान।

मैंने अनबूझ बनकर देखा था। मुझे विश्वास नहीं हुआ था। पूछा था, "तो क्या भजन व्यर्थ है ? फिर तुम नाम महिमा क्यों लेते हो ?"

पिता मुस्कराए थे। कहा था, "भगवान नहीं छोड़ा जा सकता है न ? तो फिर भजन करने के लिए है ही कौन ? किसको छोड़कर किसका भजन करूँ बेटा ? खाली नाम का क्या लेना, और त्याग का मोह भी किसलिए ? भजन करने के लिए कोई दिखता है तुझे ?"

"नहीं दादा।"

"तो जो दिन-रात भजन करते हैं वे क्या पाते हैं !"

"लेकिन दादा ! तुम तो नाम की दुहाई देते हो।"

"अब भी देता हूँ।"

"क्यों ?"

"यह पूछ किनको देता हूँ ?"

मैंने अविश्वस्त दृष्टि से देखा था।

पिता ने कहा था, "उन्हें नाम याद दिलाता हूँ जो नाम भी भूल जाते हैं।"

"पर किसका नाम पिता ?"

"उस सृष्टि की शक्ति का, जो इस सब संसार और ब्रह्माण्ड में फैली हुई है। उसमें सब शक्ति है, सत्य है, क्या छोड़ा जा सकता है, क्या है जो भजन के ही योग्य है। बेटा ! माया में तो मनुष्य ने स्वयं अपने को बाँध लिया है।"

"तो क्या माया भगवान में नही है ?"

"हे बेटा ! सत्य भी उसी का है, वह माया इस सत्य को ढँकती है। अतः यह भी उसी की है। पर यह माया जड़ नहीं है कि मनुष्य इससे निकल न सके। वह जानबूझ कर उसमें फँसता है।"

"तो माया क्या है दादा ?"

"धन, रूप के बंधन। झूठ, दगा, फ़रेब, अहंकार। वितंडा, धर्म का ढोंग, यह सब माया है।"

मैंने सोचा था, पिता पुरानी राख को फूंक रहे थे, मुझे एक नई आग-सी भभकती हुई दिखाई दे रही थी। वह माया अब अवास्तविक छलना न रहकर वास्तविक बंधन लगने लगी थी।

माँ रोटी ले आई थी। चार मुझे दी थीं, तीन पिता को। दो स्वयं लेकर लोटा पानी का भरकर पास ले आई थी और हम खाने बैठ गए थे।

पिता ने कहा, "लोई ! तू ही पालती है। तू ही खिलाती है। साँई एक दया कर। रोटी दिए जा।

रूखा सूखा खाय कँ
ठण्डा पानी पीव
देखि बिरानी चूपड़ी
मत ललचावै जीव।
कबिरा साँई मुज्झ को
रूखी रोटी देय
चुपड़ी माँगत मैं डरूँ
रूखी छीनि न लेय।
आधी अरु रूखी भली
सारी सों संताप
जो चाहैगा चूपड़ी
बहुत करैगा पाप।"

लोई ने कहा, "गरीब को रूखी ही भली। झूठ तो नहीं बोलनी पड़ती इसके लिए !"

"सच कहती है," पिता ने कहा, "लोई ! चुपड़ी रोटी ईमान और मेहनत से नहीं मिलती। उसके लिए पाप करना पड़ता है। दूसरों को लूटना पड़ता है। गला काटना पड़ता है, राजा किसान को लूटता है, महंत शिष्यों को बहकाता है, जोगी भीख के लिए करतब दिखाता, डराता, धमकाता है।"

मैंने देखा वे दोनों प्रसन्न थे। गले में रोटी अटक गई थी।

माँ ने कहा, "पानी तो पी।"

"माँ, गले में अटकती है।" मैंने कहा था।

माँ की आँखों में स्नेह छलक आया था। कह उठी थी, "बेटा ! जुलाहे का बेटा है जुलाहा बन। सुना नहीं दादा ने क्या कहा ?"

"क्यों नहीं सुना माँ !"

"पर तुझे अच्छा नहीं लगा न ?"

मैं जवाब नहीं दे सका।

पिता ने कहा, "बेटा !"

मैंने आँखें उठाईं।

"रोटी अटकती है ?"

"हाँ दादा।"

"लेकिन इसको फिसलाने के लिए क्या करना होगा जानता है ?"

"तुम बताओ !"

"गाहक को ठगना होगा, तब ज्यादा कीमत मिलेगी।"

मैंने कहा, "नहीं दादा। यह कैसे कर सकेंगे हम ! राजा के द्वार जाकर चोबदारों की जूती कौन उठाएगा !"

लोई माँ ने कहा, "जो घी की चुपड़ी खाएगा।"

हम तीनों हँस दिए।

पिता गद्गद हो गए। वे बोल उठे—

"हेरत हेरत हे सखी
हेरत गया हेराय
बुंद समानी समुद में
सो कित हेरी जाय।
आदि होत सब आप में
सकल होत ता माँहि
ज्यों तरवर के बीज में
डार पात फल छाँहि।
कबिरा मैं तो तब डरौं
जो मुझ ही में होय

मीच बुढ़ापा आपदा
सब काहू में सोय।
जूआ चोरी मुखबिरी
ब्याज घूस परनारि
जो चाहै दीदार को
ऐसी वस्तु निबारि।

"मीच और बुढ़ापा क्यों याद आ रहा है !" लोई ने पूछा।

कबीर ने कहा, "कमाल की बात सोचते हुए मुझे याद आया। लोग कहते हैं, बुढ़ापा और मौत दबा लेगी तो कुछ नहीं होगा, इसी से जो करना है कर लो। मैंने सोचा था सच कहता है यह आदमी। पर क्या इसीलिए बुराई करना ठीक है। उससे दूसरों का गला नहीं कटेगा क्या ?"

माँ ने कहा, "अरे कौन नहीं मरता। जोगी क्या अमर ही हो जाते हैं। ऐसा होता तो दुनिया खाली न हो जाती। और सदा जिए जाने की हविस ही क्यों हो ? पैदा होने वाले मरते रहें यही सबसे ठीक है।"

'पिता ने कहा, "मैंने कहा था भगवान हमारे दिन-रात के कामों में ही है बाहर नहीं है।"

"यह तुमने मुखबिरी क्यों कहा ?" माँ ने पूछा।

"लोई ! गरीब के खिलाफ़ लोग धनी को बताते हैं और चंद टुकड़ों के लिए गरीब का गला कटवाते हैं। इस तरह के लोग कभी भगवान को पा सकते हैं ?"

माँ ने कहा था, "कौन कहता है ? छिः ! वे तो घोर पापी हैं।"

"मैंने कहा था, लोई," दादा ने कहा था। "आज साधुओं में बहस चल रही थी।"

"मुझे वही सुनाओ।" माँ ने कहा था।

पिता ने सोचते हुए दुहराया था :

"ब्रह्महि ते जग ऊपजा
कहत सयाने लोग
ताहि ब्रह्म के त्यागि बिनु
जगत न त्यागन जोग।
ब्रह्म जगत का बीज है
जो नहि ताको त्याग
जगत ब्रह्म में लीन है
कहहु कौन बैराग।
नेत नेत जेहि बेद कहि
जहाँ न मन ठहराय

मन बानी की गम नहीं
ब्रह्म कहा किन ताय।
बिन देखे वह देस की
बात कहै सो कूर
आपै खारी खात हौ
बेचत फिरत कपूर।"

"फिर ?" माँ ने पूछा।

"वे बिगड़ गए।"

माँ हँसी। कहा, "धक्का लगेगा तो कौन नहीं हिलेगा कंत। तुमने तो वेद को ही टक्कर मार दी।"

"किसी ने देखा है वह ब्रह्म ?" पिता ने कहा। "किसी ने नहीं। फिर सब कुछ उसी के लिए करने से तो काम नहीं चलेगा लोई ! यह संसार तो उसी का रूप है। इसका अच्छे रूप में चलना ही तो ब्रह्म की उपासना है।"

माँ प्रसन्न दिखाई दी। बोली, "वे अब तो तुम्हें मोही नहीं कहते ?"

उसका व्यंग्य पिता समझ गए। कहा, "तू भूली नहीं है। बलख तक गया था लोई यह कबीर। क्या-क्या कष्ट नहीं उठाए। एक बार भीख न मिली, तो साथियों, साधुओं ने ढोंग रचा। मैं तो शर्म से गड़-गड़ गया। मैंने सोचा, यह माया नहीं तो क्या है ? स्त्री को तो माया कहें और आज दूसरों को धोखा देकर पेट पालें। यह क्या पाप नहीं था !"

खाना खतम हो चुका था। माँ लोटा उठाकर भीतर कोठे में चली गई थी। मैं औंघने लगा था।

पिता गा रहे थे

"मोको कहाँ ढूंढ़त बंदे
मैं तो तेरे पास में,
ना मैं बकरी, ना मैं भेड़ी
ना मैं छुरी गँडास में
नहीं खाल में नहीं पोंछ में
ना हड्डी ना मांस में
ना मैं देवल ना मैं मसजिद
ना काबे कैलास में
ना तो कौनो क्रिया करम में
नहीं जोग बैराग में
खोजी होय तो तुरतै मिलि हौं

पल-भर की तालास में
मैं तो रहौं सहर के बाहर
मेरी पुरी मवास में
कहैं कबीर सुनो भई साधो
सब साँसों की साँस में।"

"लोई!" पिता ने पुकारा था।

"क्या है कंत!" लोई आ गई थी।

"वह तो हर जगह है लोई!"

"तुम मुझसे बार-बार यह क्यों कहते हो?"

"मैं सचाई को दुहराता हूँ।"

"लेकिन मुझे लाज आती है।"

"क्यों?"

"कहीं लोग सुनेंगे तो कहेंगे कि लोई का कबीर पर बंधन है। तभी कबीर वैराग्य छोड़ बैठा है।"

कबीर ने कहा, "वह होता तो और बात थी लोई। पर यह ही जीवन का बड़ा दर्शन है। पूर्ण है। वह तो पुरुष का दर्शन था, जो अपने को अधूरा मानकर चलता था।"

"सच कहते हो?"

"तुझे विश्वास नहीं होता?"

"मुझे विश्वास नहीं क्यों होगा कंत! मैं जानती हूँ तुम कभी झूठ से समझौता नहीं करते। मैं मानती हूँ कि नारी माया है, पर कब? उनके लिए जो भोग को ही जीवन का सब कुछ मान लेते हैं। वे तो असल में कभी प्रेम की पवित्रता को नहीं जान पाते। मैं अपढ़ हूँ, तुम्हारे साथ रहकर क्या-क्या नहीं सीख गई हूँ कंत! तुमने ही तो कहा था—

दूर वे दूर वे दूर वे दूर मति
दूर की बात तोहि बहुत भावै
अहै हज्जूर हाजीर साहबधनी
दूसरा कौन कहु काहि गावै।
छोड़ दे कल्पना दूर का धावना
राज तजि खाक मुख काहि लावै।
पेड़ के गहे ते डार पल्लव मिले
डार के गहे नहिं पेड़ पावै।
डार औ पेड़ औ फूल फल प्रगट है
मिले जब गुरु, इतनों लखावै।

सपति सुख साहबी छोड़ जोगी भए
शून्य की आस वनखंड जावै।
कहंहि कब्बीर बनखंड में क्या मिलै
दिलहि को खोज दीदार पावै।

तुमने नहीं कहा था ?"

"मैंने ही कहा था लोई। सारा देश एक पागलपन में डूब गया है। स्त्री और संतान भी अपना महत्त्व रखते हैं। जो अपने ही माध्यम से सबको सोचते हैं, मैं उन्हें ही माया में फँसा हुआ देखकर कहता हूँ कि साथ कोई कुछ नहीं ले जाता। सब यहीं रह जाता है। पर जो आदमी अपना पेट पालता है उसे क्या बीवी-बच्चों का पेट पालना नहीं चाहिए ? मैं समझ गया हूँ। साधु कहते थे कि इस संसार के धंधे में आदमी पेट का धंधा ही याद रखता है और परमात्मा को भूल जाता है। पेट के धंधे के स्वार्थ में वह अंधा होकर पाप भी करता है, अपने अपराधों में अपने आप जकड़ जाता है। मैं मानता हूँ यह सत्य है, क्योंकि आदमी का पेट मजबूर है, और आदमी पेट के लिए मजबूर है। पर आदमी की मेहनत मजबूर नहीं है। लोभ और तृष्णा को रोककर आदमी ईमान की रोटी खुद कमा कर खाए। भगवान का भजन करने वाला प्राणी, अपने पेट के लिए दूसरों के सामने हाथ क्यों फैलाए। देखती हो। भीड़ की भीड़, यह साधुता के नाम पर जो भिखमंगों की जमात चलती है, वह क्या दूसरों की मेहनत से कमाए माल को हराम में नहीं खाती ? उस अन्न का फल गृहस्थ भोगते हैं, और साधू उसे खाकर भगवान को पाते हैं। यह कैसे हो सकता है लोई ? शून्य की आशा में वनखण्ड जाने वाले भटके हुए लोग हैं। करनी का फल तो मन में है। उसके लिए तो कहीं जाना भी नहीं पड़ता लोई। सोचती हो मैं क्या कह रहा हूँ। यही लोगों को नहीं भाता, पर मैं क्या करूँ—

अवधू भूले को घर लावै
सो जन हमको भावै
घर में जोग भोग घर ही में
घर तजि बन नहिं जावै।
अनप्रापत[1] वस्तु को कहा तजे
प्रापत को तजै सो त्यागी है।
सुअसील तुरंग कहा फेरे
अफतर फेरे सो बागी है।
जगभव का गावना क्या गावै

1. अप्राप्त

अनुभव गावै सो रागी है।
वन गेह् की बासना नास करे
कब्बीर सोई बैरागी है।

वन को मुक्ति और गेह् को बंधन क्यों समझता है, यह मनुष्य है ?"

पिता की बात सुनकर मुझे लगा पिता कुछ ऐसा कह रहे थे जो अजीब था। तो क्या धर्म के नाम पर मुफ्त खाने वाले अधर्म कर रहे थे ?

वही विचार आज तक याद आता है तो एक स्फूर्ति-सी जग उठती है। धर्म को पिता धरती पर ला रहे थे। वे कह रहे थे कि धर्म के नाम पर अनाचार मत फैलाओ। संसार में प्रेम और ईमानदारी से रहना ही धर्म है।

मैंने तब नहीं समझा था कि इस बात में कितनी गहराई थी। माँ अवश्य प्रसन्नता के परे दिखाई देती थी, जैसे वह जो सुनने की आशा भी रख सकती थी। वह सब उसने सुन लिया था। उसने जीवन का नया सूक्त सुना था। वह सब जो मन में खटकता था, पर स्पष्ट नहीं होता था, पिता ने उसे तर्क के साथ स्वरूप दिया था और वह बात एक सशक्त चेतना बनकर हमारे झोंपड़े में गूंजने लगी थी··· वह गूंज आज तक उसी रूप में कानों में बाकी रह गई है, क्योंकि जब वह हटती है, तभी मुझे सूना-सूना-सा लगने लगता है, लगता है जैसे छीना-झपटी हो रही है। पिता ने आधार को पकड़ा था, ढोंग के कारण को पकड़ा था। ढोंग श्रद्धा पैदा करवाने के लिए था, श्रद्धा चमत्कारों पर पलती थी। चमत्कार ही ढोंग था, जो रोटी सुरक्षित करने के लिए किया जाता था···

पिता कहते थे—

सिहों के लेंहड़े नहीं
हंसों की नहिं पांत
लालों की नहिं बोरियाँ
साधु न चलैं जमात।
सब वन तो चंदन नहीं
सूरा का दल नाहिं
सब समुद्र मोती नहीं
यों साधू जग माँहि
साध कहावन कठिन है
लम्बा पेड़ खजूर
चढ़ै तो चाखै प्रेम रस
गिरै तो चकनाचूर
वृच्छ कबहुँ नहिं फल भखैं
नदी न संचै नीर

परमारथ के कारने
साधुन धरा सरीर

"तो क्या" मैंने पूछा था—"साधु परमारथ करने को हैं दादा ?"

"हाँ बेटा !"

"सो क्यों दादा ! तो वे भजन कब करेंगे ?"

"बेटा !" पिता ने कहा—"वे भजन करें, अपना कल्याण कर लें तो जगत को लाभ ही क्या ? और वह भजन भी क्या जो नाम और गीत में ही रहे ! दूसरों के दुःखों को भी देखने से रोक दे।"

"तो क्या दादा ! वे दूसरों के दुःख में रमकर, फिर माया में लिप्त नहीं हो जायेंगे ?"

"माया तो अपना बंधन है बेटा। दूसरे की परेशानी दूर करने को हाथ बँटाना तो माया नहीं है, माया को काटना है।"

पिता ने सोचकर कहा, "मिलने की क्या बात बेटा ! वे ही तो सब जगह हैं।"

"फिर उन्हें ढूंढ़ते क्यों हैं ?"

"जो स्वार्थ में बँध जाते हैं, वे नहीं देख पाते, वे ही मूर्खता के कारण उसे ढूंढ़ते हैं, वर्ना वह तो सब जगह है। वह ही पुण्यस्वरूप आलोक है। वह ईश्वर ही सब में है, उस ईश्वर को न पाने का कारण है कि अहंकार और मद में मनुष्य अपने संसार के व्यवहार को बिगाड़ लेता है, दूसरों को सताता है, दबाता है, उससे भगवान दूर हो जाता है, या कहो कि भगवान से अपने आपको वे दूर कर लेते हैं, क्योंकि प्रेम और समता को मिटाकर अहं और भेद को उठाते हैं और वे दोनों तभी उठते हैं जब वे सचाई और प्रेम को, स्वतन्त्रता को दबा चुकते हैं।"

पिता ने कहा था, "बेटा ! यह संसार किधर जा रहा है। साधु के नाम पर ठगई हो रही है। चारों तरफ घर छोड़कर हाथ पर हाथ धर कर खाने का यह तरीका लोगों ने खूब निकाल लिया है !"

और पिता ने अपने आप विक्षोभ भरे स्वर से गाया था। मानो अपने आपको सुना रहे थे···

"साधू भया तो क्या भया
माला पहिरी चार
बाहर भेस बनाइया
भीतर भरी भँगार
माला तिलक लगाइकै
भक्ति न आई हाथ
दाढ़ी मूँछ मुड़ाइ कै
चले दुनी के साथ।

दाढ़ी मूँछ मुँड़ाइ कै
हूआ घोटमघोट
मन को क्यों नहिं मूँड़िये
जामें भरिया खोट।
केसन कहा बिगारिया
जो मूँडौ सौ बार
मनको क्यों नहिं मूँड़िये
जामें विषै विकार।
बाँबी कूटें बावरे
साँप न मारा जाय
मूरख बाँबी ना डसै
सर्प सबन को खाय।"

माँ हँसी थी।

"क्यों हँसती है लोई?" पिता ने पूछा था।

"हँसूँगी नहीं। तुम बाहर न सुनाना इसे।"

"क्यों?"

"वे चिढ़ेंगे।"

"चिढ़ लेने दे। मैं क्या सचाई कहने से डर जाऊँगा।"

"डरने को नहीं कहती। पर देखते हो। कमाल को भी देखा है।"

"देख लोई," कबीर ने कहा, "पाप के अनेक नाम हैं। अपनी निर्बलता को छिपाने के लिए आदमी बहाने ढूंढ़ता है। वह बच्चे अगर उसकी आड़ बनते हैं तो वे ही माया के बंधन हैं। क्या यह ज़रूरी है कि मैं तुम दोनों के कारण डर-डरकर ज़िन्दगी काटूँ?"

माँ ने कहा था, "डरने को तो कमाल भी नहीं डरता कंत! क्यों रे, मैं ठीक कहती हूँ?"

मैंने रटा हुआ पद बड़े ऊँचे सुर से गाया था :

गुरु मिला न सिष मिला
लालन खेला दाँव
दोऊ बूड़े धार में
चढ़ि पाथर की नाँव।
जानंता बूझा नहीं
बूझि किया नहिं गौन
अंधे को अंधा मिला

राह बतावै कौन।
बंधे को बंधा मिलै
छूटै कौन उपाय
कर सेवा निरबंध की
पल में लेत छुड़ाय।
बात बनाई जग ठगा
मन परमोधा नाहिं
कह कबीर मन लै गया
लख चौरासी माँहि।

पिता ने सुना तो आनन्द हुआ था।

बोले, "तुझे किसने सिखाया है ?"

"माँ ने !"

"तू खुद उसे सिखाती है सो ?"

"क्यों न सिखाऊँगी ! जो पसन्द आएगा जरूर सिखाऊँगी। बेटा है तो क्या बिगाड़ने को है ! तुम तो कबीर ही हो। मेरे बेटे को कमाल होना चाहिए न ?"

"सबको दो लोई, सबको दो, चल-चलकर पहुँचाओ, रुको नहीं," पिता ने कहा था।

लोई कह उठी थी, "पर तुम ही ने तो कहा था—

नीर पियावत का फिरै
पर घर सायर बारि
तृषावंत जो होइगा
पीवैगा झख मारि।"

पिता मुस्करा दिए थे। कहा था, "वह वारि भगवान है ? वह आप ही जागता है…"

"कब ?"

"जब स्वार्थ डूबता है, सत्य उठता है…"

"स्वार्थ ! कभी क्या उसका भी अंत हो सकता है ?" मैंने पूछा था।

"जब गुरु कृपा होती है कमाल, तब सब कुछ हो जाता है।" पिता ने स्पष्ट कहा था।

"गुरु ?" मैंने पूछा—"गुरु कौन-सा है ? दादा, तुम्हारा ही कौन गुरु है ?"

"जो सिखाने योग्य है वह गुरु है," पिता ने कहा और गाया—

"गुरु सिकलीगर कीजिये
मनहिं मस्कला देय

मन की मैल छुड़ाइ के
चित दरपन करि लेय"

माँ ने कहा : "आज मेरे मन की कहते हो।"

"क्यों लोई ?" पिता ने दरयाफ़्त किया।

"मुझसे पूछते हो ? तुम नहीं जानते ?"

"मैं समझा हूँ लोई। गुरु गद्दीवाला नहीं है, गुरु तो मेहनत करने वाला है।

गुरु धोबी सिष कापड़ा
साबुन सिरजन हार
सुरत सिला पर धोइये
निकसै जोति अपार"

माँ ने मस्ती से कहा, "कंत ! मुझे नई हिम्मत मिली।"

"तूने ही एक दिन सहारा दिया था लोई।"

माँ ने कहा : "नहीं, कबीर खुद जागा था।"

पिता ने कहा : "कच्ची मिट्टी का रूप जग उठा है—

गुरु कुम्हार सिष कुम्भ है
गढ़ गढ़ काढ़ै खोट
अन्तर हाथ सहार दै
बाहर वाहै चोट"

मैंने नई परिभाषाएँ सुनीं। वे बातें सब घर के बाहर मैंने सुनाईं तो जोगी बिगड़ उठे।

गुरु !!

गुरु !! और ऐसे संसारी !!

वे उसे रूपक के तौर पर भी नहीं मानते थे।

क्यों ?

क्योंकि सहजयानी और नाथ, सूफी और शाक्त सब गुरु को एक आडम्बर बना बैठे थे। ब्राह्मणों तक पर इसका प्रभाव था।

पिता की ललकारें पथों पर गूँजने लगीं। आबाल-वृद्ध सुनते। उनमें विद्रोह-सा जाग उठता। पिता के शब्द पुराने विश्वासों को झकझोर उठते। नये भावों के सिंह अंधकारमयी दिमागी गुफाओं में भूखे से गरजने लगते और बाहर आकर रूढ़ियों के शिकार करने को व्याकुल हो उठते। एक बार पिता ने जोगियों के अखाड़े में जाकर ठट्ठा मचा दिया। वे गा उठे—

"ऐसा जोग न देखा भाई।
भूला फिरै लिये गफिलाई।

महादेव का पंथ चलावै।
ऐसो बड़ो महंत कहावै।
हाट बाट में लावै नारी।
कच्चे सिद्धन माया प्यारी।
कब दत्ते[1] मावासी[2] तोरी।
कब सुकदेव तोपची जोरी।
कब नारद बंदूक चलाया
व्यासदेव कब बंब बजाया।
करहिं लड़ाई मति के मंदा।
ई हैं अतिथि कि तरकस बंदा।
भए विरक्त लोभ मन ठाना।
सोना पहिरि लजावैं बाना।
घोरा घोरी कीन्ह बटोरा।
गाँव पाय जस चले करोरा।"

जोगी लड़ाई के लिए प्रजा को उकसा रहे थे। उन्होंने चमत्कार दिखाने की चेष्टा की। पिता ने उसे भी काट दिया। बोल उठे—

"आसन उड़ए कौन बड़ाई।
जैसे काग चील्ह मँड़राई।
जैसी भिस्त तैसी है नारी।
राजपाट सब गिनै उजारी।
जैसे नरक तस चंदन माना।
जस बाउर तस रहै सयाना।
लपसी लौंगगनै एक सारा।
खाँड़ै परिहरि फाँकै छारा।"

नारी के लिए बहिश्त का प्रयोग उन नारी विरोधियों में धधक उठा। उनके मार्ग को पिता ने विनाश का मार्ग कहा। उनको पिता ने बुद्धिहीन कह दिया।

काशी में बवंडर उठने के-से आसार दिखाई देने लगे।

भंग घोटते, सुलफ़ा पीते जोगी और मुफ़्तखोरे साधु अपने चिमटे बजाने लगे। वे क्रुद्ध थे। पर कबीर फक्कड़ था, अक्खड़ था—निडर था, निर्द्वन्द्व···भीड़ें उसे देखकर विह्वल हो जाती थीं।

सारी काशी उसकी बात सुनकर झूमती थी, परन्तु मुल्ला और पंडित नहीं

1. दत्तात्रेय, 2. मस्जिद

सुनते। उनके मुख पर एक घृणा थी। यह जुलाहा! नीच! धर्म और मजहब के विरुद्ध बोलता है! पिता ने भरी सड़क पर भीड़ में गाया :

"ऐसो भरम बिगुरपन[1] भारी
बेद किताब दीन औ दोजख
को पुरुषा को नारी।
माटी के घर साज बनाया
नादे बिंदु समाना[2]
घन बिनसे[3] क्या नाम धरहुगे
अहमक खोज भुलाना।
एकै हाड़ त्वचा मलमूत्रा
रुधिर गुदा एक मुद्रा।
एक बिंदु[4] ते सृष्टि रच्यो है
को ब्राह्मण को शुद्रा।
रजगुण ब्रह्म तमोगुण शंकर
सतोगुणी हरि सोई।
कहै कबीर राम रमि रहिया
हिंदू तुरक न कोई।"

पथ पर लोगों में हलचल मच गई।

पण्डित चिल्लाया, "पापी है।"

मुल्ला चिल्लाया, "काफिर भी नहीं, दोजख का रास्ता है।"

और जुलाहों में आवेश का झंडा फहराने लगा।

कबीर ने आदिनाद किया था।

उसने गर्जन किया था कि इस देश में कोई हिंदू और कोई मुसलमान नहीं। उसने पुराने अहंकार और नये अहंकार, दोनों को समान रूप से खंडित किया था।

उसने कहा था, "मनुष्य मनुष्य है।"

सब मनुष्य समान हैं।

उसने कहा था, "यह देश अपना है। हम विदेशियों के रंग में रँगेंगे नहीं, क्योंकि वे इस्लाम के नाम पर भटके हुए हैं।"

उसने कहा था, "यह देश कुलीन उच्च वर्णों की संस्कृति का ही नहीं है, जिसे

1. भ्रमजाल, 2. शब्द ब्रह्म और बिंदु
3. शरीर विनष्ट होने पर, 4. वीर्य्य

ही सब कुछ मान लिया जाए, जिसके अन्याय और पाप को देशभक्ति और धर्म संस्कृति के नाम पर बचाया जाए। उसने तो एक नये मनुष्य के लिए नई ज़मीन तैयार करने की कोशिश की थी। जहाँ विदेशी का अहंकार और अत्याचार न हो, जहाँ उच्चवर्णों का असाम्य और दंभ न हो। जहाँ मनुष्य के रूप में नीच माने जाने वाले उठें।"

उसने संस्कृति का नया रूप माँगा था। वह जागरण का स्वर था, जो वर्णों और सम्प्रदायों में से मनुष्य को मुक्त करना चाहता था। तभी उसने गाया था—

"राम के नाम ते पिंड ब्रह्माण्ड सब
राम का नाम सुनि भरम मानी
निरगुन निरंकार के पार परब्रह्म है
तासु को नाम रंकार जानी।
विष्णु पूजा करै ध्यान शंकर धरै
मनहिं सुविरंच बहु विविध बानी।
कहै कबीर कोउ पार पावै नहीं
राम को नाम है अकह कहानी।"

उसने कहा था, "ब्रह्म तो अकह है। उसे कोई नहीं जानता।"

अपनी संस्कृति के नाम पर जो उच्चवर्ण हम नीच वर्णों पर अत्याचार करते थे, वह सचमुच उच्चवर्णों की ही तो स्वार्थ-साधिका थी। उस संस्कृति के उसी रूप की रक्षा से हमें क्या लाभ था।

और वह कबीर ही था जो उच्चवर्णों का विरोध करते समय यह नहीं भूला कि इस्लाम भी मुक्ति का रास्ता न था। वह वर्ण-भेद नहीं मानता था, पर ग़रीब को वहाँ भी सुख न था। वह विदेशियों के सामने पराजित नहीं हुआ। उसने बताया कि इन दो के अतिरिक्त एक सत्य और था।

वह सत्य था जनता का।

मनुष्य का।

अपराजित मनुष्य का।

जो पिस रहा था, पर कबीर की फौलादी आवाज़ ने उच्चवर्णों की रूढ़ियों की दीवारों और विदेशियों की उठी हुई तलवारों को विभ्रांत कर दिया।

काशी के सिकलीगर, मनिहार, और निम्न जाति के लोग उठने लगे।

कबीर की पुकार जनता की रोटी के साथ बढ़ने लगी और फिर गजब हुआ। वे नीच जातियाँ जो इस्लाम के अधिकारों की चकमक में मुसलमान हो गई थीं, उन्होंने अपनी पुरानी सत्ता को पहचाना, उन्होंने स्वीकार किया वे बिक गई थीं, और फिर वे जातियाँ कबीर के झंडे के नीचे आने लगीं। कबीर घर-घर में नई चेतना फैलाता रहा।

काशी उस समय भारत का हृदय थी। वहाँ सब धर्म अपने-अपने मठ लिए बैठे थे।

केवल कबीर के पास कुछ नहीं था, केवल शब्द था, वह उसी शब्द को अपना ब्रह्म कहा करता था···

उसके उपहास बढ़ने लगे :

वेद किताब सुमृत नहिं संयम
नाहिं यमन परसाही
बाँग निवाज नहीं तब कमला
रामौ नहीं खोदा[1] ही।
आदि अंत सन मध्य न होते
आतश पवन न पानी
लख चौरासी जीव जंतु नहिं
साखी शब्द न बानी।
कहहिं कबीर सुनो हो अवधू
आने करहु विचारा।
पूरन ब्रह्म कहाँ ते प्रगटे
किरतम[2] किन उपचारा।
अविगति की गति क्या कहों
जाके गाँव न ठाऊँ।
गुणों विहीना पेखना[3]
का कहि लीजे नाऊँ।

उसने पुकारा था—

वेद स्मृति शाश्वत ज्ञान नहीं है।

नमाज भी अंत नहीं है।

कबीर ने पूछा, "इनके पहले क्या था ?"

उसने पूछा, "इनके आगे क्या है ?"

"तुम नहीं जानते," उसने कहा, "कोई नहीं जानता।" फिर जब कोई नहीं जानता, तो उसका नाम क्यों धरते हो ? उसका नाम लेकर क्यों लड़ते हो ? वह तो तुम्हारी सीमाओं में आने वाला नहीं है ? तुमने किस संबल से उसका नाम धर दिया ?"

1. खुदा, 2. कृत्रिम, 3. देखना

मैंने कहा था, "दादा ! तुम ब्रह्म को नहीं मानते ?"

पिता ने कहा था, "बेटा ! मैं मानता हूँ पर सब चलते देखता हूँ इसी से मानता हूँ। पर वह निस्संदेह वह नहीं है जो ये लोग कहते हैं।"

"क्यों ?"

"क्योंकि इनकी परमात्मा की कल्पनाएँ इनके अपने स्वार्थों के साथ लगी हैं। इनका परमात्मा एक रूढ़ि है, ये लीक पीटते हैं, जानता है क्यों ?"

"क्यों भला ?"

क्योंकि इनका परमात्मा ही इनके पेट भरने का साधन है।"

"तुम भी तो कहते हो वही परमात्मा सबका पेट भरता है ?"

पिता ने कहा था, "ठीक है बेटा भरता है; पर क्या वह एक का भरकर दूसरे का पेट काटता है ?"

मैं अवाक् रह गया था। पिता ने काशी के भरे बाजार में घोषणा की थी—

"संतों आवै जाय सो माया
है प्रतिपाल काल नहिं वाके
ना कहुँ गया न आया।
क्या मकसूद मच्छ कछ होना
शंखासुर न सँघारा
अहै दयालु द्रोह नहिं वाके
कहहु कौन को मारा।
वे कर्त्ता न बराह कहावैं
धरणि धरैं नहिं भारा
ई सब काम साहेब के नाहीं
झूठ गहै संसारा।
खंभ फारि जो बाहिर होई
ताहि पतिज सब कोई
हिरनाकुस नख उदर बिदारे
सो नहिं कर्ता होई।
बावन रूप न बलि की जाँचै
जो जाँचैं सो माया
बिना विवेक सकल जग जँहड़े[1]
माया जग भरमाया।
परशुराम छत्री नहिं मारा

1. जकड़ दिया

ई छल माया कीन्हा
सत गुरु भक्ति भेद नहि जानैं
जीव अमिथ्या दीन्हा
सिरजनहार न ब्याही सीता
जल पखान नहि बंधा
वे रघुनाथ एक कै सुमिरैं
जो सुमिरैं सो अंधा।
गोप ग्वाल गोकुल नहि आए
करते[1] कंस न मारा
मेहरबान है सबका साहब
नहि जीता नहि हारा।
वे कर्त्ता नहि बौध[2] कहावैं
नहीं असुर को मारा
ज्ञानहीन कर्त्ता सब भरमे
माया जग संहारा।
वे कर्त्ता नहि भए कलंकी
नहीं कलिगहि मारा
ई छल बल सब मायै कीन्हा
जतिन सतिन सब हारा।
दस अवतार, ईश्वरी माया
कर्त्ता कै जिन पूजा
कहै कबीर सुनो हो संतो
उपज खपै सो दूजा।"

मैं स्वयं आतंकित हो उठा था। यह मैं क्या सुन रहा था ! यह कौन-सी आवाज़ थी। उसने पहचान लिया था कि निश्चय ही दलितों और अछूतों और

1. कर्त्ता

2. बुद्ध : कबीर के समय में बुद्ध को असुरों का नायक कहते थे। नानक ने भी ऐसा ही कहा था।

तब तक बौद्ध समाप्त हो चुके थे। बुद्ध को भारत में ब्राह्मणों ने पूज्य मान लिया था। बुद्ध ने ईश्वर और वेद विरोध किया था। इस बात को यों ढँका गया—भगवान ने बुद्ध को कर्मकाण्ड की हिंसा की अति रोकने को भेजा था। असुर वेद को नष्ट करना चाहते थे। बुद्ध ने कहा : वेद है ही नहीं, ईश्वर है ही नहीं। इस प्रकार बुद्ध ने असुरों को भ्रम में डाल दिया और उनका संहार कर दिया।

गरीबों का वही देवता नहीं हो सकता, जो उच्च वर्णों और ऊँचों का हो। पहले पिता राम को मानते थे। फिर उन्होंने अवतार का खंडन किया।

मैंने पूछा, "दादा ! यह क्यों हुआ ? तुम तो इसे मानते थे न ?"

"मानता था।" पिता ने कहा, "परंतु तब मैं इस देश के सब धर्मों को एक करना चाहता था। इस्लाम की गोदी में अनेक नीच जातियाँ ब्राह्मणों की कट्टरता से चली गई हैं। परंतु मैं ब्राह्मण धर्म और इस्लाम दोनों को ही अमीरों और उच्चकुलों का धर्म मानता हूँ। हम गरीबों के तो ये दोनों धर्म नहीं हैं।"

"तो क्या जोग है ?"

"जोगी असामाजिक लोग हैं, वे औरों के बल पर पेट पालते हैं। वे संसार के बोझ हैं। गुरु गोरखनाथ महान थे, पर उनके चेले नहीं हैं। गुरु गोरख ने वामारग को मारा था, चेले अनेक तरीके निकालकर उसी में चले गए हैं।"

"तो फिर तुम क्या चाहते हो ?"

"नया रास्ता"

मैंने देखा, उस समय पिता के मुख पर मनुष्य के भविष्य के विषय में चिंतन करते हुए अखंड विश्वास था।

"वह रास्ता कौन-सा देवता मानता है दादा ?"

"देवता !" दादा ने कहा, "मैं कैसे बताऊँ कमाल ! मैं नहीं जानता। वह सब करता है पर उसे कोई बता कैसे सकता है ! वह निश्चय उन रूढ़ियों और सीमाओं में बँधा नहीं है, जैसा ये लोग कहते हैं।" वे गाने लगे थे—

"तेहि साहब के लागो साथा
दुइ दुख मेटि के होहु सनाथा
दशरथ कुल अवतरि नहिं आया
नहिं लंका के राय सताया।
नहिं देवकि के गर्भहिं आया
नहीं यशोदा गोद खिलाया।
पृथ्वी रमन दमन नहिं करिया
बैठि पताल नहीं बलि छलिया।
नहिं बलिराम सों माँड़ी रारी
नहिं हिरनाकुस बधल पछारी
रूप बराह धरणि नहिं धरिया
छत्री मारि निछत्रि न करिया।
नहिं गोबर्धन कर पर धरिया
नहीं ग्वाल सँग बन बन फिरिया
गंडक शालग्राम न शीला

मत्स्य कच्छ हूँ नहिं जलहीला।
द्वारावती शरीर न छाँड़ा
लै जगनाथ पिंड नहिं गाड़ा।
कहहिं कबीर पुकारि कै
वा पंथे मत भूलि।
जेहि राखे अनुमान करि
थूल नहीं असथूल।"

मैं समझा।

पिता ने कहा, "अगर इस्लाम से लड़ना है तो अवतार अच्छे हैं, ब्राह्मण धर्म है। पर क्या इस्लाम और ब्राह्मण धर्म के अलावा आदमी के लिए कोई रास्ता नहीं है जिसमें घृणा, भेद, ऊँच, नीच न हो। लेकिन प्रजा नहीं समझती। वह इन्हीं के बंधनों में है। दुनिया से रोज की बुराई का दूर होना ही माया का हटकर भगवान का प्रकट होना है। लोग हिंदू संस्कृति की बात करते हैं, पर संस्कृति क्या वर्णों में बँधी है। हम दीन क्या कुछ नहीं हैं ?"

पिता चिंता में डूब गए थे।

मैंने पूछा था, "दादा ! नया धर्म कैसा होगा ?"

"बेटा, वह रूढ़ि नहीं होगा।" पिता ने कहा और वे मग्न होकर गा उठे—

"साधु साधु सब एक हैं
ज्यों पोस्ते का खेत
कोई विवेकी लाल है
नहीं सेत का सेत।
जाति न पूछो साध की
पूछ लीजिए ज्ञान
मोल करो तलवार का
पड़ा रहन दो म्यान।
साधू भूखा भाव का
धन का भूखा नाहिं
धन का भूखा जो फिरै
सो तो साधू नाहिं।
बिना वसीले चाकरी
बिना बुद्धि की देह
बिना ज्ञान का जोगना
फिरै लगाये खेह।

और मैंने देखा पिता हाथ की कमाई पर कितना ज़ोर देते थे। अब मैंने देखा

है कि दक्षिण के लिंगायत भी कायिक पर बड़ा जोर देते हैं। पिता को मुफ्तखोरों से चिढ़ थी।

मुझे इस एक बात में सब धर्मों के व्यवहार की जड़ कटती हुई दिखाई दी।

पिता पहले सगुण मानते थे।

फिर वे रहस्य की ओर झुके।

रहस्य ने शून्य पर पहुँचाया।

शून्य ने साधू बनाया।

साधू बनकर भीख माँगनी पड़ी तो घृणा हो गई।

पेट के लिए इज्जत ने पुकारा।

इज्ज़त ने कहा—मेहनत कर।

मेहनत ने ईमान की ओर भेजा।

ईमान ने उन्हें ठोस तार्किक बना दिया।

संसार में पहले ज़िंदगी की ज़िम्मेदारियाँ ही माया मानी जाती थीं। पिता ने उन ज़िम्मेदारियों में दूसरे को दुःख देने और गले काटने वाली बात को माया कहा।

सगुण वे मानते नहीं थे, क्योंकि सगुण की आड़ में मनुष्य रूढ़ियों को मानता था। ब्राह्मण ढोंग फैलाते थे।

निर्गुण को वे नहीं मानते थे, क्योंकि उसे किसी प्रकार कोई समझा नहीं सका था।

हिंसा से उन्हें बड़ी घृणा थी। तभी कहा था—

"बकरी पाती खात है
ताकी काढ़ी खाल
जो बकरी को खात है
ताको कौन हवाल।
दिन को रोजा रहत है
रात हनत हैं गाय
यह तो खून वह बंदगी
कहु क्यों खुसी खुदाय।
खुस खाना है खीचरी
माहि परा टुक नौन
माँस पराया खाय कर
गरा कटावै कौन।"

मुसलमान शासक थे। जब उन्होंने सुना तो उन्हें क्रोध हो आया.

मुल्ला रहमान अपने मुरीदों के साथ आए।

"कहाँ है वह जुलाहा ?" वे पुकार उठे।

हम तब चबूतरे पर बैठे थे। पिता ने खड़े होकर कहा, "आएँ। विराजें। हम पवित्र हुए।"

मुल्ला जी शान्त हुए।

कहा, "सुना है तुम मुसलमानों के खिलाफ लोगों को भड़का रहे हो।"

"नहीं मुल्ला साहेब !" पिता ने कहा—"मैं किसी से जलता नहीं।"

मुल्ला जी ने अपने मुरीदों की ओर देखा। जैसे अब कहो।

एक मुरीद ने कहा, "नहीं साहेब ! यह जुलाहा कहता था कि रोजा रखने वाला गाय खाता है। यह क्या हिंदू वाली बात नहीं है ?"

"तुमने कहा था ?" मुल्ला ने पूछा।

पिता मुस्कराये। कहा, "तो किसी बेकुसूर जानवर की जान की हिफ़ाजत करना आदमी को हिन्दू बना देना है ?"

"लेकिन हिंदू गाय को नहीं खाते।" मुल्ला जी ने कहा।

"न खायें।" पिता ने कहा—"वे दूसरे मांस खाते हैं।"

"तो तुम वैश्नौं हो ?" मुल्ला जी ने कहा।

"नहीं।"

"क्या हो ?"

पिता चुप रहे।

मुल्ला जी ने फिर पूछा। पिता ने कहा—

"ऐसा लो तत ऐसा लो,
मैं केहि विधि कहौं गँभीरा लो।
बाहर कहौं तो सतगुरु लाजै
भीतर कहौं तो झूँठा लो।
बाहर भीतर सकल निरंतर
गुरु परतापै दीठा लो।"

मुल्ला जी समझे नहीं। कहा, "तो तू अल्लाह को भी नहीं मानता। बोध है ?"

"नहीं।" पिता ने कहा।

"फिर ?"

"मैं नहीं कह सकता," पिता कह उठे—

एकै काल सकल संसारा
एक नाम है जगत पियारा।
तिया पुरुष कछु कथो न जाई
सर्व रूप जग रहा समाई।

"मुझे स्त्री पुरुष सबमें वही दिखाई देता है, पर वह स्त्री नहीं है, पुरुष नहीं है, वह निराकार नहीं है, साकार में सीमित नहीं है।"

मुल्ला जी विक्षुब्ध हो उठे। बोले—"तू कुछ नहीं मानता ?"

"मैं सब मानता हूँ," पिता ने कहा।

"तो उसे समझा नहीं सकता।"

"आदमी की अकल ही कितनी मुल्ला साहेब ! आदमी की पहुँच ही कितनी ! वह तो उतना ही जानता है जिसकी कल्पना कर सकता है—

अवधू छोड़हु मन विस्तारा।
सो पद गहो जाहि ते सद्गति
पारब्रह्म ते न्यारा।
नहीं महादेव नहीं महम्मद
हरि हजरत सब नाँहीं
आदम ब्रह्म नाहि तब होते
नहीं धूप नहि छाँही।
असी[1] सहस्र पैगम्बर नाहीं
सहस अठासी मूनी[2]
चंद्र सूर्य्य तारागन नाहीं
मच्छ कच्छ नहि दूनीं।"

"क्या बकता है ?" मुल्ला जी गरजे।

पिता ने कहा : "मैं सच कहता हूँ मुल्ला साहब ! आप ही बतायें—

पेटहुँ काहु न बेद पढ़ाया
सुनति कराय तुरक नहि आया,
नारी गोचित गर्भ प्रसूती
स्वाँग धरै बहुतै करतूती।
तहिया हम तुम एकै लोहू
एकै प्राण बियायल मोहूँ।"

मुल्ला जी क्रोध से उठ खड़े हुए। बोले, "सुना तुम सबने ! काजी जी के पास चलो। यह अपने को न हिंदू कहता है, न बौध, पर मुसलमानों की बुराई करता है।"

"मजाल तो देखिए आका !" एक मुरीद ने दाद दी : "ये सब काफ़िर हैं।"

मुल्ला जी ने पलटकर कहा, "जुलाहे ! तू आग में हाथ डाल रहा है।"

"कैसे मुल्ला साहब ?" पिता शान्त थे।

---

1. अस्सी, 2. मुनि।

"बता।" मुल्ला चिल्लाया, "तू कौन मजहब मानता है?"

"पिता उठे। उन्नत ललाट उन्होंने हाथ उठाकर पुकारा—

"ना मैं धरमी, नाहिं अधरमी
ना मैं जती, न कामी हो।
ना मैं कहता, ना मैं सुनता
ना मैं सेवक, स्वामी हो।
ना मैं बंधा, ना मैं मुक्ता
न निरबंध सरबंगी हो।
ना काहू से न्यारा हूआ
ना काहू को संगी हो।
ना हम नरक लोक को जाते
ना हम सरग सिधारे हो।
सब ही कर्म हमारा कीया
हम कर्मन ते न्यारे हो।"

कोई नहीं समझा।

एक जोगी जो मुसलमान हो गया था बोला, "सुन्न को मानने वाला लगता है।"

पिता ने कहा, "नहीं। वह सुन्न अगर मुझे बाँधता है तो मैं बंधने को तैयार नहीं हूँ। मेरे लिए सब बराबर हैं। मैं किसी भेदभाव को नहीं मानता—

आपुहि करता भे करतारा।
बहु विधि बासन गढ़ै कुम्हारा॥
बिधना सबै कीन यक ठाऊँ।
अनिक जनत कै बनक बनाऊँ॥
जठर अग्नि महँ दिय परजाली।
तामें आप भये प्रतिपाली॥
साँची बात कहौं मैं अपनी।
भया दिवाना और कि सपनी॥
गुप्त प्रकट है एकै मुद्रा।
काको कहिए, ब्राह्मन सुद्रा॥
झूठ गरब भूलै मति कोई।
हिंदू तुरुक झूठ कुल दोई॥

"झूठ!" मुल्ला गरजा।

"हिन्दू भी?" कोई चिल्लाया।

"नास्तिक है।"

"अरे नीच जुलाहा है।"

पिता ने कहा, "तुम भूले हुए हो। अगर तुम सचमुच भगवान के बनाए अलग-अलग हो, अगर हिन्दू और मुसलमान जन्म से अलग हों तो मैं झूठा हूँ। बोलो—

जो तोहि कर्त्ता वही विचारा
जन्मत तीन दण्ड अनुसारा
जन्मत शुद्र भए पुनि शूद्रा
कृत्रिम जनेऊ घालि जगदुंद्रा।
जो ब्राह्मन बाम्हनि जाए
और राह तुम काहे न आए ?
जो तू तुरक तुरकिनी जाया[1]
पेटै काहे न सुनति कराया ?
कारी पीरी दूहौ[2] गाई[3]
ताकर[4] दूध देहु बिलगाई[5]।

यह ऐसी भयानक बात थी जिसको इन स्पष्ट शब्दों में सुनने की वहाँ किसीमें भी ताव नहीं थी। सीधी चोट थी। लेकिन वह इन्सान की पुकार थी, वह जो न उच्चवर्णों से दबी थी, न इस्लाम के खड्ग से।

पिता ने जोर से हाँक लगाई—

"दुइ जगदीश कहाँ ते आए
कहु कौनै भरमाया
अल्ला राम करिम केशव हरि
हजरत नाम धराया।
गहना एक कनक ते गहना
तामैं भाव न दूजा
कहन सुनन को दुई कर घाते
एक नेवाज एक पूजा।
वही महादेव वही मुहम्मद
ब्रह्मा आदम कहिए
कोई हिन्दू कोई तुरक कहावैं
एक जमीं पर रहिये।
बेद किताब पढ़ै वे कुतबा
वे मौलाना वे पाण्डे
बिगत बिगत कै नाम धरायौ
एक माटी के भाँड़े।

1. पैदा किया हुआ, 2. दुहो, 3. गाय, 4. उसका, 5. मथन कर दो।

कहु कबीर ते दोनों भूले
रामहुँ किनहु न पाया,
वे खसिया[1], वे गाय कटापें
वादें[2] जनम गँवाया।"

पिता ने कहा था, "एक ज़मीन पर रहना है।"

ज़मीन !

ज़मीन !!!

मेरे कानों में गूँजने लगा।

समता किसकी !!

धरती की !

क्यों ?

क्योंकि कोई भेद नहीं लगता।

ये वाद आपसी स्वार्थों के झगड़े हैं।

पिता को मुसलमान विदेशी लगकर भी घृणित नहीं थे। वे उन्हें भी रूढ़ियों में जकड़ा देखते थे। इस्लाम की बराबरी की पुकार की असलियत, ऊँच-नीच का व्यवहार वे खूब समझते थे।

और पिता ने जो मुल्ला साहब से कहा था उससे मिलता-जुलतौ ही उन्होंने फिसलते पंडितों से भी कहा था :

पंडित देखो हृदय बिचारी
कौन पुरुष को नारी।
सहज समाना घट-घट बोलै
वाको चरित अनूपा
वाको नाम कहा कहि लीजै
ना ओहि बरन न रूपा।
वेद पुरान कुरान कितेबा
नाहा भाँति बखानी
हिन्दू तुरुक जैन औ' जोगी
एकल काहु न जानी।
छ दरसन[3] में जो परवाना[4]
तासु नाम मनमाना

1. बकरा, 2. वादें : वाद विवाद में, 3. षट् दर्शन, 4. प्रमाण

कहु कबीर हम ही हैं बौरे[1]
ई सब खलक[2] सयाना।

उन्होंने स्पष्ट कहा था कि कोई भी भगवान को नहीं जानता। सब भगवान की आड़ में पाप कमाते हैं। उन्होंने व्यंग्य से कहा भी था कि यह सब जहान सयाना है, केवल कबीर ही पागल हो गया है। वे यह न कहते तो कहते भी क्या? कोई विश्वास ही नहीं करता था।

वह रात की बेला थी। पिता ने गाया था :

जल बिच मीन पियासी
मोहि देखि देखि आवै हाँसी।

और सचमुच वे हँस उठे थे।

"क्या हुआ?" मैंने पूछा था।

"बेटा, मुझे रोना आता है।"

"पर तुम हँसते हो?"

"और मैं करूँ भी क्या?"

"क्यों?"

"देखता है यह संसार कितना भटका हुआ है। सारे जहान में भगवान है। सृष्टि ही एक आश्चर्य है। उस आश्चर्य की सीमाएँ बाँधकर यह लड़ता है और अपनी सीमित बुद्धि को ही सब कुछ कहने लगता है।"

दूसरे दिन उधर अज़ान की पुकार सुनाई पड़ी, इधर पिता ने सड़क पर तान छेड़ी—

"ना जानें तेरा साहेब कैसा।
मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै
क्या साहेब तेरा बहिरा है।
चिउँटी के पग नेवर बाजै
सो भी साहेब सुनता है।
पण्डित होय के आसन मारै
लँबी माला जपता है
अन्तर तेरे कपट कतरनी
सो भी साहब लखता है।
ऊँचा नीचा महल बनाया
गहरी नींव जमाता है।
चलने का मनसूबा नाहीं

1. पागल, 2. संसार

रहने को मन करता है।
कौड़ी कौड़ी माया जोड़ी
गाड़ि ज़मीं में धरता है।
जेहि लहना है सो लै जैहै
पापी बहि बहि मरता है।
सतवंती को गजी मिलै नहिं
वेश्या पहिरे खासा है
जेहि घर साधू भीख न पावै
भड़ुआ खात बतासा है।"

लोग इकट्ठे होने लगे थे।

पंडित, मुल्ला, जोगी, जैनी, सब ही असंतुष्ट थे। पर दलित जनता प्रसन्न थी।

कबीर ने कहा था, "तुम धरम के नाम पर वेश्या को नचाते हो और वह स्त्री जो सती साध्वी है उसे पेट भरने को भी नहीं मिलता। एक ओर स्त्री से खिलवाड़ करके तुम स्त्री के गौरव को घटा रहे हो। जो जीवन को पवित्रता से बिताते हैं उन्हें सहायता नहीं देते, भीख तक नहीं देते, भड़ुओं को बतासा खिलाते हो। धन जोड़ते हो, वही तो माया है।"

परन्तु उच्च वर्गों ने नहीं सुना।

वे सब अलग-अलग गिरोह बंदी करके पिता की हत्या की योजना करने लगे।

मैं पिता को घर ले आया।

"लोई," पिता ने कहा—"कमाल घबराता है।"

माँ ने मुस्कराकर कहा—"मेरा बेटा डरना क्या जाने कंत! वह पीछे नहीं रहेगा।"

दूसरे दिन तो वे सोचते रहे, पर तीसरे दिन दुपहर ढले वे बाजार में गाने लगे—

"अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दू अपनी करै बड़ाई
गागर छुवन न देई।
वेस्या के पायन तर सोवै
यह देखो हिन्दुआई।
मुसलमान के पीर औलिया
मुरगी मुरगा खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहैं

घरहि में करैं सगाई।
बाहर से इक मुर्दा लाए
धोय धाय चढ़वाई।
सब सखियाँ मिलि जेंवन बैठीं
घर भर करै बड़ाई।
हिन्दुन की हिन्दुआई देखी
तुरकन की तुरकाई।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो
कौन राह ह्वै जाई।

जुलाहे ठट्ठा करके हिन्दुओं और मुसलमानों को चिढ़ाने लगे।

एक पंडित आगे आया। उसने कहा, "कबीर, मुझे जवाब दे।"

पिता ने मुड़कर देखा।

"मैं पूछता हूँ तू मुसलमानों का गुप्त प्रचार कर रहा है? तभी तू छूत मिटाना चाहता है?"

पिता ने कहा, "नहीं पंडित जी! मैं उनकी तारीफ नहीं करता। मुझे तो दोनों ही में खोट दिखाई देता है।"

"खोट दीखता है तो तू अपना मार्ग बता।"

"मारग एक नहीं हो सकता बाबा। मार्ग की लकीर न खींचो, न उसे पीटो।"

"तो मरजाद क्या रहेगी?"

"आदमियत।"

"वह क्या है?"

"किसी को दुःख न देना।"

"पर वह तो कहने की बात है कबीर, करने में कभी न आई है न आएगी।"

पिता ने आँखें उठाकर दूर देखते हुए कहा, "वह दिन भी आएगा बाबा, वह दिन भी आएगा।"

"आएगा तब आएगा, अभी तो धरम रख।"

कुछ मुसलमान इस चर्चा से खुश थे।

एक ने कहा, "कबीर, तू मुसलमान हो जा।"

"होऊँगा," पिता ने कहा—"पर पहले मुझे यह समझाओ—

दर की बात कहो दरवेसा
बादसाह है कौने भेसा,
कहाँ कूच कहँ करे मुकामा
कौन सुरति को करौं सलामा।

मैं तोहि पूछौं मुसलमाना
लाल जरद का ताना बाना।
काजी काज करो तुम कैसा
घर घर जबै करावौ बैसा।
बकरी मुरगी किन फुरमाया[1]
किसके हुकुम तुम छुरी चलाया।
दरद न जाने पीर कहावै
बैता[2] पढ़ि पढ़ि जग समुझावै।
कह कबीर एक सय्यद कहावै
आप सरीखा जग कबुलावै।"

हिन्दू चिल्लाये, "जो हो कबीर अपना ही है।"

कबीर ने चिल्लाकर कहा, "नहीं, मैं किसी का नहीं हूँ। मैं किसी का नहीं हूँ।"

वे चिल्लाए, "तू कौन है ?"

"मैं आदमी हूँ।"

"तू भगवान मानता है ?"

"मानता हूँ।"

"वह क्या है ?"

"मैं नहीं जानता, न तुम जानते हो। तुममें से कोई नहीं जानता, सब झूठ कहते हो।"

पिता का स्वर दृढ़ था। उन्होंने कहा, "बता सकते हो, उसे बता सकते हो ?"

उस स्वर को सुनकर कोई नहीं बोला।

पिता ने फिर कहा, "वह अगम है और इसलिए हमारी सीमित बुद्धि से परे है। उसके नाम पर तुम लड़ते हो। तुम दोनों ही सचाई से बहुत दूर हो। तुम पागल हो। तुम सच्चाई को सह नहीं सकते। तुम पागल हो गए हो। तुमने अपनी बुद्धि को बाँध लिया है।"

और पिता ने सुनाया—

"संतो देखउ जग बौराना।
साँच कहो तो मारन धावै
झूठे जग पतियाना।
नेमी देखे धरमी देखे
प्रात करहिं असनाना

---

1. बनाए, 2. छन्द

आतम मारि पषाणहिं पूजैं
उनमें कछू न ज्ञाना।
बहुतक देखे पीर औलिया
पढ़ें किताब कुराना
कै मुरीद तदबीर बतावै
उनमें उहै गियाना।
आसन मारि डिभ[1] धरि बैठे
मन में बहुत गुमाना।
पीतर पाथर पूजन लागे
तीरथ गरब भुलाना।
माला पहिरे टोपी दीन्हें
छाप तिलक अनुमाना
साखी सबदै गावत भूले
आतम खबरि न जाना।
कह हिन्दू मोंहि राम पिआरा
तुरुक कहै रहिमाना
आपस में दोउ लरि लरि मूए
मरम न काहू जाना।"

मैंने बढ़कर कहा, "पर दादा! तुम्हें समझाना होगा। वह भगवान क्या?"
पिता ने कहा, "तो सुन कमाल—

"बाबा अगम अगोचर कैसा
ताते कहि समुझाओं ऐसा।
जो दीसै सो तो है नाहीं,
है सो कहा न जाई।
सैना बैना कहि समझाओं
गूंगे का गुड़ भाई।
दृष्टि न दीसै, मुष्टि न आवै
बिनसे नाहिं नियारा
ऐसा ज्ञान कथा गुरु मेरे
पण्डित करो बिचारा।
बिन देखे परतीति न आवै
कहे न कोउ पतियाना

1. पाखण्ड

समुझा होय सो सब्दै चीन्है
अचरज होय अयाना।
कोई ध्यावै निराकर को
कोई ध्यावै साकारा
वह तो इन दोऊ ते न्यारा
जानै जाननहारा।
काजी कथै कतेब कुराना
पण्डित वेद पुराना
वह अच्छर तो लखा न जाई
मात्रा लगै न काना।[1]
नादी बादी पढ़ना गुनना
बहु चतुराई मीना[2]
कहु कबीर सो पड़ै न परलय
नाम भक्ति जिन चीना[3]।"

और फिर जब भीड़ नहीं समझ सकी तो कबीर ने फिर सुनाया :

"मेरा भगवान राम है भाइयो। पर वह हिन्दुओं का राम नहीं है। वह तो सबसे अलग है।"

वे विभोर से गा उठे—

"रामगुण न्यारो न्यारो न्यारो,
अबुझा लोग कहाँ लौं बूझैं
बूझनहार बिचारो।
केते रामचन्द्र तपसी से
जिन जग यह बिरमाया
केते कान्ह भए मुरलीधर
तिन भी अन्त न आया।
मच्छ कच्छ वाराहस्वरूपी
वामन नाम धराया।
केते बौध भये निकलंकी
तिन भी अन्त न पाया
केतिक सिद्ध साधक संन्यासी
जिन वन बास बसाया

1. भिन्नी, 2. युक्त, 3. पहिचानी

केते मुनिजन गोरख कहिए
तिन भी अन्त न पाया।
जाकी गति ब्रह्मैं नहिं पाए
शिव सनकादिक हारे
ताके गुन नर कैसे पैहो
कहै कबीर पुकारे।"

और पिता के अनुसार यह वर्ण-भेद, जाति-भेद, धर्म-भेद ये सब अपूर्णताओं के चिह्न थे।

उनका हंस तो सृष्टि के रहस्य पुरुष के पास जा रहा था। बाकी सारी कल्पनाएँ नीची थीं[1]। षट्चक्र के ज्ञानी भोगी जिन्हें पार करते हैं, उनसे भी परे वह उड़ता है[2]। हिन्दू उसकी उपमा नहीं दे सकते[3]। आनन्द के द्वारा जब सारे फंदे छूट जाते हैं वहीं पिता का सत्यलोक प्रारंभ होता है[4]। वह लोक उनका उत्कर्ष है। फंदे वही हैं जो मनुष्य को कायर, लोभी, अत्याचारी, कामी बनाते हैं।

उसका वर्णन ही कौन कर सकता है—

करत बीहार मन भावनी मुक्ति भै
कर्म और भर्म सब दूर भागै।
'रंक औ' भूप कोई परख आवै नहीं
करत कल्लोल बहुभाँति भागैं।
काम औ क्रोध मद लोभ अभिमान सब
छाँड़ि पाखंड सतशब्द लागैं।
पुरुष के बदन की कौन महिमा कहों
जगत में उभय कछु नाहिं पाई।
कहै कब्बीर यहि भाँति सौं पाइहौ
सत्य की राह सो प्रगट नाई।

और इसके ऊपर पिता का मृत्युञ्जय गर्जन उठा। वह मरजीवा ही जो था।
उसने मृत्यु को चुनौती दी थी।
वह काल से लड़ रहा था

---

1. तासु के बदन की कोई महिमा कहौं।
2. हंस चात षट्चक्र को वेध के सातमक्काम में नजर फेरा।
3. रूप की राशि ते रूप उनको बना हिन्दू भी नहीं उपमा निवेरा।
4. भये आनन्द से फन्द सब छोड़िया पहुँचिया जहाँ सतलोक मेरा।

उसने कर्म की रेख पर मेख मारने के लिए लोगों को ललकारा था। वही तो मेरा पिता था। वह तो भगवान का नाम भी जानता था। तभी उसने कहा था—

ज्ञान का गेंद कर सुरति का दंड कर
खेल चौगान मैदान माहीं।
जगत का भरमना छोड़ दे बालके
आय जा भेख भगवत पाहीं।
भेख भगवन्त की सेस महिमा करै
सेस के सीस पर चरन डारै।
कामदल जीति कै कंवल दल सोधि कै
ब्रह्म को बेधि कै क्रोध मारै।
पदम आसन करै पवन परिचै करै
गगन के पहल पर मदन जारै।
कहत कब्बीर कोई सतजन जौहरी
करम की रेख पर मेख मारै।

वह मेख कर्म की रेख पर नहीं पड़ी, इतिहास पर जाकर पड़ी। नंगे-भूखे जागे और भीड़ों ने कहा : कबीर ठीक कहता है।

कौन-सा कबीर !

जो हिन्दू नहीं है। जो मुसलमान नहीं है, जो जोगी नहीं है।

जो छुआछूत और ऊँच-नीच नहीं मानता, जो हिंसा और दम्भ नहीं मानता, जो समाज से दूर रहकर दूसरों की कमाई पर पलना नहीं मानता। जो स्त्री को केवल भोग की वस्तु नहीं मानता, जो सन्तान के मोह में दूसरों का गला काटना नहीं मानता, जो धन को ही धन के लिए नहीं चाहता। उसे कोई माने या न माने पर इन्हीं पूर्ण विश्वासों ने उस नंगे गरीब को वह आत्मगौरव दिया था कि वह पुकार उठा था--

धरती तो आसन किया
तम्बू असमाना
चोला पहिरा खाक का
रह पाक[1] समाना।

और यह सब मनुष्यों को समान मानने की घोषणा आज तक मेरे कानों में गूँज रही है और शायद युगों तक यह इसी तरह अपमानित होकर भी निर्द्वन्द्व गूँजा करेगी, शताब्दियों के निविडान्धकार में चिल्लाया करेगी···

1. इस

उसकी राह अजीब थी

मैं जानता हूँ, जो मैं कह रहा हूँ वह आपको कुछ सहज ग्राह्य नहीं है।

पर यह सत्य है।

वह तो बिल्कुल अलग था। लोग पूछते हैं कि उसमें ऐसा क्या था जो उसे तुम इतना महान मानते हो। मैं बताता हूँ सुनो।

यह तो सत्य ही है कि वह जुलाहा था। नीच जात था और इसीलिए वह ऊँचे वर्णों को पहले बडा मानता था। गुरु रामानन्द से दीक्षा लेकर वह अपने को पवित्र समझने लगा। परन्तु शीघ्र ही नाथजोगियों, सूफियों, वेदान्तियों ने उस पर प्रभाव डाला। वह उलटबाँसी बोलने लगा। परन्तु वह इतने में ही समाप्त नहीं हो गया। वह नीच जाति का आदमी ऊँची जातों से रियायतें माँगने में ही खतम नहीं हो गया वह तो आगे निकल गया। वहीं वह नई बात कहता हूँ कि उसने जहाँ हिन्दू, मुसलमान, जोगी, जैन, शाक्त और बौद्धों को नहीं माना, तब वहीं उसने मनुष्य के नये जागरण की नींव डाली। वह यह नहीं कह सका कि ईश्वर क्या था। उसके पास, जो वह सोचता था, उसे समझाने के लिए शब्द नहीं रहे क्योंकि वह जो कहना चाहता था लोग उसे नहीं सुनते थे। लोग तो अपने धर्म के बन्धनों में बँधे थे। लोग तो वही भाषा समझते थे जो उनके धर्मों में थी। और कबीर कह रहा था कि यह सृष्टि अवश्य रहस्य है, पर यह रहस्य सीमाओं में कैसे बाँधा जा सकता है। वह रहस्य तो महान है। वह सब ही ईश्वर है। तब कबीर ने कहा था कि यदि वह रहस्य महान है तो मनुष्य को भी दुनिया में अच्छाई करनी चाहिए। कितनी सीधी बात थी। दूसरों का गला काटना वह बुरा समझता था और यह बातें उससे पहले किसी ने नहीं कही थीं। वह परिवार में रहता था, खाता था तो हाथ-पावों से कमा कर। वह यथार्थ के लिए उतर आया था और उसने समाज की नींवों को बदलना चाहा था। वह तो गरीब था, नीच था। उसके लिए उच्चवर्ग आदर्श नहीं थे, वह उच्चवर्गीय संस्कृति का मोह नहीं करता था। उसके पास सीधी-सादी भाषा थी। वह मानव को सर्वश्रेष्ठ मानता था।

क्योंकि वह मूलतः मानव था। मैं देख रहा हूँ, इतनी जल्दी उसके चेलों ने उसके यथार्थवादी शब्द छोड़ दिए हैं, वे उसके पुराने योग, उलटबाँसी रहस्य, और वेदान्ती विचारों पर जोर देते हैं, परन्तु क्या वे उसे डुबा सकेंगे?

और मुझे याद आ रहा है।

होली की भीड़ थी। लोग झूम रहे थे। कबीर तब युवक था। भीड़ बढ़ती जा रही थी। धीरे-धीरे लोग गुसाँई जी के घर की ओर जा रहे थे। वहाँ भाँग का इन्तजाम था। राजा जी के कारिंदे भीड़ के साथ थे। अबीर गुलाल उड़ रहा था।

गुसाँई जी आए। सबने जय-जयकार किया।

कबीर ने देखा। सिर हिलाया। और फिर आगे बढ़कर गाया—

"फूटी आँखि विवेक की।
लखैं न संत असंत
जाके सङ्ग दस बीस हैं
ताका नाम महंथ।"

अररर···कबीर···

भीड़ मस्त हो गई।

"और क्या कबीरे···!" एक चिल्लाया।

पर सिर से गीला गुलाल न गिरा। गुसाँई के चेलों ने लहू गिराया। गिर गया।

देवीलाल भागा।

नीमा ने सुना तो जीने पर से लुढ़ककर बेहोश हो गई। केवल लोई निर्भय चरण धरती वहीं जाकर रुक गई। उसने कबीर का खून पोंछा।

"तू कौन है ?" एक चेले ने पूछा।

लोई ने उसके लहू की बिन्दिया लगाकर सिर झुका दिया।

"ले जा इसे।" चेले ने कहा, "खबरदार जो फिर इधर आया। जुलाहा ! कमीना ! नीच !"

लोई ने सुना। कहा, "और कह लो पण्डित। पर वह क्या है यह मैं जानती हूँ।"

लोई के बाप ने सुना तो भागा-भागा आया। पर जब वह आया उसने देखा लहू से आँचल भिगोये क्वारी बेटी बेहोश कबीर को ऐसे लिए बैठी थी जैसे पुरानी ब्याहता हो। बाप को लगा वह सावित्री थी, उसकी गोद में सत्यवान् था।

यों लोई-कबीर एक हो गए।

कबीर बच गया। पर माँ न उठी।

साँझ आ गई थी। नीमा खाट पर लेटी थी। लोई सिरहाने गोद में उसका सिर लिए बैठी थी। कबीर बाहर बुन रहा था।

माँ ने पुकारा, "कबीर !"

"आया माँ !"

वह भीतर आया।

"क्या है माँ ?"

माँ के मुख पर एक गहरी निस्तब्धता थी।

"यहाँ आ बेटा !"

कबीर निकट आ गया। माँ उसका मुँह हाथ में लेकर देखती रही। शान्त अपलक। वे बूढ़ी आँखें प्रभा को लिए एक बार पुलकित हो उठीं और उसने उद्वेग-हीन स्वर से पुकारा, "बेटा !"

"माँ !" लोई रो उठी।

"क्यों रोती है लोई ?" माँ ने कहा, "आज मैं जा रही हूँ बेटी ! रोने की क्या बात है ?"

पर वह रोती रही। कबीर अवाक् देखता रहा। माँ का चेहरा कितना शान्त था। वे आँखें कितनी गहरी थीं। उन होंठों पर कितनी क्षमता और क्षमा थी।

नीमा ने कहा, "बेटा !"

"हाँ माँ !" कबीर ने फुसफुसाया।

"मैं चली जाऊँगी बेटा ! रोना नहीं। मेरा काम पूरा हुआ। अब मुझे दुःख नहीं है। लोई आ गई है न ? वह सब सँभाल लेगी। छोटी तो है, पर लड़की में समझ सुसराल में ही आती है बेटा। इसे धोखा न दीजो।"

कबीर आँखें फाड़कर देखता रहा।

माँ ने कहा, "आज तक मैंने नहीं कहा बेटा, पर आज कहती हूँ। एक दिन मैं और तेरा बाप नीरू चले जा रहे थे। रास्ते में एक अनाथ, हाल का पैदा हुआ बच्चा पड़ा था। उसे हम उठा लाये और अपना कह कर पाल लिया। बेटा वही तू है ··"

माँ का वाक्य पूरा नहीं हुआ। वह सदा के लिए चली गई। लोई फूट-फूट कर रो उठी, पर कबीर स्तब्ध पत्थर-सा बैठा रहा।

लोई ने उसे झकझोर कर कहा, "रो अभागे ! तेरी माँ मरी है।"

कबीर ने उसी मुद्रा में कहा, "मेरी माँ ! वह तो मुझे जनम देकर छोड़ गई थी। लोई. मैं पाप की संतान हूँ···"

वह कितना कठोर दुःख था जो उसके हृदय को मथे दे रहा था।

लोई ने कहा, "बेदरद ! माँ वह नहीं थी, माँ तो यह है···"

"तुझे मुझसे नफरत नहीं लोई ?" कबीर ने वैसे ही पूछा। "मैं तो पाप की संतान हूँ···"

लोई हँसी। उस समय लाश पर रोते-रोते वह अचानक हँस उठी और उसने

कहा, "पाप ! कैसा पाप !! मुझे तो तू पहले का-सा ही लगता है ।"

"लोई···!" कहकर कबीर तब रोया था और उसने नीमा के पाँवों को आँसुओं से भिगो दिया था । कितनी महान थी वह स्त्री जिसने एक अपरिचित अनाथ को अपना बनाकर पाला था, उससे एकाकार कर लिया था···

जीवन का नया अध्याय खुला था । कबीर सोचता । कौन होगी वह अभागिन जिसने छाती से टपकते दूध की अवहेलना करके उसे जानवरों के लिए फेंक दिया होगा !

कोई कुमारी ! या विधवा !!

पुरुष से छली हुई !!

वह काँप उठता !

प्रसिद्ध महात्मा रामानन्द काशी आए थे । जोगी-जतियों में धूम थी । कबीर ने कहा, "लोई !"

"क्या है ?"

"मैं उनके पास जाऊँगा ।"

"क्यों ?"

"मैं उनका शिष्य बनूँगा ।"

लोई ने आँखें उठाकर देखा था और कहा नहीं था कुछ, केवल फिर चरखा सँभालने लग गई थी ।

कबीर झुंझला कर चला आया था ।

साधुओं की भीड़ में गुरु रामानंद अपने भव्य मुखमंडल पर मुस्कान लिए बैठे थे ।

कबीर बढ़ने लगा ।

एक चिल्लाया, "कौन है ?"

"जुलाहा है ।" दूसरा बोला ।

"अरे देखता नहीं । कहाँ बढ़ा आ रहा है नीच !"

"महाराज बैठे हैं ।"

कबीर ठहर गया था । उसने पुकारा था, 'महाराज ! यह दास शिष्य बनने आया है ।"

साधु ठठाकर हँस उठे थे ।

रामानन्द ने देर तक देखा था । कबीर निर्मल दृष्टि में भक्ति उँड़ेले दे रहा था । रामानन्द का हाथ उठा । सब शांत हो गए । कबीर ने प्रणाम करके पाँव छूने को हाथ बढ़ाया ।

"रुक जा ।" रामानन्द ने कहा और फिर जैसे वे गंभीर चिंतन में डूब गए ।

कबीर हाथ बढ़ाए ही रुक गया।

कुछ देर बाद गुरु ने कहा, "तेरा नाम ?"

"प्रभु ! कबीर।"

"कौन जात है ?"

"जुलाहा हूँ।"

"तुझे भगवान ने शूद्र बनाया है जुलाहे। अपना काम कर। वही तेरे लिए धर्म है।"

कबीर को काठ-सा मार गया।

उसने कहा, "महाराज ! लोग आपके द्वार से निराश नहीं लौटते। क्या राम मेरा नहीं है ?"

गुरु रामानंद ने सुना तो उठकर चले गए। वे उत्तर नहीं दे सके। और कबीर वहीं बैठ गया। शाम हो गई। वे मंदिर से बाहर नहीं निकले। आते-जाते साधुओं ने पहले तो खिल्ली उड़ाई फिर उसे धक्का देकर भगा दिया।

भोर की पहली किरन भी नहीं फूटी। गंगा के घाट पर स्वामी रामानन्द खड़े आकाश की ओर देख रहे थे। उन्होंने धीरे से आकाश की ओर हाथ उठाकर बड़बड़ाया, "राम, तू किसका है ?"

गंगा हरहरा उठी ! मानो पतिततारिणी ने उत्तर दे दिया। वह तो सबकी थी। रामानन्द सीढ़ी से उतरने लगे।

हठात् उनका पाँव अँधेरे में किसी से छू गया।

"राम-राम !" रामानन्द ने कहा, "राम राम !"

और उनका पाँव पकड़कर किसी ने दुहराया, "राम राम ! राम राम !"

"कौन ?" रामानन्द ने काँपते स्वर से पूछा।

"गुरुदेव ! मुझे मुक्ति का बीजाक्षर मिल गया।" किसी ने विभोर स्वर से रामानन्द के चरणों पर सिर रखकर कहा।

"कबीर !" रामानन्द का कंठ काँप गया। वे रो उठे और उन्होंने उसे वक्ष से लगाकर कहा, "कबीर ! तू जीत गया कबीर ! मुझे तूने अहं और अभिमान, अन्याय और पाप के बंधनों से मुक्त कर दिया कबीर ! मैं अंधा हो गया था। सारा ब्रह्माण्ड राम है वत्स ! यह भेद मनुष्य के बनाए हुए हैं। उसके लिए सब बराबर हैं। वही राम तू है, वही गंगा है। राम तो सबका है।"

"गुरुदेव !" कबीर बिभोर-सा पुकार उठा था।

गंगातीर की शांत बेला में प्रभात का समीरण सिकता पर झूम रहा था।

"राम राम ! राम राम !" करके रामानन्द नीचे उतर गए। कबीर वहीं खड़ा

रहा और जपता रहा, "राम राम… राम राम…"

आज उसे लग रहा था वह मुक्त हो गया था…

रात-भर के जागे नैन लाल हो गए थे। लोई बैठी थी। कबीर लौटा तो पागल-सा था।

"लोई!" वह चिल्ला उठा।

"क्या हुआ?" लोई चौंक पड़ी।

"मुझे गुरु रामानन्द ने शिष्य बनाया लोई! मुझे राम मिल गया। मैं मुक्ति का अधिकारी हो गया।"

लोई मुस्करा दी। धीरे से कहा, "मुझे तू वैसा ही लग रहा है कंत जैसे पहले था। क्या ब्राह्मण के मना कर देने से राम तेरा नहीं था? क्या उसके छूकर कह देने से ही तू मुक्त हो गया?"

कबीर ने सुना तो देखता ही रह गया। अवाक् निस्पंद…

लोई ने फिर कहा, "यह बच रहा है, इसे बुन ले, सुबह को चून भी नहीं है… क्या आज राम को भूखा ही रखेगा?"

कबीर ने सिर झुका लिया।

कमाल के जन्म से पहले की बात है। कबीर के घर साधु आने लगे थे।

आकाश के बादल घिर रहे थे। किसी ने द्वार थपथपाया।

"कौन है?" कबीर ने पूछा।

लोई ने द्वार खोला। एक बड़ा साधु था।

"पधारो महाराज!" कबीर ने कहा! साधु भीतर आ गया।

परन्तु लोई के चेहरे पर उदासी आ गई। आज वे दोनों भूखे सो रहे थे। किंतु अतिथि भूखा कैसे रहेगा? लोई चुपचाप चली आई। जब लौटी तो आटा था। साधु की सेवा हुई। साधु चला भी गया। पर लोई जहाँ बैठी थी वहीं बैठी रही।

कबीर ने कहा, "बचा है कुछ लोई?"

"हाँ।"

"तू खा ले।"

"नहीं, तुम खा लो।"

पर फिर दोनों खाने बैठे। लोई हठात् कबीर के वक्ष पर सिर रखकर फूट-फूट कर रोने लगी।

"क्या हुआ?" कबीर ने कहा।

लोई कह नहीं सकी। अन्त में कबीर ने सुन ही लिया।

बोला, "फिर ?"

लोई ने कहा, "वचन दिया था तो क्या हुआ ! पाप निभाना मुझसे नहीं होगा।"

कबीर ने कहा, "पाप ? पाप उसे समझना ही पाप है लोई ! घर में नाज नहीं था। अपने पेट के लिए नहीं था, हमने भीख नहीं माँगी। पर दूसरा आया। उसका तो पेट भरना अपना धरम था। हम भी क्या धनी अमीरों की तरह आँखें फेर लेते ? तू नाज माँगने गई। जिसने नाज दिया उसे तेरा रूप अच्छा लगा। उसने बदले में तुझे माँगा। तू हाँ कर आई। तो फिर वचन निभा लोई।"

"नहीं, नहीं," लोई रो पड़ी।

कबीर ने हँसकर कहा, "पगली ! तू समझती है मैं तुझसे तब घिन करूँगा ? क्या चाहता है वह सेठ। तेरी जवानी से खेलना चाहता है न ? खेलने दे उसे क्योंकि तूने वचन दिया है। तू पाप के लिए उसके पास नहीं जाती लोई। पाप तो उसमें है। तू पवित्र है। तू अपने लिए नहीं, दूसरे के लिए भीख माँगने गई थी। आज तो कोई जवानी ही चाहता है। कल को कोई सिर भी माँग बैठा, तो क्या तू हट जाएगी ?"

भयानक वर्षा हो रही थी। कबीर ने लोई को टाट ओढ़ा कर कंधे पर बिठा लिया था।

जब वे सेठ के घर पहुँचे तो कबीर द्वार पर बैठ गया। लोई ने द्वार खड़-खड़ाया। सेठ अंधा और पागल था। वासना चिल्ला उठी, "लोई।"

लोई दृढ़ खड़ी रही। कहा, "मोल चुकाने आई हूँ। वचन दे गई थी न ?"

सेठ ने देखा। लोई निर्भय खड़ी थी। वह समझा नहीं। घबराया भी। उसने कहा, "तू भीगी नहीं लोई। बाहर तो मूसलाधार पानी गिर रहा है।"

"मुझे मेरा कंत कंधे पर बिठाकर लाया है।"

सेठ ने सुना तो चार हाथ पीछे हट गया। वह घुटनों में मुंह छिपाकर बैठ गया और रोने लगा। लोई पास चली गई। कबीर ने सुना। सेठ ने कहा, "लोई, तू मेरी माँ है, तू मेरी माँ है।"

कबीर द्वार पर आ गया और उसने कहा :

"पहले यह मन काग था
    करता जीवन घात
अब तो मन हंसा भया
    मोती चुंगि चुंगि खात।
कबिरा मन परबत हता
    अब मैं पाया कानि

टाँकी लागी शब्द की
निकसी कंचन खानि।"

दूसरे दिन काशी में चर्चा चल पड़ी। नगर का प्रसिद्ध सेठ आया और कबीर के सामने उसने साष्टांग दंडवत् की और पाँव पकड़ कर कहा, "गुरु! मेरा प्रायश्चित बताओ।"

कबीर ने मुस्कराकर कहा, "प्रायश्चित्त एक ही है रे धनी। करेगा?"

"आज्ञा दो गुरु।"

"माया तेरी शत्रु है। उसका दास नहीं बन। खाली राम-राम करने से लाभ नहीं होगा।

जो जल बाढ़े नाव में
घर में बाढ़े दाम
दोऊ हाथ उलीचिये
यही सज्जन कौ काम।

"जा! दीनों की सेवा कर! नारी का सम्मान कर!"

सेठ पाँव छूकर चला गया।

लोई ने देखा तो कबीर के चरणों पर सिर धरकर प्रणाम किया। कबीर ने कहा—

"सेज बिछावै सुन्दरी
अन्तर परदा होय
तन सौंपे मन दे नहीं
सदा सुहागिन होय!"

कबीर अधेड़ावस्था को पार कर रहा था। जीवन-भर मेहनत-मजदूरी करने से उसके शरीर में अब भी बल था। माथे पर बाल कुछ सफेद हो गए थे। लोई के कानों पर लटें सफेद हो गई थीं और कमाल तब तरुण था।

दरबार भरा हुआ था। सारी काशी इकट्ठी हो गई थी। सुल्तान सिकन्दर लोदी सोने के सिंहासन पर बैठा था।

सामने कबीर लोहे की जंजीरों में बँधा मुस्करा रहा था। असंख्य प्रजा हर-हरा रही थी।

मीरमुंशी के कह चुकने पर निस्तब्धता छा गई। अपनी नुकीली नाक पर तराजू की तरह अपनी गिद्ध जैसी आँखें उठाकर सुल्तान ने कठोर स्वर में पूछा, "यह सच है जुलाहे कि तूने रियाया को भड़काया?"

लोदी हिंदी बोल रहा था।

"मैंने नहीं भड़काया सुल्तान।" कबीर ने उत्तर दिया। "यह गलत है।"

काजी उठा। उसने कहा, "हुजूर, मुझे इजाजत हो तो मैं अर्ज करूँ!"

"कहो!" सिकन्दर ने कड़कती आवाज में कहा।

लोई ने देखा। कमाल ने सुना। काजी ने कहा, "यह जुलाहा लोगों से कहता है कि नमाजी झूठे हैं। मुसलमान हत्या करते हैं। गाय काटते हैं। यह मुसलमानों के खिलाफ नफ़रत पैदा करता है।"

सिकन्दर ने गरज कर कहा, "सुनता है?"

तब कबीर ने हाथ उठाया। उसके हाथ में बँधी लोहे की शृंखला झनझना उठी। उसने कहा, "मैं किसी से नफरत नहीं करता। हिंदुओं में वर्णाश्रम व्यवस्था ने इंसान को इंसान से बाँट दिया है। उनके अवतारों की कथाओं ने जनता को रूढ़ियों में फांस लिया है। मूर्तिपूजा के नाम पर मन्दिरों में लूट मची हुई है। जैनी और बौद्ध ईश्वर को नहीं मानते, पर उनके आचरण किसी भी तरह हिन्दुओं से कम रूढ़िवादी नहीं हैं। जोगी संसार में रहकर भी दूसरों की कमाई पर पलते हैं। एक दिन मैं भी उनके रहस्य की बातों से, हठयोग से प्रभावित हुआ था। पर वह सहज नहीं था, उसका अंत पाखण्ड ही है। मैं इन सबको नहीं मानता। लोग कहते हैं, जम्बूद्वीप का धर्म सनातन है, वेद भगवान का बनाया है, मैं इसे भी नहीं मानता। वे सब कहते हैं कि मैं नीच हूँ और मुसलमानों का दोस्त हूँ। और तुम मुझे मुसलमानों का दुश्मन समझते हो। तो सुनो। मैं तुम्हारी तेग से डरता नहीं। क्या तुम्हारा मज़हब यही है कि तुम बेकुसूर जानवरों को काटकर खाओ और रोजे-नमाज का ढोंग करो?"

सिकन्दर चिल्लाया, "जुलाहे!!"

कबीर ने कहा, "तू मुझे रोक लेगा सुल्तान? विधाता भी मुझे नहीं रोक सका। मेरा सहारा बचाने वाला है। अगर ब्राह्मणों, जैनों, जोगियों, शाक्तों, बौद्धों और कापालिकों का बस चलता तो वे कभी का मुझे मार देते। पर मेरे साथ ये थे..."

कबीर ने गरीबों की भीड़ की तरफ हाथ उठाया और कहा, "इन्होंने मुझे बचाया। पण्डों, मठाधीशों के गुर्गे मुझे मार नहीं सके। और तुम मुहम्मद का नाम लेते हो, कुफ्र को खतम करने के नाम पर मन्दिरों का सोना लूटने के लिए मज़हब की आड़ लेते हो? तुम्हारे मुल्ला तुम्हें खींचकर हिमायत के लिए लाए हैं? हम गरीब थे, हैं। जैसे हिन्दू राजा थे, वैसे तुम हो। और तुम? लोगों को बहकाकर मुसलमान बनाते हो। उससे क्या फरक पड़ता है? तुम सब इंसान को इंसान नहीं रहने देना चाहते..."

सिकन्दर ने सुना। भीड़ चिल्लाई, "कबीर की..."

"जय..."

"कबीर की…"

"जय !"

उस अपराजित साहस को देखकर सिकन्दर लोदी मन-ही-मन थर्रा गया।

उसने काजी की ओर देखा।

काजी ने कहा, "हुजूर ! यह बागी है।"

"जानता है इसका नतीजा ?" एक मुल्ला चिल्लाया।

कबीर ने मुड़कर कहा, "कौन-सा नतीजा है जिससे डरकर मैं झूठ बोलूं ?"

लोई ने चिल्लाकर कहा, "कंत अमर है। तू गरीबों की आन है।"

सिकन्दर मुड़ा। पूछा, "कौन है यह औरत ?"

"हुजूर," काजी ने कहा, "इसकी बीबी है।"

सिकन्दर के माथे पर बल पड़ गए।

लोई कह रही थी, "मार डालो। डराते किसे हो ? अरे इस देश की धूल में जाने कितने हुकूमत करने वाले सिर पटक कर मर गए। पर गरीब अमर हैं। मेहनत और ईमान की कमाई खाने वाला कभी नहीं मर सकता।"

कबीर के होंठों पर मुस्कराहट आ गई। वह चिल्लाया, "भाइयो ! कायर की मौत मरने से तो बहादुर की मौत मरना अच्छा है। हमारे देश में वही अपना है जो आदमी की आजादी के लिए खड़ा है। यह मुसलमान ही नहीं, इंसान और इंसान के बीच दीवार खड़े करने वाले पंडित, जोगी, जती, जैन, बौद्ध, शाक्त सब विदेशी हैं। वे धरम के नाम पर ऊँच-नीच बनाकर लूटते हैं। मैं वह नहीं हूँ जो इस देश के ऊँच-नीच वाले कायदों को मानकर सिर झुका दूं और उसे अपना हिंदू धरम कहकर इस्लाम को विदेशी कह दूं। मेरे लिए तो यह सब ग़लत है। यह सब धोखा है। ये सब जड़ता और घृणा पर पलने वाले सिद्धांत हैं, जो गरीबों को गरीब और लुटेरों को लुटेरा और हरामखोर रखते हैं।"

कोलाहल होने लगा। सुल्तान क्रोध से व्याकुल हो उठा। उसने चिल्लाकर कहा, "जुलाहे ! तेरी मौत तेरे सिर पर मँडरा रही है।"

कबीर ने हँसकर कहा, "सुल्तान ! पलट कर देख ! कोई इस धरती को ले गया है ? इस धन और हुकूमत के हाथों तू बिक चुका है। अब तू नहीं बोलता, तेरा झूठा अहंकार बोलता है। मैं मरूँगा जरूर, कल नहीं अभी, पर तू तो अमर ही रहेगा न ? नादान—

माली आवत देखिकर
कलियन करी पुकार
फूले-फूले चुन लिए
काल्हि हमारी बार !

तू मुझे डराता है। तेरे यह सिपाही मुझे क्या मार सकते हैं ? मेरा मैं तो कभी

का छूट गया, जब डरने वाला ही नहीं रहा, तो फिर मुझे किसका डर है ?"

भीड़ चिल्लायी, "जय कबीर !"

उस भीड़ में मुसलमान भी थे, लेकिन गरीब।

काजी ने कहा, "हुजूर, मुसलमान भी इसके साथ हैं !"

सिकन्दर लोदी खड़ा हो गया और सामने कबीर बँधा खड़ा था। सोने के सिंहासन पर खड़े हुए, खड़खड़ाते शस्त्रों से सुरक्षित लोदी के चिंतित माथे पर बल पड़ गए थे। कबीर उनके बीच में लोहे की जंजीरों में बँधा हुआ भी मुस्करा रहा था। कमाल ने देखा लोई निडर थी, जैसे वह आज कबीर पर न्यौछावर थी।

लोई चिल्लाई, "सुल्तान ! तेरा पाप तुझे डरा रहा है। देख ! तेरे सामने वह किस शान से खड़ा है। सत्य के तेज ने उसे आग बना दिया है और तू सोने के सिंहासन पर चढ़कर भी मिट्टी ही बना रहा।"

सिकन्दर सह नहीं सका, उसने इंगित किया और देखते ही देखते मस्त हाथी छोड़ दिया गया। भीड़ काँप गई। कबीर निर्द्वन्द्व खड़ा रहा।

हाथी चिंघाड़ कर बढ़ने लगा।

कमाल आगे बढ़ा। उसी समय सिकन्दर लोदी थर्रा उठा और सिंहासन पर लड़खड़ाकर बैठ गया। भीड़ विक्षुब्ध हो उठी थी। लोई झपटी और हाथी ने सूण्ड में लपेट कर फेंक दिया। वह कबीर के चरणों पर अचेत-सी गिर गई। भीड़ नहीं रुकी। सैनिकों से युद्ध होने लगा। उस भीड़ में गरीब थे, वे हिंदू भी थे, मुसलमान भी, जुगी भी, जुलाहे भी।

काज़ी ने कहा, "हुजूर, मुसलमान मुसलमान से लड़ रहा है।"

पर भीड़ बढ़ती ही गई। सुल्तान और सेना पीछे रह गए। कबीर और कबीर के चरणों पर लोई को गरीबों की सौ-सौ गज मोटी दीवारों ने अभेद्य कवच की भाँति घेर लिया।

सिकन्दर क्रुद्ध-सा लौट गया। आज वह हार गया था। बगावत को कुचलने के लिए मुंह खोलने के पहले उसे खेमे में खबर मिली कि चंदवार ठाकुरों ने भयानक हमला किया है, और किसी भी क्षण लोदी नेस्तनाबूद हो सकते हैं। उसने उसी वक्त फौजों को लौटने का हुक्म दे दिया।

भीड़ खड़ी थी। मैं कमाल कह रहा हूँ। सुनते हो !! मैं कमाल पुकार-पुकार कर कह रहा हूँ। लोग कहते हैं कबीर को चमत्कारों ने बचा लिया। पर सचाई नहीं कहते कि उसे काशी की जनता ने जान हथेली पर रखकर बचा लिया।

मैंने व्याकुल स्वर से पुकारा, "माँ ! अम्माँ ! तू चली गई।"

पर दादा शांत थे। उनके मुख पर दिव्याभा थी। उस असंख्य भीड़ में वे सहसा गा उठे—

"पतिबरता पति को भजै
और न आन सुहाय
सिंह बचा[1] जो लंघना
तो भी घास न खाय।
सती बिचारी सत किया
कांटों सेज बिछाय
लै सूती पिय आपना
चहूँ दिसि अग्नि लगाय।
चढ़ी अखाड़े सुंदरी
मांड़ा पिउ सों खेल
दीपक जोया ज्ञान का
काम जरै ज्यों तेल।"

भीड़ रोने लगी। मैं तो आँखें ढँक कर बैठ गया। तब पिता ने विभोर कण्ठ से गाया जैसे वे अपने आपको भूल गए थे—

"हूँ बारी मुख फेरि पियारे।
करवट दे मोहें काहे को मारे।
करवत भला न करवट तेरी
लाग गरे सुन बिनती मेरी।
हम तुम बीच भया नहिं कोई
तुमहिं सो कंत नारि हम सोई।
कहत कबीर सुनो नर लोई
अब तुम्हरी परतीत[2] न होई।"

भीड़ का विह्वल हाहाकार, और फिर विक्षोभ का फूटता हुआ ज्वार, सब कभी जयजयकार बन जाते, कभी धुआंधार कोलाहल।

मैंने देखा। उस क्षण वह ज्ञानी कबीर, सुल्तान को चुनौती देने वाला कबीर, अत्यन्त तन्मय दिखाई दे रहा था।

मैंने कहा, "दादा! अम्मा चली गई।"

"नहीं बेटा? वह तो कबीर बन गई। अब कबीर चला गया।" पिता ने कहा।

लोग उसे उठाने आए। वे जुलूस निकालना चाहते थे। पर पिता ने कहा, "नहीं। लोई को मैं लाया था, मैं ही ले जाऊँगा क्योंकि वह आज मेरे भीतर समा

1. बच्चा
2. विश्वास

गई है—

सूरा के तो सिर नहीं
दाता के धन नाहिं
पतिवरता के तन नहीं
सुरति बसै पिउ माँहि···"

और पिता ने लोई को हाथों पर उठा लिया। वे आगे बढ़े और पुकार उठे, "गाओ आज लोई के लिए गाओगे नहीं ?"

और हजारों की भीड़ श्मशान की ओर गाती हुई बढ़ चली—

"ऐरी घूंघट के पट खोल···
तोहे पिया मिलैंगे···"

उस समय मुझे लगा था कि कबीर जैसा मनुष्य तब तक इस देश में हुआ ही नहीं था, वह कैसा नया मनुष्य था, अपराजित, अनिन्द्य, महान, निष्कलंक···

और भीड़ गाती जा रही थी, गाती जा रही थी···

रत्ना की बात

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक में तुलसीदास का जीवन वर्णित है। उनका जीवन-वृत्त ठीक से नहीं मिलता। जो है वह विद्वानों द्वारा पूर्णतया नहीं माना गया है। इतस्ततः जो उन्होंने अपने बारे में कहा है, जो बाह्य साक्ष्य है, जो दो श्रुतियाँ हैं, उन सबने मिलकर ही महाकवि का वर्णन पूरा कर सकना सम्भव किया है।

तुलसी और कबीर भारतीय इतिहास की दो महान् विभूतियाँ हैं। दोनों ने भिन्न-भिन्न कार्य किए हैं। उन्होंने इतिहास की विभिन्न विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व किया है। दोनों के विचारों का निर्माण वर्गों अर्थात् वर्णों के दृष्टिकोण से हुआ था। 'लोई का ताना' में मैं कबीर के विषय में लिख चुका हूँ।

रत्ना तुलसीदास की पत्नी थी और वह स्वयं कवयित्री थी।

तुलसीदास प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्हें जीवन के अंतिम काल में अपने युग के सम्मानित व्यक्तियों द्वारा आदर प्राप्त हो गया था। कबीर को केवल जनता का आदर मिल सका था। दोनों पुस्तकें पढ़ने पर यह बिलकुल ही स्पष्ट हो जाएगा।

तुलसीदास अपनी कविताएँ लिखते थे; परंतु उनके कुछ ऐसे पद, दोहे आदि हैं जो इतने मुखर हैं कि सम्भवतः लिखे बाद में गए होंगे, कहे पहले गए होंगे। वे बहुत चुभते हुए हैं और अधिकांशतः उनमें आत्म-परिचय आदि हैं। इसीलिए मैंने उनको उद्धृत कर दिया है।

बाकी उद्धरणों में दो प्रकार की रचनाएँ हैं। एक वे उद्धरण हैं जो कवि के जीवन के साथ-साथ यत्र-तत्र उनकी रचना का भी अल्पाभास देते हैं। दूसरे वे उद्धरण हैं जो यह प्रकट करते हैं कि वे केवल कवि नहीं थे, वे मूलतः भक्त थे। अतः लिखकर रख देना ही उनका काम नहीं था। वे उस विचार को बाद में, लिखते समय, या पहले भी, अनुभव करते थे। उनका जीवन भक्ति था, लेखन भक्ति था। अतः भक्ति के पक्ष को दिखलाने के लिए भी उनकी रचनाओं का ही सहारा लिया गया है।

तुलसी ने कई काव्य-ग्रंथ लिखे हैं। कई पकार से राम की कथा लिखी है। कभी कवितावली मे, कभी मानस में, कभी बरवै में, कभी रामाज्ञा-प्रश्न आदि में। उनका भी यत्र-तत्र मैंने आभास दिया है कि वे रचनाएँ एक ही राम के भक्त ने विभिन्न समयों पर विभिन्न कारणों और दृष्टिकोणों से लिखी हैं।

तुलसी एक समर्थ प्रचारक थे। उन्होंने एक धर्मगुरु का काम किया है, इसे मैंने स्पष्ट किया है। तुलसी के लक्ष्य, कार्य, प्रभाव आदि को मैंने विस्तार से लिखा है। कबीर भी विचारक थे। उन्होंने अपने दृष्टिकोण को लेकर लिखवाया था। तुलसी ने अपने विचार को लेकर समाज को अपनी रचनाएँ दी थीं। तत्कालीन धर्म में राजनीति किस प्रकार निहित थी, यह दोनों पुस्तकों को पढ़कर निस्संदेह प्रकट होगा।

तुलसी के सामाजिक कार्य, उनकी भक्ति, उनके सुधार, उनके विद्रोह, उनके विचार, उनका दृष्टिकोण ऐसे विषय हैं जिन पर लोगों का भिन्न मत है। जो तुलसीदास कहते हैं, हमें वह देखना चाहिए। तुलसी ने जो प्रगति की, उसे समझने के लिए केवल उन्हें देख लेना काफी नहीं है, उनके पूर्ववर्ती युगों को भी देखना आवश्यक है।

कबीर गरीब नीच जाति के जुलाहे थे। वे वर्णाश्रम को नहीं मानते थे, न मुसलमानों को ही ठीक समझते थे। उन्होंने मनुष्य को अपने धर्म का उद्देश्य बनाया था।

तुलसी पुनरुत्थानवादी थे। कबीर के लिए पुरानी संस्कृति एक बोझ थी। तुलसी ब्राह्मण थे, अतः उनके लिए वह गौरव थी। तुलसी ने उसी धर्म को फिर से मर्यादा दिलाई। एक फर्क यह हुआ कि तुलसी ने रूढ़ियों के उन्हीं पुराने बंधनों को तोड़ा जो वेद-ब्राह्मण की शक्ति को रोकते थे। उन्होंने रियायतें देकर अधिकार प्राप्त किए।

कबीर के समय में मुसलमान पूरी तरह जमे नहीं थे। फिर कबीर वर्णाश्रम के नीचे भी पीड़ित थे। तुलसी के समय में मुगलों का वैभव और शोषण था। तुलसी के पहले भक्ति-आंदोलन निम्नवर्णीय विद्रोह का प्रतीक था, जो कहता था कि भगवान के सामने सब बराबर हैं। तुलसी ने इसे तो माना, और वैसे ही माना जैसे पहले श्रीमद्भागवत में माना गया था, परंतु वेद-धर्म को समाज के लिए आवश्यक माना और पुनरुत्थान की ओर समाज को जगाया। तुलसी की भक्ति सामाजिक रूप में वेद, धर्म और व्यक्ति-पक्ष में भगवान से याचना थी। तुलसी ने भगवान को आदर्श सामंत राजा के रूप में ही स्वीकार किया।

तुलसी के बाद वे हिंदू-मुसलमान संप्रदायों के समन्वयवादी दृष्टिकोण जो निर्गुणवादियों में थे, जैसे सिक्ख आदि, वे सब एक संस्कृति के नाम पर संगठित होने लगे और वे सब मुस्लिम विरोधी हो गए। उस विरोध का कारण आर्थिक शोषण था—मुगलों के साम्राज्य का शोषण।

कबीर और तुलसी ने अपने-अपने समय में, मध्यकाल में, इस प्रकार भारत को गहरी तरह से प्रभावित किया। दोनों के समय में परिस्थितियां बदल गई थीं और दोनों ने ही उसे अपने-अपने वर्ण-दृष्टिकोण से सुलझाने का प्रयत्न किया था।

—रांगेय राघव

भोर हो गई। पहली किरण ने हल्का-सा आलोक फैलाया, तब पक्षी कल-कल निनाद करते हुए आकाश में उड़ चले और काशी के घाटों पर भोर की जगार सुनाई देने लगी। धीरे-धीरे आलोक अंधकार के साथ जूझते-जूझते तांबे की चमक से भर गया और वह गंगा की गंभीर और विस्तृत धारा पर झलमलाने लगा। किसी ने कलकंठ से गाया : हरे रामा, हरे रामा···

और फिर दूर धीवरों की बंसियों के बजने का मीठा स्वर आया और कुछ देर बाद जब घाट के सहारे खड़े विशाल प्राचीरों वाले मंदिरों के घंटे घननन-घननन करके बजने लगे, तब गेरुए वस्त्र धारण करने वाले साधुओं के झुण्ड के झुण्ड जल तीर पर चलते-फिरते दिखाई देने लगे।

शीतल पवन मंद-मंद गति से चलकर रात की सारी थकान का हरण कर रहा था, और लहरों के अंगों को जब वह पवन हौले से छू देता तो फरफरी-सी मच जाती। वे उधर अपने अंगों को सिकोड़कर अपनी साड़ी खींचकर अपना शरीर ढांक लेने का प्रयत्न करतीं, इधर यह पवन भी अपने दाह को खोकर बोझिल होने लगता।

और किसी के भक्तिपूर्ण स्वर से शब्द गूंजने लगा—

देवि सुरेश्वरि भगवति गङ्गे
त्रिभुवनतारिणि तरलतरङ्गे
शङ्करमौलिविहारिणि विमले
मम मतिरास्तां तव पद कमले।

शब्द और भी उठा—

भागीरथि सुखदायिनि मातः—
तव जलमहिमा निगमे ख्याता।
नाहं जाने तव महिमानं
पाहि कृपामयि मामज्ञानम्॥

और भगवती पतिततारिणी जाह्नवी के प्रति निकले हुए वे शब्द धीरे-धीरे आने-जाने वालों के कानों में गूंजने लगे, जिनको सुनकर अंधेरे ही में पथों पर झाड़ू लगा चुकने वाले मेहतर अब वहां से भाग निकले, ताकि अपने दर्शन से वे

उच्च जाति के पवित्र लोगों को प्रातःकाल ही अशुभ के सम्मुख न ले जा सकें। उस समय भी करोड़ों मन जलराशि गंगा में बही जा रही थी, जैसे शाश्वत होकर वह धारा बही जा रही हो।

असीघाट के ऊपर बने हुए एक छोटे-से घर में उस समय एक तरुण ने उठकर द्वार खोला और बाहर झाँका। प्रकाश खुले दरवाजे से धीमे-से भीतर घुसा। तरुण के नेत्र लाल हो रहे थे। लगता था वह रात-भर का जागा है। वह बाहर आ गया और उसने कंधे पर पड़ी रामनामी चादर को उतारकर फटकारा और फिर बाएँ कंधे पर धरकर ऊपर को हाथ उठाकर अँगड़ाई ली। उसकी मूँछें पतली थीं, और होंठों के दोनों ओर बिखर गई थीं। और ठोड़ी पर काली दाढ़ी के बाल करे से उग आए थे।

घर की दीवारों पर काई जम गई थी।

उस तरुण को देखकर घाट पर कोई धीरे-धीरे चढ़ने लगा। उसने धीमे से कहा, "क्यों रे नारायण ! गुसाईंजी की तबीयत अब कैसी है ?"

पूछने वाले के स्वर में एक सुव्यवस्थित विनम्रता थी।

तरुण ने उदासीनता से देखा और कहा, "रात-भर सो नहीं सके।"

"राम-राम !" पूछने वाले ने कहा और फिर दुहराया, "राम-राम ! बड़ी यातना है, बड़ी यातना है।"

"पता नहीं भगवान इतना दुःख क्यों दे रहा है ?"

"यही मैं भी सोचता हूँ। इतने बड़े महात्मा को ही जब ऐसा कष्ट मिल रहा है, तो हम जैसों का तो जाने क्या होगा !"

कहते-कहते वह सिहर उठा। जैसे सारा जीवन फिर आँखों के सामने नाच गया हो।

"कोई नहीं जानता।" उसने फिर कहा। "फिर यही एक जीवन तो नहीं है नारायण !"

नारायण ने सिर हिलाया जैसे वह जानता था।

पूछने वाले ने जैसे अपने-आपसे कहा, "यही एक होता तो संसार इतना विचित्र क्यों होता ? महात्मा ठहरे वे।"

नारायण के नेत्र फड़के।

"उन्होंने पाप नहीं किया।" उसने कहा।

"पाप ! राम-राम !" दूसरे ने कहा, "अरे उस जैसा पहुँचा हुआ महात्मा अगर पाप करेगा तो शेष और कच्छप दोनों ही इस धरती को नहीं सँभाल सकेंगे नारायण। डूबने के लिए नीचे जाने की जरूरत नहीं होगी, उल्टे रसातल ही ऊपर उठ आएगा और कलि से डूबी हुई धरती को सदा के लिए निगल जाएगा।"

दोनों के नेत्रों में भयार्त्त छाया डोलने लगी।

नारायण कुछ कह नहीं सका क्योंकि पहले जन्म के बारे में वह कुछ जानता नहीं था। कोई नहीं बता सकता था कि पूर्व जन्म में कौन क्या था। यह तो अचानक समझ में न आने वाले कष्ट थे, यह तो आँखों देखते हुए म्लेच्छों की उन्नति हो रही थी, यह जो भले लोग कष्ट पा रहे थे, बुरे लोगों का वैभव बढ़ रहा था, यह सब जो समझ में नहीं आता था, यदि पूर्व जन्म ही इस सबका कारण न था तो और क्या हो सकता था ?

पूर्व जन्म !

जन्म-जन्मांतर का दारुण चक्र !

मृत्यु के समीप आकर यातना के बारे में मनुष्य का चिंतन !!

नारायण क्या कहता है ?

उसका हृदय टूक-टूक हो रहा था। वह अपने-आपको छोटा-सा समझता। उसके सामने धीरे-धीरे एक विशाल पहाड़ गल रहा था। वह उस कनक कंगूरे वाले महानगर को जल-जलकर समाप्त होते हुए देख रहा था।

उसका गला भर आया।

आने-जाने वाले रुक गए थे।

एक ने धीमे से पूछा, "अरे क्या हाल है ?"

"वही हाल है।"

"कोई लाभ नहीं ?"

"नहीं।"

तब किसी बूढ़े ने उदास स्वर में कहा : "एक दिन तो ऐसा आता ही है भाइयो ! गुसाईंजी की उमर पूरी हुई। वे पुण्यात्मा हैं।"

"पुण्यात्मा ? वे कलियुग को काटने वाले परम तपस्वी है !"

"अरे भइया ! वे वाल्मीकि मुनि के अवतार हैं।"

"रात-भर," नारायण ने कहा, "बड़ा कष्ट रहा।"

"कष्ट नहीं है वह !" एक ने कहा, "भइया, हमारी तुम्हारी आँख में वह कष्ट है, क्योंकि हम तो यहाँ से आते-जाते दिखाई नहीं देते। ऐसे महापुरुष जब जाते हैं तब भगवान का चक्र ठहर जाता है।"

"काशीराज ने संवाद मँगाया था।"

"तो क्या हुआ जी ! इस घाट को तो अब कोई नहीं भूलेगा। यहाँ राजाओं का राजा पड़ा है। अहाहाहा···क्या भाग्य है ! जीते-जी काशी को अमर धाम के साथ-साथ अयोध्या जैसा परम पवित्र बना दिया। जगह-जगह सुनाता हूँ, जगह-जगह लोग श्रद्धा से सिर झुकाते हैं।"

"हटो-हटो।" किसी ने कहा, "वैद्यजी आ गए।"

लोग हटकर रास्ता देने लगे। भीड़ बढ़ गई थी। वैद्यराज सिर पर पगड़ी

बाँधे थे और अँगरखा पहने थे जो था तो रेशम का, परंतु पुराना हो चुका था। उनकी मूँछें सफेद थीं और होंठों पर पड़ी हुई थीं। उनके नेत्रों में एक चमक-सी जलती थी और फिर सफेद-सी भौंहों के भीतर छिप जाती थी।

"वैद्यजी !" एक व्यक्ति ने आशंकित स्वर से पूछा, "वैद्यजी !"

वैद्यजी रुक गए। उन्होंने उस आदमी की ओर करुणा-भरे नेत्रों से देखा और फिर अत्यन्त स्नेह और वेदना से मुसकरा दिए, जैसे जो वे कर सकते हैं, कर ही रहे हैं, पर आगे परमात्मा भी तो कुछ है ! अगर इलाज से ही सब बच जाया करते, तो फिर कोई मरता ही क्यों ?

दूर कहीं किसी ने शंख-निनाद किया और फिर घाट पर इधर-उधर के हवा के झोकों पर चढ़कर झूमने वाला अगरु धूम अपनी पवित्र गंध फैलाने लगा।

वैद्यजी ने धीरे से कहा—

"रामचंद्र मुख चंद्रमा
चित चकोर जब होइ
राम राज सब काज सुभ
समय सुहावन सोइ।"

नारायण भीतर चला गया। भीतर से अब मलूकराम शिष्य बाहर आ गया था।

मलूकराम को देखकर लोगों में एक नई उत्सुकता जाग उठी। नारायण वैद्य जी के आने पर भीतर प्रबंध करने गया था।

एक व्यक्ति ने पूछा, "क्यों मलूकराम ! महात्माजी का कैसा हाल है ?"

मलूकराम ने अपने कंधों तक लहराते बालों को दुपट्टे के छोर से बाँधते हुए आकाश की ओर देखकर कहा, "वही नाम रट है भइया। कैसी लगन है ! कोई देखे तो ! मुझे तो रात-भर लगा कि कलि है ही नहीं। मैं तो किसी पवित्रतम आत्मा के पास बैठा हूँ। वहाँ कष्ट था तो सही, पर उसमें सत्ययुग की-सी गरिमा थी। ऐसा लगता था—

उपल बरसि गरजत तरजि
डारत कुलिस कठोर
चितवकि चातक मेघ तजि
कबहूँ दूसरि ओर !
पवि पाहन दामिनि गरज
झरि झकोर खरि खीझि,
रोष न प्रीतम-दोष लखि,
तुलसी रागहि रीझि !

सुनने वालों ने गद्गद होकर कहा, "अहा हा ! धन्य हो हुलसी के पुत्र तुलसी-

दास ! अरी वह कैसी पवित्र कोख थी, जिसने तुझे धारण किया !"

ब्राह्मण चंद्रनाथ ने आगे बढ़कर कहा, "वह अवतार है भइया, अंश है। उसका काम इस कलियुग में भारतभूमि का उद्धार करना था, सो उसने अकेले ही कर दिखाया।

"आइए वैद्यजी !" नारायण ने द्वार पर निकलकर पुकारा।

सबने मुड़कर देखा वैद्यजी सीढ़ी चढ़ने लगे।

लोग आपस में बातें करने लगे।

एक ने कहा, "भइया जब ऐसे महात्मा ही अन्तकाल में इतना दुःख पाते हैं तो फिर हम गृहस्थों का क्या हाल होगा ?"

दूसरे ने कहा, "अरे क्या पूछते हो। गोसाईंजी ने कहा ही है—

काम क्रोध मद लोभ रत
गृहासक्त दुख रूप
ते किमि जानहिं रघुपतिहिं
मूढ़ पड़े भवकूप"

एक दूसरे ने कहा, "उन्हीं की कहता हूँ भाइयो—

रामचन्द्र के भजन बिनु
जो चह पद निर्बान
ज्ञानवन्त अपि सोइ नर
पसु बिनु पूँछ विखान।
जानि राम सेवा सरस
समुझि करब अनुमान
पुरुषा ते सेवक भये
हर ते भै हनुमान।"

सबसे पहले नारायण से आकर बात करने वाले ने अब कहा, "घबराते क्यों हो ? अमर होकर तो कोई नहीं आता।

पुन्य पाप, जस अजस, के
भावी भाजन भूरि
संकट तुलसीदास को
राम करहिंगे दूर।"

सबको धैर्य-सा लौट आया।

वैद्यजी भीतर घुसे तो मन धुक-धुक कर रहा था। शय्या पर वृद्ध तुलसीदास लेटे थे। उनके सिर के बाल गिर चुके थे, मुंह पर झुर्रियां पड़ गई थीं। बायें हाथ पर पट्टी बँधी थी। वे अधमुंदी आँखों से देखते हुए कुछ सोच रहे थे।

वैद्यजी निकट बैठ गए। उन्होंने प्रणाम किया। तुलसीदास ने मुड़कर देखा।

उस अत्यन्त कष्टकर दुःख में भी उनके होंठों पर हल्की-सी एक मुसकराहट आ गई और नयनों में करुणा की छाया झलक आई।

वैद्यजी ने नब्ज देखी। नाड़ी की गति देखकर वैद्यजी के मुख पर मलिनता दोहरी हो गई। नारायण ने देखा तो आतंकित हुआ। मलूक लौट आया था।

वैद्यजी ने झुककर कहा, "महाराज!"

तुलसीदास ने नयन उठाए। वे फिर मुसकराए।

वैद्यजी ने कहा, "कुछ खाने की इच्छा होती है?"

"नहीं।" तुलसीदास ने धीरे से कहा और फिर मुसकरा दिए। नारायण ने मुड़कर आँखें पोंछ लीं। वह सह नहीं पा रहा था।

तुलसीदास ने कहा, "नारायण!"

"महाराज!!" वह फफक उठा।

"रोता क्यों है पागल?" तुलसीदास ने कहा, "इसका इलाज वैद्यजी के हाथ में नहीं है। इसका तो कोई और ही प्रबन्ध कर सकता है।"

वैद्यजी ने कहा, "सच है महाराज! वैद्य तो निमित्त है, ऊपर वाला ही सबका स्वामी है। वैद्य उसके सामने तो कुछ नहीं है।"

"राम जपो, राम जपो," तुलसीदास ने कहा और वे विभोर-से हो गए।

वैद्य हताश हो गए। वे तुलसीदास को आँखें मींचे देखकर क्षण-भर बैठे रहे, फिर नारायण और मलूक की ओर उन्होंने अत्यन्त निराशा से देखा और बाहर चले गए।

वैद्यजी को देखकर भीड़ समीप आ गई। इस समय वहाँ कई सौ लोग थे। कई बड़े-बड़े रईस भी उपस्थित थे। वैद्यजी उस भीड़ को देखकर अचकचा गए। अनेक मठों के गद्दीदार महंत वहाँ आज भेद-भाव भूलकर खड़े हुए थे। साधुओं की जमात गंगा की सिकता पर पड़ी हुई थी।

एक धनी व्यक्ति आगे बढ़ आया। उसने धीरे किन्तु विचलित स्वर से कहा, "वैद्यजी!"

"क्या है महाराज?" वैद्यजी ने उत्तर दिया।

"महात्माजी की तबीयत अब कैसी है?"

वैद्य ने निराशा से सिर हिला दिया।

उस व्यक्ति ने पास खड़े चोबदार से कहा, "देख नानगा! काशीराज के पास घुड़सवार भेजकर इत्तला करा दे कि महात्माजी की हालत पहले से भी अधिक बिगड़ गई है।"

यह कहकर उसने फिर वैद्यजी की ओर देखा। वे इस समय कोई नया नुस्खा सोच रहे थे।

कुछ ही देर में बात सबमें फैल गई। बातें चल पड़ीं।

एक ने कहा, "वेदों का महात्माजी ने ही उद्धार किया।"

दूसरे ने दाद दी, "निगमागम की तो बात ही कोई नहीं पूछता था। म्लेच्छों के राज्य ने सबको ऐसा डरा दिया था। महात्माजी ने रामराज्य की याद दिलाकर लोगों का भय दूर कर दिया।"

"कौन जानता था ? सब अपने पुराने धरम को भूल चले थे। किसी में मरजाद नहीं रही थी। गुसाईंजी ने सबको झकझोर कर जगा दिया।

श्रीमद वक्र न कीन्ह केहि
प्रभुता बधिर न काहि,
मृगनयनी के नयनसर
को अस लाग न जाहि,

लेकिन मद के झूठे कवच तोड़कर गुसाईंजी ने लोगों को जगाया।"

"ठीक कहते हो—बाबा ने ही कहा था—

राज करत बिनु काज ही
करैं कुचालि कुसाज
तुलसी ते दसकन्ध ज्यों
जइहैं सहित समाज।"

"क्या कहते हो ? धीरे कहो। कहीं कोई सुन न ले !"

"यहाँ कौन सुनता है ? मैं क्या डरता हूँ—

भागे मल, आड़ेहु भलो,
भलो न घाले घाउ
तुलसी सबके सीस पर
रखवारो रघुराउ।"

"यह तो ठीक है पर अपने पाँव में कुल्हाड़ा मारना भी ठीक नहीं—

पाही खेती लगन वट
ऋन कुब्याज, मग खेत,
बैर बड़े सों आपने
किये पाँच दुख हेत।"

परन्तु यह बातें फिर आपस में बँट गईं और एक उदासी सब पर आ घिरी।

वैद्यजी धीरे-धीरे सीढ़ी से उतर चले। वे बड़े-बड़े आदमी भी अपने गम्भीर मुखों को लिए अपनी पालकियों में आकर बैठ गए। भीड़ श्रद्धा से खड़ी रही। वहाँ लोग समझ नहीं पा रहे थे, कि वे क्या करें ? तुलसीदास जा रहा था। वह जिसने उन्हें साहस दिया था, जिसके शब्दों में रामचन्द्र के कोदण्ड की प्रत्यञ्चा की टंकार गूँजा करती थी। जिसके मुख से अयोध्याकांड सुनकर सहस्रों नर-नारी जार-जार आँसू बहाने लगते थे। आज उनका वही प्रिय तुलसीदास जा रहा था।

वे कैसे उस वेदना को सहज ही सह सकते थे ?

नारायण द्वार पर खड़ा हुआ था। उसके नेत्रों में असीम दुःख था।

मलूक ने सुना। तुलसीदास धीरे-धीरे बुदबुदा रहे थे—

"बालपने सूधे मन राम सनमुख भयो
रामनाम लेत, माँगि खात टूक टाक हौं,
पर्‌यौ लोकरीति में, पुनीत प्रीति रामराय
मोहबस बैठो तोरि तरक तराक हौं।
खोटे-खोटे आचरन आचरत अपनायो
अंजनीकुमार सोध्यो राम पानि पाक हौं,
तुलसी गुसाईं भयो, भोंड़े दिन भूलि गयो
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं।"

वह मन्द-मन्द स्वर जब नारायण के कानों में पहुँचा तब उसकी आत्मा में प्रार्थना की तन्मयता भर गई।

तुलसीदास फिर गाने लगे—

"असन बसन हीन, विषम विषाद लीन
देखि दीन दूबरो करै न हाय हाय को ?
तुलसी अनाथ सों सनाथ रघुनाथ कियो
दियो फल सीलसिंधु आपने शुभाय को।
नीच यहि बीच पति पाइ भरुआइगो
बिहाइ प्रभु भजन बचन मन काय को
तातें तनु पेषियत घोर बरतोर मिस
फूटि-फूटि निकसत लोन राम राय को।"

"गुरुदेव ! !" नारायण ने पाँवों पर हाथ रखकर आकुल कंठ से पुकारा, "गुरुदेव ! !"

"कौन ? नारायण ?" उन्होंने आँखें खोलकर कहा।

"गुरुदेव ! यह आप क्यों दुहरा रहे हैं !"

"बेटा ! जितनी बार नाम मुँह से निकले उतना ही अच्छा है। अब उसके सिवाय सुनने वाला है भी कौन ?"

"पर इतनी प्रार्थना करने से भी तो कुछ नहीं हुआ ?"

"राम राम ! बेटा ! ऐसा न कह। पाप की बात न कर। दीनबंधु के दरबार में पहुँचना सहज नहीं है नारायण !" तुलसीदास ने अब के दृढ़ स्वर से गाया—

"जीवौं जग जानकी जीवन को कहाय जन,
मरिबे को बारानसी, बारि सुरसरि को।
तुलसी के दुहूँ हाथ मोदक हैं ऐसे ठाउँ

जाके जिए मुए सोच करि हैं न लरिको।
मोको झूठो साँचो लोग राम को कहत सब,
मेरे मन मान है न हर को, न हरि को।
भारी पीर दुसह सरीर तें बिहाल होत,
सोऊ रघुबीर बिनु सकै दूरि करि को।"

उस स्वर में मानस की गहराइयों का जो अटूट विश्वास था उससे नारायण का हृदय दृढ़ हुआ। परंतु वह भावना के उद्वेग में कभी-कभी डगमगाते जहाज की भाँति अपने मन को रोकने की चेष्टा करने में लग गया।

मलूकराम ने कहा, "नारायण ! पानी ले आ जाकर।"

नारायण ने कहा, "जाता हूँ।"

वह कलश लेकर चला गया।

"जा पूजा कर आ वत्स।" तुलसीदास ने कहा।

मलूक अब राम की पूजा करने बगल की कोठरी में चला गया। तुलसीदास खुले पटों में से देखते रहे।

और वे गुनगुना उठे—

"सीता पति साहेब, सहाय हनुमान नित
हित उपदेस को महेस मानो गुरू कै
मानस बचन काय सरन तिहारे पायँ
तुम्हरे भरोसे सुर मैं न जाने सुर कैं,
व्याधि भूत जनित उपाधि काहू खल की,
समाधि कीजै तुजसी को जानि जन फुर कै,
कपिनाथ, रघुनाथ, भोलानाथ, भूतनाथ,
रोगसिंधु क्यों न डारियत गायखुर कैं ?"

कुछ देर के लिए निस्तब्धता छा गई। मलूक एक कोने में बैठा देखता हुआ मन-ही-मन सोच रहा था। तुलसीदास ने ही फिर तान छेड़ी—

"कहौं हनुमान सों सुजान रामराय सों
कृपानिधान संकर सों, सावधान सुनिए।
हरष विषाद राग रोष-गुन दोष-भई,
बिरची बिरचि सब देखियतु दुनिए।
माया जीवकाल के, करम के, सुभाय के,
करैया राम, वेद कहैं, साँची मन गुनिए।
तुमतें कहा न होय, हाहा ! सो बुझैये मोहिं,
होहुँ रहौं मौनही, बयोसो जानि लुनिए।"

और फिर उसने देखा वे शांत-से दिखाई देने लगे। मानो वे जो बो चुके थे,

उसी के फल काट रहे थे, इसे वे पहचान गए थे।

× × ×

सचमुच अंतिम बेला पास आ रही थी।

तुलसीदास ने कराहा, "नारायण !"

"गुरुदेव ?"

फिर उत्तर नहीं आया। लगता था वे सो गए थे।

आज यात्री को बहुत कुछ याद आ रहा था।

मृत्यु की विकराल छाया आज तक जीवन के पाँव पकड़ कर चलती रही थी, परंतु अब ऊपर चढ़ने लगी थी और जैसे बाढ़ का पानी बढ़ता जा रहा था, वह आज उस वृद्ध को अपने भीतर सदा के लिए डुबा लेना चाहती थी।

सुदूर का अंधकार निकट आने लगा और जैसे मन बहुत दूर किसी अतलांत अँधेरी गहराई में फिर भटकने लगा, जिसमें कहीं भी प्रकाश दिखाई नहीं देता था।

नारायण आया और चला गया।

तुलसीदास को याद आने लगा !

बाजे बजने लगे। स्त्रियाँ गा रही थीं—

"आल हि बाँस के माँड़व मनिगन पूरन हो
मोतिन्ह झालरि लागि चहुँ दिसि झूलन हो,
गंगाजल कर कलस तो तुरित मँगाइय हो
जुवतिन्ह मङ्गल गाइ राम अन्हवाइय हो।"

कौन गा रहा है यह ! !

× × ×

कुछ नहीं, यह गीत तो राम के प्रति है, उससे भी और पुरानी है यह स्मृति। कहाँ जाकर रुकेगी ?

केवल जन-श्रुति पर।

सचमुच स्त्रियाँ गा रही थीं।

क्वाँ-क्वाँ कर बालक का स्वर सुनाई दिया।

पण्डित आत्माराम दुबे का हृदय उछल पड़ा।

दाई ने कोठे से निकलकर कहा, "पण्डित जी, कड़े लूँगी। लड़का हुआ है।

घर के बाहर संबंधियों ने आकर भीड़-सी कर रखी थी। आत्माराम बाहर आए तो लोगों ने कहा, "बधाई है पंडित जी, वंश चलाने वाला आ गया।"

विश्वम्भरनाथ ने कहा, "सातों-सातों पीढ़ियाँ तर गईं।"

और उनके पतले मुख पर उनके होंठ कानों तक फैल गए।

टहलनी पान रख गई।

उस आनन्द में कोठे में थाली बजने की आवाज आई। जन्म होते ही बच्चे का भय छुड़ाया जा रहा था, ताकि वह शब्द का आदी हो जाए, बड़ा हो जाने पर जरा-जरा-से कोलाहल पर चौंक न उठा करे।

आत्माराम दुबे बैठ गए। वक्ष फूला हुआ था, मस्तक झुका था। अधेड़ होने पर उनके घर पुत्र आया था। उन्होंने आशा छोड़ दी थी। उस समय अचानक भगवान ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया था।

द्वार पर से नाइन ने इशारा किया।

आत्माराम ने जाकर कहा, "क्या है?"

नाइन ने घूँघट में से कहा, "हालत अच्छी नही है। वैद्यजी को बुलवा लें।"

आत्माराम ने सुना तो धरती पाँवों के नीचे से खिसक गई। गले में पड़े दुपट्टे को कसकर पकड़ लिया और काँपते कंठ से पूछा, "क्यों? क्या बात है?"

"होश में नहीं है।" नाइन ने उत्तर दिया।

"कौन? बच्चा?"

"नहीं पंडितजी, माँ।" नाइन ने कहा, "बच्चा तो ठीक है। पर पलेगा कैसे?"

पंडित बाहर आए तो उनके चेहरे पर उदासी को लोगों ने ऐसे जमा हुआ पाया जैसे तंबू में ऊँट आ गया था। खुशी बेचारी मालिक की तरह ठंड में सिकुड़ी हुई एक कोने में बैठी काँप रही थी।

"क्या हुआ?" विश्वम्भरनाथ ने पूछा।

गंगादयालु ने कहा, "खैर तो है?"

"बच्चे की माँ बेहोश है।" पंडित ने लरजती आवाज़ से उत्तर दिया।

"अरे तो घबराते क्यों हो?" विश्वम्भरनाथ ने अपने चिकने-चुपड़े स्वर में कहा, "ठीक हो जाएगी। वो महाराज! स्त्री के लिए भी कोई ऐसे रोता होगा?"

पंडित सकपका गए। वे मन-ही-मन चोट खा गए, परंतु वे हुलसी को बहुत चाहते थे। बहुत प्रेम करते थे। सांत्वना नहीं हुई।

गंगादयालु ने कहा, "डरो मत आत्माराम! भगवान सबका भला करता है। उसकी मर्जी के बिना कुछ नहीं होता।"

आग ठंडी होने लगी।

और तभी विश्वम्भरनाथ ने कहा, "बच्चा भी तो अपना भाग लेकर आता है पंडित! उसे अगर परमात्मा जिलाएगा तो उसे भी जिलाएगा जो उसे पालेगी।"

"क्यों नहीं?" गंगादयालु ने कहा, "संतान का मोह ही ऐसा होता है। वह

रोकर दूध माँगेगा, तो माँ तो यम से छूटकर आ जाएगी !"

और पंडित आत्माराम दुबे के सामने अब एक ही बात बड़ी होने लगी—बच्चा भी तो अपना भाग्य लेकर आया होगा, बच्चा भी तो अपना भाग्य लेकर आया होगा ?

वे बाहर चले गए।

निस्तब्धता छा गई थी।

वैद्यजी निराश से जा रहे थे। पंडित आत्माराम ने दोनों हाथों से सिर के बाल नोंच लिए।

तुलसी का शव बांधा जा रहा था। नाइन एक छोटे सद्यःजात बालक को लेकर खड़ी थी।

विश्वम्भरनाथ ने कहा, "पंडित धीर धरो। स्त्री फिर आ जाएगी। कोई ऐसे स्त्री के लिए सबके सामने व्याकुल होकर औरों को हँसने का मौका नहीं देता।"

गंगादयालु ने सिर हिलाया। मानो वे भी यही कहना चाहते थे।

हठात् द्वार पर वयोवृद्ध ज्योतिषी रामेत दिखाई दिए। वे आगे बढ़ आए। उन्होंने शव देखा तो अपने गंभीर परंतु काँपते कंठ से कहा, "कौन ? तू चली गई ?"

उन्होंने इतना कहकर रहस्य-भरी दृष्टि से आकाश की ओर देखा। उस दृष्टि में एक अज्ञात भय की भावना थी जिसे देखकर सब आतंकित हो उठे। नाइन का हाथ काँप गया। बच्चा सस्वर रो उठा।

रामेत के सिर के सफेद बाल हिल उठे। उन्होंने गंभीरता से नाइन की ओर देखा और वे हँसे।

उस विकराल हास्य को सुनकर सब थर्रा गए।

गंगादयालु भयार्त-सा फुसफुसाया, "क्यों हँसे ? महाराज क्यों हँसे ?"

पंडित रामेत ने उँगलियों पर कुछ हिसाब लगाया और सिर हिलाकर संस्कृत में कुछ बड़बड़ाए—जो स्पष्ट सुनाई नहीं दिया, परंतु यह पता चल गया कि वे कुछ ज्योतिष का हिसाब लगा रहे थे।

आत्माराम सिर झुकाए बैठे थे। विश्वम्भरनाथ ने धीरे से कहा, "होश में आओ आत्माराम ! महाराज से पूछो वे क्या कहना चाहते हैं ?"

परंतु आत्माराम वैसे ही बैठे रहे, जैसे वे निश्चेष्ट हो गए थे। वे सुनते हुए भी जैसे समझ नहीं पा रहे थे। आँखें फटी हुई थीं। मुख पर एक आर्द्र वेदना झलक रही थी।

गंगादयालु ने रोष से आत्माराम की ओर देखा, फिर जैसे विश्वम्भरनाथ से आँखों में ही राय ली। विश्वम्भरनाथ ने इंगित किया।

गंगादयालु ने वृद्ध ज्योतिषी के पाँव पकड़कर कहा, "महाराज ! आत्माराम दुबे इस समय मोहग्रस्त हो रहे हैं। वे स्त्री-वियोग में अपने कर्त्तव्य को भी भूल गए हैं।"

"यह भूलना," वृद्ध ने कहा, "स्वाभाविक ही है गंगादयालु ! भाग्य बड़ा बलवान है। उसके सामने मांधाता और रन्तिदेव की भी नहीं चल सकी, फिर आत्माराम तो हैं ही क्या !"

वृद्ध का कठोर स्वर आत्माराम के व्यक्तित्व को छोटा करता हुआ उसके मन के भीतर उतर गया।

"पंडितजी !" आत्माराम गिड़गिड़ा उठे, "मैं क्या करूँ ? भगवान ने ही दिया था तो इधर देकर उधर क्यों छीन लिया ?"

"छीन लिया ?" रामेत ने कहा, "अभागे लाचार ! तू क्या दैव से भी बलवान बनना चाहता है ? जानता है जब बालक का जन्म होता है तो वह मुट्ठी बाँधकर क्यों आता है ? नहीं जानता न ? तो सुन ! वह अपने हाथ में रेखाएँ छिपाकर आता है। उन रेखाओं को विधाता अपने हाथ से खींचता है। त्रिभुवन में कोई शक्ति नहीं जो उन रेखाओं को बदल दे। प्राणी आता है और वे रेखाएँ उसे नचाती हैं। एक दिन वह मुट्ठी खोलकर चला जाता है।"

उस समय संबंध की स्त्रियाँ रो पड़ीं। उनका वह मनहूस स्वर सुनकर रामेत को जैसे चेतना-सी आ गई। उन्होंने हाथ उठाकर जैसे सुदूर बसे हुए नेपथ्य की ओर इंगित करके कहा, "सुनता है, मृत्यु रो रही है ! वही इस मूलों में जन्म लेने वाले बालक का दुर्भाग्य है। यह बालक नही जन्मा है, यह तेरे सारे कुल को नष्ट कर देने वाला कुठार पैदा हुआ है !"

"महाराज !" आत्माराम ने रोते हुए दया की भीख माँगी। कहा, "अबोध बालक पर इतना बड़ा लांछन किसलिए ?"

"अबोध !" रामेत ने क्रुद्ध-से स्वर में कहा, "त्रिभ्वन को मूर्छित करने की सामर्थ्य रखने वाला हलाहल कालकूट भी कितना था, याद है न ? एक हथेली के गड्ढे में समा गया था। लेकिन उसे पीने वाले देवाधिदेव शंकर का भी गला भीतर-ही-भीतर जल गया था। है तुझमें शंकर जैसी सामर्थ्य ?"

"महाराज !" आत्माराम ने दोनों घुटनों में मुँह छिपा लिया। कितना भयानक था वह सब !

"तो क्या ?" गंगादयालु ने कहा, "यह बिच्छू पैदा हुआ ? जिस कोख से जन्मा, उसे ही इसने फाड़ दिया ?"

रामेत ने सिर हिलाकर कहा, "अपना ही नहीं, यह बालक समस्त कुटुम्ब का सर्वनाश कर देगा।"

गंगादयालु और विश्वम्भरनाथ की आँखों के आगे अँधेरा नाचने लगा।

"आत्माराम !" गंगादयालु चिल्लाया।

उन्होंने नहीं सुना।

"सुनते हो ?" विश्वम्भरनाथ ने अब विकराल दृष्टि से देखते हुए कहा, "महाराज क्या कह रहे हैं ?"

"नहीं, नहीं।" आत्माराम ने दोनों हाथ हिलाकर कहा, "महाराज से भूल हो गई है। वे नहीं जानते। जन्म देने वाला तो भगवान है। कौन इस संसार में आकर नहीं मरता ? कहाँ हैं वे जो अमर रहना चाहते थे ? सब ही एक-न-एक दिन इस संसार से चले जाते हैं। यदि कोई किसी दूसरे के भाग्य से मरता है, तो उसका अपना भाग्य कहाँ जाता है ? इसका अर्थ यही है कि सभी अपने ही भाग्य से जीते और मरते हैं। यह झूठ है।"

"झूठ है ! !" पंडित रामेत गरज उठे, "घर में स्त्री का शव रखा है और दुराचारी तू शास्त्रों को झूठ कहता है ? तेरे पाप के कारण ही तेरे घर में राक्षस का जन्म हुआ है। और वही एक दिन सबका सर्वनाश करके रहेगा।" उन्होंने उपस्थित कुटुंबियों की ओर देखकर कठोर स्वर में ही कहा, "जो चारवाक को ही सब कुछ मानता है, उससे मैं विवाद करना नहीं चाहता।"

चारवाक ! !

क्या कह रहे हैं पंडित रामेत ! !

आत्माराम दुबे पर यह लांछन ! !

पंडित आत्माराम दुबे का सदाचार और पवित्र जीवन सोरों में नहीं, आस-पास तक प्रसिद्ध है।

"नहीं।" गंगादयालु ने हठ स्वर में काटकर कहा—"महाराज शांत हों। पंडित आत्माराम दुबे वेदपाठी ब्राह्मण हैं। उन्होंने आज तक कुलीन और शुद्ध ब्राह्मण की भाँति जीवन व्यतीत किया है। आप उन्हें इस प्रकार नहीं कह सकते। माना कि स्त्री-वियोग में आरत हो रहे हैं और क्षण-भर के लिए अपने-आपको भूल गए हैं, परंतु क्या वे अपने कर्त्तव्य और धर्म को भूल जाएँगे ? वे धर्मनिष्ठ हैं। उनमें कलियुग का कोई भी चिह्न नहीं है। उन्होंने कभी भी वेद के बताए मार्ग पर चलने में तर्क नहीं किया और आज भी वे शास्त्र के विरुद्ध तर्क नहीं करेंगे।"

आत्माराम दुबे ने विह्वल स्वर से गंगादयालु की ओर देखकर कहा, "तुम भी गंगा ! तुम भी ! !"

वे कह नहीं सके। उनका गला रुंध गया। हठात् दृष्टि शव पर जाकर रुक गई। वे देखते ही रह गए।

विश्वम्भरनाथ ने कहा, "क्या देखते हो ? यही है तुम्हारी हुलसी। मेरी भाभी यही लगती थी न ? कितने अच्छे स्वभाव की देवी थी ! कितनी पतिव्रता थी !

कितनी धर्मनिष्ठा और पवित्र थी ! उन्हें तो वह प्राण के समान थी न ! कहाँ वह पंडित आत्माराम ? कहाँ है वह ?"

"भइया वह सो गई है।" आत्माराम ने आँखों पर हाथ रखकर दारुण वेदना से सिर हिलाते हुए कहा—"वह सो गई है !"

पंडित की बात सुन स्त्रियाँ फिर रो पड़ीं। दिखावे भर को रोनेवाली कुटुंब की संबंधिनी स्त्रियाँ भी विचलित हो गईं। उनका तो सगोत्र नाता भी न था। अपने-अपने पुरुष के माध्यम से वह संबंध इस परिवार में आकर जुड़ गया था। परंतु हुलसी का पति उसे इतना चाहता है यह तो उनके लिए ईर्ष्या का विषय था। क्या उनके पति भी उन्हें इतना ही चाहते हैं ? हुलसी का जीवन सफल हुआ। और फिर सुहागिन ही मर गई। इससे अधिक सुख इस संसार में स्त्री के लिए है ही क्या ? यही एक वेदना रह गई कि बच्चे को पाल नहीं सकी, परंतु बच्चा तो राक्षस हुआ है। कुल का नाश कर देगा !

कुल का ?

आतंक घहराने लगा।

अपने-अपने बच्चों की सूरतें याद आने लगीं।

कम्बख्त यहीं आकर पैदा हो गया। जन्म लेते ही माँ को खा गया।

विश्वम्भरनाथ ने कहा, "सो नहीं गई है, मर गई है। मिट्टी हो गई है। अब इसे मरघट ले चलने की बेला आ गई है पंडित। उठो ! स्नेह की वेदी पर वह अपना बलिदान दे गई है। इस पापी संतान को जन्म देते ही वह मर गई है। उसका तो इस कुल-नाशक से इतना ही संबंध था।"

"ऐसा न कहो !" आत्माराम ने कहा, "ऐसा न कहो ! वह भी भगवान का ही भेजा हुआ है।"

गंगादयालु तीखे स्वर से चिल्ला उठा, "तुम अंधे हो गए हो पंडित ! तुम कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य भूल गए हो। तुम नास्तिकों की तरह शास्त्र से तर्क करके अपने पितरों को घोर कष्ट और पाप दे रहे हो। तुम्हें लज्जा नहीं आती ? तुम एक बालक के पीछे सारा कुल नष्ट कर देना चाहते हो ? तुम अपने घर में उजाला करने के नाम पर अपनी ही चादर में आग लगा रहे हो और नहीं समझते कि तुम्हारी इस मूर्खता के कारण तुम ही नहीं, तुम्हारा घर ही नहीं, बल्कि सारा पड़ोस तक भस्मीभूत हो जाएगा ! इस पुत्र का तुम्हें त्याग करना ही होगा।"

"त्याग ! !" आत्माराम ने दोनों हाथों से सिर को पीट लिया। और चिल्लाए, "किसका त्याग ! पुत्र का ?"

"पुत्र का नहीं रे पागल," वृद्ध रामेत ने कहा, "इस मांसपिण्ड का, जो आते ही माता का भक्षक बन गया। जो कल से एक-एक करके इस आँगन और आँगन के बाहर बैठे सब स्त्री-पुरुष, आबाल-वृद्धों को खा जाएगा ! और बाद में तुम्हें भी

खा जाएगा। आत्माराम, तुम जो इससे इतना स्नेह दिखा रहे हो, तुम भी नहीं बचोगे।"

"शांत हों महाराज!" विश्वम्भरनाथ ने कहा, "स्वयं श्रीकृष्ण भगवान ने कहा है कि कुल के लिए व्यक्ति, ग्राम के लिए कुल, जनपद के लिए ग्राम और राजा के लिए जनपद का त्याग करना उचित है। यह तो धर्म का प्रश्न आ उपस्थित हुआ है। क्या पंडित आत्माराम बिरादरी के ऊपर अपने को गिनते हैं? मैं सारे ब्राह्मणों की ओर से पूछता हूँ। क्या वे अपने को सबसे अलग गिनते हैं?"

आत्माराम विचलित-से दिखाई दिए। कुल की एक वृद्धा ने कहा, "बेटा आत्माराम! कैसे चुप हो रहा है? ऐसा तो नहीं हो सकता न? त्याग दे। वह पुत्र नहीं है। वह कुल के लिए अभिशाप है। मैं फिर तेरा ब्याह कराऊँगी। भगवान चाहेगा तो फिर राजा दशरथ की भाँति तेरे आँगन में एक छोड़ चार-चार घुटुरवन खेलेंगे। इस कुलनाशक को त्याग दे बेटा, इसे त्याग दे।"

पंडित आत्माराम ने गिड़गिड़ाकर कहा, "त्यागता हूँ चाची, त्यागता हूँ..."

परंतु वे सह नहीं सके। कहने के साथ ही आवेश में आकर मूर्छित होकर वहीं गिर पड़े।

गंगादयालु ने कहा, "कहाँ है वह बालक?"

परंतु बालक वहाँ नहीं था। नाइन भयभीत होकर उसे लेकर पहले ही चली गई थी।

"पता नहीं।" विश्वम्भरनाथ ने उत्तर दिया।

वे सब भयभीत हो गए।

नाइन बच्चे को घर सुला आई थी। उस पर किसी को संदेह नहीं हुआ। वही बालक आज वृद्ध-सा मृत्यु-शय्या पर पड़ा था।

"आह!" वृद्ध तुलसीदास ने कहा।

"क्या हुआ गुरुदेव?" मलूक ने पूछा।

"बहुत दर्द होता है बेटा!"

"बाय का दर्द है गुरुदेव! मैं दवाई तो नहीं जानता, पर एक अघोर भभूत देता है।"

"अघोर? वह क्या जाने वत्स! वह तो मेरे राम को नहीं जानता। वह तो पापी है। श्रुति का मार्ग छोड़कर मनुष्य जीवन को नष्ट कर रहा है।"

मलूक प्रभावित हो गया। बोला, "गुरुदेव, पाँव दबा दूँ?"

"नहीं वत्स!"

"क्या हुआ मलूक?" नारायण ने झाँककर पूछा।

"दर्द बढ़ गया है।"

नारायण ने सिर हटा दिया। और तुलसीदास को फिर झपकी-सी आने लगी। फिर नयनों में चित्र-से आने लगे।

वे सोचने लगे।

वह जीवन एक अबोध सत्ता थी। इतना तो याद नहीं तब भाव क्या था, क्या नहीं था। केवल भूख लगने पर रोना, प्यास लगने पर रोना, यही आत्माभिव्यक्ति का एकमात्र ढंग था। वह रुदन, वह असहाय पुकार नाइन के हृदय को छू लेती थी। उसे भी तो डर हो सकता था कि जिसे पाल रही है वह अनिष्टकारी होने के कारण कहीं उसे ही न मार डाले! परंतु उस अशिक्षित स्त्री के सामने जैसे अपने-तेरे के भेद का बंधन नहीं था।

वह तो शाश्वत नारी थी। मानव की संतान अपने छोटे-छोटे हाथ-पाँव उठा-उठाकर पटकती रहे तो उसका हृदय कैसे चुप रह सकता था! वहाँ जाति, कुल, मर्यादा, धन, व्यवहार और स्वार्थ, कुछ भी नहीं थे। वहाँ तो केवल एक करुणा थी, एक ममत्व था। वह अपनापन उस समय जो मिल गया था, वही आज तुलसीदास बनकर पड़ा है।

तब क्या रहा होगा?

फिर उस स्त्री ने संबल दिया?

मालूम नहीं। पर धुंध-सी जागती है।

दूध मिलता रहा, जीवन किसी तरह चलता ही रहा।

फिर वह एक बहुत हल्की-सी याद है। वह कभी मारती थी तब बच्चा रोता था। फिर न जाने क्यों वह अनाथ बालक को अपने वक्ष से लगाकर उसके कोमल गालों को चूसने लगती थी। बालक की हिचकियाँ बंद हो जाती थीं। वह सुख से मुसकराता।

फिर!!

फिर वह घुटनों पर चला था। वह स्त्री ताली बजाकर खिलाती थी। और भी तो आँगन में कोई होता था, जो बालक को खाट की पाटी पकड़कर चलना सिखाता था। वह कौन था!!

वह नाई रहा होगा।

और नाइन? अब तक ऐसा लगता है जैसे अत्यंत प्रेम से सिंचित दो नेत्र देख रहे हों, सुदूर आकाश में हैं वे, पर अभय-सा देते हुए निरंतर देखते रहे हैं।

वह माँ की आँखें नहीं हैं। पर नाइन की आँखें हैं। करुणा, निष्कलंक, और लगता है उस दृष्टि से महान कुछ है ही नहीं, वह तो जीवन की आदिशक्ति है। पालने वाली प्रभा ही वास्तव में चिरंजीव भय है, सनातन कल्याण है···

बालक चार वर्ष का था।

एक घर-सा था।

उसमें अनेक लोग आ गए थे। वहाँ कुछ औरतें रो रही थीं। बालक भागा-भागा—'अम्माँ' 'अम्माँ' कहता आया था। किसी बूढ़ी स्त्री ने रोक लिया था।

"कहाँ जाता है बेटा ?"

"अम्माँ पाच।"

तोतली बोली सुनकर ही संभवत: कुछ लोग हँस दिए थे।

किसी ने कहा, "इसे बाहर ले जाओ। ले जाओ इसे।"

फिर किसी ने उठाकर गोदी में ले लिया था और बाहर लेकर चला गया था।

शाम हो गई थी।

आज कोई नहीं था।

घर में अँधेरा था।

सब भूल गए थे कि बालक कहाँ था।

बालक कोठे में से निकला था और दालान में आ गया था। उसे कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। अँधेरा छा रहा था।

"अम्माँ ! अम्माँ !!" बालक ने भयभीत स्वर से पुकारा था।

कुछ नहीं हुआ था। किसी ने जवाब नहीं दिया था। वह अपने छोटे-छोटे पाँव रखता इधर-उधर घूमने लगा था। उसे डर लगा था। वह रोने लगा था।

भूख लग रही थी।

पर वहाँ तो कोई नहीं था।

वह द्वार के पास गया। खोलने का यत्न किया, पर वह बंद था। खुला नहीं।

कुछ देर तक वह वहीं खड़ा-खड़ा रोता रहा।

फिर थककर बैठ गया था।

अँधेरा डराता था। बालक ने आँखें मींच ली थीं। मुट्ठी बाँधकर वह दरवाजे से चिपककर बैठ गया था। और फिर रोते-रोते ही वह सो गया था।

जब आँख खुली तो वह खूब रोया था, पर किसी ने नहीं सुना था।

वह फिर विह्वल-सा सो गया था। खो गया था या अपने-आपको भूल गया था।

सुबह हो गई थी।

बालक की आँख खुल गई थी।

वह भूख और प्यास से बड़े ज़ोर से रो रहा था।

किसी ने बाहर से दरवाज़ा हिलाया था।

बालक और ज़ोर से रोने लगा था।

द्वार खुला था। एक वृद्धा दिखाई दी थी। उसने बड़ी दया से देखा था। बालक रूठा हुआ-सा मुंह फेरकर रो रहा था। गोरा-सा बालक। छोटा-छोटा। बड़ा-सा सिर था उसका।

फिर कुछ और लोग आए थे। उनमें स्त्रियाँ भी थीं।

वे लोग आपस में बातें करने लगे थे।

"क्यों रे ! भूखा है ?" वृद्धा ने पूछा था।

बालक तब उसकी छाती से लगकर रोने लगा था।

सबके नेत्रों में आँसू आ गए थे।

वृद्ध तुलसीदास के नेत्रों में अब भी पानी आ गया। आज वे उस धुँधली-सी छाया में अपने जीवन का प्रारंभ याद कर रहे थे। कितना दारुण था वह समय !! फिर याद आने लगा।

"मैं ले जाऊँगी इसे।" वृद्धा ने कहा था।

किसी ने कुछ कहा था। क्या कहा था, याद नहीं। पर वह बात बड़ी दया से कही गई थी।

वृद्धा ने कहा था, "चल बेटा, मरने दे सबको। हाय कैसे निर्दयी हैं सब लोग ! रात-भर बच्चा भूखा-प्यासा तड़पता रहा। अरे बोलना ही जानता तो सबको भून कर रख देता। यह तो भगवान है भगवान।"

वृद्धा ने दूध दिया था। गिलास मुंह से लगाया था। बालक ने रूठकर मुंह फिरा लिया था। जैसे, रात तू कहाँ थी ! वह क्या जानता था कि उस पर दया की जा रही थी, यह उसका अधिकार नहीं था। किंतु जीवन के प्रारंभ में यह मेरा-तेरा नहीं होता। पहले सीखा जाता है। और यही आगे चलकर आत्मा को ब्यूहों में बाँध लेता है।

"पी ले बेटा," वृद्धा ने मनुहार की थी।

थोड़ा-सा पीकर बालक ने कहा था, "बछ !"

वृद्धा ने गिलास हटाकर कहा था, "भूख मर गई है ?"

फिर पेट छूकर कहा, "अरे पी। अभी तो तेरा पेट खाली पड़ा है। पी ले, जल्दी पी ले···नहीं तो कौआ गिलास ले जाएगा।"

"गाछ !" बालक ने कहा था, अर्थात् गिलास; और दोनों हाथों से गिलास फिर पकड़कर गट-गट दूध पीने लगा था।

बालक बैठ जाता।

वृद्धा कहती, "रामगुलाम !"

"अम्माँ वी।"

वह र, ल, को व कहता था। तुतलाता था।

"तू कहाँ गया था ?"

"बाहव गया था।"

"क्यों ?"

"वब्क वे गया था।"

वृद्धा हँसती।

कहती, "सुनती हो जेठी !"

पड़ोस की कठोर-सी लगने वाली एक बुढ़िया निकल आती। कहती, "क्या है ?"

"मेरा बेटा क्या कहता है ?"

"भला तेरा बेटा !" वह कहती।

बालक देखता, उसे अम्माँ में अनंत स्नेह दिखता। जेठी अत्यंत कर्कशा थी। वह उससे डरता था। वह कभी-कभी डाँटती थी। फिर बालक उसके पास नहीं जाता था। अम्माँ के आँचल में मुँह छिपा लेता था।

"क्यों कड़ी बात कहती हो ?" अम्माँ कहती।

"कड़ी !! तू ही पछताएगी किसनो ! यह तो मंगन कुल का जाया है। इसे तू क्यों ले आई है ?"

"छि: ! जेठी ! घमण्ड की बात न करो। कौन किसे ले आने की सकत रखता है ! जो कुछ होता है उसकी मर्जी से होता है।"

अम्माँ का हाथ आकाश की ओर उठ गया था।

बालक खिसियाया हुआ बैठा था।

"आ जा बेटा, रोटी खा ले।" वृद्धा ने कहा था।

बालक चुपचाप उठ आया था।

वृद्धा ने ठिठककर देखा था जैसे चौंक उठी हो।

पूछा, "तुझे किसी ने कुछ कहा था ?"

"नहीं तो !"

"तो तू आज रूठा क्यों नहीं ?"

बालक आश्चर्य में पड़ गया।

वृद्धा ने कहा, "मेरे लाल। तू रूठ, मैं मनाऊँगी, यही तो तेरा बखत है। फिर कौन किसे पूछता है ! अभी से बूढ़ा क्यों होता है ऐसा ?"

वृद्धा का स्वर काँप उठा था।

बालक चिल्लाया था, "अम्माँ !" और वृद्धा के गले से चिपटकर रोने लगा था। वह भी रोने लगी थी। पता नहीं वह क्यों रो रही थी। पर वहाँ वे रो अवश्य रहे थे।

तुलसीदास चौंक उठे। वह वही स्नेह था जो अब तक शरीर में रक्त बनकर बह रहा था।

फिर···

रामगुलाम सात बरस का था। समझता था।

वह पथ के किनारे एक दुकान के छज्जे पर बैठा था।

"अरे कौन है रे ?" दुकानदार ने पूछा।

नौकर बोला, "वही है राजापुर का कुसौन।"

रामगुलाम ने सुना। सारे कस्बे का कुसौन।

नौकर ने फिर कहा, "अरे उठ, यहाँ से चल। गुरू हटता नहीं। देखा !"

सामने पंडित हरिहर आ गए थे। वे बोले, "अरे बैठने दे उस बेचारे को। काहे को भगाता है !"

"गुरू ! क्या कहते हो ? तुम तो ब्राह्मन हो !"

"ऐं ?" गुरु चौंक उठे—बोले, "क्यों क्या बात है ?"

"चौपट कर देता है ये बेटा।" यों कहकर नौकर ने कुत्ते की तरह अकड़ते हुए कहा, "समझे महाराज !" उसने फिर स्वर उठाया, "जनम लेते ही माँ को खा गया। उसके बाद बाप मार डाला। और फिर नाइन ने दूध पिलाया तो चट कर गया। एक बुढ़िया ने दया की तो उसे उड़ा दिया। बड़ा पहुँचा हुआ है। सनीचर है सनीचर। जिधर आँखें घुमा दीं उधर ही दुनिया को चक्कर खिला दिया।"

ब्राह्मण हरिहर ने कहा, "अरे ! तब तो बड़ा ही मनहूस है यह। भाग बे भाग।"

बालक उठ खड़ा हुआ और हताश-सा इधर-उधर देखकर बढ़ चला। पीछे से ठहाका सुनाई दिया।

आज उसका मन विक्षुब्ध था। क्यों सब उससे घृणा करते थे ! उसका तो संसार में कोई नहीं था !

बालक को भूख लगने लगी थी।

वह आदत के मुताबिक बढ़ चला। पेट की आग जलने लगी तो सब कुछ स्वाहा होने लगा।

बालक ने एक द्वार पर खड़े होकर कहा, "ऐ बाबा ! भूख लगी है, रोटी दे

ओ बाबा !"

भीतर से एक स्त्री ने देखा और क्षण-भर घूरती रही और कहा, "पेट में से निकलते ही माँगने चला आता है, जरा इसे तो देखो। कैसा कलजुग है मैया मैया ! बाबा रोटी दो !"

उसने नकल की।

छपाक ! किसी ने गिलास भरा पानी उछाल दिया।

बालक भीग गया। भाग चला।

कुछ देर खड़ा रहा। क्रोध आ रहा था। पर भूख लग रही थी। उसने कुएँ पर जाकर पनहारिन से कहा, "मैया, पानी पिला दे।"

"तेरा बाप ही मुझे प्याऊ पर रख गया है।" स्त्री ने चटककर कहा। "पानी पिला दे। भिखारी का बेटा, राजा का-सा हुकम ! घर में बच्चे भूखे बैठे होंगे। उन्हें रोटी दूं कि तुझे चराऊँ ?"

वह चली गई।

बालक कुएँ की जगत पर बैठ गया।

कब तक बैठा रहा, याद नहीं।

रात हो गई थी।

वह द्वार-द्वार बिलबिलाता डोल रहा था।

"रोटी दो भागमान !"

"भूखा हूँ।"

"भूखा हूँ।"

"रोटी दो ! तुम्हारा भगवान भला करेगा।"

"अरे कौन है ?" किसी ने कहा—"कौन है वहाँ ?"

"बाबा ! एक भूखा लड़का हूँ।"

"लड़का है।" किसी स्त्री ने दया से कहा—"राम-राम ! अनाथ हो गया लगता है। हममें इतनी ताकत तो नहीं कि तेरी मदद कर सकें, पर द्वार आया है तो तू भी खाता जा।"

बालक वहीं बैठ गया था।

स्त्री आई थी।

हाथ पर दो रोटी रख गई थी।

कितनी अच्छी लगी थीं वह रोटियाँ ! वह धीरे-धीरे खाता रहा था। चाहता था वे रोटियाँ कभी खतम ही न हों। स्त्री भीतर चली गई थी। जब वह खा चुका था तब काँपती हुई दुनिया स्थिर हो चुकी थी। अब बालक को कोई क्रोध नहीं था। केवल संसार की भलमनसाहत का ही चित्र आँखों के सामने था।

आखिर तो देते ही हैं ये लोग !

क्यों देते हैं !!

और फिर वह स्वयं बहुत बुरा है !!

पापी है !!

मनहूस है !!!

इस संसार में सब पर दया करने वाले मौजूद हैं।

उसकी इच्छा हुई गा उठे। सुना हुआ एक भजन गुनगुनाने लगा—

राम तू कृपालु है

राम तू दयालु है।

वह गीत इतना ही था, या इतना ही याद था, यह तब उस बालक को चिंता नहीं थी।

इतना वह जानता था कि राम कोई है ज़रूर ! क्योंकि जो देता है वह उसका नाम ज़रूर लेता है। जो नहीं देता, वह उसका नाम ही नहीं लेता।

राम कोई अच्छा नाम है। अच्छा ही आदमी है ! आदमी !! नहीं वह भगवान है ! भगवान है !!

भगवान कौन है ?

वही तो सबकी सुनता है !!

मेरी भी वही सुनता है !!

ज़रूर सुनता है, नहीं तो यह रोटी कौन दे देता है ? राम ही तो देता है।

बालक का चिंतन फिर एक व्यथा से भर गया था। राम की कृपा को वह जैसे सँभाल नहीं सका था। दया ही तो असंख्य यातनाओं की अनुभूति को जन्म देती है। पशु क्या किसी प्रकार का सम्मान चाहता है ? नहीं। मनुष्य क्यों चाहता है ?

पेट भरना ही यदि सत्य है तो फिर आत्मसम्मान बीच में क्यों आता है ?

पर क्या यह आत्मसम्मान सच है ?

नहीं, पेट इससे भी बड़ा सत्य है।

भगवान पेट को ही देता है। दूसरे लड़के प्यार से खिलाए जाते हैं। रामगुलाम द्वार-द्वार टूक माँगता फिरता है। क्यों ?

क्योंकि उसके कोई नहीं है।

क्यों नहीं है ?

वह बुरा जो है, मनहूस जो है।

वह तो सबको मार डालता है।

पर वह ऐसा क्यों है ?

राम ने ही उसे ऐसा बनाया है ! राम बड़ा निरदयी है। रामगुलाम ने क्या

किया था जो ऐसा उसे दण्ड दिया गया है ?

पर सहसा भय जाग उठा।

रामगुलाम, तू क्या सोच रहा है ?

क्यों ?

तू राम को निरदयी कहता है ?

अभागे, कल से रोटी भी नहीं मिलेगी।

तू नीच है, भयानक है, लोग तुझसे घृणा करते हैं। एक राम ही तो तेरा भरोसा है। वह भी अगर रूठ गया तो फिर तेरा है ही कौन ? और रामगुलाम फिर जल्दी-जल्दी गाने लगा। जैसे वह अपने को अब राम से छिपा लेना चाहता था—

राम तू कृपालु है······
राम तू दयालु है······

राम ने तब नहीं सुना होगा। नहीं, नहीं सुना होगा।

फिर विचार आया, क्यों नहीं सुना होगा ?

तो फिर ?

कल से भूख !!

"हे भगवान दया कर," बालक कह उठा, "तेरे बिना तो मेरा कोई नहीं, तेरे बिना मुझे कौन खाने को देगा ? दर-दर जाता हूँ, ठोकरें खाता हूँ, एक तू ही तो मुझे बचाता है। तू भी रूठ जाएगा तो इस संसार में मेरा है ही कौन···"

रात को गहरे अंधकार में बालक बैठा था। एक विशाल छाया सामने डोलने लगी। काली-काली। बालक भय से चिल्ला उठा। वह अकेला था, चारों ओर सुनसान छाया हुआ था। काली छाया पास आकर खड़ी हो गई।

कौन था !!

बिजार !!!

बिजार ने सूँ-सूँ की और फिर अपना ककुम हिलाता हुआ भारी देह को फर-फराता हुआ आगे बढ़ गया।

शिव का नंदी है। बालक ने दुहराया।

शिव बड़े मेहरबान हैं। उनके सेवक भूत-पिशाच हैं।

बालक काँपने लगा। थर्रा उठा। अंधकार में कोई कहीं चिल्लाया। वह बिल्लियाँ लड़ रही थीं। लगा कोई रो रहा था। बालक सिकुड़कर स्तब्ध हो गया और फिर बड़बड़ाने लगा, "हनूमान ! हनूमान ! जय बजरंगबली, जय बजरंग-बली !"

कब तक वह आँखें मींचे नाम रटता रहा, यह याद नहीं रहा। पर जब आँखें

खोली थीं तब पौ-सी फट रही थी।

बालक वहीं सो गया था।

सुबह उसके मुख पर असंख्य घिनौनी मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। बाज़ार चलने लगा था।

उठा था तो भूख आँतों में कड़कड़ा रही थी। क्या करता वहीं बैठ गया और हाथ फैलाकर कहने लगा, "भूख लगी है बाबा ! खाने को दो···कुछ भीख दो··· भगवान भला करेगा, राम कृपा होगी···"

बालक ने सीधे हाथ से पेट बजाया। और चटाचट की आवाज़ हुई। वह जैसे पेट की सत्ता को बता रहा था कि देखो, यह है, वर्ना मैं तुमसे कभी नहीं माँगता ···कभी नहीं माँगता···

वह असहाय छोटा-सा कोमल बालक वहाँ अपने जीवन और सत्ता के लिए पुकार रहा था···अपना अभिमान गलाकर पेट बजा रहा था···

हलवाई की दुकान से ग्राहक दूध के कुल्हड़ फेंक देते। कुत्ते चाटते। रामगुलाम प्यासी आँखों से देखता हुआ कुत्तों से जलता हुआ होंठों पर जीभ फिराने लगता। ग्राहक देखते और कहते, "अरे यह किसका लड़का है ?"

"यह लड़का है ?" कोई कहता है, "कुत्ता है कुत्ता।"

और जब सब चले जाते तो रामगुलाम कुत्ते से चिपटकर सो जाता। अपनी रोटी में से उसे खिलाता। अब उसे रक्षक मिल गया था। रात का भयानक अँधेरा, बरसात की वे रातें जब बिजली खरतर होकर कड़कती और बादल भयानक स्वर से गर्जन करते, शीत की वे काटती हवाएँ जब दाँत से दाँत भिच जाते, गर्मी की वे भयानक लुएँ, सब उस कुत्ते के सहारे एक-एक करके कटने लगी।

रामगुलाम कुत्ते से कहता, "क्यों रे, तू मुझे छोड़कर तो नहीं जाएगा ?"

कुत्ता कूँ-कूँ करता।

रामगुलाम कहता, "तू कितना अच्छा है ! तू मेरा बड़ा भाई है। देख, सब मुझसे घिन करते हैं, तू मुझे चाहता है। तेरे सिवाय इस दुनिया में मेरा और है ही कौन !"

कुत्ता उसके गाल से सिर सटा देता। कितना प्रेमी जीव था ! वह जैसे इस बालक की समस्त वेदना को समझता था। वह तो बोलता भी नहीं था, परंतु यह अनुभूति की गहराई तो जैसे विचार की वस्तु नहीं, सत्ता के तादात्म्य की वस्तु थी। प्रवृत्ति ने प्रवृत्ति से मेल खाया था। कुत्ता स्नेह से बैठ जाता। वह शेर की तरह गर्दन उठा देता जैसे वह रक्षक था। बालक निर्द्वंद्व-सा उसकी बगल में लेट जाता। फिर सो जाता। कुत्ता बैठकर पहरा दिया करता। क्यों ? क्योंकि रामगुलाम अपनी रोटी में से उसे हिस्सा देता था।

रामगुलाम कहता, "तू जानता है सब। सब जानता है। मैं तेरे सहारे से ही

जीता हूँ। मुझे रात को बड़ा डर लगता है कुंजू !"

कुंजू कुत्ता तब अभय-सा देता। पूँछ हिलाता। फिर वे उठ खड़े होते। कुत्ता डग्ग लगाता और फिर रामगुलाम के साथ बुलकी-सी चाल चलता। रामगुलाम धोती का मैला टुकड़ा पहने रहता। कंधे पर किसी का फेंका हुआ ढीला-सा एक झगला था। मैला, पैबंद लगा। सिर के बाल कंधों तक झूलते थे, घने ! और उसका मुख सुंदर था। आँखें बड़ी-बड़ी और गहरी थीं, काली-काली। बचपन भी कैसी आयु है ! खाने को नहीं मिलता, पर चेहरे पर मासूमियत रहती ही है, उसे तो कोई नहीं छीन सकता ! गाल अपने सहज स्वभाव से कुछ उठे हुए ही रहते हैं। वह छोटा-सा बालक कुत्ते के साथ नंगे पाँव घुटनों-घुटनों धूल तक सना हुआ पथों पर भीख माँगता डोला करता।

लड़के खेल रहे थे। गेंद तड़ी। वे अच्छे-अच्छे कपड़े पहने थे। रामगुलाम खड़ा-खड़ा देख रहा था। कुंजू कुत्ता चला गया था।

रामगुलाम की तरफ गेंद आ गई थी। उसने उठाकर फेंकी थी। किसी के सिर में लगी थी। चोट कनपटी में लगी थी।

वह बैठ गया था।

बालकों ने मुड़कर देखा था।

गंदा ! मैला कुचैला ! !

भिखमंगा ! !

"हमारे साथ तू खेलेगा ?" वे चिल्लाए।

उन्होंने उसे पकड़ गिराया था। मारा था।

रामगुलाम बहुत रोया-चिल्लाया था।

पर वे मारते ही जा रहे थे।

रामगुलाम बेहोश हो गया था।

जब आँख खुली थी, केवल कुंजू पास था। अंग-अंग में पीड़ा हो रही थी। रामगुलाम अब उठकर बैठा था और वह घुटनों में सिर रखकर फूट-फूटकर रो उठा था। दारुण यंत्रणा ने आज उसे व्याकुल कर दिया था। कौन था उसका सहारा !

कुत्ते ने कूँ-कूँ करके कुछ कहा था।

अँधेरा घिर आया था।

वह भाग चला था। कुंजू रक्षा के लिए पीछे भागा था, जैसे एक बार गैर-हाज़िर रहने का शोक उससे भूले न भुलाया जा रहा था।

मंदिर में असंख्य दीपक जल रहे थे।

रामगुलाम भीतर भागा।

लोग चौंक उठे।

आठ बरस का बालक मूर्ति के सामने जगमोहन में चौखट पर सिर पटक-कर रोने लगा, चिल्लाने लगा, "निर्दयी ! तू भगवान है? तूने मुझे जन्म क्यों दिया ? लोग मुझसे घिन करते हैं। द्वार-द्वार भीख माँगता हूँ। वे मुझे आदमी नहीं मानते। कुत्ते के साथ सो-सोकर कितनी डरावनी रातें काँप-काँपकर काटता रहा हूँ। मैंने क्या किया था ? क्यों नहीं मार डालता मुझे ? क्यों नहीं मार डालता मुझे···"

उसका वह फूट-फूटकर रोना देखकर एक चिल्लाया था, "अरे मनहूस ! अपने भाग्य को यहाँ रोने आया है ? जा निकल यहाँ से !"

हलवाई का नौकर बैठा माला फेर रहा था। बोला, "अरे यह वही है। जानते हो ?"

"कौन ?"

"राजापुर का कुसौन।"

सहसा एक लम्बा और गंभीर मुख का ब्राह्मण गरुण परिक्रमा करते-करते रुक गया।

"हाँ, हाँ," हलवाई के नौकर ने कहा, "तुम नहीं जानते ? यह बला सोरों की है।"

"सोरों !" ब्राह्मण अपने-आप बड़बड़ाया।

नौकर कह रहा था, "वहाँ आत्माराम दुबे थे। उन्हीं का बेटा है। माँ हुलसी तो जन्म देते ही मर गई। मूलों में जन्म हुआ है इसका। जो पालता है, वही मर जाता है। सारे राजापुर की रोटियाँ तोड़ता फिरता है। मैं कहता हूँ एक दिन सारे कस्बे को इसका दण्ड भुगतना पड़ेगा।"

ब्राह्मण आगे बढ़ आया।

स्वामी नरहरि को बालक की ओर बढ़ते देखकर पुजारी चौंक उठे।

"किसका पुत्र है यह ?" स्वामी नरहरि ने गंभीर स्वर से पूछा।

हलवाई के नौकर ने साष्टांग दण्डवत् की और कहा, "महाराज ! पंडित आत्माराम दुबे का।"

"ब्राह्मण का पुत्र !" नरहरि के स्वर में कंप और वेदना भर गई, मानो वे इस दारुण चोट को सह नहीं सकते थे।

"हाँ महाराज !"

नरहरि ने देव विग्रह की ओर हाथ उठाकर कहा, "अक्षय जीवन के स्वामी ! वेद पुरुष ! देख रहे हो ? कलि का ताण्डव नृत्य हो रहा है ! ब्रह्मा के मुख में से जन्म लेनेवालों के पुत्र पथों पर घर-घर टुकड़े तोड़ते, कुत्तों के साथ जीवन

व्यतीत कर रहे हैं। म्लेच्छों के शासन में और होगा भी क्या प्रभु ! देश और प्रजा में धर्म लुप्त हो रहा है।"

ब्राह्मण का वह गंभीर गर्जन सुनकर हलवाई का नौकर थर-थर कांपने लगा। राजापुर के लोग, जो इधर-उधर खड़े थे, वे स्तब्ध हो गए। नरहरि की दीर्घ काया रामगुलाम के पास पहुंच गई। रामगुलाम को लगा स्वयं भगवान उस दिव्यमूर्त्ति में उतर आए थे। उसने उनके पांव पकड़कर कहा, "भगवान मेरे राम ! मेरे राम !!"

बालक की वह आर्त्तवाणी सुनकर स्वामी नरहरि का हृदय विचलित हो उठा। उन्होंने कहा, "राजापुर और सोरों के निवासियो ! तुमने वेद पुरुष का निरादर किया है। तुमने ईश्वर का अपमान किया है। ब्राह्मण ब्राह्मण ही है। जानते हो यह बालक आज क्यों रो रहा था ? क्यों नहीं इसने भिखारी और कुत्सित प्राणी की भांति जीना स्वीकार कर लिया ? इसलिए कि इसमें ब्रह्मा का तेज है। यह पृथ्वी के देवता का रूप है। यह, यह बालक नहीं है, यह अग्नि है। सनातन काल से चले आते शासन का यह समर्थ उत्तराधिकारी है। तुमने ब्राह्मण के पुत्र को कुत्तों के साथ दारुण दुःख देकर रुलाया है। ऐ मधुसूदन ! हे राक्षस-कुलहंता ! देखते हो ? इसी पवित्र जम्बूद्वीप में यह क्या हो रहा है ?" ब्राह्मण जैसे व्याकुल हो गया। वह अपने-आपसे बात करने लग गया, "अरे कलि ! तेरा इतना दुस्साहस ! तू पृथ्वी पर रहनेवाली देवज्योति को ही बुझा देना चाहता है ? जानता नहीं, ब्राह्मण का बीज अंगार है। अत्याचार की प्रचण्ड झंझा भी उसे बुझा नहीं सकती ! नारायण ! जनार्दन ! धिक्कार है शूकरक्षेत्र के ब्राह्मणों को जिन्होंने अंधविश्वास में इस बालक को असहाय त्याग दिया। धिक्कार है राजा-पुर के ब्राह्मणों को जिन्होंने ऋषि गौरव को भूलकर अपने ही स्वजातीय बालक को इतना जघन्य जीवन व्यतीत करने को बाध्य किया। यह कौन है ? यह भृगु और अंगिरा की पवित्र संतान है। इसी रूप को देखकर स्वयं भगवान रामचंद्र और स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने वंदना की थी। यह मुनियों की संतान है, यह साधारण मानव नहीं है। यह ब्राह्मण है। इसकी वंदना करके प्रायश्चित्त करो, अन्यथा कलि तुम सबका सर्वनाश कर देगा।"

ब्राह्मण की यह गंभीर ललकार सुनकर सब लोग कांप उठे।

स्वामी नरहरि ने हाथ बढ़ाकर कहा, "ब्राह्मणो आओ ! उद्धार करो। अब तक इस बालक का कोई संस्कार नहीं हुआ। इसे द्विज बनाओ। जो भक्ष्याभक्ष्य, छुआ-अनछुआ इसने अज्ञान में खाया है, उसका प्रायश्चित्त कराओ। ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण है।" फिर वे हठात् रामगुलाम से बोले, "तूने म्लेच्छ का तो छुआ नहीं खाया ?"

"नहीं भगवान !" बालक ने गर्व से सिर उठाकर कहा।

नरहरि ने रामगुलाम को वक्ष से लगा लिया और आनंद से रो पड़े। उन्होंने कहा, "देवाधिदेव ! तूने रक्षा कर दी। तूने रक्षा कर दी।"

"मैंने किसी अछूत का दिया नहीं खाया।" बालक ने कहा।

नरहरि गद्‌गद हो गए। उन्होंने पुजारी से कहा, "चरणामृत दो ब्राह्मण देवता ! मैं बालक के समस्त संस्कार करूँगा।"

पुजारी ने चरणामृत दिया।

नरहरि ने कहा, "तेरा नाम क्या है वत्स ?"

"रामगुलाम !"

"नहीं। आज से तू रामबोला है। इसे पी जा !"

बालक ने पीकर पाँवों पर सिर रखकर प्रणाम किया। नरहरि ने कहा, "राम-बोला ! कल मैं तेरा यज्ञोपवीत संस्कार करूँगा। तू यहीं रह।" फिर पुजारी से कहा, "आज इसे खाने को भोग दो ब्राह्मण देवता !"

पुजारी ने कहा, "ले तुलसीदास खा ले। इसमें ही समस्त पापों को हर लेने की शक्ति होती है।"

"ठीक है," नरहरि ने कहा, "आज से रामबोला नहीं, तेरा नाम तुलसीदास है। समझा ! अब तू पवित्र हुआ। कल और भी संस्कार होंगे। याद रख, तू ब्राह्मण है, ब्राह्मण !" कहते हुए नरहरि के उन्नत ललाट पर एक गौरव छा गया। उन्होंने हाथ उठाकर कहा, "वत्स ! तेरे पूर्वजों के सामने देवताओं और स्वयं नारायण ने घुटने टेककर वंदना की है। तेरे पूर्वज महर्षि भृगु ने जब क्रुद्ध होकर साक्षात् शेषशायी विष्णु के वक्ष पर पदाघात किया था, तो अनंत नारायण ने मुसकराकर केवल उनका पाँव दबाकर उन्हें प्रसन्न कर दिया था ! तेरे पूर्वजो का क्रोध विकराल था वत्स ! अत्याचारी राजा वेन के प्रहारों से जब प्रजा त्राहि-त्राहि करने लगी थी, तब ब्राह्मणों ने उस दुर्धर्ष दुराचारी को हुंकारों से ही भस्म कर दिया था। मदांध सगर के 60,000 पुत्रों ने जब महर्षि कपिल पर लांछन लगाया था तो उस समय ऋषि की एक दृष्टि से वे सब राख होकर गिर पड़े थे। पुत्र ! महर्षि दुर्वासा के प्रचंड क्रोध के कारण एक ही शाप से छप्पन करोड़ यादवों का सर्वनाश हो गया था। तू उन देदीप्यमान ब्रह्मपुत्रों की संतान है। एक-एक ब्राह्मण वेद के रहने का पवित्र स्थान है। आज म्लेच्छों के कारण प्रजा में कलि का अट्टहास हो रहा है और व्यामोह में वे ही पवित्र ब्राह्मण अपने त्रैलोक्य को कंपित करने वाले पराक्रम को भूलकर आज भटक रहे हैं ! क्या समझते हो तुम लोग ? यह अन्याय यों ही चलता रहेगा ? शूद्र ब्राह्मण बन रहे हैं, म्लेच्छ धर्मनाश कर रहे हैं। चारों ओर वर्णाश्रम का ध्वंस हो रहा है ! लेकिन याद रखो। अनेक बार पाप ने सिर उठाया है। कहाँ हैं वह हिरण्याक्ष और हिरण्यकश्यप, कहाँ हैं नमुचि और विप्रचित्ति ! कहाँ हैं रावण और कंस ! फिर अवतार होगा…"

और ब्राह्मण का वज्र स्वर गूँजा—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः !

योगेश्वर कृष्ण ने कहा है कि हे परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के तथा शूद्रों के भी कर्म स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों के आधार पर विभक्त किए गए हैं अर्थात् पूर्वकृत कर्मों के संस्कार रूप स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणानुसार विभक्त किए गए हैं। यही कारण है कि ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण ही है। पुत्र ! उठ ! शेष-शायी नारायण ने स्वयं श्रीकृष्ण के रूप में आकर कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे !

पुजारी ने बाहर आकर कहा, "बोल तुलसीदास ! स्वामी नरहरि गुरु हैं ! उनके चरण पकड़कर बोल—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा
त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः
करिष्ये वचनं तव ॥[1]

बालक तुलसीदास ने शुद्ध स्वर में धीरे-धीरे अपनी कोमल और पतली आवाज़ में श्लोक दुहराया।

स्वामी नरहरि आनंद से रोते हुए पुकार उठे—"सुनते हो। ब्राह्मण का पुत्र देशभाषा का कैसा शुद्ध उच्चारण करता है। अरे ब्राह्मण के मुख में ही सरस्वती बैठती है। वही परा पश्यंती और वैखरी का स्वामी है। उसकी जिह्वा पर सृष्टि के प्रारंभ से मृत्युञ्जय गिरा अपना निवास करती आई है। सुनते हो ?"

सब गद्‌गद-से खड़े रहे।

भीड़ में से निकलकर किसी ने बालक के मैले वस्त्र उतारकर उसे स्वच्छ वस्त्र पहनाने को बुलाया। बालक को नहलाया गया। पञ्चगव्य पिलाकर वस्त्र पहनाए गए।

गोरे बालक के भीगे और कढ़े हुए केश उसके कंधों पर बिखर गए। माथे पर चंदन लग गया। क्षण-भर पहले का भिखारी इस समय कितना सुन्दर लग रहा था ! उसके बैठने में कितना गौरव था। आज उसका सिर उन्नत था। वह

1. हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे फिर स्मृति प्राप्त हुई है। इसलिए मैं संशयरहित हुआ स्थित हूँ और आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

जैसे सबको भूल गया था। या तो वह भगवान की मूर्ति को देखता था, या फिर गुरु नरहरि के चरणों की ओर।

आरती होने लगी। असंख्य दीपशिखाएँ अंधकार में नाचने लगीं। चमचमाते चाँदी, ताँबे और पञ्चधातु के पात्र आलोक में बार-बार भास्वर हो उठते। अगरु-धूम जगमोहन में घूमने लगा। गूँजती झालरों और घननाद करते विशाल घण्टे का तुमुलनिनाद मंदिर और आकाश में गूँजने लगा। ब्राह्मणों के मुख से प्रतिध्वनित होती हुई वेदध्वनि अब अंतराल में भरने लगी। आरती की शिखाओं के घूमने से कभी भगवान का मुख देदीप्यमान हो उठता, कभी उनके चरण उजागर हो उठते।

असंख्य लोग एक ध्यान एक लौ से तन्मय हुए हाथ जोड़े खड़े थे। कोलाहल ने उनके सांसारिक विद्वेषों को क्षुब्ध करके क्षण-भर को हटा दिया था। वह प्रचंड कोलाहल, वह जगमगाती शिखाएँ, वह पवित्र करने वाला अगरुधूम और सस्वर गूँजने वाली वह वेदध्वनि, ये सब मिलकर व्यक्ति को एक महान की ओर ध्यानस्थ करने लगे, वही महान जो साकार रक्षक बनकर धनुष-बाण लिए खड़ा था।

आरती समाप्त हो गई। ध्यान टूटा। लोग चिल्ला उठे, "बोल श्री सीताराम जी महाराज···की जय !"

वह प्रचंड स्वर बराबर उठा और गूंजा। तब पुजारी ने आरती का कपूर बाहर फेंक दिया। जलता कपूर गंध दे रहा था। लोग उसके धुएँ को छूकर आँखों से लगाने लगे। तुलसीदास ने भी लगाया। सब दण्डवत करने लगे। नरहरि भी लेट गए। तुलसीदास भी लेट गया। जब वे सब उठे तो जीवन हल्का दिखाई दिया।

स्वामी नरहरि स्तुति करने लगे।

पुजारी ने तुलसीदास से कहा, "वत्स ! तू भी प्रार्थना कर !"

बालक ने नरहरि की ओर देखा और अभय मुद्रा देखकर हठात् उसके मुख से निकला—

"मेरा भगवान मेरा गुरु है महाराज ! वही मेरा राम है।"

नरहरि ने आश्चर्य से आँख फाड़कर देखा और फिर विभोर स्वर में पुकार उठे, "जनार्दन ! गौ, ब्राह्मण और वेदोद्धारक ! तेरी लीला तेरी ही। सुवर्ण कैसी भी मिट्टी में मिला रहे, किंतु सोना सोना ही है, मिट्टी मिट्टी ही है—"

भोर हो गई थी। मंदिर के सामने स्वामी नरहरि बैठे थे। अन्य पंडितजन भी उपस्थित थे। वे रेशमी पटुके गलों में पहने थे और उनकी धोतियाँ पीले रेशम की थीं। वे हवन करने लगे। तुलसी को बिठाया गया। वेदमंत्रों से उसकी शुद्धि की गई। सिर मुँड़ा दिया गया। वही बालक जो कल तक सबको भयानक लगता

था, आज वह शांत और सौम्य दिखाई देता था। स्त्रियों के मन में भी उसके प्रति करुणा थी। आज उन सब लोगों ने देखा कि वह तो केवल एक छोटा-सा बच्चा था और कुछ भी नहीं। किसने जबर्दस्ती यह भ्रम पैदा कर दिया था कि वह भयानक था।

स्वयं नरहरि ने ब्रह्मगांठ तुलसी की अनामिका और अँगूठे के बीच में दबवाकर कहा, बोल—"यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं

प्रजापतेऽ······"

तुलसीदास पतले स्वर से दुहराने लगा। उसके कंधे पर जनेऊ चमकने लगा।

"देखते हो!" नरहरि ने कहा, "कितना तेजस्वी और होनहार लगता है यह ब्राह्मण का बालक!" फिर उन्होंने आकाश की ओर हाथ उठाकर कहा, "हे परमात्मा! ब्राह्मण-संतान आज पेट की भूख से व्याकुल होकर द्वार-द्वार भटक रही है। क्या ऐसा दिन नहीं होगा कि फिर से वसुंधरा मुक्त हो सके!"

पुजारी मंगल ने कहा, "स्वामीजी! सूरी शेरशाह ने जो हुमायूँ को भगा दिया था न, वह मुगल फिर लौट आया है, सुना है मैंने।"

"सब ही एक हैं भाई।" नरहरि ने कहा, "सब ही म्लेच्छ हैं। पाँच शताब्दियाँ बीत गई। म्लेच्छों ने काश्मीर, पंजाब, सिंधु, बंगाल, कामरूप, सबको कुचल दिया। देवगरि से इन्होंने तो 27 मन जवाहिरात लूटा था! कितनी कुलीन जातियों को पदाक्रांत नहीं किया। एक ही सिंह था, राणा संग्रामसिंह, अब वह भी नहीं रहा। पता नहीं भगवान की शायद यही मर्जी है। सोमनाथ का विध्वंस होने पर भीमदेव ने उसे फिर बनवाया था, परंतु वह फिर तोड़ दिया गया। इस पुनीत वसुधा के देव-मंदिर यों ही नष्ट हो रहे हैं! और फिर मुसीबत तो दूसरी है।"

मंगल ने कहा, "क्या गुरुदेव?"

"म्लेच्छ क्या हैं मंगल!" नरहरि ने कहा, "शूद्रों ने सिर उठाया है। वे लोग वर्णाश्रम नहीं मानते। राजा विधर्मी है, सब कुछ रसातल को चला जा रहा है। समझते हो न?"

"क्यों नहीं, क्यों नहीं," एक और वृद्ध पुजारी ने कहा, "लोगों में श्रद्धा ही नहीं रही। हम क्या करें?"

'संस्कृत वे जानते नहीं, उधर जोगियों ने और इन पाखंडी पंथवादियों ने तो निगमागम की प्रामाणिकता को ही चुनौती दे दी है!" मंगल ने हाँ में हाँ मिलाई।

नरहरि ने कहा, "यही तो अधोपतन का कारण है।"

"तो गुरुदेव!" तुलसीदास पूछ बैठा, "उन्हें भाषा में क्यों नहीं समझा देते सब। वे सब मान जाएँगे।"

मंगल ने कहा, "वह कैसे हो सकता है रे! देवभाषा का खजाना केवल ब्राह्मणों की संपत्ति है।"

नरहरि ने तुलसीदास को घूरकर देखा और जैसे वे कुछ सोच में पड़ गए।

यह बालक अचानक ही क्या कह गया था !

बात तो ठीक थी।

जनता तो ठीक से अपने धर्म को जानती ही न थी ! धर्मशास्त्र बनते थे, उनकी टीकाएँ बनती थीं, टीकाओं की व्याख्याएँ लिखी जाती थीं, व्याख्याओं पर कारिकाएँ लिखी जाती थीं, किंतु वह तो सब ब्राह्मणों में संस्कृत के माध्यम से होता था। जनता को यह निर्गुणिए, नीच जातियों के पाखंडी बहका लेते थे।

नरहरि सोचने लगे।

न जानने वाली पूजा में इतनी श्रद्धा है तो उसे बता देने पर वह कितनी अधिक श्रद्धालु नहीं हो जाएगी !

परंतु तुलसीदास नहीं जानता था। वह तो कहकर ही भूल गया था। नरहरि ने कहा, "बेटा तुलसी !"

"हाँ महाराज !"

"तुझे पढ़ना आता है !"

"नहीं महाराज।"

"लिखना भी नहीं आता होगा !!'

"नहीं।"

"अ आ इ ई पहचान लेता है ?"

"नहीं।"

नरहरि को विषाद हुआ, बोले, "देखते हो मंगल ! ब्राह्मण के एकाधिकार को भी कलियुग छीन ले रहा है। तुलसीदास !!"

"गुरुदेव !"

"तुझे मैं पढ़ाऊँगा, तू पढ़ेगा ?"

"मैं वही करूँगा गुरुदेव ! जो आप कहेंगे।" तुलसीदास ने अबोध और निर्मल दृष्टि से देखते हुए कहा।

नरहरि प्रसन्न हो उठे।

कहा, "मंगल, प्रबंध करो।"

"किसका महाराज ?"

"हम शूकर क्षेत्र लौटेंगे।"

"क्यों स्वामी जी ?"

"इस समय मन यही कह रहा है। भगवान की यही इच्छा है।"

"जो आज्ञा महाराज !"

"जी महाराज !"

"अवश्य गुरुदेव !"

नरहरि की यह कृपा देखकर कई लोग तुलसीदास से मन-ही-मन जल उठे, पर स्वामी नरहरि के आगे कौन बोलता है ? प्रबंध हो गया। नरहरि ने पुकारा, "तुलसीदास !"

"मैं यह रहा गुरुदेव !" तुलसीदास ने पतली आवाज़ से कहा, "आपकी खड़ाऊँ के पास तैयार खड़ा हूँ।"

नरहरि ने प्रसन्न दृष्टि से देखा और आगे बढ़ आए। तुलसीदास उनके पीछे-पीछे चलने लगा।

बाहर रथ खड़ा था। नरहरि तुलसीदास को लेकर सवार हुए। रथ चल पड़ा।

"गुरुदेव !"

नारायण पुकार रहा था।

तुलसीदास नहीं जागे।

"गुरुदेव !!" वह पुकार उठा।

"कौन ?" वे चौंक उठे।

"मैं हूँ नारायण ! आप सो रहे थे क्या ?"

"नहीं बेटा, मैं तो लेटा था।"

"वैद्यजी की दवाई मलूक ने पीसकर तैयार कर दी है।"

"नहीं, अब लगाने की ज़रूरत नहीं है।"

"क्यों गुरुदेव ?"

"कोई अमर होकर नहीं आता वत्स !"

"गुरुदेव !!" नारायण ने रुँआसे कण्ठ से कहा।

"तू मोह में पड़ गया है नारायण ! क्या तुलसीदास ही जिया करेगा ? सौ वसंत बीतकर पतझर बन गए। मृत्यु अंत में आ रही है। मैं उसे आते हुए देख रहा हूँ। वह आ रही है। धीरे-धीरे पाँव रखती हुई बढ़ती चली आ रही है। नारायण ! चारों ओर अँधेरा-अँधेरा-सा घिरा आता है, परंतु उस घोर कालिमा में मेरा धनुर्धारी खड़ा हुआ मुझे अभय देता है।"

नारायण को कुछ सूझा नहीं। उसने देखा मलूक भीतर आ गया था। उसने हाथ से इशारा किया जैसे कोई उम्मीद नहीं दिखाई देती और इसके लिए उसने अपने हाथ की उँगलियाँ खोलकर फैला दीं। हथेली आकाश की अर्धसीमा के नीचे धरती की भाँति खुलकर फैल गई। मलूक ने देखा तो उदासी से सिर हिलाया। पास आकर स्वर उठाकर कहा, "बाबा !!"

वृद्ध तुलसीदास ने मुसकराकर आँखें खोल दीं और बोल उठे, "पागल ! मैं क्या अब अचेत हूँ ? जो तू चिल्लाता है ?"

मलूक लज्जित हो उठा।

वृद्ध तुलसीदास ने कहा, "मलूक ! तू तो बड़े सुरीले गले से गाता है।"

मलूक चुप रहा।

"गा मलूक।" तुलसीदास ने फिर कहा।

मलूक बैठ गया।

और फिर उसने बिलावल की तान छेड़ी। उसकी कोमल स्वर-लहरों को सुनकर तुलसीदास के होंठों पर मुसकराहट छा गई। वह बड़ी तृप्ति थी, ओ आज उस सौम्य और शांत मुख पर स्थिर हो गई थी। नारायण द्वार के पास दीवार से सिर टिकाए विभोर-सा, और परिश्रांत-सा खड़ा रहा।

गीत गूंजने लगा—

"कहाँ जाऊँ कासों कहौं ?
को सुनै दीन की ?
त्रिभुवन तुही गति
सब अंगहीन की ॥
जग जगदीस घर
धरिन घनेरे हैं।
निराधार को अधार
गुनगन तेरे हैं ॥
गजराज काज खगराज
तजि धायो को ?
मोसे दोस-कोस पोसे,
तोते माय जायो को ?
मोसे कूट कायर कुपूत
कौड़ी आध के।
किये बहुमोल तैं करैया
गीध स्राध के ॥
तुलसी की तेरे ही बनाए,
बलि बनैगी।
प्रभु की विलंब अब
दोष दुख जनैगी ॥"

आत्म-समर्पण का वह स्वर गूंजकर कोठे में स्थिर हो गया। अपनी सत्ता की अभिव्यक्ति आज अपना अहं तोड़कर तन्मय हो उठी थी। दैन अपने व्यक्तित्व के सीमित पाशों को खण्डित कर देना चाहता था।

"क्यों रुक गया मलूक ?" वृद्ध ने पूछा।

"बाबा !" मलूक ने कहा, "गीत समाप्त हो गया।"

"गीत समाप्त हो गया पर विनय की याचना तो नहीं मिटी बेटा ! भगवान की प्रार्थना का भी क्या अंत है ? जहाँ शब्द समाप्त हो जाते हैं, वहाँ भी उसकी याद समाप्त नहीं होती। अंत के पास जाते-जाते तो सदैव ही सब माध्यम पूरे हो चुके हैं। वहाँ जहाँ पूर्ण है, वहाँ किसी भी प्रकार के अपूर्ण की सत्ता कब तक उसकी महत्ता को सँभाले रह सकती है ! गीत भले ही चुक जाएँ, पर मन की वाणी को ही उस पर उँड़ेलता जा बेटा !"

मलूक और नारायण ने एक-दूसरे की ओर देखा और उनकी आँखों में आदर-भावना चमक उठी।

महाकवि तुलसीदास अपने अंतिम समय में जो कह रहे थे, वे उसे सुन-सुनकर एक ओर दुःखी और दूसरी ओर स्तब्ध हो उठते थे। इस समय व्यक्तित्व अपने समाज पक्ष को छोड़ना चाहता था। वहाँ आराधना एक नतशिर वंदना बन गई थी, जो अपने बाह्य आवरणों को काटकर फेंक देना चाहती थी।

वृद्ध तुलसीदास ने कहा, "और गा मलूक ! आज के बाद मैं इस देह में फिर कभी यह पवित्र राम का नाम नहीं सुन सकूँ। एक बार और गा मलूक ! ऐसे गा कि तेरा स्वर ही मेरे रोम-रोम में प्रतिध्वनित आलोक बनकर समा जाए और राममहिमा की अनंत करुणा मुझे अपने-आपमें आत्मसात् कर डाले, जब मेरे और मेरे आराध्य के बीच में कोई भी व्यवधान शेष नहीं रह जाए। ऐसे गा मलूक कि मेरी सत्ता तो मिट जाए परंतु एक अरूप प्रार्थना-सी कल्प-कल्प तक गूंजा करे और उसमें से दीनदयालु कोदण्डपाणि सीतापति राम के चरणारविंदों का ही गुण-गान उदित होते हुए सूर्य के समान चमका करे।"

मलूक उस आह्वान को सुनकर अपने-आपको जैसे भूल गया। उसे क्षणभर लगा कि वह महान की छाया में है, महान का वरद हस्त उस पर है, वह महान के महान गीत गाने को उकसाया गया है और स्वयं उसका जीवन लघु नहीं है। उसकी भी अपनी सार्थकता है। और वह सार्थकता राम के दरबार में उसे गुरुदेव की असीम कृपा से प्राप्त हो रही है। आत्म-अनुभूति की वह एक झलक उसे असीम शक्ति से भर उठी। उसने फिर तान छेड़ी—

बारक बिलोकि बलि
कीजै मोहि आपनो।
राम दसरथ के
तू उथपन - थापनो॥
साहिब सरन पाल
सबल न दूसरो।

तेरो नाम लेत ही
सुखेत होत ऊसरो ।।
बचन करम तेरे
मेरे मन गड़े हैं
देखे सुने जात मैं
जहान जेते बड़े हैं ।
कौने कियो समाधान
सनमान सीला को ?
भृगुनाथ सो ऋषी
जितैया कौन लीला को ?
मातु पितु बंध हित,
लोक बेदपाल को ?
बोल को अचल,
नत करत निहाल को ?
संग्रही सनेहबस
अधम असाधु को ?
गीध सबरी को, कहो,
करि है सराध को ?
निराधार को अधार
दीन को दयाल को ?
मीत कपि केवट
रजनिचर भालु को ?
रंक निरगुनी नीच
जितने निवाजे हैं,
महाराज सुजन,
समाज ते विराजे हैं।
साँची बिरुदावली
न बढ़ि कहि गई है,
सीलसिंधु ढील
तुलसी की बार भई है ।।

वृद्ध तुलसीदास के नेत्रों से आनंद के अश्रु बह रहे थे। मलूक ने कहा, "गुरुदेव !!"

वह आर्त्त परंतु गद्गद स्वर था।

"डर नहीं बेटा ! भयभीत मत हो। देखता है। मैंने कुछ झूठ तो नहीं कहा ?

परंतु देख ! तुलसी की बार तो ढील हो ही गई है।"

ढील शब्द में कितना ममत्व था, जैसे समुद्र हिलोरें ले रहा हो। गर्जन नहीं, उसमें से प्रार्थना का समर्पण गूंजता है, पवनरूपी यातना उसकी उद्वेगभरी वासना की लहर-लहर को दृढ़ता की चट्टानों पर फेंककर खंड-खंड करती है, फेन बनकर अहं का उन्माद बिखर जाता है और फिर समुद्र का-सा स्नेह आदर से हिल्लोलित होने लगता है।

नारायण ने कहा, "मलूक ! गुरुदेव को आराम करने दे।"

मलूक उठ आया।

गुरुदेव ने फिर शांति से आँखें मूंद लीं।

फिर न जाने कहाँ से एक हल्का-सा उजाला हुआ। फिर उस उजाले में दो चरण दिखाई दिए। उन चरणों को देखकर तुलसीदास छोटा होने लगा। अब वह फिर आठ वर्ष का हो गया था। उसने सिर ऊपर उठाकर देखा। वह दृष्टि चरणों से ऊपर उठती हुई जाकर मुख पर टिक गई। अरे ! यह तो गुरुदेव नरहरि का मुख था। शांत दिव्य ! उस पर कितना गौरव और आत्मविश्वास था !

बालक तुलसीदास ने उन चरणों पर सिर रखकर पूर्ण भक्ति से प्रणाम किया। आलोक की शरण में जैसे कीचड़ में उगने वाला पंकज शतदल कमल बनकर मुखरित हो जाता है, वैसे ही वह गुरु के चरणों में विकस उठा था। गुरु ने कहा था, "शतायु भव ! आयुष्मान् भव !"

"वत्स !" गुरुदेव ने कहा था।

"हाँ गुरुदेव !"

"शूकर क्षेत्र कैसा है ?"

"अच्छा है !"

"यही तेरी जन्मभूमि है।"

बालक नहीं बोला।

गुरुदेव ने कहा, "यह पवित्र भूमि है वत्स ! यह आर्य्यावर्त्त है। यहाँ पवित्र भागीरथी बहती है। यही पुण्यतोया धारा कलि में पतिततारिणी है। इसे कौन इस पृथ्वी पर लाया था, जानता है ?"

"नहीं गुरुदेव !"

"तो सुन !" गुरुदेव ने कहा।

बालक ध्यानमग्न सुनने लगा। वे कथा सुना गए। बालक अपने को भूल-सा गया था। गुरुदेव कह रहे थे, "तब भगीरथ का रथ आगे-आगे चलने लगा, पीछे-पीछे सुरसरि आने लगी और फिर समुद्र में गिरने लगी। इसमें वेद के बाद अखंड महिमा है।"

बालक ने कहा, "गुरुदेव, मैं वेद कब पढ़ूंगा ?"

नरहरि प्रसन्न हो उठे। बोले, "तू अवश्य पढ़ेगा। परंतु वह काम सहज नहीं। बारह वर्ष में तू पढ़ सकेगा।"

"मैं बीस बरस पढ़ूंगा गुरुदेव! मैं सीख तो जाऊँगा न ? वेद तो बहुत बड़े होंगे न ? मैं छोटा हूँ। मुझमें इतनी अकल है ?"

"सब है वत्स ! श्रद्धा रख। शास्त्र पर संदेह न कर। तू सब सीख जाएगा।"

बालक विस्मृत-सा लग रहा था।

"तूने सूत्र याद कर लिए ?"

"हाँ गुरुदेव !"

"तो ठीक है। जब तू लघुकौमुदी समाप्त कर लेगा तुझे मैं आगे पढ़ाऊँगा। उत्तर देश में तो अब काशी के अतिरिक्त मुझे कहीं योग्य ब्राह्मण ही दिखाई नहीं देते। दक्षिण में तो अभी बहुत धर्म है। वहाँ म्लेच्छों का ऐसा प्रभाव नहीं है। अब भी देव मंदिरों में वहाँ वेद-निर्घोष होता है। और दिशाओं में ब्राह्मण का जय-जयकार होता है।"

बालक ने सुना तो कहा, "गुरुदेव ! वहीं क्यों नहीं चलते !"

"वहाँ नहीं वत्स ! फिर यहाँ कौन रहेगा ?"

बालक ने सिर हिलाया। कहा, "एक बार देख आवें, फिर लौट आएँगे।"

"ऐसा भी होगा, पर अभी उसका समय आने दे। तू जाकर पाठ याद कर।"

रात का समय था।

"तुलसीदास !" गुरुदेव ने बुलाया।

"हाँ गुरुदेव, आज्ञा !"

"बेटा, यह आले में अरण्य का तेल है, एक चमचा पी ले।"

"अच्छा नहीं लगता मुझे।" बालक ने कहा।

"नहीं बेटा ! दिन-भर पढ़ता है तू। उससे खुश्की बढ़ जाती है न ? तेल पीने से बुद्धि कुशाग्र होती रहेगी क्योंकि खुश्की नहीं रहेगी।"

बालक ने पी लिया, मुँह बनाया। गुरुदेव ने हँसकर उसके सिर पर हाथ फेरा और कहा, "बेटा ! तू पढ़ता है न ? ब्राह्मण का काम पढ़ना-पढ़ाना, अध्ययन-अध्यापन ही है। वही धर्म है। धर्म के लिए कष्ट भी उठाना पड़ता है और यह कष्ट वास्तव में सुख है। उसका निबाहना कष्टकर लगता इसलिए है कि कष्ट न होते हुए भी पाप और अधर्म की झूठी झिलमिल में वह डूब जाता है।"

"कलि भी तो है गुरुदेव !" बालक ने सोचकर कहा, "इसमें पाप ही तो बढ़ता है। गुरुदेव ! पहले ब्राह्मणों का बड़ा सम्मान था ?"

गुरुदेव ने लम्बी साँस ली। उस दीर्घ निःश्वास में बड़ा दुःख था। वृद्ध नरहरि

के मुख पर अस्तंगमित महिमा अपने अंतिम विसर्जन वाले रूप को ही प्रतिभासित कर सकी।

उन्होंने कहा, "जानता है बेटा ? यह देश कौन-सा है ? मनु ने क्या कहा है ?"

"नहीं गुरुदेव !"

"यहीं आदि सभ्यता का केंद्र था। यहीं से संसार में आलोक फैला था। यहीं से निकलकर मेधावियों ने दिशांतों तक सत्य का शब्द प्रतिध्वनित किया था। बर्बरों, म्लेच्छों को हमारे ही पूर्वजों ने मनुष्य बनाया था। लेकिन आज ?"

गुरुदेव का स्वर काँप गया।

"आज क्या गुरुदेव ?" तुलसीदास ने पूछा। उसके मुख पर असीम जिज्ञासा थी।

"आज !" नरहरि ने गंभीर स्वर से कहा, "वह सब गौरव खंड-खंड हो गया।"

"क्यों ?"

"क्योंकि ब्राह्मण ने अपने को गिरा लिया।"

"कैसे गुरुदेव ?"

"वह लोलुप हो गया, उसने अपना चारित्र्य खो दिया। और इसीलिए उसका अधःपतन हो गया। शताब्दियों से जो शासन देता रहा था वह पेट के लिए अपना धर्म बेचने लगा। सर्वनाश हो गया।"

"तो गुरुदेव !" बालक तुलसी ने कहा, "क्या इससे छुटकारा नहीं होगा ? इसका अंत कब होगा ?"

"जब ब्राह्मण फिर से अपने गौरव को पहचानेगा, जब फिर वह अभयंकर निनाद करके मृत्यु को ललकारने लगेगा। पुत्र ! ब्रह्मा के मुख से उसने जन्म लिया है। ब्राह्मण जलती हुई अग्नि के समान है, जो भी उस में हाथ देगा उसे भस्म होना ही पड़ेगा। म्लेच्छों ने सारे जम्बूद्वीप को अपवित्र कर दिया है। उसके शासन में अन्याय और अत्याचार हो रहा है। दरिद्र पीसे जा रहे हैं। लोगों पर कर बढ़ रहे हैं। जोगी और निर्गुणिये जाति-व्यवस्था के विरुद्ध उठ रहे हैं। दक्षिण में लिंगायत वेद का विरोध कर रहे हैं। जानता है यह सब क्यों हो रहा है ? क्योंकि देश पर अनाचार का शासन है। हिंदू राजा अपने प्राचीन गौरव को भूलकर कुत्तों की तरह विदेशी के सामने जीभ लटकाए बैठे हैं और पराए हाथों में पड़कर यह बाज अपने ही देश की प्रजा रूपी चिड़ियों का शिकार कर रहे हैं। वे अपने स्वार्थों में पड़कर देश का गौरव भूल गए हैं। वर्णाश्रम टूट रहा है। ब्राह्मण का प्राचीन गौरव इस पृथ्वी के चप्पे-चप्पे में फैला हुआ है। जब वे संस्कृत का उच्चारण करते हैं तब शत्रु हिल उठते हैं।"

"गुरुदेव !" बालक ने कहा, "तो फिर वे समझते क्यों नहीं ? वे वेद क्यों नहीं पढ़ते ?"

"वेद का अधिकार सबको नहीं होता पुत्र !"

"तो ?"

"केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय ही पढ़ सकते हैं।"

"और वैश्य ?"

"वे नहीं।"

"शूद्र ?"

"शुद्र का काम सेवा करना है।"

"फिर कैसे होगा गुरुदेव ! ब्राह्मण लालची हैं, क्षत्रिय कायर हैं, वैश्य और शूद्रों को अधिकार नहीं, फिर कैसे रक्षा होगी ? क्या कोई ऐसी तरकीब नहीं कि धर्म भी बचा रहे और प्रजा भी सब सुन-समझ सके ? गुरुदेव आप ऐसा क्यों नहीं करते ?"

नरहरि अचकचा गए। बालक क्या कह रहा था ! उन्हें गर्व हुआ, लगा कि वे किसी असाधारण प्रतिभा को ढूंढ़ लाए थे। आठ वर्ष का बालक क्या कह उठा था ! उसने कितनी बड़ी गुत्थी को कितने बाल-सुलभ और सहज ढंग से सुलझा दिया था ! क्या वह जानता था कि वह क्या कहे दे रहा था ? नरहरि सोच नहीं पाए।

बालक ने डरते-डरते कहा, "गुरुदेव !"

"क्या है तुलसी !"

"मैंने अपराध किया है ?" उसने शंकित स्वर से पूछा।

"नहीं बालक ! अपराध तूने नहीं किया, तू तो मेरे मन को शक्ति दे रहा है। तू मुझे सहारा दे रहा है। बेटा···बेटा···"

गुरुदेव गद्‌गद हो गए। उन्होंने तुलसीदास को स्नेह से वक्ष से लगा लिया और उसका माथा सूंघ लिया।

तुलसी उस स्नेह से विह्वल हो गया। बालक का मन तृप्त हो गया। समस्त अभाव जैसे अब सदैव के लिए दूर हो गए।

बालक तुलसीदास एकांत में खड़ा सोच रहा था। गुरु ने राम की कथा सुनाई थी। जितना ही वह सोचता उतना ही उसका मन पराजित होने लगता। उस पराजय में कितना सुख मिल रहा था !

क्या सचमुच दुनिया में ऐसे आदमी थे। बड़े भाई तो स्वयं भगवान थे। उन्होंने ही तो रावण को मारा था। रावण कितना अत्याचारी था। उसने देवताओं को भी गुलाम बना लिया था। उसके इशारे से हवा भी चलती थी ? वह

माता सीता को पकड़कर ले गया था धोखे से ? गुरुदेव को यह बात सुनाते समय कितना क्रोध आ गया था !

फिर बालक की कल्पना बढ़ने लगी।

माता कौशल्या रोई होंगी। और सुमित्रा माता कितनी अच्छी थीं कि उन्होंने लक्ष्मणजी को संग भेज दिया। दोनों भाई माता जानकी के साथ वन-वन भटकने लगे। कैसे चले होंगे वे उन कांटों पर !

गुरुदेव तो सुनाते समय रोने लगे थे !

सारी अयोध्या रोने लगी थी ! केवट से मिलते समय[1] राम ने उसे हृदय से लगा लिया था। वह भी दुखी हो गया था। फिर सुमंत्र मंत्री लौट आया। पिता तो राम-राम कहकर स्वर्ग चले गए।

उधर वन में कितनी भयानकता थी ! !

गुरुदेव कितने आवेश में आ गए थे जब उन्होंने बताया था, दण्डकारण्य में खरदूषण और पापी राक्षसों ने ऋषियों को मार-मारकर उनकी हड्डियाँ जमा कर ली थीं। कितने अत्याचारी थे वे लोग ! धर्म से रहने वाले भोले-भाले ऋषियों को मारते थे। उनके यज्ञकुण्ड में खून लाकर डालते थे। क्या करते बिचारे !

राम आए। ऋषियों ने शिकायत की; उन्हें ले जाकर ऋषियों की हड्डियाँ दिखाई गईं। बस फिर क्या था ! राम को क्रोध आया।

कैसा था वह क्रोध ! !

गुरुदेव कहते थे कि उनकी भौंहें तन गईं। वे बड़े बलवान, बड़े दृढ़ पुरुष थे। आजानुबाहु थे। संसार का सारा सौंदर्य उनके स्वरूप में था। उनका सिर उठ गया। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि वे राक्षसों का सर्वनाश करेंगे।

बालक सिहर उठा।

फिर चित्र खड़े होने लगे।

सूपनखा ने लक्ष्मण के समक्ष विवाह-प्रस्ताव रखा। लक्ष्मण के द्वारा प्रस्ताव ठुकरा दिए जाने पर वह क्रुद्ध हो लक्ष्मण पर टूट पड़ी। लक्ष्मण ने उसके नाक-कान काट लिए। वह रोती हुई खरदूषण के पास गई। उन्होंने राम पर हमला किया। राम ने अकेले ही सबको मार गिराया।

तुलसीदास प्रसन्न हो उठा।

अच्छा फिर बड़ा मजा हुआ। नाक-कान कटाकर सूपनखा गई अपने भाई रावण के पास। उसके थे दस सिर, बीस हाथ, बड़ा अहंकारी था।

1. इस अध्याय की रामकथा में तुलसी से पूर्व चली आती वाल्मीकि की रामायण को पृष्ठभूमि के रूप में उपस्थित किया गया है। नरहरि के मुख से कहलाने से उसमें भक्ति का पुट भी है जो अध्यात्म रामायण से लिया गया है।

उसके तो सिर पर मौत खेल रही थी। सो कपट रूप धारण करके झट मारीच को सुवर्ण मृग बनाया और माता जानकी को हर ले चला।

पर उधर जटायु झपटा।

वाह ! आकाश में उसका रावण से घोर युद्ध हुआ। पर जटायु बिचारा वृद्ध था। घायल हो गया। गिर गया। रावण सीता को ले ही गया। तुलसी को याद आया। उसने पूछा था, "गुरुदेव ! फिर ?"

"फिर ? वहीं से तो कथा का उदात्त रूप है वत्स !"

"कैसे गुरुदेव ?"

"वहीं से भू-भार उतरना प्रारंभ हुआ।"

"मैं समझा नहीं।"

"पुत्र ! पृथ्वी पर उस समय रावण ने बड़ा अनाचार फैला रखा था।"

"ओह, कोई धर्म न मानता होगा।"

"रावण अपने को देवताओं का स्वामी समझता था। जानता है ? परंतु वह बड़ा विद्वान था। शैव था वह !"

"कौन नहीं होता गुरुदेव ! म्लेच्छ क्या बुद्धिमान नहीं हैं ?"

"साधु वत्स ! साधु !" गुरुदेव प्रसन्न दिखाई दिए थे।

फिर वे कहने लगे थे।

"बाली बड़ा मदांध था। राम ने उसे मारा।"

"क्यों ?"

"सुग्रीव बाली का भाई था न !"

"हाँ।"

सुग्रीव ने हनुमान के कहने से राम को सहायता देने का वचन दिया।"

"कैसी सहायता ?"

"माता जानकी को ढूँढ़ने की।"

"वे तो भगवान थे गुरुदेव ! वे क्या नही जानते थे ?"

"पुत्र, तू संदेह करता है ?"

"नहीं करूँगा गुरुदेव !"

"साधु ! परंतु शंका का समाधान होना चाहिए। सुन। वे थे तो भगवान पर नर रूप में धरती पर आए थे न ! इसी से उन्होंने ऐसा रूप धारण किया जैसे सब मानव होते हैं।"

"गुरुदेव ! भगवान कितने अच्छे थे !"

"पूछता क्या है तुलसी ! राम-सा कोई न हुआ, न होगा।"

"और भी हुए थे गुरुदेव ?"

"भगवान के 24 अवतार हैं पुत्र ! 23 आ चुके हैं।"

"24वाँ अवतार कब होगा ?"

"जब कलियुग की अति हो जाएगी।"

फिर गुरुदेव ने कल्कि अवतार की कथा सुनाई। तुलसी अवाक् सुनता रहा।

"यह सच है गुरुदेव ?"

"मूर्ख ! तू बोलना नहीं सीखता।"

"क्षमा प्रभु ! क्षमा ! पर कल्कि का अवतार शीघ्र होना चाहिए प्रभु !"

गुरुदेव ने अविश्वास से देखा था। क्यों ? पर उनके नेत्रों में एक संतोष भी था। वह कैसी उलझन थी !

तुलसी सोचता रहा, पर उसने उस उलझन का अंत नहीं पाया। मन और भी भारी हो गया। उसको किसी अज्ञात उलझन ने पकड़ लिया था। वह सोचता रहा, सोचता रहा। और फिर वह एकबारगी हठात् ही सिहर उठा।

वह तो रामकथा के बारे में सोच रहा था न ?

फिर यह सब क्या हुआ ?

हाँ, तो गुरुदेव ने कहा था—

"राम ने वचन दिया कि वे सुग्रीव को राजसिंहासन पर बिठा देंगे।"

"फिर ?"

"उन्होंने बाली को मार डाला !"

"पर गुरुदेव ! बाली ने राम का क्या बिगाड़ा था ?"

"वह बड़ा अहंकारी था न ? भगवान का काम ही नीचों को मारना है।"

तुलसी ने सिर हिलाया था।

फिर कथा चलने लगी।

वह कैसे मजे की बात थी, जब बंदरों ने पुल बनाया था समुद्र पर। एक पत्थर लेकर चलता था, दूसरा पेड़ उखाड़ लाता था। नल-नील पुल बना रहे थे।

और तुलसी की कल्पना सजग हो गई।

समुद्र बड़ा विशाल होता है। कितना बड़ा होता है ? गंगा से बड़ा। गंगा से बहुत बड़ा। बहुत बड़ा। दस गुना बड़ा, नहीं सौ गुना बड़ा। उसमें बड़े-बड़े मगर रहते हैं। पानी उछलता रहता है, नीला, काला। लहरें उठती हैं, पीपल से भी ऊँची-ऊँची लहरें ! उफ ! उस पर पुल बाँधा था ! !

तुलसी श्रद्धावनत हो गया।

और फिर कुछ याद नहीं आया। युद्ध-बुद्ध तो यों ही निकल गए। केवल अग्नि-प्रवेश करती सीता ही याद आई।

लंका की भस्म में से उठता धुआँ तुलसी को चारों ओर छाया हुआ लगा।

सोचते-सोचते तुलसी सो गया।

वह स्वप्न देखने लगा।

एक व्यक्ति खड़ा था।

तुलसी ने पूछा, "तुम कौन हो ?"

उत्तर मिला, "मैं हनुमान हूँ।"

"अच्छा, तुम हनुमान हो ?"

"क्यों ?"

"मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।"

"चिरंजीव रहो।"

"तुम भी तो चिरंजीव हो !"

"मैं पहले ऐसा न था।"

"फिर कैसे हो गए ?"

"मुझे राम-कृपा ने ऐसा बना दिया।"

"क्यों न हो, वे तो भगवान ही जो ठहरे !"

"तुम जानते हो ?"

"क्यों ? ब्राह्मण का बेटा इतना भी नहीं जानेगा !"

"अच्छा तुम ब्राह्मण हो ! तब तो मैं तुम्हें प्रणाम करूँगा।"

"अरे नहीं, नहीं, तुम तो देवता हो !!"

"ब्राह्मण पृथ्वी के देवता होते हैं न ?"

"नहीं, नहीं···"

वह चिल्लाया, पर आवाज़ गले में घुट गई।

"तुलसी ! बेटा तुलसी !" गुरुदेव ने हिलाकर जगा दिया।

"कौन ? गुरुदेव ?" तुलसी उठ बैठा।

"हाँ बेटा ! क्या हुआ ? क्यों चिल्लाता था ?"

"गुरुदेव !" वह उनसे चिपट गया।

"क्या हुआ बेटा ?"

"गुरुदेव ! मैंने, मैंने···"

"घबरा नहीं बेटा ! धीरज धर !"

"गुरुदेव, मैंने सपने में हनुमानजी को देखा था।"

गुरुदेव के नेत्रों में करुणा छलक आई। प्रसन्नता भी थी।

"आप नहीं मानते ?" तुलसी ने पूछा था।

"क्यों नहीं मानूंगा ?" उन्होंने कहा, "अवश्य देखा होगा वत्स ! अवश्य देखा होगा। भगवान तो भक्तों पर दया करते हैं।"

"पर भगवान तो नहीं दिखे प्रभु !!"

"वे राजा हैं, क्या तू उनके दरबार तक सहज पहुँच सकता है ? देवताओं का

देवता इन्द्र भी वहाँ कठिनाई से ही पहुँच पाता है।"

"बहुत बड़े राजा हैं वे गुरुदेव ?"

"बहुत बड़े हैं। उनसे बड़ा तो कोई है ही नहीं तुलसी !"

"लोग कहते हैं, शिवजी बड़े हैं।"

"वे दोनों ही भगवान हैं बेटा ! शिव और राम एक ही हैं। वे तपस्वी के रूप में शिव हैं और लोकोद्धारक जगत् के नायक के रूप में राम हैं। राम सबसे बड़े हैं।"

"गुरुदेव ? क्या मैं राम तक कभी नहीं पहुँचूंगा ?"

"ज़रूर पहुँचेगा।"

"कैसे बाबा ?"

"भक्ति से।"

"भक्ति क्या बाबा ?"

"तू जानता है, तू उनका कौन है ?"

"जब वे इतने बड़े महाराजा हैं तो मैं क्या होऊँगा गुरुदेव ! मैं तो उनके नौकर का नौकर भी नहीं हूँ।"

गुरुदेव प्रसन्न हो उठे। कहा, "बेटा ! वे ही उद्धारक हैं, वे ही ब्रह्म हैं।"

"ब्रह्म क्या बाबा ?"

"ब्रह्म ही परमात्मा है।"

"परमात्मा ! राम ही तो हैं न ?"

"हाँ, वही हैं।"

"मैं उनका भक्त बनूंगा गुरुदेव !"

नरहरि उद्विग्न-से उठ खड़े हुए और मन को शांत करने के लिए कुछ मंत्र-पाठ करने लगे। वह उस समय अत्यंत तन्मय थे।

तुलसी फिर सो गया।

भोर हो गई थी। तुलसी जगा। उसने पड़े-पड़े देखा, गुरुदेव पूजा कर रहे थे। उनके कंठ से सस्वर श्लोक निकल रहे थे, वे ही जो तुलसी को उन्होंने रटा दिए थे। तुलसी को वे बड़े अच्छे लगते थे। वह ध्यान से सुनने लगा था—

भजेऽहं सदा राममिंदीवराभं
भवारण्यदावानलाभाभिधानम्
भवानीं हृदा भावितानन्दरूपमं
भवाभावहेतुं भवादिप्रपन्नम्
सुरानीकदुःखौघनाशैकहेतुं
नराकारदेहं निराकारमीड्यम्

परेशं परानन्दरूपं वरेण्यं
हरिं राममीशं भजे भारनाशम् ।
प्रपन्नाखिलानन्ददोहं प्रपन्नं
प्रपन्नार्तिनि:शेषनाशाभिधानम्
तपोयोगयोगीशभावाभिभाव्यम्
कपीशादिमित्रं भजे राममित्रम् ।।

तुलसी सुनता रहा। ध्यानस्थ-सा। अभी वह उसका अर्थ ठीक से समझता नहीं था, किंतु फिर भी सुनने को बहुत अच्छा लगता था। क्या वह भी कभी ऐसे ही गा सकेगा ? क्या वह भी कभी ऐसे ही श्लोक बना सकेगा ? वह सोचने लगा।

गुरु ने अंतिम श्लोक गाया—

लसच्चन्द्रकोटिप्रकाशादिपीठे
तमासीनमङ्के समाधाय सतीम् ।
स्फुरद्हेमवर्णां तडित्पुञ्जभासां
भजे रामचन्द्रनिवृत्तार्त्तितन्द्रम् ।

नरहरि ने भगवान को दंडवत की। तुलसीदास उठकर बैठ गया। उसने देखा। गुरुदेव कुछ प्रार्थना कर रहे थे। उसने ध्यान से सुना। शब्द गूंजे, "प्रभु ! इस कलि का नाश करो। वेदोद्धार करो। फिर अवतार लो प्रभु ! प्रजा वर्णाश्रम छोड़कर व्याकुल हो रही है। इसे म्लेच्छों से बचाओ।"

असह्य वेदना से जैसे वे उत्तप्त हो गए थे। वे उठे।

तुलसी ने उठकर इनके पाँवों पर सिर रखकर कहा, "गुरुदेव ! गुरुदेव !!"

"क्या है वत्स ?" वे चौंक उठे।

"मुझे आज्ञा दीजिए गुरुदेव ! मैं कलि से लड़ूंगा गुरुदेव !!"

"तुलसीदास !" गुरुदेव ने काँपते कंठ से कहा और आकाश की ओर देखकर वे जैसे किसी शून्य से बातें करने लगे—"यह तेरी ही इच्छा है लीलाधर ? मुझसे जो किसी ने नहीं कहा, वह यह बालक कह रहा है ? क्या यही सत्य है अंतर्यामी ?"

फिर हठात् वे मुड़े। कहा, "तुलसीदास !"

उनका स्वर दृढ़ था, उन्नत था।

"गुरुदेव !!" तुलसी ने पूछा।

"उठ वत्स ! चल !"

"कहाँ गुरुदेव ?"

"काशी।"

तुलसी देखने लगा जैसे क्यों ?

"वहाँ आचार्य्य शेष सनातन हैं। प्रकांड पंडित हैं वे। उनका तुझे शिष्य बन-बाऊँगा। वे तुझे देवभाषा पढ़ाएँगे और फिर तू वेद-वेदांत में पारंगत होगा। पुत्र,

चल उठ !"

"चलो," तुलसी ने कहा और आनंद से दो पग आगे बढ़ आया।

फिर एक लंबी यात्रा प्रारंभ हुई। पथ के कष्ट अनेक थे। पर वे सब याद नहीं रहे। शेष सनातन के मुख पर असीम पांडित्य झलकता था। गुरुदेव नरहरि आश्वासन और आशीर्वाद देकर चले गए। तुलसीदास रोया था, ऐसे लगा था जैसे वह उस दारुण वेदना को सह नहीं सकेगा। परंतु अष्टाध्यायी खुली, फिर काव्य खुले, नाटक खुले, चंपू पढ़े, पुराणों को पढ़ डाला, फिर दर्शनों का अध्ययन किया, महाभारत पढ़ी, फिर वेदों और उपनिषदों का गंभीर अध्ययन हुआ, यहाँ तक कि जो कुछ आचार्य के पास था, वह सब तुलसी ने पा लिया।

जिस दिन गुरु ने कहा, "वत्स ! तू पूर्ण पंडित हुआ"; तुलसी ने शेष सनातन के चरणों पर सिर रखकर प्रणाम किया।

"गुरुदेव !" उसने गंभीर स्वर में कहा, "आपने इस पशु को मनुष्य बना दिया है। गुरुदेव अपने विनीत शिष्य से गुरु-दक्षिणा माँगिए।"

शेष सनातन अपनी वृद्ध आँखों से देखते हुए कुछ मुसकराए। कहा, "वत्स !"

"गुरुदेव !!"

"तू गुरु-दक्षिणा देना चाहता है तो वचन दे।"

"आज्ञा गुरुदेव !!"

"जो शिक्षा मैंने दी है उससे ब्राह्मण की मर्यादा बढ़ाएगा। धन के लिए लोलुप नहीं होगा।"

"वचन देता हूँ। और कहें।"

"और एक ही बात है वत्स ! तू भगवान रामचंद्र में सदैव अटूट भक्ति और श्रद्धा रखेगा !"

"गुरुदेव ! यह आपकी बात नहीं है। यह तो मेरी ही बात है। सोते-जागते इतने वर्षों तक जिन दोनों भाइयों ने मेरी रक्षा की है, वे तो मेरे भगवान हैं। बारह वर्ष बीत गए हैं ! जब मैं आया था तब आठ वर्ष का था। आज मैं बीस का हूँ। आपने मुझे कभी व्याकुल नहीं होने दिया। अपनी आज्ञा कहें गुरुदेव !"

"तो जा वत्स !" गुरुदेव ने कहा, "गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर !"

"गुरुदेव !!" तुलसी ने आहत स्वर में कहा।

"क्यों ?" वे सांत्वना देते बोल उठे।

"फिर राम की सेवा कैसे होगी ?"

"राम ने लोक का उद्धार गृहस्थ बनकर ही किया था !!"

तुलसी निरुत्तर हो गया।

गुरु ने फिर कहा, "याद है न ?"

"क्या गुरुदेव

"मृत्यु के बाद से तेरे पिता का एक ही श्राद्ध हुआ जो उनके संबंधियों ने किया था। तेरी माता को भी कोई पानी देने वाला नहीं। तू जा और आज ही गंगा में खड़े होकर श्राद्ध कर।"

तुलसी सिहर उठा। कहा, "करूँगा देव !"

"फिर क्या करेगा ?"

"घर लौट जाऊँगा।'

"शूकरक्षेत्र ?"

"नहीं गुरुदेव ! राजापुर।"

"वहाँ तेरा कौन है ?"

"कोई नहीं है। वहीं मुझे गुरु मिले थे। वहीं जाकर पहले उस मंदिर में भगवान के दर्शन करूँगा जहाँ गुरु ने मुझे उठाया था। और गुरु का महान कार्य वहीं से प्रारंभ भी करूँगा।"

"कल्याण हो वत्स !"

तुलसी ने फिर वंदना की।

"सुन !" उन्होंने कहा, "वर्णाश्रम का पालन करना ही धर्म है वत्स ! यह जो पंथ हैं वे सब अनाचार फैलाते हैं। तू प्रतिभावान है, भविष्य तेरे सामने पड़ा है। तू तो मुझे लगता है काव्य रचता है।"

"कहाँ गुरुदेव ! मुझमें इतनी योग्यता कहाँ।" तुलसीदास ने झिझककर कुछ संकोच से कहा।

"पागल ! सोलह बरस के बाद तो पुत्र भी मित्र के समान हो जाता है। फिर तू तो अब काशी के विद्वानों से स्वीकृत विद्वान है। संकोच कैसा। मुझे सुना। बैठ जा।"

तुलसी बैठ गया।

"सुना वत्स !" गुरु ने आग्रह किया।

तुलसी ने सुनाया :

राम बाम दिसि जानकी
लखन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यान मय
सुरतरु तुलसी तोर॥
सीता लषनु समेत प्रभु,
सोहत तुलसीदास।
हरषत सुर बरषत सुमन
सगुन सुमंगल बास॥

"साधु ! साधु !!" आचार्य्य शेष सनातन ने कहा, "भाषा में कहा है ? ब्राह्मण होकर देव-वाणी में भी कह !"

"गुरुदेव !" तुलसी ने कहा, "संस्कृत प्रजा समझती नहीं।"

"उससे क्या हुआ ?"

"देव, वे आनंद नहीं पाते।"

"सो तो है।"

"मैंने स्तुति संस्कृत में लिखी है।"

"उसे सुना। उसे सुना।"

तुलसी ने सुनाया :

नमामि भक्तवत्सलं, कृपालुशीलकोमलं
भजामि ते पदाम्बुजं अकामिनां स्वधामदम्।
निकामश्यामसुन्दरं भवाम्बुनाथमन्दरं
प्रफुल्ल मञ्जलोचनं मदादिदोषमोचनम्।

शेष सनातन झूमने लगे। तुलसी ने फिर गाया :

प्रलम्बबाहुविक्रमं प्रभोऽप्रमेयवैभवं
निषङ्गचापसायकं धरं त्रिलोकनायकम्।
दिनेशवंशमण्डनं महेशचापखण्डनं
मुनीन्द्रसन्तरञ्जनं सुरारिवृन्दभञ्जनम्।

शेष सनातन ने प्रसन्न होकर आशीष दी। परंतु तुलसीदास के मन में संदेह था यह श्लोक केवल पंडितजन ही समझ सकते थे। प्रजा कैसे समझ सकेगी, यह उसके सामने एक प्रश्न आ खड़ा होता था। परंतु आचार्य्य उतने में ही विभोर हो गए थे। तुलसी को चुप देखकर बोले, "हूं। और ?"

तुलसी आगे सुनाने लगा।

शेष सनातन ने कहा, "अहा ! कैसी मधुर भाषा है !"

तुलसी ने कहा, "देवभाषा यही है गुरुदेव ! आपने ही सिखाया है, परंतु प्रजा अंधकार में डूब रही है। इसका कैसे उद्धार होगा ?"

"वत्स ! वे स्वयं करेंगे। वे भगवान हैं। यह धर्म उन्हीं का है। यह भूमि भी उन्हीं की है। वही सब कुछ करते हैं। अपने अंदर अहं मत रख। हम-तुम तो निमित्त हैं निमित्त।"

तुलसी इस बात पर श्रद्धा से नमित हो गया था।

वृद्ध तुलसीदास ने आँखें खोलकर पुकारा, "मलूक !"

"गुरुदेव !" वह भीतर आया। "आज्ञा ?"

"प्यास लगी है।"

वह गंगाजल लाया। वृद्ध कवि ने उठकर पिया और फिर लेट गए।

"अब कैसी तबियत है?"

"अब तो बिल्कुल ठीक हो जाएगी।"

वह समझ गया। चुप हो रहा।

"नारायण कहाँ है?"

"गुरुदेव! वह बाहर है।"

"क्या कर रहा है वहाँ?"

"बहुत-से लोग आ रहे हैं। उन्हें आपका हाल बताने को वह बाहर ही बैठ गया है।"

"अरे तुमने कुछ खाया या नहीं?"

"खा लेंगे गुरुदेव!" उसने टाला।

"कब खा लेगा!" वृद्ध ने कहा, "मैं बूढ़ा हूँ। क्या मेरे लिए भी किसी का दुःख करना अच्छा लगता है? जा बेटा तुझे सौगन्ध है, तू जाकर खा आ। उस पागल को भी ले जा।"

वृद्ध का स्वर गद्गद हो गया। उन्होंने कहा, "गरीबनिवाज! तुम सचमुच बड़े करुण और मायावी हो। चलती बेला में यह स्नेह के बंधन क्यों बाँध रहे हो? यह तो बालक हैं। इन्हें इतना दुःख क्यों दे रहे हो?"

"बाबा! बाबा!" मलूक ने भर्राए स्वर से कहा, "मैं खा लूंगा। रोओ नहीं बाबा!"

"बेटा! मैं रोता नहीं। मैं तो इस प्रेम से हार जाता हूँ, यह कितना सुंदर लगता है। मलूक!"

"गुरुदेव?" जैसे वह फिर सँभल गया था।

"यह संसार विचित्र है।"

वह चुप रहा।

"इसमें बड़ी माया है। है न?"

"हाँ गुरुदेव!"

और वह बाँधती है तो मन को ऐसा कर देती है कि वह उससे सहज ही छूट नहीं पाता। बड़ी तृष्णा है यह। इसका कोई अंत नहीं दिखाई देता। जिस पर राम की कृपा होती है वही इससे बच सकता है। जानता है वेद, पुराण और शास्त्रों में जो धर्म है वह अकेला काफी नहीं है। वह तो समाज और संसार में धर्म-स्थापना के लिए आवश्यक है। वह तो बाह्य पक्ष है। परंतु व्यक्ति पक्ष में तो भगवान की कृपा ही सब कुछ है। बेटा! ब्राह्मण होना पूर्व जन्म का पुण्यफल है, और यज्ञ, दान, तप भी धर्म है। अपने-अपने वर्ण के अनुसार काम करना ही वेद का बताया मार्ग है। परंतु व्यक्ति के लिए राम-नाम ही सर्वश्रेष्ठ है। भगवान

मनुष्यमात्र के लिए हैं। वे सब पर दया करते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि भगवान् के सामने सब समान हैं, तो धर्म भी समान है। मर्यादा ही से संसार नियमित रूप से चलता है। मर्यादा के लिए ही नारायण ने राम-रूप धारण किया था। अपने-अपने वर्ण में रहकर भी भगवान की अटूट श्रद्धा और भक्ति से व्यक्ति का जन्म सुधर जाता है। वह तो नीचों का भी उद्धार करता है मलूक !"

मलूक ने देखा। वृद्ध कवि के नेत्रों में उस समय भी एक स्वप्न-सा था जैसे वह बहुत सुदुर की बात सोच रहे थे। वे कह उठे, "भगवान ! कब आएगा वह दिन ? मलूक !"

"गुरुदेव !"

"बैठ जा वत्स ! बैठ जा !"

"वह बैठ गया।"

"बेटा !"

"गुरुदेव !"

"गा तो। मेरी विनय के पद तो मुझे सुना। मैं बार-बार राम का ही नाम सुनना चाहता हूँ।"

मलूक ने नयन पोंछ लिए और गाया—

जैसो हौं तैसो हौं राम !
रावरो जन जनि परिहरिए
कृपासिंधु कोसलधनी सरनागत-पालक,
ढरनि आपनी ढरिए ॥
हौं तो बिगरायल और को,
बिगरी न बिगारिए
तुम सुधारि आए सदा सबकी सब विधि,
अब मेरीयो सुधारिए ॥
जग हँसिहै मेरे संग्रहे,
कत ऐहि डर डरिए ?
कपि केवट कीन्हें सखा जेहि सील सरल चित
तहि सुभाव अनुसरिए।
अपराधी तउ आपनो
तुलसी न बिसरिए।
टूटियौ बाँह गरे परै, फूटेहूँ बिलोलन
पीर होति हित करिए।

वे ध्यान विभोर-से सुन रहे थे।

मलूक ने फिर आर्द्र कण्ठ से गाया—

तुम तजि हौं कासों कहौं
और को हितु मेरे ?
दीनबंधु सेवक सखा, आरत अनाथ पर
सहज छोहु केहि फेरे ?
बहुत पतित भवनिधि तरे
बिनु तरि बिनु बेरे
कृपा, कोप, सति भाव हूँ धोखे हूँ,
निरछेहुं राम तिहारेहि हेरे।
जौं चितवनि सोंधी लगै।
चितइए सबेरे,
तुलसीदास अपनाए कीजै न ढील
अब जीवन अवधि अति नेरे।

मलूक रुक गया। वृद्ध कवि ने कुछ देर बाद कहा, "वत्स ! विनय-पत्रिका पूरी नहीं हुई।"

"बाबा आपने सब तो प्रभु को सुना दिया ? कहा ही है—

दशरथ के समरथ तुम्हीं
त्रिभुवन जस गायो
तुलसी नमत अवलोकिए बलि बाँह बोल
दै बिरदावली बुलायो

"नहीं वत्स ! अभी मन नहीं भरा। मैं बोलता हूँ, तू लिख।"

वह लिखने लगा। और कवि आँखें मींचकर धीरे-धीरे गाने लगे—

राम राय बिनु रावरे
मेरे को हितु साँचो !
स्वामी सहित सब सों कहों सुनि गुनि विसेषि
कोउ रेख दूसरी खाँचो ॥
देह जीव जोग के
सखा मृषा टाँचन टाँचौ
किए बिचार सार कदली ज्यों मनि कनक संग लघु
लसत बीच बिन काँचो ॥
विनय पत्रिका दीन की,
बापु ! आपु बाँचो
हिए हेरि तुलसी लिखी सो सुभाय सही
करि बहुरि पूछिए पाँचो।

वे फिर ध्यान में डूब गए। मलूक ने देखा। विनय-पत्रिका में एक पद बढ़ गया

था। वह उसे सुनाने बाहर ले गया। कुछ ही देर में काशी में उस गीत की असंख्य प्रतियाँ नकल होकर फैल गईं और मंदिरों में लोग गाने लग गए।

और वृद्ध कवि के नयनों में फिर से अतीत घूमने लगा, जाग्रत होकर, नई चेतना से भरा हुआ। स्मृतियों के बोझल पंख फैलाकर मन का भ्रमर अतीत के फूल पर फिर मँडराने लगा।

एक भव्य आलोक आकाश में तिरोहित हो गया। राजापुर में साँझ हो गई। मंदिर में दीप जलने लगे।

एक तरुण ब्राह्मण आया। उसको देखकर सबने सम्मान किया क्योंकि वह महापंडित था।

"अरे!" एक ने कहा, "यह तो, यह तो···"

"हाँ!" तरुण ने गंभीर स्वर से कहा, "मैं वही तुलसीदास हूँ और आचार्य स्वामी नरहरि तथा आचार्य शेष सनातन की आज्ञा से पुनः राजापुर लौट आया हूँ, धर्म जगाने के लिए।"

धर्म???

कैसा धर्म!!!

सैकड़ों नर-नारी बैठ जाते। तुलसीदास राम की पवित्र कथा सुनाया करता। लोग रोते, हँसते, झूमते। तुलसी का स्वर बड़ा कोमल था।

कथा जब समाप्त हुई, भेंट चढ़ने लगी। वह तुलसी का संबल हुआ।

दूसरे दिन राजापुर में धूम मच गई। लोगों में चर्चा चल पड़ी।

"वह मनुष्य नहीं, पृथ्वी का देवता लगता है।"

"कितना ज्ञान है उसमें!"

"वेद, पुराण, सब जीभ पर रखे हैं भइया!"

"भला बताओ!! कैसी संस्कृत फटाफट बोल जाता है। हमारे यहाँ भी बड़े पंडित हैं। पर किसी की हिम्मत नहीं हुई कि सामने आ जाता।"

"आ जाता तो कल वह बराबर भी कर देता। कैसा तरुण है!"

× × ×

पनघट पर भी बात हुई।

"मैया री मैया! शेर का-सा दहाड़ता है।"

"ब्राह्मण है ब्राह्मण!" एक किशोरी ने कहा।

"रत्ना!" एक स्त्री ने कहा, "तू कब लौटी थी रात कल! मैं तो आधी कथा में उठ आई थी।"

"पूरी कथा सुनी हमने तो। मुझे तो एक और बात भाती है।"

"वह क्या?"

"मुझे तो वे कवि लगते हैं।"

"तुझे कैसे खबर ?"

"जब मैं ही कविता बना लेती हूँ चाची, तो उनको क्या कठिन पड़ेगा। तुमने देखा नहीं ? कथा सुनाते-सुनाते कभी-कभी भाषा के पद सुनाने लगते हैं। कल कितने सुंदर बरबै सुनाए थे—

केस-मुकुति सखि मरकत मनिमय होत
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत।

फिर वह कुएँ से पानी खींचती हुई अपने-आप धीरे-धीरे गुनगुनाने लगी—

चंपक हरवा अङ्ग मिलि अधिक सोहाइ
जानि परै सिय हियरे जब कुम्हिलाय।

फिर रात हुई।

भीड दुगुनी हो गई थी।

तुलसी का नाम फैलने लगा।

वह धारासार शब्दों की पाँति लगा देता और रामायण सुनाता। बीच-बीच में हिंदी के पद जोड़ता। लोगों को आनंद आता। जिन बातों को धर्म-धुरंधर लोग कहते न अघाते, परंतु लोग नहीं सुनते थे, तुलसी सुनाता तो चारों ओर सन्नाटा छा जाता। वह लोक में वेद, ब्राह्मण, गौ, और धर्म के पुनरुद्धार की बात सुनाता और राम का रक्षक स्वरूप हृदयों में भरता हुआ अतीत के गौरव की बात कहता। ब्राह्मण प्रसन्न होते। लोग कहते। यह तो कोई साधारण विद्वान नहीं।

"वह तो वैशम्पायन है।"

"कलियुग में ब्राह्मण ज्योति है।'

ब्राह्मण प्रसन्न हो उठे। भीड़ें आतीं और राम का नाम सुनकर चली जातीं, फिर आतीं और फिर सुनतीं। भेंट अब अधिक मिलने लगी। स्त्रियों के लिए अधिक आनंद का विषय हो गया। वह सुन्दर भी था। युवक था।

एक वृद्धा ने पूछा, "पंडित, विवाह हुआ ?"

तुलसी ने कहा, "नहीं माता।"

"क्यों नहीं किया ?"

"दरिद्र ब्राह्मण हूँ।"

"ब्राह्मण का धन तो विद्या है बेटा ! वही धन तो सबसे बड़ा धन है।"

तुलसी चुप हो गया पर बात मन में चुभ गई।

आज वह कथा सुना रहा था। हठात् एकबारगी ही उसके नेत्र ठिठक

गए। वह सँभल गया। फिर कथा सुनाने लगा। उसे लगा उसका कंठ अब अपने-आप अधिक सुरीला हो गया था। श्रोता मंत्रमुग्ध बैठे थे।

तुलसीदास ने कथा कहते-कहते फिर सिर घुमाया। फिर उसका मन जैसे सुलग उठा? वहीं, वहीं।

नेत्र फिर हट गए।

परंतु तीसरी बार देखा तो वही विभोर तन्मयता। वहाँ तो अहंकार को तिरोहित करके मूर्तिमती श्रद्धा बैठी थी। उस आत्म-समर्पण में कितनी पवित्रता थी!

खिंची हुई भवें, उनींदे-से नेत्र, जो शायद कल्पना से बोझिल हुई पलकों को हटाकर ध्वनि को आत्मसात् कर लेना चाहते थे।

कथा समाप्त हो गई।

लोग भेंट देने आने लगे।

वह आई।

उसने केवल एक फूल चढ़ा दिया।

तुलसीदास ने उस फूल को उठाकर राम के चरणों में अर्पित करके अपने सिर में लगा लिया। रत्ना ने देखा। आँखों में विभ्रम काँपा। होंठों पर गर्व की मुसकान ने यौवन और रूप की रक्षा में परदेसी आँखों के सामने बलैया लीं। और फिर कपोलों पर रक्तिम लाज ने पृष्ठ बदला। तुलसी को लगा जैसे अनेक सर्ग, अनेक काण्ड उस निमिषमात्र में निकल गए। वह गोरी ब्राह्मण कन्या, उसके माथे पर भास्वर प्रतिभा और फिर उसकी वंदना में कल्याणी गरिमा उठी और तब तुलसीदास के रोम-रोम में एक स्फुरण हुआ जो श्रद्धा के कंधों पर सिर रखकर मानो अपने-आपको भूल गया।

रत्ना आई। चली गई। केवल एक बार उसने मुड़कर व्याकुल शकुंतला की भाँति देखा, फिर लगा जैसे कमलों की सृष्टि हुई और फिर वे कमल शतदल होकर चितवन के सहारे से झूमने लगे।

तुलसीदास का मन भ्रमर की भाँति उड़ चलने के लिए व्याकुल हो उठा।

एकांत रात्रि में तुलसीदास शय्या पर लेटा था।

वसंत की-सी मीठी बयार चल रही थी। आकाश में असंख्य नक्षत्र झिलमिला रहे थे। निशा सुंदरी झिल्लियों के मिस धीरे-धीरे अपनी नूपुर ध्वनि गुंजित कर रही थी। आकाशगंगा पर एक मादक तंद्रा-सी छाई हुई थी। तुलसी को लगा वह सारी रात एक सुंदर तरुणी थी।

उसकी देह तो चाँदनी थी, और कमल उसके नेत्र थे। मुख चंदा से भी सुंदर था और वे खिंची हुई भवें जब याद आईं तो मन ऊर्ध्वगति पाँखी-सा अनंत प्रकाश

के नील में फरफराने लगा। दूर तक केवल प्रतिध्वनित होती हुई वही झंकार सुनाई दी।

तुलसी उठ खड़ा हुआ। उसने भीतर जाकर वह फूल उठा लिया। उसे आँखों पर फेरा, फिर अनजाने ही होंठों ने उस सुकुमार फूल को चूम लिया। कवि को लगा जैसे वही मुख अब बंकिम नयनों से देख रहा था।

नहीं, वह यहाँ नहीं थी ! यह तो उसकी स्मृति थी ! कितनी कोमल, कितनी कवित्व भरी, किंतु कितनी जीवित और तुलसी को लगा कि उस अंधकार में फिर सृष्टि में व्यापती जा रही है, तन्मया, विमोहिनी, अपराजिता, माधुर्यश्री, सौम्य-मंगला, चिरंतन रूप से मनोहारिणी नारी, आलोकिनी, मूर्तिमती रूपशिखा !!

अंधकार सिहर उठा।

तुलसीदास ने फूल रख दिया। वह शय्या पर आकर फिर लेट गया। सो गया।

स्वप्न में कोई समीप आ गया।

कौन था !!

वही तो थी !!

कवि ने कहा, "आओ सुंदरी !"

परंतु सुंदरी बोली नहीं। उसका वह अवाक् इंगित कितना बड़ा आवाहन था। तुलसी ने हाथ बढ़ाया···

आँख खुल गई। अँधेरा मुसकरा दिया। तुलसी ने कहा, "प्रभु ! आज प्रार्थना करता हूँ। मुझे वही दे, मुझे वही दे,···"

वायु हँसी, तारे हँसे, रात खिलखिलाई, और फिर वह सो नहीं सका···क्योंकि वह अकेला नहीं था, मन में कोई आ गया था, जो सता रहा था, सुपनों की गहरी लहरों में भी जो अपने रूप की पतवारें खेता, अपनी तन्मयता की नौका को ले आता था, उसे भय नहीं लगता था···वह सारा समुद्र क्या था ? तुलसी का प्यार, तुलसी का प्यार था वह···

आज तुलसी का हृदय आकुल था। वह कथा सुना रहा था, परंतु बार-बार नेत्र व्याकुल से चारों ओर घूम जाते थे। वह नहीं दीख रही थी। हृदय बार-बार काँप उठता था। अंत तक वह देखता रहा, कहीं भी नेत्र टिके नहीं, लहरों की तरह दृष्टि बढ़ी और अपरिचित मुखों की चट्टानों से टकरा-टकरा लौट गई। वह निराश हो उठा।

कथा समाप्त हो गई। भेंट चढ़ने लगी।

हठात् फिर किसी ने धीरे से एक फूल चढ़ाया।

तुलसी ने कहा, "तू आ गया। सबकी भेंट भगवान के चरण छूकर मेरे पास

लौट आती है, केवल तू ही देवता पर चढ़ता है, पर मैं तुझे नहीं ले पाता।"

रत्ना ने एक बार आँखें उठाकर देखा और मुसकरा दी।

वहाँ भीड़ थी। इंगित किया।

एक ओर चली गई।

तुलसी धीरे से उठा और वहीं गया।

"कौन हो तुम ?"

"रत्ना।"

"कौन जाति हो ?"

"ब्राह्मण !"

"ब्राह्मण !" तुलसी उच्छ्वसित हो उठा।

"कहाँ रहती हो ?"

"क्या करेंगे जानकर ?"

तुलसी का मुँह बंद। क्या कहे ?

रत्ना मुस्कराई। कहा, "पिता के पास आएँगे न ?"

"क्यों ?"

अब की बार रत्ना सकपकाई। बंकिम दृष्टि से देखा और खड़ी रह गई। तुलसी ने देखा तो कहा, "आऊँगा। कल।"

उसने पता बताया। चली गई। और कोई बात नहीं हुई। परंतु इतिहास खुल गए। क्या बचा था कहने को !

कैसा मिलन था वह ? मर्यादा ने दोनों को जकड़ रखा था। वह तो गरिमा से आवृत थी। सब कह गई, पर कहा कुछ भी नहीं। तुलसी को पसीना आ गया। उसे लगा वह उड़ रहा है।

उसने धीरे से कहा, "कल आऊँगा।"

रात आई। ऐसी बीत गई जैसे कभी नहीं आई। वह जैसा छोटा-सा व्यवधान था। उसका अनुभव ही नहीं हुआ। तुलसी को याद ही कहाँ था। उसे तो याद आ रहा था : पिता के पास आएँगे न ?

क्यों ?

कोई उत्तर नहीं।

"मेरे पास कुछ नहीं है।" तुलसी ने कहा था।

वृद्ध ने देखा और कहा था, "क्या नहीं है ?"

"धन।"

"धन ? ब्राह्मण को धन से क्या करना है तुलसीदास ! दोनों बेला पेट भरने

को अन्न भगवान दे दे, वही धन है। और अभी इतना कलियुग नहीं है कि वह भी नहीं मिलता हो।"

रत्ना के पिता की बात सुनकर तुलसी का सिर झुक गया।

"तुम प्राचीन वैदिक रीति से मेरे पास कन्या माँगने आए हो तुलसीदास! आत्माराम दुबे को कौन नहीं जानता था! मैं सब सुन चुका हूँ। स्वामी नरहरि और आचार्य शेष सनातन ने तुम्हें पढ़ाया है। राजापुर तुम्हारा नाम ले रहा है। रत्ना के लिए तुम-सा अच्छा वर मुझे कहाँ मिलेगा! मैं अवश्य तुम्हें ही कन्यादान दूँगा।" वृद्ध रुका, फिर कहा—"मेरी बेटी भोग-विलास की दासी नहीं है, वह अपनी माता के समान ही धर्मपरायणा है। उसका मन बड़ा सरल और बड़ा ही स्वाभिमानी है। मुझे वह बहुत ही प्रिय है। तुम कवि हो वह भी कविता करती है। ब्राह्मणों के घर में जैसे विद्या की ही चर्चा चलनी चाहिए, वैसी वह बुद्धिमती है, जो उसी मर्यादा का निर्वाह कर सकेगी। संकोच न करो वत्स! धन क्या होता है?"

भीतर से एक बालक आया। रत्ना का छोटा भाई था, बोला—"दादा! दादी अम्माँ ने बुलाया है।"

"आता हूँ बेटा!"

वृद्ध भीतर चला गया। बालक भी चला गया। भीतर से हँसती हुई नाइन आई। बोली, "पालागन पण्डितजी!"

"जीती रहो!" तुलसी ने कहा।

नाइन ने घूँघट में से देखते हुए कहा, "पण्डितजी! तुम्हें खबर कैसे लगी कि हमारे यहाँ एक अनब्याही लड़की है?"

तुलसीदास सकपका गया। भीतर लड़कियों के हँसने का स्वर आया। तुलसीदास ने कहा, "अरी मैं ज्योतिष जानता हूँ। कल रात पितरों ने दर्शन देकर कहा कि तुलसीदास! जाकर ब्याह कर। मैंने पूछा, कहाँ जाऊँ? उन्होंने यहाँ का पता बता दिया।"

"हाय जीजा!" नाइन ने ठिठोली की, "सब जानती हूँ। भूतों ने नहीं, तुम्हें यहाँ का पता किसी भूतनी ने बतलाया है!"

लड़कियाँ फिर हँसीं।

वृद्ध लौट आया। कहा, "वत्स! तुम्हें मैं वचन देता हूँ। कन्या तुम्हारी ही होगी।"

तुलसी को लगा था जीवन सुगंध से भर गया, लौटते समय पथ पर धूप सुनहली हो गई थी। सब कुछ उस दिन कितना सुन्दर हो गया था!!

विवाह हो गया था। वे गीत, वे कोलाहल! उस समय की स्त्रियों में चलती

गालियों को सुनकर तुलसीदास को बुरा लगा था। उसने सोचा था—क्या यही स्त्रियाँ अपनी संतान को इस पवित्र देश में अच्छी शिक्षा दे सकती हैं ? कैसे यह स्त्रियाँ, जो इतनी लज्जाशील बनती हैं, इतना बक लेती हैं ? और पुरुष सुनते रहते हैं ? वहाँ माँ-बेटी, सास-बहू संग बैठकर कहनी-अनकहनी गाती हैं। यह कुरूपता इस देश में कहाँ से आ गई ?[1]

परंतु वह विचार आया, चला गया।

रत्ना आ गई थी।

उसके मुख पर कितना लावण्य था !

वह घर से चलते समय माता-पिता और सखियों से गले मिलकर फूट-फूटकर रोई थी। पराए घर जो जा रही थी। उसकी आँखों से आँसू नहीं थमते थे। अतीत का सारा ही चित्रपट सजीव हो उठा था। और वे मनोमुग्धकारी स्मृतियों के पाश उसे बार-बार जैसे बाँध लेते, जिन्हें वह तरल आँसुओं के कर्त्तव्य खड्गों से बार-बार काटने का प्रयत्न करती। पिता ने आशीर्वाद दिया। माता ने उपदेश।

नारी का विचित्र भाग्य था वह ! स्वयं ही तो उसने पुरुष को निमंत्रित किया था कि आ, मुझे अपने साथ ले चल ! और जब वह आ ही गया था तो फिर बिछुड़ते हुए संसार को देखकर रो उठी थी। कैसे होता है यह सब ! कैसे रह लेती है वह एक नये स्थान में जाकर ! पुरुष इस तरह क्या जा सकता है ? नये व्यक्तियों से मिलती है और उनके स्वभाव से परिचय प्राप्त करती है, उनके अनुसार अपने को बदलने का भी प्रयत्न करती है।

क्या यही संसार का एक नियम है ?

तब तुलसीदास ने सोचा था—यही धर्म का पथ है। आर्य पथ यही है। सनातन धर्म यही है।

और फिर वह सब भावना भाप की तरह उड़ गई थी। केवल रत्ना पास रह गई थी।

उसने आश्वासन देना चाहा, परंतु वहाँ तो एक नया ही चित्र उभर आया था।

रत्ना ने उसे देखा था तो लाज से मुसकरा उठी और मुख पर असीम सुख की प्रतिच्छाया थी !

यह कैसे हुआ ? उसने सोचा।

क्या नारी का नेह ऐसा ही अनबूझ बना देने वाला है ? क्या इस संसार में

1. आगे चलकर जानकीमंगल और पार्वतीमंगल इसीलिए लिखे गए थे कि विवाह के समय पर गाए जा सकें।

वह अत्यन्त रहस्यमयी नहीं है ?

और रहस्य की वह अनुभूति तुलसीदास के मन को रत्ना की ओर बरबस और समीप खींचने का मान करने लगी।

घर सज गया।

"मेरे पास है ही क्या रत्ना !" उसने कहा था।

"मेरे लिए तुम हो, यही बहुत है।" रत्ना ने उत्तर दिया था।

वह थोड़े-से शब्द तुलसीदास के मानसपटल को झनझना उठे।

और अब याद आया।

पहले वसंत आता था, एक सूनापन-सा अनुभव होता था। सब कुछ अच्छा लगता था, परंतु दूर-दूर-सा लगता था। पतझर के गिरते पत्तों से छा जाने वाली वीरानगी में मन के न जाने किस कोने में से समता की ललकार-सी गूंजती सुनाई दिया करती थी। और भयानक ग्रीष्म में दिन-भर जब लूएँ चलती थीं, हरहराकर तप्त धूलि से धरती को भर देती थीं, तब कभी डर लगता था, दाह दाह को पुचकारता था; संध्या में प्रकृति थक जाती थी, चारों ओर शीतलता छा जाती थी। तब मन किसी शीतलता के नये ही सर्ग को चाहता था। पुरवैया, घने वनों में मर्मर करती, छायाओं से झूमर खेलती अपनी उनींदे नयनों को मलने लगती, उस समय लगता था कि इस सबके भीतर क्या गर्भ में कोई एक और पूर्णता है ? वर्षा की कड़कती बिजलियाँ और धारासार गिरते मेघों पर जब मतवाले होकर अपनी हूकभरी कूकों से मोर हरे-भरे नीलम छाया वाले पहाड़ों और गड़रिये की बाँसुरी से गूंजते खेतों और मैदानों, जंगलों और राहों में एक उल्लास की मादकता भर-भर देते थे, तब क्यों लगता था कि अभी कहीं आशा की वीरवधूटी नहीं रेंगी है, अभी कहीं उन्माद का जलधर नहीं झूमा है, अभी कहीं सफेद पक्षियों की भाँति अंगों की वासना का उन्मेष सघन हरियाली पर उड़कर लय नहीं हुआ है, अभी कहीं अपनी सत्ता की पूर्णता और शांति नहीं मिली है, जो सहज रंगों से स्फुरित होकर इन्द्रधनुष की भाँति जगमगा सके !

वह सब अब नहीं रहा। ऐसा लगा कि सब कुछ तृप्त हो गया है, परन्तु यह तृप्ति अपने आप में पूर्ण नहीं है। यह तो एक अग्नि है। जलाए रखने के लिए असीम दाह की आवश्यकता है, ऐसा दाह जो अपने-आपको शीतल समझना प्रारंभ कर दे। वहीं वह अचिरवती दृष्टि के परे स्वयंभू आनंद है, जहाँ से न गिरने का भय है, न मुरझाने की यातना का आतंक ही।

तुलसीदास खेल नहीं रहा था, वह क्या अपने-आप खिलौना बन गया था ?

× × ×

"मैं क्या हूँ रत्ना ?" वह पूछता है।

"तुम !" रत्ना देखती और फिर उसकी आँखें बोलने लगतीं, मुह चुप रह

जाता। तब तुलसीदास को लगता कि आँखें नहीं, मन बोल रहा है इसका। फिर अपनी ही उलझन कहती : नहीं, यह तो सत्ता का पूर्ण लय है। पूर्ण लय है।

"रत्ना !"

"क्या है नाथ ?"

नाथ !!

तुलसी के मन में हूक कसक उठती !

"रत्ना !!"

"जी !!"

"तू मुझे दूर-दूर रखती है।"

रत्ना चुप थी।

"ऐसा क्यों करती है ?"

उसने अबूझ बनकर देखा।

वह अपने घुटनों पर मुँह रखे देखती रही, बोली नहीं।

तुलसीदास उसके केशों पर हाथ फेरता। सरसों के तेल से चिकनी, काली मोटी वेणी दिखाई देती। तुलसीदास कहता, "कैसी नागिन है !!"

"कौन ?"

"यह !" कवि उत्तर देता।

रत्ना कहती, "डर गए ?"

"तू भी तो मुझसे डरती है !"

"नहीं, डरती नहीं।"

"फिर ?"

"मैं कैसे कहूँ ? स्त्री कभी कहती नहीं।"

"क्या नहीं कहती रत्ना ?"

"यही कि वह जब प्रेम करती है तो उसे क्या होता है !"

"क्या होता है आखिर ?"

"वह अपने-आपको न्यौछावर कर देती है।"

"मुझे विश्वास क्यों नहीं होता रत्ना !"

"तुम पुरुष हो स्वामी ! तुम कठोर हो, सनातन काल से स्त्री ही कोमलता से रहती आई है।"

तुलसीदास मुसकराया।

रत्ना कहती रही, "पुरुष इतना कठोर है, फिर भी स्त्री ने उसे इतना स्नेह दिया है !"

"क्यों दिया है रत्ना ?"

"मैं नहीं जानती।"

"कहो, अयोग्य को दान देने की आवश्यकता ही क्या है ?"

"ठीक कहते हो। परंतु उसके बिना रहा भी तो नहीं जाता।"

"तू झूठ कहती है रत्ना ! तू झूठ कहती है।" कवि कह उठा था।

"क्यों ?"

"पुरुष अपने-आपको खो देता है रत्ना ! पत्थर भी पानी हो जाता है, किंतु कोमल दिखाई देने वाली स्त्री ! उसका हृदय अपने ही लिए कोमल होता है, दूसरों के लिए नहीं।"

रत्ना मुसकराई थी। और तुलसीदास ने कहा था, "पत्थर ? तू भी पत्थर है।"

"फिर मुझे क्यों चाहते हो तुम ?"

"दुर्भाग्य से या सौभाग्य से मैं सदा ही पत्थर को भगवान समझकर आराधना करता रहा हूँ।"

"कब तक करते रहोगे ?"

"मृत्यु तक।"

"छिः ! क्या कहते हो ?"

"क्यों, क्या हुआ ?"

रत्ना रूठी। कहा, "कुछ नहीं !"

"ओह ! नारी भी कितनी बड़ी उलझन है ! कभी उँगली उठाकर पानी पर लिखता हूँ तो लहरें जैसे ठहर जाती हैं, कभी धूलि पर अ आ बनाता हूँ तो वह मेरी ही आँखों में आ-आकर भर जाती है।"

रत्ना कवयित्री। समझ गई। मुसकराई। कहा, "चलो रहने दो। तुम्हें तो दिन-भर यही रहता है। कोई और बात करते ही नहीं।"

"मुझे और कोई बात भाती ही नहीं रत्ना !"

"क्यों ?"

"मैं तुझे देखना चाहता हूँ।"

"मैं मर गई तो ?"

तुलसीदास के नेत्रों में आतंक का बवंडर विक्षुब्ध होकर दूर भीतर मन की विशाल खाइयों में उतरकर जैसे गूँजने लगा।

"रत्ना !"

"क्या है ?"

तुलसी ने उसे अंक में भर लिया।

"क्या हुआ नाथ ?"

तुलसी ने कुछ नहीं कहा। वह जैसे कहना चाहकर भी कुछ कह नहीं पा रहा था। शब्द अटक-अटक जाते थे, अपने-अपने दायरों में जैसे उसकी गहरी अनुभूति

को प्रकट कर सकने में असमर्थ हो गए थे।

केवल रत्ना का सिर तुलसीदास के वक्ष पर टिका रहा और वह उसके केशों को सहलाता रहा। उसके बाद कुछ नहीं। एक चिरंतन आश्वासन-सा जैसे वह समस्त अंतराल में से अपने लिए खींचे ले रहा था, खींचे ले रहा था।

रत्ना ने सिर उठाया। कहा, "स्वामी!"

"क्या है रत्ना?"

रत्ना ने देखा तो विभोर-सी उसके मुख को देखती ही रह गई। वह जैसे उस एकांत में लज्जा के परे थी। वहाँ नारी और पुरुष नहीं थे, केवल दो चेतन थे, दो प्राण थे, जो अपने वाह्य में भिन्न होकर भी, जब व्यवधानों को छोड़ चुके थे, तब जैसे वे एक हो गए थे, एक हो गए थे···

यह जीवन एक बड़ा विशाल वन है। इसमें असंख्य प्रकार के द्रुम हैं। वे एक-दूसरे के पास रहकर भी, एक-दूसरे की ओर हवा के झोंके खाकर भी, अपने अंतस् में एक-दूसरे से अपरिचित-से ही रहते हैं। परन्तु जब किसी वृक्ष पर बेल चढ़ने लगती है तब समीर भी झकोरे ले-लेकर चलता है क्योंकि किन्हीं की प्रेमभरी बातों को सुनकर विहँस उठता है।

इस संसार के वृक्ष पर अनेक पक्षी हैं। पर वे सब अलग-अलग से प्रभात में कलरव कर उठते हैं। झुंड बनाकर उड़ते हैं और दाना-पानी चुगकर, चुनकर, संध्या में इकट्ठे ही लौट आते हैं। परन्तु जब नर और मादा पक्षी मिलते हैं, तब एक नया ही नाटक प्रारम्भ होता है। मादा बैठ जाती है, नर चारों ओर मान मनाता है। फिर दोनों ही नंगी डालें छोड़कर चोंच से उठा-उठाकर तिनके इकट्ठे करते हैं, नीड़ बनाते हैं। और फिर जब आकाश में सतरंगी छायाएँ साँझ में करवटें बदलने लगती हैं, वे दोनों पक्षी एक-दूसरे के पास बैठकर प्रलय तक को झुठाने की कल्पना करते हैं, अपने को शाश्वत समझ लेते हैं।

यह संसार तो एक विराट समुद्र है। असंख्य ही तो इसमें तरंगें हैं, और इतनी कि उनके स्तरों के नीचे स्तर हैं, और वे अतलांत तक ऐसे ही अपने ही अनुशीलन में डूबती-उतराती चली जाती हैं। परन्तु जब दो लहरें चलती हैं तब वे उठती हैं, गिरती हैं, बल खाती हैं और फिर अलग होती वे एक हो जाती हैं और फिर वे समुद्र का रूप धारण करकें अपने-आप में सार्थक बन जाती हैं। उनका वैचित्र्य उनके एकत्व में पूर्णता को प्राप्त कर जाता है।

यह संसार इसी प्रकार बड़ा विचित्र है। जब एक पुरुष और एक नारी मिलते हैं तब मीठे-मीठे स्वप्नों का सृजन होने लगता है, ऐसे जिनका कहीं अंत ही नहीं

समझा जाता, अपने-आपमें वे स्वप्न सचमुच बड़े मीठे और आकर्षक होते हैं। दोनों एक-दूसरे से रूठते हैं, और फिर मिलते हैं। खीझते हैं कि अधिक मन को मोह सकें, लड़ते हैं कि एक-दूसरे के समर्पण की अति को देख सकें, मिलते हैं कि अपने-अपने लय को अभिव्यक्ति दे सकें और अपनी-अपनी सत्ता के अलगाव पर इसलिए अधिक बल देते हैं कि जब तक अलगाव की भावना रहेगी तब तक पास आने की, एक-दूसरे में खो जाने की तन्मयता भी उसी रूप में बढ़ती रहेगी। यह तो जैसे पहले आराधना है, फिर नीराजना। पहले यातना है, तब साधना। पहले मुक्ति, फिर बंधन। अनुरक्ति और विकास, जैसे रत्ना और तुलसी अथवा इसका विपर्यय। वहाँ तो कोई भेद करना ही कठिन हो गया, क्योंकि आसान और मुश्किल दोनों छोर एक-दूसरे में ऐसे गुंथ गए थे कि वहाँ एक गाँठ पड़ गई थी। और उलझन ही उस गाँठ का पूर्ण सुख था, पूर्ण तृप्ति थी।

और दिन बीतने लगे।

रत्ना ने कहा : "आज तो मैं लाज से मर-मर गई।"

"क्यों ?"

"स्त्रियाँ पनघट पर कहती थीं तूने आकर उन पर जादू कर दिया है।"

"तो इसमें झूठ ही क्या है रत्ना !"

"चलो हटो, तुम्हें लाज नहीं आती !"

"इसमें लाज की बात भी क्या है ? हम-तुम पति-पत्नी नहीं हैं ?"

"हैं तो क्या इतने में ही सब कुछ खतम हो जाता है ?"

"इसके आगे क्या है भला ?"

"समाज है। कोई बात है। लोग कहते हैं कि तुम शाम को कथा सुनाने में भी दिलचस्पी नहीं लेते। पहलेवाली बात ही नहीं है।"

"तुझे कैसा लगता है ?"

"मुझे भी यही अनुभव होता है।"

"जो अनुभव तुझे तब हुआ था रत्ना, वह बार-बार तो नहीं हो सकता और दूसरों में वह पाप होगा भी क्यों ?"

"चलो रहने दो। जब कहती हूँ तो ठिठोली में बात ही उड़ा देते हो। ऐसे कहीं काम चलता है ? मैं कहती हूँ दुनिया में मैं ही तो सब कुछ नहीं हूँ।"

"तू तो मेरी अर्धांगिनी है। तेरे बिना मुझमें पूर्णता कहाँ है रत्ना ?"

"मैं अर्द्धाङ्गिनी हूँ। धर्मपत्नी हूँ। मैं स्त्री हूँ। तुम पुरुष हो। इतना ही तो मेरा-तुम्हारा संबंध नहीं है ? हमारा-तुम्हारा धर्म का भी तो संबंध है। हम-तुम तो गाड़ी के दो पहिए हैं। एक पर दूसरा अटककर रह जाएगा तो गाड़ी चलेगी कैसे ?"

तुलसीदास निर्निमेष नेत्रों से देखता रहा। जैसे कुछ सुन नहीं रहा था। रत्ना ने देखा तो मुख लज्जा से लाल हो उठा।

"कितनी सुन्दर है तू !" तुलसीदास ने कहा —"कितनी आकर्षक है !"

"सुनो ! मैं तुम्हारे विलास का कोई साधन नहीं हूँ। मैं तुम्हारी पत्नी हूँ। मैं इस तरह अपनी बदनामी नहीं सह सकती।"

"पगली ! वे मूर्ख हैं। वे हृदय नहीं रखते। वे केवल रूढ़ियों में बँधे हुए चलते चले जा रहे हैं। वे नहीं जानते कि जब हृदय हृदय से बोलता है, तब वाणी मूक हो जाती है, और एक स्पंदन ही अव्यक्त गरिमाओं का वहन करने लगता है। मैं उसी को देखता हूँ रत्ना ! उससे परे कुछ भी नहीं है। मैं जब आँखें उठाकर देखता हूँ तू ही दिखती है। और जब मन में देखता हूँ तब भी तू ही दिखाई देती है। मैं क्या करूँ रत्ना ! मुझसे इतनी निष्ठुर न बन।"

रत्ना अवाक् रह गई थी।

तुलसी ने आर्द्र कण्ठ से कहा था—"रत्ना !"

वह चुप रही थी।

"बोलती क्यों नहीं ?"

उसने रूठकर मुँह फेरकर कहा था, "क्या है ?"

"तू जो कहे मैं वही करूँगा।"

रत्ना बोल नहीं सकी।

तुलसी ने कहा, "रत्ना !"

वह चुप ही रही थी। पर तुलसी को उत्तर न देते देखकर उसने कहा था, "बोलते क्यों नहीं, चुप क्यों हो गए ?"

"तू पूछती नहीं, तो मैं नहीं बोलता रत्ना ! मेरा प्रेम तेरी तृप्ति माँगता है। पर यदि तू उपेक्षा भी करती है, तब भी मैं तुझे नहीं छोड़ सकता रत्ना ! तू मेरे हृदय में बसी हुई है। तू तो मेरा ही रूप है। मैं तुझसे अलग नहीं रहा हूँ अब।"

रत्ना ने सुना।

तुलसी कहता गया, "जन्म होते ही जिस अभागे को घर में माता-पिता और संबंधियों का स्नेह नहीं मिला, जो कुत्ते की तरह अपमान और ठोकरें सहता हुआ अपने हृदय का भार लिए डोलता रहा, उसे अब ही तो स्नेह मिला है रत्ना ! मैं बड़ा दुखी था रत्ना ! बड़ा दुखी था। मैं जीवन के प्रति इतना निराश था, कि आखिर मैंने अपने अभावों से भरे दुःख को ही अपना सुख मान लिया था। हीनत्व की वह कचोट, अपनेपन का वह तिरस्कार जो संसार ने मुझे दिया था, वह मैं कैसे भूल सकता था रत्ना ! किन्तु तू आई, तूने मुझे एक नवीन ज्योति दी। तेरे स्पर्श से मैं पर्वत के समान लहलहा उठा हूँ रत्ने ! तू मेरी है। तू मेरी है..."

तुलसी का गला रुँध गया।

रत्ना की आँखों में पानी भर आया। वह सहानुभूति के अश्रु थे या अपने प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति की स्वीकृति थी, या एक आत्मसुख था, या नारी की दया थी। या क्या था, वह तुलसी समझ नहीं सका।

देर तक दोनों एक-दूसरे को देखते रहे।

"रत्ना !"

"नाथ !"

"तू रूठी तो नहीं है ?"

"नहीं।"

"मुझ पर तू अपना रोष हृदय में छिपाकर तो नहीं रखती न ?"

"तुम्हें विश्वास नहीं होता ?"

"रत्ने ! मेरी सत्ता केवल विश्वास है। वह विश्वास बड़ा अदृढ़ था, और फिर जब तू आई तो वह अत्यन्त कोमल भी हो गया है। वह स्नेह की भीख माँगता है, याचना करता है…"

तुलसीदास के हाथ फैल गए थे।

प्रेम का द्वन्द्व कैसा विचित्र था !

नारी ने पुरुष का समर्पण माँगा नहीं था, परन्तु चाहा था। वह उसे मिल गया। परन्तु कोई प्राप्ति अपने आप में पूर्ण सांत्वना नहीं होती। अभाव भाव बनकर बोझल हो गया ! रत्ना ने तुलसी पर अपने आपको न्योछावर किया था ! तुलसी ने अपना समर्पण !

नारी बेल की भाँति छा जाना चाहती थी, पर अपने सहज स्वभाव में उसके भीतर यह भी था कि पुरुष वृक्ष की भाँति खड़ा रहे, लचके नहीं। यहाँ तुलसी के भार से जैसे रत्ना दबने लगी। वह इतना कातर क्यों था ! वह भिखारी ही बना हुआ था ? क्यों ? क्या वह अपने-आपको इतना भूल चुका था !

रत्ना उन नारियों में थी जिनके अनुसार हरएक की अलग-अलग मर्यादा थी। एक क्षण था जब वह अपने को ही तुलसी के लिए एकमात्र विवेच्य समझती थी। दूसरे क्षण वह अपने को ही नहीं, अपने पति के लिए संसार को ही देखती थी। वह चाहती थी उसका पति प्रसिद्ध बने। उसका सम्मान हो। और तुलसी ! उसकी तो जैसे सारी आकांक्षाएँ ही समाप्त हो गई थीं। उसकी तो चाहें सिमट गई थीं। रत्ना एक शंख थी, तुलसी उसमें बैठा कीड़ा। तुलसी के लिए तो रत्ना थी। और कुछ जैसे था ही नहीं।

रत्ना को यह अति अच्छी नहीं लगती थी। जितना ही तुलसी का स्नेह एकांतिक और पत्नीपरायण होता गया, रत्ना का अहं जागने लगा। तुलसी अब उसे

पहले के समान नहीं दिखता।

पहले का वह ओजस्वी स्वरूप खोने लगा। उसे लगता वहाँ एक लोलुप व्यक्ति है, जो केवल विलास का प्यासा है, जो रत्ना के तन से ही खिलवाड़ करने को सब कुछ समझता है। इसी को वह इतना प्रतिभाशाली समझ बैठी थी!

जैसे वज्रवेग से उठने वाली लहर, दृढ़तम चट्टान को देखकर उठती है और भरपूर उद्दामशक्ति से उससे टकराकर, फेन-फेन होकर बिखर जाने का आनन्द अपने बिन्दु-बिन्दु में भरकर, अपनी पराजय में अपनी विजय का अनुभव करना चाहती है, वैसे रत्ना तुलसी को देख पुलक उठी थी। परन्तु वह लहर बढ़ी तो देखा वहाँ चट्टान न थी, केवल रेत थी। उससे तो टकराने का प्रश्न ही नहीं था। वहाँ लहर गई, रेत अपने-आप भीगने को तैयार थी, भीग गई, और भीगी ऐसी कि उसने न फिर से सूखने की कामना की, न लहर का लौट जाना ही स्वीकार किया। रत्ना से तुलसी ऐसे ही भीग गया था। लहर का असंतोष भड़कने लगा। वह खेलना चाहती थी, और एक ऊँचे स्तर पर, हहराकर। यहाँ एक हारा हुआ व्यक्ति था। उसमें तड़क ही नहीं थी।

और यह द्वन्द्व अपनी अति में विसर्जन चाहने लगा, विसर्जन चाहने लगा···

बरसात आ गई थी। पथों पर कीचड़ हो रही थी। रत्ना पानी भरने गई थी। स्त्रियाँ खड़ी बातें करती आपस में ठिठोली कर रही थीं।

चम्पा ने कहा, "मैं तो कल पीहर चली जाऊँगी।"

रत्ना ने कुछ नहीं कहा।

"तू कब जाएगी रत्ना?" कौसल्या ने पूछा।

रत्ना उत्तर देती तब तक एक कह उठी, "यह कैसे जाएगी बहन! इसका जैसा भाग तो किसी-किसी का होता है। इसका पति तो इसे पलकों में मूँदकर सोता है। वह जाने कब देगा!"

"चली जाएगी तो बिचारे को," चम्पा ने दबी ज़बान से कहा, "नींद भी नहीं आएगी।"

रत्ना कुढ़ गई। बोली, "क्या कहती हो? उनको कौन रोटी बनाकर खिला-एगा?"

चम्पा हँसी। कहा, "मरद तो तेरा ही है न री! हमारे तो सब जाने क्या हैं? दो दिन आप रोटी बनाकर नहीं खा सकता वह!"

"अरी लाज कर।" एक अधेड़ स्त्री ने कहा, "कैसा कलयुग आया है! लुगाई को शरम नहीं आती कहते। माँ-बाप से तो नाता ही नहीं रहा। ब्याहता और रखैल का तो फरक ही नहीं रहा।"

पानी की बूँदें गिरने लगीं।

हठात् रत्ना को काठ मार गया।

तुलसी आ गया था। उन सब औरतों के बीच उसने कहा, "रत्ना! पानी आ रहा है। तू भीग जाएगी। कहीं रास्ते में कीचड़ में गिर न जाए यही सोचकर मैं आ गया हूँ। ला घड़ा मुझे दे दे!"

स्त्रियों ने एक-दूसरे की ओर इंगित किए। मुसकराईं। रत्ना की इच्छा हुई धरती फट जाए और वह वहीं समा जाए। क्या कहे वह? और उसके पति को कोई लज्जा नहीं, संकोच नहीं!! क्या कह रहा है? सब सुन रही हैं। क्या कहेंगी यह? रत्ना अब क्या करे?

रत्ना समझ नहीं सकी। तुलसी ने घड़ा उठाकर कंधे पर रख लिया और कहा, "चल। सँभलकर चलियो। कहीं गिर न जाइयो!"

रत्ना को फिर काठ मार गया। वह उसके पीछे-पीछे चुपचाप उतर आई।

"हाय दैया!" चम्पा का व्यंग्य सुनाई दिया। "फरश बिछवा दे देवर! कहीं बहू के पाँव न छिल जाएँ।"

तुलसी हँस दिया।

रत्ना ने मन-ही-मन कहा: निर्लज्ज!

वह पानी-पानी हुई जा रही थी। पीछे स्त्रियों के खिलखिलाने की आवाज आ रही थी। वह हँसी सुन-सुनकर रत्ना भीतर-ही-भीतर घुटने लगी।

लकड़ियाँ लेकर बैठते हुए रत्ना बिखर पड़ी।

उसने कहा, "यहाँ क्यों बैठे हो चूल्हे के पास?"

तुलसी ने कहा, "लकड़ियाँ गीली हो गई हैं। तू फूँकेगी तो कष्ट होगा। ला, मैं चूल्हा जला दूँ।"

"मुझे क्यों नहीं जला देते?" रत्ना ने हठात् कहा।

"क्या कहती है?" तुलसी ने पूछा।

"ठीक ही तो पूछती हूँ।" रत्ना ने कहा, "तुम्हें सच कुछ समझ में नहीं आता। दुनिया को उपदेश देते हो, और आप मेरी जग-हँसाई कराते हो!"

"मैंने···मैंने क्या किया है रत्ना?"

"तुमसे किसने कहा था घड़ा आकर उठाने को? मैं नहीं उठा सकती थी? मेरे हाथ टूट गए हैं? मैं पानी में भीगकर गल जाती? मैं कीच में फिसलकर गिर जाती तो मर कर ही उठती? तुम्हें वहाँ आने की जरूरत क्या थी मैं पूछती हूँ? किसी और औरत का भी आदमी वहाँ आया था?"

"वे अपनी औरतों की परवाह नहीं करते रत्ना!"

"तुम करते हो अकेले? प्रेम तो तुम्हें ही आता है, कभी लाज भी आती है?"

"सच कहती है रत्ना!" तुलसीदास ने कहा—"मैं तेरे योग्य ही नहीं था।

तुझ जैसी सुंदरी और योग्य स्त्री किसी धनवान के पास होनी चाहिए थी। क्या करूँ! धन नहीं है, तो क्या मदद भी नहीं करूँ? मैं जानता हूँ तुझे मैं सुख नहीं दे सका हूँ रत्ना, पर मैं क्या करूँ? भाग्यहीन हूँ। सदा से ही ऐसा रहा हूँ। आज भी हूँ।"

रत्ना उत्तर नहीं दे सकी। वह रोने लगी।

"क्यों रोती है रत्ना?"

वह नहीं बोली। तुलसी ने उदास स्वर से कहा—"दरिद्र का स्नेह भी उपहास बन जाता है। यह संसार कितना विचित्र है!"

"चुप रहो।" रत्ना चिल्लाई। "मैं कल मायके जाऊँगी।"

"मुझे छोड़कर?"

"तो क्या तुम ससुराल चलोगे?"

"क्यों, मैं नहीं चल सकता?"

"तुम आदमी हो कि अपनी सारी मान-मर्यादा खो बैठे हो?"

"तो तू कितने दिन में लौटेगी?"

"मैं न लौटूँ तो मेरी लाश लौट आएगी। ऐसी क्यों चिंता करते हो?"

"रत्ना!!" तुलसी पुकार उठा।

"क्या है?"

वह स्वर कठोर था। उसमें कोई सरसता नहीं थी, कोई निकटता नहीं थी।

तुलसी ने आँखों पर हाथ धर लिया।

"तुमने सुना था?" रत्ना ने पूछा।

"क्या?"

"वे औरतें हँस रही थीं।"

"तुम्हें उनसे क्या?" तुलसी ने टोका।

"तुम मेरे कौन हो, जानते हो?"

"कौन हूँ? पति हूँ।"

"पति हूँ।" रत्ना ने मुँह चिढ़ाया। "कभी शीशे में शक्ल देखी है? पति लुगाई के पीछे ऐसा डोलता है? तुमने तो मेरी नाक काट दी। अरे मरद हो। मरद बनकर तुम्हें रहना नहीं आता! चूड़ी पहनकर बैठ जाओ। मैं कर लूँगी सब काम! ऐसा होता है पति?"

बड़बड़ाती रही, जाने क्या-क्या!

थाली परोसकर सामने रखी। तुलसी ने हाथ नहीं बढ़ाया।

"खाते क्यों नहीं?" रत्ना ने कहा—"क्यों जलाते हो मुझे? मार क्यों नहीं डालते एक बार ही?"

तुलसी चुप ही बैठा रहा।

"तुम्हें सौगंध है मेरी ।" रत्ना ने कहा, "खाओ, नहीं तो मैं भी नहीं खाऊँगी।"

तुलसी ने हाथ से थाली सामने लेकर कहा, "रत्ना ! तुझे भी क्या घमंड है ? तू क्या मेरे प्रेम को अच्छा नहीं समझती ? एक दिन तू देखेगी कि तुलसी ने तुझे प्यार किया था रत्ना !"

रत्ना ने मुड़कर नहीं देखा। रोटी सेंकती रही ।

तुलसी सोचता रहा ।

"खाते क्यों नहीं ?" रत्ना ने कहा, "क्या आज कथा सुनाने नहीं जाओगे रात को ?"

"जाऊँगा क्यों नहीं !"

"भला तो। इतना तो कहा। वर्ना आज तो खैर नहीं थी। सब स्त्रियाँ कहतीं, ओहो कैसी घटा छा रही है, रत्ना ने न आने दिया होगा···"

और कहते तो कह गई, पर लज्जा से उसका मुख आरक्त हो गया। तुलसी ने कहा, "तू तो बेकार डरती है। अरी ! वे तुझसे जलती हैं, समझी ! जलती हैं !"

रत्ना ने ऐसे देखा जैसे क्या करूँ ? तुम तो जाने क्यों समझते नहीं। पर तुलसी खाता हुआ कह रहा था, "खाना तो रत्ना तू बनाती है ! तेरे हाथों से छूकर रोटी में कितना स्वाद आ जाता है !"

रत्ना ने चिढ़कर अपने सिर पर हाथ मार लिया। चून बालों में लग गया। पर तुलसी अभी तक खाने की तारीफ ही करता जा रहा था···

अनंता नाई आ गया ।

उसने कहा, "चलो बहू !"

"कौन है ? । तुलसीदास ने कहा ।

"अनन्ता हूँ । बहू ने बुलाया था ।" बूढ़े ने कहा ।

"क्यों ?"

"वे पीहर जाएँगी। उन्हें पहुँचाने आ गया हूँ ।"

तुलसी ने पुकारा, "रत्ना !"

"क्या है ?" वह बाहर आई ।

"तू जा रही है ?"

"मैंने कल कहा तो था ?" उसने पूछा ।

"लेकिन," तुलसी ने कहा—"तू चली जाएगी तो मैं किसके सहारे जिऊँगा ?"

रत्ना ने जीभ काट ली। अनन्ता मुसकराया। रत्ना को आग लग गई। बोली, "तू जा अनन्ता ! मैं बुलवा लूँगी तुझे।"

"नहीं," तुलसी ने कहा—"तू जा। तुझे आने की ज़रूरत नहीं है। यहाँ सब पटरा हो जाएगा।"

अनंता चला गया। रत्ना रोने बैठ गई।

तुलसी समझा नहीं। बोला, "अरी रोती क्यों है ? तुझे यहाँ कोई दु:ख है ?"

रत्ना ने उत्तर नहीं दिया।घड़े उठाए और मुँह पर घूँघट खींचकर चली गई।

कुएँ पर पहुँची तो स्त्रियों ने इशारे किए। अनंता नाई ठहरा। उसने घर से निकलते ही सब जगह बात फैलाने वाली अपनी नाइन से कह दिया और नाइन अपने धर्मानुसार सबसे कह आई। किसी से भी कहा तो कसम देकर कहा कि बस उसी से कह रही है और उसे भी किसी से नहीं कहना चाहिए।

कौसल्या ने कहा, "रत्ना ! कल तू गिरी तो नहीं ?"

रत्ना को लज्जा हुई। कहा, "गिर जाती तो तुम्हें सुख मिल जाता ?"

"कैसे गिरती भला ?" एक और बोल उठी, "गिरने को तो जगत् की लुगाइयाँ हैं। उसको तो वह है न उसका ? धरती पर पाँव ही नहीं रखने देता।"

"अपने-अपने भाग हैं। तुम क्यों जली जाती हो ?"

"अरे आग लगै ऐसे भाग में। बंगाले की जादूगरनी की तरह भेड़ा बना रखा है। और मैं कहती हूँ, लोग कहते हैं इतना बड़ा पंडित है, पर अपनी अकल ज़रा नहीं।"

"चाची !" एक ने मज़ाक में कहा "रूप और जवानी की बातें अब भला तुम क्या जानो ?"

"हाँ आली !" उस स्त्री ने कहा, "मरद किसका नहीं होता। मेरे ही नौ बच्चे हुए पर ऐसा कभी नहीं हुआ। वे अब तो नाना हो गए, अभी दिन में नहीं बोलते, और यह भी खूब बेशरम उठा रखी है ! दिनदहाड़े लुगाई के घड़े लेकर कहता है—कहीं रपट न जाए। ऐसी नहीं बड़ी रानी ले आया है फूलनदेई ! !"

रत्ना का मुँह स्याह पड़ गया।

"छि:, ऐसा क्यों कहती हो ?" एक अन्य स्त्री ने जले पर नमक छिड़का, "तुम्हारे नौ हुए। उसके तो अभी एक भी नहीं हुआ !"

स्त्रियाँ ठहाका लगाकर हँसीं।

"क्यों री !" दूसरी ने कहा "क्या कर दिया है तूने ? कोई टोना-टोटका कर दिया उस पर ?"

"क्या कहती हो," रत्ना ने खिसियाकर कहा—"तुम्हें लाज नहीं आती ?"

"अरे लो। सुनती हो चाची ! लाज हमें नहीं आती ! ! तुझे तो आती है न जो मरद पर घड़े उठवाकर भरी सड़क पर मटकती छम-छम करती चली जाती है ? यह बाह्मनों के लच्छन हैं ! ऐसा तो हमारे गाँव में पतुरिया भी नहीं करती।"

रत्ना का मन हुआ उस स्त्री का मुँह नोंच ले। परंतु क्या करती ! चुपचाप

घड़े भरने लगी।

जब वह लौटी तो हृदय फट रहा था।

घर पहुँचकर खूब रोई। खूब रोई।

चम्पा आ गई।

रत्ना ने तुरंत आँखें पोंछ लीं।

चम्पा ने कहा, "क्यों रत्ना कुछ मँगाएगी? मेरे गाँव में चूड़ियों वाले व्यापारी अच्छी चूड़ियाँ लाते हैं।"

"नहीं भाभी!"

"क्यों?"

रत्ना चुप रही।

"अरी तू रो रही थी क्या?"

रत्ना ने शर्म से सिर झुका लिया।

"क्यों रोती है भला? मुझसे कह पगली! कुछ तकलीफ है? घर में कोई और औरत है भी तो नही। कुछ होने वोने···"

"छिः-छिः भाभी, नहीं।" रत्ना ने कहा—"क्या कहती हो?"

"क्यों, ऐसी कोई अनहोनी बात तो कहती नहीं। आखिर होते ही हैं।"

रत्ना कह नहीं सकी।

"तो क्यों बिहाल हुई जाती है?"

रत्ना का गला रुंध गया।

"अरी बता न?" उसने स्नेह से पूछा।

"भाभी!" रत्ना ने झिझकते हुए कहा।

"हाँ हाँ!"

"वे तो पीहर ही नहीं जाने देते।"

"अरी बस इतनी-सी बात है?"

रत्ना को ढाढ़स हुआ।

चम्पा ने कहा—"सब मरद शुरू में ऐसा ही प्रेम जताते हैं। एकआद बच्चा हुआ कि फिर खतम। फिर तो गाड़ी ढोई जाती है। तेरे जेठ भी ऐसे ही थे। मुझे तो परेशान कर दिया था। रो-रोकर घर में हलकान हुई जाती थी, पर मानते ही न थे।"

"तो ये ही अकेले ऐसे नहीं हैं?"

"अकेले? सब ऐसे ही होते हैं। नयी औरत पर तो ऐसी जान देते हैं कि बयान नहीं।"

"तो मैं क्या करूँ?"

"मुझसे ही पूछती है?"

रत्ना समझी नहीं कहा—"फिर ?"

"अरी चली जा चुपचाप।"

वह डरी। कहा, "और जब वे लौटेंगे तो ?"

"कहां गया है देवर ?"

"बजार।"

"इस आँधी-पानी में बजार में क्या है ?"

"भाभी कैसे कहूँ ! शरम से गड़ी जाती हूँ।"

"क्यों ?"

"आज कहीं से रुपये ले आए थे। बोले तेरे लिए एक अच्छी-सी चुंदरी ले आऊँ।"

चम्पा हँसी। कहा, "अरी यह मरद की जात ही ऐसी है। यह समझते हैं कि स्त्री तो गहने, कपड़े, खाने की भूखी होती है।"

"तो चली जाऊँ ? अनंता बुलाने आया था, उसे तो उन्होंने लौटा दिया।"

"सफा जा। मैं तो कल जाऊँगी अब।"

"क्यों ?"

"भय्या आया लेने। वह अभी कुछ काम से एक दिन को ठहर गया है। पर एक बात है।"

"क्या ?"

"तू जा तो रही है, पर कहीं मेरा नाम न आए।"

"कैसे ?"

"कि मैंने तुझे भेज दिया।"

"आ जाए तो क्या है ?"

"अरी, देवर तो मेरे उनसे कह देगा। तू नहीं जानती, यह मरद-मरद आपस में फौरन मिल जाते हैं।"

"अच्छा नहीं कहूँगी।" रत्ना ने कहा।

आकाश में घटाएँ टकराने लगीं। और सफेद रंग के पक्षी कलरव करते हुए घिराव देकर उड़ चले। नीली छाया पृथ्वी पर लोटने लगी। उन्निद्र वासना की घटा क्षितिज पर बोझिल होकर फैल गई। तुलसी का मन उस वातावरण को देख उच्छ्वसित हो उठा। वह अत्यन्त विह्वल हो उठा। घर की ओर चल पड़ा। कल्पना सजग थी। रत्ना के रूप को उसने मेघों के बीच में बिजली के समान चमकते देखा। वह अब घर जा रहा था।

रत्ना बैठी होगी। अकेली। आज वह रूठी हुई होगी। तुलसी जाकर उसको मनुहार से रिझाएगा। आज वह गाएगा। वह और मान करेगी, परंतु अंत में बाँध

टूटेगा और जैसे महानदी महासमुद्र में जाकर गिरती है, ऐसे ही रत्ना उसकी भुजाओं में आ गिरेगी, फिर जल में जल मिल जाएगा और केवल आनन्द की आर्द्रता शेष रह जाएगी।

घर पहुँचकर तुलसी ने देखा द्वार खुला था। माथा ठनका।

पुकारा—रत्ना!

कोई उत्तर नहीं आया।

वह आँगन में बैठ गया। सोचा अभी आती होगी।

परंतु वह नहीं आई।

कहाँ गई होगी ? ? इस समय ! ! कुएँ पर ? पर घड़े तो यह रखे हैं।

तुलसी घबराने लगा। वह दौड़कर कुएँ पर गया। वहाँ पूछा, "रत्ना आई थी ?"

चम्पा ने देखा तो हँसी। कहा, "लाला ! भाग गई क्या ?"

"क्या कहती है भाभी ?"

"अरे तुम जैसे मरद ही लुगाई को चैन से नहीं रहने देते। सिर चढ़ाया है न तुमने उसे ? भाग गई शायद !"

तुलसी आहत हुआ। सब स्त्रियाँ ठठाकर हँसीं।

"हां।" एक ने कहा, "कल वह कहती तो थी।"

"क्या।" तुलसी ने पूछा।

"मायके जाने की बात कहती थी।"

"मायका ! मैंने मना किया था।"

"क्यों भला ?"

"यहाँ मैं···मैं···"

परंतु उसे कहने का अवसर नहीं मिला। स्त्रियाँ फिर खिलखिलाकर हँस पड़ीं। तुलसी लौट चला।

घर आया परंतु अब अँधेरा घना-सा हो चला था।

वह मायके गई है ! कैसा भयानक काम कर दिया है उसने ! किसी को साथ तो ले जाती भला ! परंतु उसके पिता यहाँ तो हैं नहीं। वे तो अपने गाँव गए हुए हैं। वह उनसे मिलने क्या तारपिता गई है ? तारपिता ! वह गाँव तो दूर है ! जमुना किनारे है। रत्ना ! अकेली ! ! इस सुनसान तूफान के कगारे पर लड़-खड़ाती साँझ में मेरी रत्नावली ! रत्ना अकेली गई है ! !

किसने दिया उसे इतना अधिकार ? कैसे उसकी इतनी हिम्मत पड़ सकी ? जब जाने से स्वयं मैंने मना किया था ! आखिर मेरी बात का कोई तो मूल्य था ही ! संसार जानता है मैं उसका पति हूँ। परंतु उसने इस कान से सुना उस कान से

उस बात को निकाल दिया। उसने कोई परवाह नहीं की। उसने तो मेरी सत्ता को ही अस्वीकृत कर दिया। अरे ! जैसे मैं कुछ हूँ ही नहीं !

आवेश व्याकुल करने लगा। विश्वास नहीं हुआ।

तुलसी ने पुकारा, "रत्ना ! ! रत्ना हो ! ! !"

सूने घर में शब्द टकराया। गूँज उठा।

"रत्ना ! रत्ना हो !" तुलसी ने फिर पुकारा।

फिर प्रतिध्वनि उठी।

तुलसी भीतर घुस गया। एक-एक वस्तु उठा-उठाकर फेंकने लगा। नहीं। किसी में भी रत्ना नहीं है।

आकाश में मेघ घमण्ड से गरज उठा। तुलसी का मन प्रियाहीन आज डरने लगा।

बाहर आकाश के पनघट पर जैसे अप्सराओं के कंकण बजकर चमके, और उनके घड़ों से कुछ जल छितरा गया और फुहार-सी झर उठी।

"आ जा रत्ना !" तुलसी ने मनुहार की—"तू मेरी सर्वस्व है, तेरे बिना मैं नहीं रह सकूंगा।"

अँधेरा गरजा, ऊँगा, ऊँगा !

तुलसी चकित हो गया।

ऐसा लगा जैसे सब कुछ बड़ा निर्मम था। अंधकार भीम होकर डराने लगा। वायु सनसनाती हुई आकर आँगन के द्वारों को झुला-सी गई और खटाखट करके वे बंद होकर फिर खुल गए।

वज्रनाद हुआ। तुलसी ने कान बंद कर लिए। परंतु अब हृदय में दूसरा भाव जागने लगा। नया आवेश था, नयी स्फूर्ति मचलने लगी थी।

"रत्ना !" वह दाँत भींचकर फुसफुसाया—"तू मेरी है, तू मेरी स्त्री है। मैं तुझे नहीं जाने दूंगा। मैं तुझे नहीं जाने दूंगा। तुझे मेरे पास ही रहना होगा।"

तुलसी भाग चला।

नदी अब आलोड़ित-विलोड़ित होने लगी थी।

तुलसी ने कहा, "माँझी ! पार चलना है।"

"नहीं पण्डित, तूफान आने वाला है।"

"मैं तुझे दुगुनी मजूरी दूंगा।"

"दूसरी जिंदगी तो न दोगे ?"

तुलसी निराश होने लगा। क्या करे ?

दूर हल्की-सी रोशनी में नाव चली जा रही है। पूछा, उस नाव पर कौन-कौन था ?

माँझी ने कहा, "कौन नहीं था ? कई थे !"

"कोई औरत थी ?"

"थीं तो। कई थीं।"

तब ! तब तो रत्ना ही होगी।

सोचने का समय ही कहाँ था !

तुलसी हार जाएगा ?

नहीं, वह नहीं जाने देगा उसे। नहीं जाने देगा उसे।

माँझी चिल्लाया, "क्या करते हो ? तूफान टूटने वाला है। मर जाओगे।"

परंतु वह चिल्लाता ही रह गया।

तुलसी उन्मत्त-सा उन्मत्त नदी में कूद पड़ा था। लहर निगलने को उठी। माँझी ने देखा वह पानी में खो गया था। फिर भीष्म प्रयत्न करके तुलसी पानी के ऊपर आ गया। आँधी चिल्लाई, लगा रत्ना पुकार रही थी। अंत नील व्योम से लेकर ऊभचूभ करने वाली पागल लहरें एक ही रूप से परिव्याप्त हो गई थीं, वह रूप रत्ना का अनिंद्य सौंदर्य था। आकाश में बिजली चमकी मानो रत्ना मुसकरा दी।

तुलसी ने हाथ फैला दिए और चिल्लाया, "रत्ना हो ! रत्ना !"

और तभी उसके हाथों से कुछ टकराया। उसने उसे एक हाथ से पकड़ लिया। सहारा मिल गया। और दूसरे हाथ के सहारे से तैरता हुआ वह शीघ्र ही माँझी की दृष्टि से ओझल हो गया। फिर घना-सा अंधकार उसे लहरों में उठा-उठाकर पटकने लगा। परंतु आँखों में वही आवेश था, वही घोर वासना उसे मदमत्त बनाए दे रही थी, वह आज अपने-आपको भूल गया था···वह वासना त्रिभुवन में से संकुचित होकर मानो आज तुलसी में गरजने लगी थी···

बड़ी वाली नाव में एक क्षीण-सा स्वर सुनाई दिया, "रत्ना हो ! रत्ना !" रत्ना चौंक उठी।

फिर सुनाई दिया, "रत्ना हो ! रत्ना !"

रत्ना आतंकित हो उठी।

"कौन पुकार रहा है ?" बूढ़े माँझी ने कहा।

"नाव सँभालो !!" जवान माँझी चिल्लाया।

नाव डगमगा गई। पानी उछल रहा था। आकाश में बिजली कड़क रही थी और वक्ष पर घूँसा-सा मार उठती थी। लहरें नाव से टकराईं। पानी छितर गया। रत्ना ने झुककर देखा। कहा, "नाव धीमी करो। मुझे शायद वे ही पुकार रहे हैं।"

स्वर आया, "रत्ना ! हो रत्ना !"

"रोक दो नाव, रोक दो !" रत्ना व्याकुल स्वर में चिल्लाई। यात्रियों ने उसे

पकड़ लिया।

मांझी चिल्लाया, "नाव रोक दें! क्यों? तूफान टूटने वाला है। जल्दी से जल्दी पार उतरना है।"

"मगर वे मुझे बुला रहे हैं।"

"अरे एक के लिए क्या सबकी जान जोखों में डाल दें?"

"जोर से खेओ। पाल खोल दो।" बूढ़ा चिल्लाया।

पाल खुल गए। नाव लहरों पर झटके खाने लगी। कभी-कभी पानी छितराकर नाव के भीतर भी आ जाता और सब डाँवाडोल हो उठते!

तूफ़ान ने ठहाका लगाया। पुकार आई, "रत्ना हो! रत्ना!"

रत्ना का मन थर्रा गया।

यह आवाज़ तो लहरों में से आ रही है!

भयानक! तूफ़ान की अगवानी में लहरें भयानक नाद से नगाड़े बजाने लगी थीं। विनाश के झंडे की तरह आँधी फुंकारती हुई खुल गई थी। रत्ना का दिल बल्लियों उछलने लगा। उसने ज़ोर लगाकर अपने को छुड़ाते हुए पुकारा, "मुझे छोड़ दो, मुझे छोड़ दो! तुम नहीं रोक सकते, तो मुझे जाने दो!"

"पागल हो गई है लड़की?" एक यात्री ने कहा।

उन्होंने उसे पकड़कर बिठा लिया।

नाव फिर झटके खाने लगी। अचानक मांझी कूद पड़ा। नाव किनारे पर खिंच गई।

वे सब उतर पड़े।

उस समय हठात् सबके मुँह खुले रह गए। भीम लहर ने तुलसी को किनारे पर फेंक दिया वह व्याकुल-सा। "रत्ना! मेरी रत्ना!" कहकर रत्ना से जाकर चिपट गया।

रत्ना रो पड़ी।

एक बूढ़ी ने कहा, "अरे सत्यानाश हो गया।"

"कलियुग है, महान कलियुग है।"

यात्री बात करने लगे।

"क्यों, क्या हुआ?"

"जानते हो यह किस तरह आया है।"

"मैं देखूँ क्या बात है?"

"यह तो लाश पर चढ़कर आया है?"

"लाश!!!"

रत्ना छिटककर खड़ी हो गई।

यात्री बात करते रहे, "लुगाई ने अंधा कर दिया है इसे"

"अरे यह बामन तो बड़ा कामी है !"

"राक्षस है राक्षस !"

"लाश पर चढ़कर आया है !"

"इसे डर नहीं लगा ?"

"डर ! वह तो विलासी है।"

"धिक्कार है !"

"लुगाई भी बड़ी कुलटा है।"

"भई हद्द हो गई।"

तुलसी आतंकित-सा खड़ा था। रत्ना उसे घोर क्रोध से देख रही थी, जैसे आँखों से भस्म कर देगी।

फिर यात्रियों में तानेबाज़ी शुरू हुई।

"एक दिन नहीं रहा गया इससे।"

"तभी तो घबराकर भाग रही थी।"

"इनसे तो जानवर अच्छे।"

"और ज़रा लाज नहीं।"

"थू है।" किसी ने थूका।

रत्ना ने एक बार दाँत पीसे और कहा, "धिक्कार है तुम्हें !"

तुलसी घबरा गया। रत्ना के शब्द सुनाई दिए, "तुमने मेरे हाड़-चाम से इतना प्रेम किया, इतने अंधे हो गए ! अगर इससे आधा भी भगवान से किया होता तो जन्म-जन्मांतर के पाप धुल गए होते।"

वह अँधेरे में ही पाँव पटककर चली गई। लोगों ने विद्रूप से अट्टहास किया।

तुलसी ने सुना और वहीं सिर पकड़कर बैठ गया।

आकाश में वज्र ठनका। दिशांतों तक जैसे अपमान की विभीषिका प्रतिध्वनित हो उठी !

यात्री फिर हँस उठे।

कामी !

विलासी !!

पशु !!!

राक्षस !!!!

तुलसी को लगा यह धरती फट जाए तो वह उसमें वहीं समा जाए। किसी को भी अपना मुख नहीं दिखाए। उसने नारी को केवल भोग्य समझा। क्यों, वह इतना अंधा किस तरह हो गया ?

यात्री चले गए थे।

तुलसी अकेला बैठा था।

उस समय मानो कोई हँसा। वह नरहरि गुरुदेव थे। उन्होंने मानो हाथ की तर्जनी उठाकर, भौंहें चढ़ाकर विकराल क्रोध से कहा : नीच ! कुत्तों के साथ पलने वाले भिखारी ! तू इसी योग्य था कि तू पथों पर टुकड़े माँग-माँगकर खाता, द्वार-द्वार गिड़गिड़ाता फिरता ! तूने ब्राह्मण-गौरव को खंडित कर दिया। क्या इसीलिए मैंने तुझे पाल-पोसकर बड़ा किया था ?

उस समय मानो आचार्य शेष सनातन ने वेदघोष करना छोड़ दिया और आसन उलटकर आग्नेय नेत्रों से देखते हुए गरज उठे : कुलाङ्गार ! अधम ! तू पतित है। तू जघन्य है। तूने नारी को ही अपना अंतिम ध्येय मान लिया ! तूने उससे, अचिरवती से इतना विलासी प्रेम किया ! तू लाश पर चढ़कर चला आया और तुझे अपनी नीच वासना में यह ज्ञान भी नहीं रहा ?

तूफान धकधकाता हुआ गरजा। आकाश में बादलों के स्याह धुएँ में बिजली एक पतली लपट की तरह काँपी और फिर जल धरती पर सहस्रफन महानाग की भाँति विष-सा उगलने लगा।

तुलसी का सिर फटने लगा।

उसे चारों ओर सर्वनाश दिखाई दिया। वहाँ घोर यातना थी और ग्लानि के आरे से उसके मन को उसका अहं अब धीरे-धीरे काटने लगा धीरे-धीरे उसमें से लहू बहने लगा।

वह लज्जा से जल में कूद गया।

क्या करेगा वह जीकर ?

वह आत्महत्या करेगा।

किंतु मानो लहरें गरजीं : नहीं ! नहीं !! तू पापी है। तुझे पचा लेने की शक्ति महासमुद्र में भी नहीं है।

उसे तरंगों ने फिर किनारे पर उठाकर फेंक दिया।

शेष सनातन चिल्लाए : कायर ! ओ ब्राह्मणों के अपमान ! तू जीवित भी तो मर गया है !

'तू सड़ रहा है ! पापों के नासूर ही तेरे शरीर में मवाद बनकर भर गए हैं।' गुरुदेव नरहर्य्यानन्द ने फूत्कार किया।

तुलसी फिर सिर पकड़कर बैठ गया।

आँधी चलती रही। तुलसी पड़ा-पड़ा रोता रहा। फिर बादलों का गर्जन बहुत बढ़ गया। मूसलाधार वर्षा होने लगी। अत्यन्त कर्कश निनाद करके बिजली गिरी और फिर हुमस-सी खींचकर सब कुछ शांत हो गया। तुलसी उठा। उसने उस

समय घुटनों के बल बैठकर आकाश की ओर हाथ उठाकर पुकारा, "प्रभु ! मुझे क्षमा करो। जीवनपर्यंत मैं इस पाप का प्रायश्चित्त करूँगा। मुझे क्षमा करो। मैं नराधम हूँ। परन्तु अजामिल भी पापी था, गणिका भी पापिन थी, मुझे भी अपने चरणों पर पड़ा रहने दो !! मुझे भी द्वार पर पड़ा रहने दो प्रभु !"

नरहर्य्यानन्द ने मानो कहा : उठ ! फिर जीवन प्रारम्भ कर। फिर से उठ। पवित्र होकर चल। और कर्त्तव्य कर।

शेष सनातन मुसकराए। कहा : धर्म के लिए अपने को खो दे। तू पापी है। यही तेरे उद्धार का मार्ग है।

"यही होगा प्रभु ! यही होगा !" तुलसी आर्त्त स्वर से पुकार उठा और उसने साष्टांग दण्डवत् की।

तुलसी व्याकुल हो उठे।

आज भी वह दृश्य याद आते ही रोम-रोम कंटकित हो गया। आग-सी जलने लगी।

पाप !! घोर पाप था वह !!!

मनुष्य का पशुत्व ! उसका पतन !! कितना घृणित था वह सब ! तुलसी ने ही किया था !! कैसे आ गया था उसमें इतना ममत्व !! कैसे भूल सका था वह अपने-आपको !!

क्या था रत्ना में ऐसा ?

परंतु यह प्रश्न तो मन में आज उठ रहा है, उस समय रत्ना के अतिरिक्त और कुछ क्यों नहीं सूझता था ? क्यों कर वह पागल यौवन खड्ग की धार पर अपने पवित्र जीवन का सर्वनाश करने को चल पड़ा था ! ठीक ही है। जिसमें शक्ति है वही आवेश की सीमा प्राप्त कर सकता है। जिसमें ऊँचाई है वही गहरी छाया भी डाल सकता है।

"नहीं, नहीं।" महाकवि बुदबुदा उठे। आज क्या वे फिर पाप की बात सोच रहे हैं ?

अरे पाप !

तू अभी तक जीवित है ? अरे काम ! तू मनुष्य की मृत्यु-शय्या पर भी अपना प्रभुत्व दिखाने की सामर्थ्य रखता है ?

"प्रभु !" महाकवि चौंककर चिल्ला उठे—"मैं पातकी हूँ, मैं पापी हूँ। मेरे सारे जीवन में मेरा हृदय शुद्ध नहीं हुआ। वासनाओं की मलीनता मेरे हृदय पर छाई रही, जिसके कारण मैं शुद्ध दर्पण जैसे मानव-जीवन में तुम्हारी पवित्र प्रति-कृति को आज तक नहीं देख सका। क्षमा करो राम ! मेरे स्वामी ! मैं अपने ही अहंकार में डूबा रहा। मैंने जगत के अनेक व्यापारों के जंजालों में अपने को फँसाए

रखा और नारी की काया में मैंने अपने को बंदी बना लिया। मैं उस रक्त-मांस की ढेरी में अनंत सुखों को खोजता हुआ मृगमरीचिका में हाँफता हुआ भागता रहा। एक दिन भी यह नहीं समझ सका कि इस लघुता के पार एक विशाल आकाश है जिसमें आनन्द का देदीप्यमान सूर्य अपना भव्य आलोक त्रिभुवन में विकीर्ण किया करता है।

किसलिए भूला रहा यह हृदय ! अपनी ही चंचलता के कारण यह कभी शीत कभी उत्तप्त होता हुआ विमूर्च्छित-सा जन्मांतर के गह्वरों में पड़े वायु के झकोरों के समान चिल्लाता हुआ सिर पटकता रहा।

राम नाम की पवित्र मणि मुझ विषधर के अंदर मुझसे अलिप्त होकर चमकती रही। मैं उसके आलोक को देखकर चमत्कृत तो हुआ किन्तु उसे अपने रोम-रोम में भरकर अपने विष को नष्ट नहीं कर सका।

राघव ! तुम्हारी करुण दृष्टि मुझ पर अभी तक क्यों नहीं हुई ? तुम तो चराचर के स्वामी हो ! करुणानिधान! तुम्हारी दया अनन्त क्षीर सिंधुओं से भी गहन और गंभीर है।

मुझे स्वर्ग नहीं चाहिए, मुझे वैकुण्ठ नहीं चाहिए, मैं श्मशान की धूलि में मिलना चाहता हूँ, क्योंकि मैं पापी हूँ। किंतु प्रभु ! तुमने अजामिल जैसे पातकी का उद्धार किया था, तुमने गणिका को पवित्र कर दिया था। क्या इस तुलसीदास की रक्षा नहीं करोगे प्रभु !

भाग्य का सदैव से हीन रहा हूँ और जीवन में सुख की व्यर्थ ही खोज करता रहा हूँ। न जाने कितनी बार यह हृदय चकनाचूर हो चुका है। जब जीवन से निराश हो-होकर मृत्यु की कामना की थी, तब भी यही सोचा था कि नहीं; इस दारुण यातना के ऊपर एक सत्य और है। वही लोक का कल्याण है। कौन जानता है, कौन चिंता करता है ? व्यक्ति की सत्ता का आधार प्रभु के अतिरिक्त और कहाँ है !

नारायण और मलूक भीतर आ गए।

मलूक ने पुकारा, "गुरुदेव !"

"गुरुदेव !" नारायण ने आर्द्र स्वर से आवाज दी।

"कौन ?" तुलसीदास चौंक उठे।

"मैं हूँ गुरुदेव !" मलूक ने कहा।

महाकवि ने कहा, "मलूक !!"

"गुरुदेव !!"

"मेरे पास आ वत्स !"

वह पास आ गया।

"वत्स ! मैं महापापी हूँ।"

"गुरुदेव ! यदि आप पापी हैं तो हम लोग फिर क्या हैं ?"

"तुम पापी नहीं हो बेटा ! पापी तुलसीदास है !"

"ऐसा न कहें गुरुदेव !"

"तू नहीं जानता वत्स !"

"मुझसे कहें प्रभु !"

"तुझसे कहूँगा बेटा ! अवश्य कहूँगा। अपने पाप को मैं छिपाऊँगा नहीं। मेरा पाप जानता है ?"

"नहीं बाबा !"

"मैं राम को भूल गया था बेटा !"

मलूक चुप रहा।

"लेकिन राम मुझे नहीं भूले।"

मलूक ने आश्चर्य से देखा। महाकवि के मुख पर एक असीम तन्मयता थी। उन्होंने कहा, "बेटा !"

"गुरुदेव !"

"वह गा ! अञ्जनीकुमार की स्तुति गा। पाप दूर होगा। रामभक्त तो राम से भी बड़ा है वत्स ! मुझे उन्नद्ध स्वर में सुना।"

मलूक गाने लगा :

जयति अंजनी-गर्भ अंभोधि संभूत-बिधु,
बिबुध कुल - करवानन्दकारी
केसरी - चारु-लोचन - चकोरक - सुखद,
लोकगन-सोक सन्तापहारी।

गीत समाप्त हुआ। महाकवि प्रसन्न हो उठे। बोले, "धन्य है तू मलूक ! तेरा स्वर कितना अच्छा है !"

"अब तबीयत ठीक है ?" मलूक ने पूछा।

"हल्की है वत्स ! मैं उद्विग्न हो गया था।"

"क्यों गुरुदेव ?"

"मेरी वासना का अतीत मुझे याद आ गया था। उसकी दारुण लज्जा मुझे रुलाने लगी थी। परंतु राजा राम की दया असीम है। वह बाढ़ अब रुक गई है।"

मलूक नहीं जानता था। नारायण बाहर चला गया। मलूक चुप था।

नारायण ने पुकारा, "मलूक !"

मलूक बाहर गया।

"क्या है ?" उसने पूछा।

"तुम गुरुदेव को विश्राम क्यों नहीं करने देते ?"

"मैं क्या करूँ ! वे गाने को कहते हैं।"

"आज वे मुझे बहुत विचलित-से हो उठते लगते हैं।"

"यही मैं भी देख रहा हूँ।"

"क्या बात है ?"

"पता नहीं। पर कहते थे पुरानी बातें याद आ रही हैं।"

"तो···" वह कह नहीं सका। रोने लगा।

"कौन रोता है ?" महाकवि का स्वर सुनाई दिया।

"कोई नहीं।" मलूक ने कहा।

"नहीं बेटा, सच कह।"

"नारायण है गुरुदेव !"

"उसे मेरे पास ले आ।"

दोनों गए। बैठे।

"तू क्यों रोया नारायण ?"

"मुझे भय होता है।" नारायण कह उठा।

"क्यों ? राम के रहते तुझे डर लगता है ?" कवि ने कहा—"मुझे वचन दो। तुम दोनों वचन दो। प्रभु से ही जीवनपर्यन्त आस लगाए रहोगे और किसी के भी सामने नहीं झुकोगे। वेद-मार्ग पर चलने वाले संतों की सेवा करोगे। मुझे वचन दो बेटा !"

दोनों ने वचन दिया।

"भगवान !" तुलसीदास ने बुड़बुड़ाकर कहा—"इनका रक्षा करना। कलि से इनकी रक्षा करना !".

कुछ देर बाद दोनों बाहर चले गए। महाकवि चुपचाप ध्यान करते रहे। फिर उन्हें याद आने लगा।

तुलसीदास के सामने संसार शून्य की भाँति फैल गया। कोई सहारा नहीं रहा।

मन करता रत्ना के पास लौट जाएँ। पर फिर अहं कहता, नहीं, नहीं। वह अभिमानिनी स्त्री है। उसने तेरे प्रेम का अपमान किया है। दूसरा विचार आता। वह स्त्री है। माया है। कवि ! तू कहाँ जाने की सोचता है ? राम से ध्यान न लगाकर तूने एक स्त्री पर जीवन न्यौछावर कर दिया ?

धिक्कार है, तुझे धिक्कार है।

फिर कहाँ जाना है ?

तुलसी ! महाजनों के पथ पर चल। जीवन को नष्ट मत कर।

राम का सहारा ले। वही तेरा उद्धार करेगा। वही दीनों और अनाथों का रक्षक है। एकमात्र रक्षक है।

संयम प्रारंभ हो गया।

"यात्री कहाँ जाओगे ?"

"मुझे नहीं मालूम।"

"घर कहाँ है ?"

"कहीं नहीं है !"

"गिरस्ती हो ?"

"नहीं।"

"तो फिर तुम्हारा कोई नहीं है ?"

"राम ही मेरा एकमात्र सहारा है।"

"बैठ जाओ। कुछ खाओगे ?"

"नहीं।"

"भूख लगी है ?"

"हाँ।"

"तो फिर खाते क्यों नहीं ?"

भीतर जाकर वह आदमी परांठे ले आया।

"लो खाओ।"

तुलसी खाने लगा। कुछ देर बाद एक आदमी आया। पुकारा, "पंडित सालिग-राम हैं ?"

"हैं भई ! आ जाओ। अरे मनोहरदास ! तुम हो ?"

"हाँ।"

"कहाँ चले गए थे ?"

"तारिपता गाँव गया था।"

"क्यों ?"

"वहाँ मेरे दूर के संबंधी रहते हैं।" उसने एक लंबी साँस ली और कहा, "क्या कहें ! यह संसार भी बड़ा विचित्र है।"

"क्यों क्या हुआ ?"

"बात यह है कि वहाँ मेरे एक मित्र थे। उनका राजापुर में कुछ दिन पहले रहना शुरू हो गया था। वहाँ उन्होंने अपनी बेटी का एक होनहार ब्राह्मण से ब्याह कर दिया था। फिर वे अपने गाँव लौट आए थे।"

"हूँ।"

"बस उसके बाद एक दिन पति-पत्नी में झगड़ा हो गया। स्त्री बाप के घर आ गई। दामाद कहीं चला गया। अब पाँच बरस बाद वह लड़की रत्ना भी रो-रोकर घुल-घुलकर मर गई।"

तुलसी का खाना बंद हो गया।

"तुम खाते क्यों नहीं ?" सालिगराम ने कहा, फिर जैसे मनोहरदास से परिचय कराया—"एक अतिथि हैं। मैं ले आया संग। वैराग्य-सा हो गया है इन्हें, ऐसा लगता है।" फिर तुलसी ने कहा—"अरे मरना-जीना तो इस दुनिया में लगा ही रहता है। तुम क्यों दुःख करते हो ? क्या तुम उसे जानते थे ?"

"नहीं, नहीं।" तुलसी ने कहा और जबर्दस्ती खाने की कोशिश करने लगा, पर कौर गले के नीचे नहीं उतर रहा था।

"हाँ जी !" सालिगराम ने कहा, "फिर ?"

"फिर की न पूछो सालिगराम जी !" मनोहरदास ने कहा, "रत्ना कविता बनाती। बड़ी चतुर रमणी थी। बड़ी सुन्दर थी और परम साध्वी थी।"

"क्यों नहीं ? क्यों नहीं ?"

"देखो भला। पति छोड़ गया तो कहने लगी—वे चले गए, पर वे तो अब संसार में ऊँचे उठ जाएँगे। एक न एक दिन वे जरूर बड़े महान बनेंगे !"

"हाँ ??"

"क्यों नहीं। उसका पति कवि था। कहती थी, मैंने ही अपने पाँव में अपने-आप कुल्हाड़ी मार ली। वे बड़े कोमल हृदय के थे। परंतु मेरी बात सह नहीं सके। बात यह थी कि वह काम से अंधा हो गया था। रत्ना इसे सह नहीं पाई कि उसका पति उसके कारण अपना रास्ता छोड़ दे।"

"अरे तुम क्यों नहीं खाते ?" मनोहरदास ने फिर टोका।

तुलसी बैठा शून्य दृष्टि से आकाश की ओर देख रहा था। दोनों ने एक-दूसरे की ओर देखकर सिर हिलाया।

मनोहरदास ने कहा, "यह दुनिया भी बड़ी अजीब है।"

"हाँ SSSS···" सालिगराम ने लंबी तान खींचकर कहा।

हठात् तुलसी ने कहा, "मैं जाऊँगा।"

"कहाँ ?" सालिगराम चौंका।

"फिर अपनी यात्रा पर।"

"अब कहाँ जाओगे ?"

"मैं नहीं जानता।"

"तो कल जाओ न ?"

"नहीं, मुझे राम बुला रहे हैं।"

वह दोनों चौंके।

"एक बात बता सकते हैं आप ?" तुलसी ने मनोहरदास की ओर देखकर पूछा।

"क्या ?"

'परिव्राजक को श्राद्ध करना होता है ?"

"क्यों नहीं !"

"तो फिर मैं जाऊँगा । मुझे श्राद्ध करना है ।"

"किसका ?"

"मेरी एक रिश्तेदार लगती थी । वह मर गई है ।"

"तो चित्रकूट पास ही है, वहाँ चले जाओ ।"

"चित्रकूट ? मैं वहीं जाऊँगा ।" तुलसी ने कहा, "मैं भूल गया था । बरसों से भटक रहा था, परंतु अब फिर मुझे रास्ता मिल गया है । मुझे आगे बढ़ना है, आगे बढ़ना है ।"

"और आगे ? तो चारों धाम की सैर कर लेना । बड़ा आनंद रहेगा ।"

"आनंद !" तुलसी ने धीरे से कहा—"वह आएगा, वह आएगा । कर्त्तव्य ही सबसे बड़ा आनंद है ।"

चित्रकूट के घाट पर तुलसी बैठा था । वह पत्नी का श्राद्ध कर चुका था । तो सचमुच रत्ना चली गई थी । और इतने दिन तुलसी ने क्या किया था ? कुछ नहीं । केवल भटकता रहा । वह रामनाम भी ठीक से नहीं ले सका । मन की वासनाएँ रुलाती रहीं । एक प्रकार की भ्रांति मन में भरती रही । परन्तु अब ? अब रत्ना नहीं रही । क्या उसकी अंतिम इच्छा पूर्ण नहीं होगी ?

घाट पर एक व्यक्ति आ बैठा । उसके चारों ओर कुछ शूद्र आ बैंठे । एक ने कहा, "महाराज ! आप कुछ समझाएँ ।"

वह व्यक्ति जाने क्या-क्या उपदेश देता रहा । जब वह स्वर उठाकर बोलने लगा, तुलसी चौंका । कौन ? आज चित्रकूट जैसे पवित्र स्थल में शूद्र उपदेश दे रहा है ?

तुलसी उठा । कहा, "तुम कौन हो ? क्या तुमको उपदेश देने का अधिकार है ?"

उस व्यक्ति ने गर्व से कहा, "क्यों नहीं है ?"

"तुम ब्राह्मण हो ?"

"ब्राह्मण !" उस व्यक्ति ने कहा, "जो ब्रह्म को जानता है वही ब्राह्मण है । समझे ?"

उसकी आँखें क्रोध से लाल-लाल-सी दिखाई दे रही थीं । तुलसीदास चुप हो गया ।

वह सोचने लगा ।

तुलसी ! यह क्या हो रहा है ? यहाँ इतना अनाचार फैला हुआ है और तू अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख में डूबा हुआ है ?"

सोचते-सोचते तुलसी वहीं लेट गया । उसने स्वप्न देखा । तुलसीदास बैठा

चंदन घिस रहा है। घाट पर वेद मार्ग पर चलने वाले संतों की भीड़ हो रही है। उस समय हनुमान आते हैं और तुलसीदास के सामने मुसकराते हैं। दो बालक आते हैं। बड़ा बालक तुलसीदास के माथे पर चंदन लगाता है। दोनों बालक चले जाते हैं। हनुमान हँसते हैं और कहते हैं—

चित्रकूट के घाट पर
भई सन्तन की भीर
तुलसीदास चन्दन घिसैं
तिलक देत रघुवीर।

मोह टूट जाता है। तुलसी बिलख-बिलखकर रो उठता है। हाय रघुवीर! तुम आए और चले भी गए। मैं नहीं चेत सका।

"अलख निरंजन!" कठोर स्वर गूंज उठा।

तुलसी की आँख खुल गई।

"क्यों रोता है बच्चा!" एक जोगी ने कहा—"तू क्यों रोता है?"

तुलसी ने देखा जोगी भाँग-सुलफे के नशे में धुत्त था।

तुलसी बैठ गया।

"अरे बोलता नहीं?" जोगी ने कहा—"गोरखनाथ बाबा का स्मरण कर। सब जंजाल जाल कट जाएगा। भवसागर सब पट जाएगा।"

तुलसी को घृणा हुई। वह जोगी बक रहा था। तुलसी उठ खड़ा हुआ और चल पड़ा।

कुछ देर बाद वह श्मशान के पास पहुँचा। वहाँ कई किसान किसी लाश को फूंकने आए थे। गाँववालों में बातें हो रही थीं।

एक कह रहा था, "क्या करें? कर और बढ़ गया है।"

"क्या कहता है तू? बाल-बच्चों के गले घोंटकर मार दें?"

"मार दे, किसे परवाह है!"

"पर ऐसा अन्याय तो पहले कभी नहीं हुआ था। हम तो समझे थे राजा टोडरमल के नाप के बाद सब चैन हो जाएगा मगर यहाँ तो आए दिन इन ओहदेदारों के हुक्म बढ़ते ही चले जा रहे हैं।"

"कोई राजा ऐसा है ही नहीं। फिर मुगलों का सूरज तो चढ़ ही रहा है।"

"अरे सूरी मर गया है, तभी न? हुमायूं तो काबुल छोड़कर भाग गया था।"

"हाँ-हाँ, तब राणा साँगा भी तो थे।"

"अब महाराणा प्रताप भी तो हैं?"

तुलसी चौंका। वह तो भूल ही गया था। परिस्थिति की गंभीरता समझ में आई। ऐसी मशहूर बातें हैं कि मामूली गाँववाले तक जान गए हैं; परंतु तुलसी ने किसी पर ध्यान नहीं दिया। रत्ना इसी को तो नहीं चाहती थी।

गुरु नरहर्य्यानन्द महाराज कितनी बातें नहीं समझाते थे। तुलसी सिहर उठा। उसमें एक कुलबुलाहट पैदा हुई। वह एक नया जीवन चाह रहा था।

गाँववाले लौट चले।

तुलसी कुछ दूर पर चलने लगा।

एक ने कहा, "तुम कौन हो महाराज ?"

"ब्राह्मण हूँ।"

"कौन से ब्राह्मण हो ?"

"सरयूपारीण।"

"तो ठीक है।"

"क्यों ?"

"बात यह है महाराज ! आजकल जिसके जो मन में आता है, वही हो जाता है। हमारे यहाँ के नाई भी न्यायी ब्राह्मण हो गए हैं।"

"तुम रोकते नहीं ?"

"हम क्या रोकेंगे ? राजा चाहे तो भले रोक ले; पर राजा परदेसी है, मुसलमान है, उसे क्या पड़ी ! वह तो अपने पैसे से काम रखता है। मौका पड़ते ही लोगों को मुसलमान बना लिया जाता है।"

तुलसी को झटका-सा लगा।

उसने कहा, "कलि आ गया है।"

"कलि ! यहाँ कोई धंधा ही नहीं रहा।"

"क्यों ?"

"फसल होती है कि लूट होती है, राज है, बौहरा है।"

"पर राज्य तो धनी है।"

"लूट से कौन धनी नहीं हो जाता !"

"प्रजा राजा को अपना मानती है। मान लो कि तुमने अपना कोई राजा बना लिया, तो यह अधिकार तो नहीं है कि बाकी सबको वह बिना अपराध के कुचल दे।"

ग्रामीण चिंतित हो गए।

"इस सबका कारण क्या है ?" तुलसी ने पूछा।

"चोरियाँ बढ़ गई हैं।"

"और राजा ध्यान नहीं देता। यही न ?"

"हाँ जी !"

"तो तुम अपने-अपने हाथ-पाँव ठीक करो तो सबकी ही सारी समस्या हल हो जाए।"

"वह क्या ?"

तुलसी ने कहा, "तुम भूल गए हो कि तुम किनकी संतान हो। तुम पवित्र हो, हिंदू मात्र एक ही है।"

"पर हिंदू तो आपस में लड़ते हैं !!"

"उनको एक होना पड़ेगा।"

"कैसे होगा वह ?"

"राम की भक्ति के बिना कुछ नहीं हो सकता। विश्वास रखो। मनुष्य से भी ऊपर एक शक्ति है। उसे जानते हो ?"

"क्या महाराज ?"

"धर्माश्रम और आचार ठीक रखना ही। कोई भले ही जोगी और मुसलमान स्वीकार कर ले, पर उनके भीतर से एक घृणा ही निकलती रहती है ! सारा देश ही भूखा मर रहा है।"

तुलसी की बात सुनकर दो ब्राह्मण युवक बाहर आ गए। एक मलूक था, एक नारायण ! उन्होंने तुलसी की ओर पग बढ़ाया और श्रद्धा से प्रणाम किया। बोले, "महाराज, आप हमारे साथ काशी चलिए।"

"एक बार अवश्य चलें।" दूसरे ने कहा—"गुसाईंजी का अंतिम समय आ गया है।"

तुलसी ने सोचकर कहा, "चलो।"

वे सब फिर चलने लगे।

तुलसी काशी में गुसाईं हो गया था। यहाँ उसका आदर होता। भोजन की सुविधा हो गई। वह पठन-पाठन में तल्लीन रहने लगा। किंतु पांडित्य पीछा नहीं छोड़ता था। लोग सुख-दुःख की समस्याओं के हल लेकर आने लगे।

तुलसी ने रामाज्ञाप्रश्न बनाया।

प्रश्न देखने के लिए लोगों ने उसे धीरे-धीरे अपना लिया।

किंतु क्या वह तुलसी के मन को संतोष दे सका ? नहीं।

धर्म के लिए उसने क्या किया ? वह तो अन्य धर्मगुरुओं की भाँति पेट-पालन में लगा हुआ था। देश के लिए उद्धार की आवश्यकता थी। तुलसी नीति के दोहे बनाने लगा। उनसे वह उपदेश करता। राम के प्रति जो भक्ति थी, वह दोहों के स्फुट रूप में फूट-फूटकर आकार धारण करने लगी।

दार्शनिक चिंतन करने लगा। सगुण और निर्गुण की समस्या जटिलता धारण

कर रही थी। तुलसी ने तर्क छोड़ा और राम को ही संजीवन समझा।[1] निर्गुणियों को तुलसी ने राम का नाम जपने का उपदेश दिया।[2] देश का दैन्य, दारिद्र्य, विदेशी म्लेच्छों का अनाचार, देशी राजाओं का देशद्रोह और स्वार्थ, धर्म-गद्दियों पर बैठे लोगों का रूढ़ियों की आड़ में अपना पेट पालना, निर्गुण मार्ग और योग संप्रदायों द्वारा ब्राह्मणवाद का विरोध, नीच जातियों की उच्छृंखलता, ब्राह्मणों का और वेदों का निरादर, यह सब तुलसी को व्याकुल करने लगे। वह सोचता, किस प्रकार फिर से मुक्ति का रास्ता निकले ?

ब्राह्मण श्रेष्ठ है किन्तु क्या शूद्र भगवान के नहीं हैं ? नहीं, वे भी हिन्दू हैं। यदि अपने-अपने वर्णानुसार लोग कर्म करें तो अवश्य ही सब में संगठन हो सकेगा और पृथ्वी पर धर्म को पालने वाले राजा का शासन हो सकेगा। शवों और वैष्णवों के झगड़े उच्च वर्णों को निर्बल किया करते थे। तुलसी की समझ में यह व्यर्थ था। जो वेद को मानते हैं उन्हें आपस में लड़ने की ज़रूरत ही क्या है ?

तुलसी उस विशाल मार्ग को देखता जिस पर शताब्दियों से संस्कृति अपने पगचिह्न छोड़ती चली आ रही थी। तुलसी चाहता था किसी प्रकार यह सब ऐसे उपस्थित हो जाए कि सब लोग उसे आदरणीय समझ सकें, उससे परिचित हो सकें। ऋषियों की पवित्र वाणी फिर से प्रचारित हो सके।

तुलसी ने शूद्रों को उपदेश दिया कि ईश्वर तुम्हारा है। तुम्हें निश्चित रहना चाहिए। म्लेच्छों के राज में यज्ञ-तप नहीं हो सकते। रूढ़ियाँ पनपती हैं। तो फिर नाम ही जपो। नाम ही बहुत है। नाम ही सब कुछ है।

किंतु जनता इन उपदेशों से चेत नहीं सकी। यह नीरस वाक्चातुर्य प्राण नहीं फूंक सका।

1. हिम निर्गुन, नयनहिं सगुन
   रसना नाम सुनाम,
   मनहुँ पुए संपुट लसत,
   तुलसी ललित ललाम।
   सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं,
   निर्गुन मन दूरि,
   तुलसी सुमिरहु राम को,
   राम सजीवन मूरि।

2. हम लखि, लखहि हमार लखि
   हम हमार के बीच
   तुलसी अलखहिं का लखहिं ?
   राम नाम जपु नीच।

तुलसीदास का मन भीतर ही भीतर व्याकुल रहने लगा।

महाकवि सूरदास उस समय रुनकुते में छोटी-सी झोंपड़ी में पड़े-पड़े गाते थे। उन्हें गोसाईं विट्ठलनाथजी ने एक मन्दिर का पुजारी बना दिया था। सूर प्रातः से लेकर रात तक उस समय कृष्ण की जीवनचर्या के गीत गाया करते थे। उनका यश काशी पहुँचा। उनके गीतों को सुनाकर भक्त लोग निर्गुणियों और जोगियों को चिढ़ाया करते थे। तुलसी ने भी उनके अमर गीत की एक नकल पढ़ी। मन को एक नया उजाला-सा मिला। यह व्यक्ति कौन था? सुनते थे वह अपने हाथ से आँखें फोड़कर अंधा हो गया था। मन की वासनाएँ मिटाने के लिए। तुलसी को साहस हुआ। वह तैयार हो गया कि वृन्दावन जाकर भक्त सूरदास के दर्शन कर सके जो धर्म की स्थापना के लिए उठ खड़ा हुआ है। उसका गीत प्राचीन धर्म से सरस है। वेदों के गौरव की उसमें प्रतिध्वनि है।

तुलसीदास वृन्दावन चल पड़े। उन दिनों उन्होंने कृष्ण गीतावली और गीतावली के पद रचे।

केवल इतना ही याद रहा है। जब तुलसीदास सूर से मिले तो असीम आनंद और श्रद्धा हुई। स्वामी विट्ठलनाथ से मिले तो प्रणाम किया। फिर वे कृष्ण का दर्शन करने गए। ललित रूप में कृष्ण की मनोहारिणी छवि बनी थी। तुलसी ने देखा।

मन ने कहा, "तुलसी! यह विष्णु है ही न?"

हाँ यह उन्हीं का अवतार है।

महाकवि सूर ने इन्हीं की लीला गाई है?

हाँ। इन्हीं की तो।

सूर के गीतों से वेद-विरोधी व्याकुल हो गए हैं न?

हाँ निश्चय।

परन्तु उससे नया जीवन अभी नहीं जागा।

क्या यही अंत है?

नहीं। यह तो लीलारंजन है।

तुझे क्या चाहिए?

मुझे धर्म की रक्षा के लिए धनुष-बाण उठाने वाला चाहिए। वेद-विरोध केवल निम्न जातियों से नहीं आया, उसका आधार म्लेच्छों के शासन में है।

परंतु ब्रह्म तो सबसे परे अव्यक्त है न?

है, परंतु यह लोक उसी का है। इस लोक के लिए वह बार-बार अवतार लेकर आया है। और उसने रक्षा की है।

कृष्ण ने क्या नीचों का वध नहीं किया?

किया था, परंतु कृष्ण के समय में बांधवों का युद्ध था। आज वह परिस्थिति नहीं है। आज तो रावण के राज्य का-सा हाल है। रावण ने जिस प्रकार यज्ञ, तप, धर्म, वेद का नाश करके गौ, देवता और ब्राह्मणों का विनाश किया था, वैसे ही आज भी हो रहा है—आज वैसा ही पराक्रमी चाहिए। लोक के भगवान को भी लोकरंजन ही होना पड़ेगा। और हठात् तुलसी ने कृष्ण को हाथ जोड़कर कहा—

कहा कहौं छवि आपकी
भले बने हौ नाथ
तुलसी मस्तक तब नवै,
धनुष बान लेउ हाथ।

काशी लौटकर तुलसी को विश्राम नहीं मिला। उन्होंने गुसाइं का पद छोड़ दिया। जनेऊ उतार दिया। संन्यासी हो गए। वर्णाश्रम के अंतिम आश्रम की मर्यादा को उन्होंने सँभाल लिया। उस अवस्था में वह व्यक्ति वेद और धर्म, गौ-ब्राह्मण और देवताओ की वंदना करते हुए भी जात-पांत से दूर हो जाता है। वह माँगकर खाता है। यह जरूर है कि वह म्लेच्छों और नीच जातियों के हाथ का नहीं खाता-पीता। तुलसी ने अपने सारे व्यक्तिगत बंधन छोड़ दिए। और वे फिर यात्रा पर चल पड़े। गुसाइं जीवन का वैभव उन्हें नहीं रोक सका।

कवि ने गाया—

कृस गात ललात जो रोटिन को,
घर बात घरे[1] खुरपा खरिया
तिन सोने के मेरु से ढेरु लहे
मन तो न भरो घर पै भरिया
तुलसी दुख दूनो दसा दुहूँ देखि,
किया मुख हारिद को करिया
तजि आस जो दास रघुप्पति को
दसरत्थ को दानि दया-दरिया।

जोगियों के द्वारा जब खतरा हुआ कि वे तुलसी को मारेंगे, तब भी महाकवि विचलित नहीं हुए। उन्हें अपनी लगन थी। वे किसी से भी पराभूत नहीं थे। उन्होंने स्पष्ट कहा कि वे किसी की भी चिंता नहीं करते।

यात्रा चल रही थी।

कवि ने गाया—

1. घर का सामान।

को भरिहै हरि के रितये,
रितवै पुनि को हरि जो भरि है,
उथपै तेहि को जेहि राम थपै ?
थपिहै तेहि को हरि जो टरि है ?
तुलसी यह जानि हिये अपने
सपने नहिं कालहु ते डरि है
कुमया कछु हानि न औरन की
जो पै जानकीनाथ मया करि है।
ब्याल कराल, महाविष पावक,
मत्तगयंदहु के रद तोरे
साँसति संक चली, डरपे हुते
किंकर, ते करनी मुख मोरे
नेकु बिषाद नहीं प्रहलादहिं,
कारन के हरि केवल हो रे
कौन की त्रास करै तुलसी
जो पै राखिहै राम तौ मारिहै को रे

तुलसी की मस्ती अब मुखर हुई। वह निर्द्वन्द्व हो उठे।

कृपा जिनकी कछु काज नहीं
न अकाज कछू जिनके मुख मोरे।
करै तिनकी परवाहि ते जो
बिनु पूँछ विषान फिरैं दिन दौरे।
तुलसी जेहि के रघुनाथ से नाथ,
समर्थ सु सेवत रीझत थोरे।
कहा भव-भीर परी तेहि धौं
बिचरैं धरनी तिन सों तिन तोरे।[1]
कानन, भूधर, बार, बयारि,
महा विष, व्याधि, दवा अरि घेरे।
संकट कोटि जहाँ तुलसी,
सुन मातु पिता हित बंधु न तेरे।
राखिहैं राम कृपालु तहाँ,
हनुमान से सेवक हैं जेहि केरे।
नाक, रसातल, भूतल में,
रघुनायक एक सहायक मेरे।

1. नाता तोड़े हुए।

महाकवि जब चित्रकूट पहुँचे तब उनका यश इधर-उधर लोगों में फैलने लगा था। परंतु तुलसीदास के भीतर एक हलचल थी। वे अपने को पूर्ण और शांत अनुभव नहीं करते थे। उन्हें लगता था जैसे अभी कुछ और है, और है, जो होना ही है, होना ही है···

अतलांत अंधकार छा रहा था। शीतल वायु अब तनिक नम-सी होकर चल रही थी। दिन की धूप की गर्मी को रात्रि की शीतलता ने ढक दिया था।

तुलसीदास आज उदास-सा घूम रहा था।

वृद्ध का पाँव कभी जल्दी-जल्दी उठने लगता, फिर वह सोचने लगता।

अंधकार दूर-दूर तक छाया हुआ था। नगर दिखाई नहीं देता था, केवल आकाश के पट पर एक काली परंतु गहराई से धुली हुई-सी अस्पष्ट रेखा-सी दिखाई देती थी। उसकी ओर कवि ने आँखें उठाकर देखा।

मन ने प्रश्न किया : तुलसीदास ! तूने क्या किया ? इतना जीवन बीत गया। तूने इतने समय में क्या किया ? किसलिए मिला था तुझे मानव का स्वरूप ? किसलिए तुझे ब्रह्मा ने ब्राह्मण बनाया ? क्या किया तूने इस पवित्र भारत भूमि के लिए ?

सरयू गंभीर गति से बही चली जा रही थी। उसके कल-कल निनाद में एक अजस्र मनोहारी संगीत था, जो मन के गह्वरों को भरता चला जा रहा था, परंतु यह दाह कैसा था जो सिकता की भाँति अपने फैलाव से डराने लगा था। कहाँ था इसका अंत ?

जीवन के साठ वर्ष बीत गए। पत्तों की तरह काँपते हुए वर्ष सत्ता की टहनियों पर उगे और फिर गए और अनंत अज्ञात की मिट्टी में कहीं गल गए, खो गए। उनको तो अब फिर से बटोर कर नहीं लाया जा सकता न ! क्या आगे भी आने वाले क्षण ऐसे ही विनष्ट हो जाएँगे ?

तुलसीदास का मन भाराक्रांत-सा चिल्लाने लगा।

उनके सामने चित्र-से काँपने लगे। वे भूलना चाहते हैं पर भूल नहीं पाते। वेदना ही जीवन पर छा जाना चाहती है।

और फिर राम-राम कहकर दशरथ प्राण त्यागने लगे।

कितनी वेदना थी ! पिता का मर्म छिद रहा था। कोई साले दे रहा था। माताओं ने क्या सोचा होगा ! हृदय का टुकड़ा कैसे फेंक दिया गया था !!

तुलसी रोने लगे।

जल का कल-कल निनाद सुनकर कवि को सांत्वना हुई और मन में नया स्नेह उमड़ने लगा।

यही है वह सरयू जिसने राजा राम के पाँव धोए थे ! सरयू ! तू तो भगवान

का स्पर्श करके पवित्र हो गई किंतु मेरा क्या होगा ? तुम कब मिलोगे ? कब होगा तुम्हारा पवित्र दर्शन ?

तब फिर स्वप्न जागा।

धुंधली आकृतियाँ सामने आईं। यह कौन है ? यह तो स्वयं पुरुषोत्तम राघव हैं। नमामि शरणागतवत्सल। नमामि हे त्रिभुवनजयी !

मर्यादा !! मुझे गौरव चाहिए ! पौरुष !! अनंत पराक्रमी !

आजानबाहो ! हे महाहनु ! वीर विशालाक्ष ! अदम्य गर्जन करो। ऐसा कि फिर दिशाओं में बड़ी पुण्यमय जीवन प्रतिध्वनित होने लगे, जिसने इस पवित्र वसुंधरा पर शाश्वत अभिमान जाग्रत् किया था !

कहाँ है मर्यादा ?

ठहर जाओ मेरे उदासीन विचारो ! ठहर जाओ ! कौन बढ़ा जा रहा है ? यह कौन निर्भय-सा चला जा रहा है ?

अरे ! दण्डकारण्य में यह कौन जा रहा था ?

सहसा असंख्यों शस्त्र अंधकार में खड़खड़ाने लगे।

विकराल अंधकार अट्टहास करने लगा।

मारीच मारा गया !

वैदेही !! वैदेही ?

माता !! माता !!

तुलसीदास विचलित होकर पुकारने लगे।

आकाश में हाहाकार मचने लगा।

नहीं ! कोण्दडपाणि ! जागो !!

मन के गौरव में से ऋषियों के-से ज्वलंत आकार निकलने लगे ! अमृत्यु ! अमृत्यु ! यही निनाद होने लगी।

सर्वार्थस्वार्थनिरत-श्वान आज जीवन को खाने के लिए लोलुप हो उठे हैं और झपट्टा मार रहे हैं।

लीला और माया ही नहीं, शक्ति का वह विस्फुरण चाहिए जो आकाश को पृथ्वी पर उतार लाए।

कोदण्डपाणि ! तुम कहाँ हो ? तुम भक्तों को भूलकर कहाँ चले गए हो ? तुम्हें क्या दया नहीं आती ?

उठो ! कवि उठो ! फिर पुकारो। ऐसी तपस्या करो कि इन्द्र का सिंहासन हिल उठे !

सरयू ! हे देवनदी ! उगल उठ ! तुझमें से ज्वालाएँ क्यों नहीं फूट पड़तीं ? शेषशायी नारायण को फिर भेज ! फिर एक बार अनिंद्य शोभा जागने दे।

उठ ! अरी अयोध्या उठ ! म्लेच्छ निधन के लिए फिर तेरे पथों पर राजा

राम का जयनिनाद होने लगे।

तुलसी का मन विषण्ण हो गया। वह इधर-उधर देखने लगे। चारों ओर फिर सूनापन छाने लगा।

फिर यह पराजय क्यों छा रही है ?

सुहागिनी विधवा बनकर पड़ी है !

नारायण ! रामचन्द्र !! भगवन ! इस पृथ्वी पर कब आओगे ? अहे अनन्त आकाश ! कब तक पृथ्वी पर यह अनाचार होते देख सकेगा ?

दुष्टों का विध्वंस करने को भेज, भेज, उसी महावीर को भेज जिसने एक दिन दशशीश का विध्वंस किया था। ठहर जा रे कलि ! ठहर जा ! समुद्र का भयानक विक्षोभ कुचलकर निर्वासित के चरण, अदम्य चरण सेतु पर चल पड़े थे।

शेष सनातन का रूप हँस उठा।

म्लेच्छों का वैभव लरजने लगा।

भारत की पवित्र मेदिनी में फिर स्फुलिंग-से जाग उठे। रावण का सिर काँपने लगा।

भूख से लोग व्याकुल हो गए हैं। दारिद्र्य खाए जा रहा है प्रभु ! नारियाँ अपमानित हैं। वर्ण टूट गए हैं। ब्राह्मणों का तेजस बुझ-सा गया है। गंगा अपनी पवित्रता को खो रही है। और अनाचार ही अनाचार दिखाई देने लगा है। सामंत अपनी ही प्रजा को भून-भूनकर खा रहे हैं और विदेशी को खिला रहे हैं।

और तुमने केवट को गले लगाया था, उसे अपना जाना था। यह ऐसा क्यों है ?

नागपाश से तुम्हारा लक्ष्मण अवरुद्ध हो गया है। हे राम ! तुम भी अचेत हो गए हो न ?

और शूद्र विद्रोह कर रहे हैं !

गरुड़ पक्षिराज ! आओ। कवि पुकारता है। मोहनिद्रा को तोड़ दो। तोड़ दो इस विकराल निद्रा को।

महाकवि तुलसी ने सिर उठाकर कहा, "तुम्हें आना ही होगा प्रभु क्योंकि आज और कोई सहारा नहीं रहा है। सहिष्णुता की पराकाष्ठा हो चुकी है। क्योंकि प्रजा भटक रही है किसान हल लिए जाता है, धरती तोड़ता है, फसल उगाता है; परन्तु छठा भाग नहीं, उससे वे सब छीन ले जाते हैं। क्योंकि मर्यादा नहीं रही। राजा प्रजा पर मनमानी लूट करता है। कोई रोकने वाला नहीं। जब धर्म का ही बंधन अस्वीकृत कर दिया गया है तब भला चिंता ही किसकी रह जाती है ! शासक अपनी विलास की भूख में कुमारी कन्याओं का अपहरण करते हैं। राजा पिता नहीं है, वह आज अत्याचार का प्रतीक हो गया है।

कैसे रक्षा हो सकेगी ?

भण्ड और धूर्त निगमागम का नाश कर रहे हैं। वे किसी भी सत्य को नहीं मानते। तर्क कर-करके वह प्राचीन ऋषियों की वाणी का तिरस्कार कर रहे हैं। क्या वे इतनी योग्यता रखते हैं ?

कौन जानता है उनकी जाति ? जाने किस अधिकार से वे जनता का धन खींच रहे हैं !

ब्राह्मण ! !

अचानक लोहे पर लोहा टकराया। आकाश में जैसे बिजली-सी कड़की और चारों ओर अनंत चक्र देदीप्यमान होकर दमदमाने लगा—भास्वर, आलोकित !

"अहे वेदों के उद्धारक !" कवि फुसफुसाया।

"फिर जाग ! फिर जाग !" रोम-रोम चिल्लाए।

"क्या, तू सोता ही रहेगा ?" शौर्य ने ठोकर दी।

"तू कौन है, जानता है ? तू पृथ्वी का देवता है। तू मनुष्यों में केहरी है। गर्जन कर। सटा फटकार कर उठ !" अंतरात्मा की प्रतिहिंसा ने ताल ठोंकी।

कवि ने आंखें फाड़कर देखा।

"उठ ! वेद पुरुष ! गरज उठ।" कवि फुसफुसाकर फिर बोला—"उठ ! हिरण्यगर्भ ! जातवेदस ! आदिनाद के प्रतीक !! जाग ! जाग !!"

तब तुमुल संग्राम का अँधेरा छा गया। बाण लपलपाती ज्वालाओं की जीभ से उसे चाटने लगे और फिर विस्फोट-सा प्रतिध्वनित होने लगा। हाय-हाय का आर्त्तनाद होने लगा। निशाचर आकाश में उड़ने लगे। नीचे से दो तरुण बाणों की बौछार-सी कर रहे थे। और ऊपर से कट-कटकर शव गिरने लगे।

कवि अतंद्र-सा देख रहा था। आज महानायक रक्षा कर रहे थे। राम लड़ रहे थे।

और तुलसीदास ने अंधकार से कहा : विध्वंस ! विध्वंस !!

युद्ध हो रहा था ! शवों से भूमि पट गई थी।

क्यों हुआ था यह संग्राम ?

क्योंकि माता जानकी को वह नीच रावण उठा ले गया था।

खींचो ! फिर से लक्ष्मण-रेख खींचो कवि ! फिर कमनीय संस्कृति, पूज्या जननी की ओर अत्याचारी बढ़ रहा है। इस रेख के बाद भगवान स्वयं रक्षा करेंगे। माँ ! माँ पर अत्याचार !

कवि सिहर उठा।

यह दारुण अपमान !!

भीषण !!

नारायण ! रक्त से पृथ्वी को फिर धोना पड़ेगा। और हठात् तुलसीदास को लगा कि समस्त अयोध्या मंगल वाद्यों के स्वरों से अभिभूत हो गई।

ब्राह्मणों के अभयंकर मंत्रों से अग्नि साकार होकर उठी।

और फिर कुछ याद नहीं रहा।

असंख्य प्रजा रोने लगी।

तुलसी का हृदय फटने लगा।

राम ! राम !! तुम कहाँ जा रहे हो ??

हे महानायक !!

उस समय दिशाएं ललकारने लगीं, "राम ! राम !!"

वही राज्य लाना होगा।

वही राजा राम का शासन लाना होगा।

अंधकार स्तब्ध हो गया था। चारों ओर वायु का श्वास जैसे अवरुद्ध हो गया था।

किंतु आज तुलसी आत्मविजय करके बैठे थे, कोई भय शेष नहीं रहा था।

सरयू की ओर महाकवि ने हाथ उठाया और तब गुरुदेव नरहरि की छाया अंतराल में से मानो उठने लगी और पुकारने लगी, "तुलसी, तुलसी !"

तुलसी उठ खड़े हुए। कहा, "गुरुदेव !! आज्ञा !!"

"तू सो रहा है, अरे जाग उठ ! जाग उठ !!"

"मैं जागूंगा गुरुदेव ! मैं सदैव ही सोता हुआ नहीं रहूँगा। आज मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अभयंकर निनाद करूँगा।

फिर कहा, "तू साक्षी है। सरयू तू साक्षी है ! तू आज मेरी बात सुन रही है !"

"माता सरस्वती !" कवि ने कहा, "आज मुझे फिर चेतना का आलोक दे जननी ! तू मुझे बल दे ! इस धर्मच्युत देश के लिए बल दे, ताकि सोए हुए फिर से सन्नद्ध होकर जाग्रत् हो सकें। प्रजा के उद्धार, वर्णाश्रम की स्थापना, म्लेच्छों के पराभव और गौ, ब्राह्मण, वेद की रक्षा के लिए शक्ति दे !"

तब अनंत नील व्योम में सोने की भाँति चमकता हुआ एक विशाल रूप उठ खड़ा हुआ। वह स्फूर्ति से फड़क रहा था। उसके मुख से हुंकार फूट रही थी।

"हे मारुत ! आओ ! प्रभु-चर्चा करें।" तुलसीदास आनंद से पुकार उठे।

मारुत ने आशीर्वाद दिया।

"मैं तुम्हारी वंदना करता हूं।" कवि ने कहा, "हे ब्रह्मचारी ! सावधान ! कलि को दबाए रखना।"

मारुत ने भुजदंड फड़काए।

"देखते हो लंका धू-धू करके जल रही है ?" कवि ने कहा। "धुआं ही धुआं

फैल गया है। मैं इस अंधकार को तोड़कर भाषा में काव्य लिखूँगा। भाषा में गाऊँगा।"

भाषा !! भाषा में लिखेगा तू !! पंडित छोड़ देंगे ? मूर्ख !! वे जड़ हैं।

मानो नरहरि ने कहा, "वे गतिहीन हैं। उनके लिए नहीं, तू वेद के प्रति, सनातन धर्म के प्रति उत्तरदायी है···देख, अग्नि-परीक्षा है। इसमें कुछ सफल होकर निकल। वह कौन थी, जानता है? पावन वैदेही वसुंधरा की पुत्री थी। ज्वलंत पुण्य-सी जानकी मुसकराई थी न तब ?"

"मैं लिखूँगा, मैं लिखूँगा—"तुलसी पुकार उठे, "मैं जनता के कानों में राम का पवित्र जीवन गुँजाऊँगा। उसको सुनकर प्रजा का भय दूर हो जाएगा।"

और तुलसीदास रात के सन्नाटे में गाने लगे—

प्रसन्नता या न गताभिषेकत
स्तथा न मम्ले वनवास दुःखतः।
मुखाम्बुज श्री रघुनंदनस्य मे
सदास्तु सा मञ्जुलमंगलप्रदा ॥
नीलाम्बुज श्यामल कोमलांग
सीता समारोपितवाम भागम् ।
पाणौ महासायक चारुचापं
नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥
श्री गुरु चरन सरोज रज
निज मन मुकुरु सुधारि ।
बरनउँ रघुवर बिमल जसु
जो दायक फल चारि ॥

जबते राम ब्याहि घर आए। नित नव मंगल मोद बधाए ॥
भुवन चारिदस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरसहिं सुखकारी ॥
रिधि सिधि संपति नदी सुहाई। उमँग अवध अंबुधि कहुँ आई ॥

और वे तुरंत दीप जलाकर लिखने बैठ गए ! आज रामनवमी थी। अयोध्या में सैकड़ों वर्षों बाद राम की गाथा फिर लिखी जाने लगी। तुलसीदास पर आवेश-सा छा गया था। राम का नाम सुनते थे तो अंग-अंग पुलकित हो उठता था।

कैसी थी तब प्रजा ! यही तो है वह भूमि, वह पवित्र भूमि ! कैसा था तब हमारा राजा ? कितना प्रेम करती थी उससे तब प्रजा ? तुलसी लिखने लगे—

मनिगन पुर नर नारि सुजाती। सुचि अमोल सुन्दर सब भाँती ॥
कहि न जाइ कछु नगर बिभूती। जनु एतिनिअ बिरंच करतूती ॥
सब बिधि सब पुर लोग सुखारी। रामचंद मुख चंदु निहारी ॥

मुदित मातु सब सखी सहेली । फलित बिलोकि मनोरथ बेली ॥
राम रूप गुन सील सुभाऊ । प्रमुदित होइ देखि सुनि राऊ ॥

और तुलसी आगे नहीं लिख सके। विभोर हो गए। सोचते-सोचते वे वहीं सो गए।

प्रातःकाल उठे तो एक नया जीवन जाग रहा था। आज के प्रभात में एक नया ही संदेश था, जैसे जीवन को अपना उद्देश्य मिल गया था। अब तुलसी के जीवन की सार्थकता प्रारंभ हो गई थी।

तुलसीदास को याद आया। वे उस समय साठ वर्ष के थे।

"प्रभु !" उन्होंने दीन स्वर से कहा—"कहीं मुझे कलि समाप्त न कर दे। तुम्हारी विरुदावली गाता हूँ, वृद्ध हो गया हूँ। मुझे संसार के लिए, गौ, ब्राह्मण, वेद के लिए शक्ति दो कि मैं इस महान और कठिनतम कार्य को पूर्ण कर सकूँ। महाराजाधिराज ! मुझे दासत्व से वंचित नहीं करो। तुम्हारे दरबार में मेरी बात आज ठुकराई नहीं जा सकेगी। मैं तुम्हारे चरणों के प्रताप के बारे में गाऊँ, तो क्या तुम मुझे कलि के हाथों पराजित होते देख सकोगे ?

दिन और रात एक हो गए।

कवि एक नया आदर्श शताब्दियों के बाद प्रस्तुत कर रहा था।

वे काशी आ गए।

जिस प्रकार प्राचीन काल में ब्राह्मण शास्त्र, पुराण बनाते थे उसी प्रकार महाकवि सारे निगमागम का निचोड़ भर रहे थे।

पहले अयोध्याकांड समाप्त हुआ। फिर युद्धकांड तक वे लिखते चले गए। अंत में उन्होंने उत्तरकांड लिखा जिसमें रामराज्य का महामहिम्न स्वप्न जाग उठा। उसके बाद कवि ने आदिकांड लिखा। इस आदिकांड (बालकांड) में कवि ने तत्कालीन उच्चवर्ण के कवियों को चुनौती दी कि देखो मैं किसी राजा का आश्रित नहीं हूँ। मैंने यह काव्य स्वांतःसुखाय लिखा है।

नाना-पुराण-निगमागम-सम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वांतःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा—
भाषा-निबंधमतिमञ्जलमातनोति ॥

यह राजा तो म्लेच्छों के सामने सिर झुकाए बैठे हैं।

दो वर्ष बीत गए।

काव्य समाप्त हो गया।

तुलसी ने मंदिर में भगवान के सामने उस काव्य को रख दिया और दंडवत् करके कहा, "प्रभु ! इस दीन को आपने ही इतनी शक्ति दी थी, क्योंकि आपको यही स्वीकृत था। हे राजाओं के राजा !" मुझे बल दो कि लोक में इसका पाठ

हो और आपकी पवित्र कीर्ति घर-घर में व्याप्त हो सके।

लगा राम मुसकरा रहे थे।

तुलसी लौट आए। आज उन्होंने अंधकार में ही हाथ उठाकर कहा, "गुरुदेव !!"

वह नरहरि स्वामी को याद कर रहे थे!

वे कहते रहे, "मैंने आपका स्वप्न पूर्ण करने का यत्न किया है गुरुदेव! आशीर्वाद दें।"

आज मन का भार हल्का हो गया था। वे बैठ गए।

मन के किसी कोने से किसी ने झाँका।

'कौन है ?' वे अपने-आपसे पूछ बैठे।

'मैं हूँ रत्ना !'

'रत्ना !! अब क्यों आई हो ?'

'वह देखने आई हूँ जिसके लिए आपको मैंने अपना वर चुना था। मेरी सत्ता से आप अपनी महानता को भूल गए थे। मैंने अपनी बलि देकर आपको फिर महान पंथ पर खड़ा कर दिया। आपको मुझ पर क्रोध तो नहीं है ?'

'नहीं रत्ना! तुलसीदास कुछ नहीं है, वह तो केवल रत्ना के शब्दों का चमत्कार है।'

'तो मैं जाऊँ ?'

'जाओ! मन आज तृप्त है।'

अँधेरी उतर आई। और तुलसीदास ने आज आँखें बंद कीं तो लगा रघुनाथ धनुष लेकर आकाश से पृथ्वी पर उतरते आ रहे हैं और चारों ओर वेदघोष हो रहा है।

देखा भोर हो गई थी। मंदिरों के घंटे बजने लगे थे।

भीड़ें झूम रही थीं। कथा हो रही थी। वृद्ध तुलसी रामचरितमानस सुना रहे थे। पंडितों की संस्कृत धरी रह गई। लोगों को ठगने के लाले पड़ गए थे। तुलसी पुकार रहा था, "पृथ्वी के देवता ब्राह्मण ही रक्षक हैं। उनका सम्मान करो। राजा राम के राज्य को लौटा आओ। परंतु यह राजा विदेशी म्लेच्छों के दास हैं। यह रूढ़िवादी तो ब्राह्मण धर्म की रक्षा नहीं कर सके हैं। उठो! ब्राह्मणो! क्षत्रियो! वैश्यो और शूद्रो! एक हो जाओ! धर्म के लिए एक हो जाओ!"

सत्ताधारी चौंकने लगे।

ब्राह्मणों ने पुकार उठाई, "तुलसी वेद के धर्म को गिरा रहा है। वह भाषा में धर्म में सुना रहा है।"

परंतु जनता ने एक स्वर से निर्णय दिया, "तुलसी धर्म-रक्षक है। धर्म चारों

वर्णों का है।"

रामचरितमानस वाल्मीकि रामायण से भारी पड़ने लगी और रूढ़िवादी ब्राह्मण धीरे-धीरे मत बदलने लगे।

वृद्ध तुलसीदास इतने ही से शांत न हुए। उन्होंने काशी को खंडों में बाँटा। एक भाग लंका बना, एक अयोध्या और इसी प्रकार भिन्न स्थानों के भिन्न-भिन्न नाम रखे गए। और सारा महानगर रामलीला करने लगा।

वेद मार्ग को मानने वाले राम और शिव का भेद भूल गए थे। दोनों का वेद ही पूज्य है तो लड़ें क्यों ?

तुलसी की शिवस्तुति विप्र ने गाई थी और वह भी भाषा में नहीं, संस्कृत में। मंदिरों में गूंजने लगा—

नमामीशमीशान निर्वाण रूपं
विभुं व्यापकं ब्रह्मवेद स्वरूपम्
अजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं
चिदाकाशमाकाशवासं भजेऽहम

सारी काशी में जैसे नया ज्वार आ गया था।

संध्या को कवि सुनाता। दिन में मानस की असंख्य प्रतियाँ बनाई जातीं और वे भारत भर में भेजी जाने लगीं। तुलसी का नाम फैल गया।

कथा हो रही थी। चार-पाँच आदमियों का दल आगे बढ़ा। उन्होंने तुलसी को प्रणाम किया। असंख्य प्रजा बैठी थी। नर-नारी विनीत थे।

दल के एक व्यक्ति ने कहा, "महाराज ! काशीराज आपके दर्शन करना चाहते हैं !"

दूसरे ने कहा, "चलें महाराज !"

तुलसी हँसे। कहा, "कहाँ चलूं वत्स ! काशी के कोतवाल की आज्ञा लाए हो ?"

"महाराज ! स्वयं काशीराज उधर हाथी पर उपस्थित हैं।"

"काशीराज !! तुलसी ने कहा, "प्रबंधक कहो वत्स ! काशी के राजा तो जगत-विजयी राम हैं। इस काशी के कोतवाल शंकर हैं। मैं तो वेद-पुराण और सब जगह यही सुनता आ रहा हूँ। तुम किसकी बात कर रहे हो ? देखते हो। राजा राम का पवित्र नाम सुनने को सब वर्णों की देव, गौ, ब्राह्मण और देव-रक्षक प्रजा बैठी है। इस समय मैं कहाँ चलूं ? राजा राम से बड़ा कौन है ? मैं किसी पृथ्वी के राजा को सिर नहीं झुकाता।"

भीड़ ने भीषण जयजयकार किया। उस समय दोनों हाथ उठाए भीड़ में काशी-राज दिखाई दिए। वे चिल्लाए, "तुलसीदास की जय !! महाकवि तुलसीदास की

जय !!

जयध्वनि से वाराणसी प्रतिध्वनि होने लगी।

काशीराज ने कहा, "उद्धार करो हे परम भगवद्भक्त ! लोक का कल्याण करो ! धर्म की स्थापना करो !"

और वे भीड़ के आगे बैठ गए।

तुलसी ने कथा फिर प्रारंभ की।

माता का प्रेम, राज्यों की नीतियाँ, अत्याचारी का दंभ, मर्यादा का गौरव एक-एक करके उस विदलित समाज को पुराने आदर्शों के झोंकों में झुलाने लगे। यह एक ठोस दृश्य था। राजा, प्रजा, ऊँच, नीच, नारी, माता, पिता, धर्म, वेद सबका निरूपण था। प्रजा को साहस मिला।

गाँवों में कथा फैलने लगी। निगमागम की संपत्ति ग्रामीणों में पहुँच गई। ब्राह्मण ने फिर भारत को विदेशी संस्कृति के विरुद्ध जाग्रत् किया था, और वेद-विरोधियों को कुचल कर रख दिया था।

कथा समाप्त हो गई।

काशीराज ने पुकारा, "तुलसीदास कलियुग के बाल्मीकि हैं। महाराज ! राजा प्रजा को भूल गए, राजा और प्रजा धर्म को भूल गए, आपने फिर से सबको जगा दिया। आपने सोते हुए लोक को फिर से उठने को बाध्य कर दिया। मैंने सुना था आप धर्म नाश कर रहे हैं; परंतु आप तो धर्म के एकमात्र रक्षक हैं !"

तुलसी ने मुसकराकर कहा, "काशीराज !"

धरम के सेतु, जगमङ्गल के हेतु
भूमि भार हरिवे को अवतार लियो नर को,
नीति औ प्रतीत-प्रीति पाल चालि प्रभु मान,
लोक वेद राखिबे को पन रघुवर को।
वानर विभीषण की ओर के कनावड़े हैं
सो प्रसङ्ग सुने अंग जरै अनुचर को,
राखे रीति आपनी जो होई सोई कीजै, बलि,
तुलसी तिहारो घर जायउ है घर को।

तब शिष्य नारायण ने सुनाया था—

आरत पालु कृपालु जो राम, जेही सुमिरे तेहि को तहँ ठाढ़े।
नाम प्रताप महा महिमा, अकरे किए खोटेउ, छोटेउ बाढ़े।।
सेवक एक तें एक अनेक भए तुलसी तिहु तापन डाढ़े।
प्रेम बदौं प्रहलादहि को जिन पाहन तें परमेश्वर काढ़े !

सचमुच पत्थर में से परमेश्वर निकलता दीख रहा था। काशीराज और काशीवासियों की वह भीड़, सब उस समय महामुनि तुलसी को दंडवत् करते हुए

जयजयकार करने लगे।

महाकवि तुलसीदास का गौरव मिथिला में गूंजने लगा। वे यात्रा पर निकले थे। उनकी कथा सुनने असंख्य प्रजा टूटती।

नैमिषारण्य, अयोध्या, चित्रकूट आदि में वे जागरण का संदेशा गुंजाते घूम रहे थे।

लोगों में चर्चा थी।

तुलसी ने स्वांत:सुखाय काव्य लिखा। केशवदास को उन्होंने दूसरे राजाओं की चाकरी में देखा तो मिलने से इंकार कर दिया। जब केशव ने राजा राम का गुण गाया तो मिले।

निर्गुणियाँ मलूकदास ने राम का विरोध छोड़ा। वेद मार्ग के सामने सिर झुका दिया।

राजा टोडरमल ने राजा बीरबल के बारे में पूछा तो महाकवि ने स्पष्ट कहा, "वह चतुर है, पर अपने को बेच चुका है। क्यों अपने को खो रहा है!" यह सुनते ही टोडरमल चुपचाप चला गया। वैसे वह उनका मित्र था।

हिंदू धर्म को आदर की दृष्टि से देखने वाला कवि अब्दुर्रहीम खानखाना भी तुलसी की प्रसन्नता में प्रसन्न रहता था।

गरीब किसानों की भीड़ें तुलसी के दर्शन के लिए टूटने लगीं। वे हिंदू थे। उन पर शासन अत्याचार कर रहा था। उन पर उस शासन के पिट्ठू सामंत थे। तुलसी ने स्पष्ट कहा, "राम के दरबार में माँगो! यह राजा क्या देंगे? यह धर्म के प्रतिपालक नहीं हैं।"

जनता में राजा राम के पवित्र राज्य की कल्पना जागने लगी। तुलसी को लोग कंधों पर लेकर घूमने लगे। और कवि इस सम्मान को पाकर मन-ही-मन व्याकुल हो उठा। वह तो संसारत्यागी संन्यासी था। कल तक लोग तरह-तरह के नाम देते थे। यहाँ तक कि रूढ़िवादी ब्राह्मण, जो भाषा के माध्यम से जनता तक नहीं पहुँचना चाहते थे, अपनी शृंखलाओं में बँधे हुए देश और धर्म का नाश कर रहे थे, वे पहले गाली देते थे। तुलसी ने कहा था—

मेरे जाति पाँति, न चहौं काहू की जाति पाँति,
मेरे कोऊ काम को, न हौं काहू के काम को।
लोक परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब,
भारी है भरोसो तुलसी के एक नाम को।
अति हीं अयाने उपखानो नहिं बूझें लोग,
'साह ही को गोत गोत होत है गुलाम को।'

साधु कै असाधु, कै भलो कै पोच, सोच कहा,
का काहू के द्वार परौं, जो हौं सो हौं राम को।

वह किसी के द्वार पर नहीं गया। विरोध सहता गया। उधर मुगलों का अति-चार बढ़ता गया। हिंदू एक होते गए। तुलसी ने वर्णाश्रम धर्म की स्थापना की जिसकी ओर लोग अधिक आकर्षित होने लगे। और अब !

रामगुलाम का यह आदर !!

कवि राम के सामने श्रद्धा से झुक गया।

वर्णाश्रम का विरोध करने में अनेक संप्रदाय उठे थे। जाति-व्यवस्था टूट रही थी। म्लेच्छों का कुशासन था। ब्राह्मण भी डूब रहे थे। और आज ! वर्णाश्रम की ओर लोग जाग रहे थे। सारे हिंदू एक ओर हो रहे थे। ब्राह्मण अब फिर एक बार प्रजा का संगठन कर रहे थे।

लोगों में गूँजने लगा—

वेद पुरान बिहाइ[1] सुपन्थ
कुमारग कोटि कुचाल चली है।
काल कराल नृपाल कृपालन
राम समाज बड़ोई छली है।
बर्न विभाग न आश्रम धर्म,
दुनी दुख-दोष-दरिद्र-दली है,
स्वारथ को परमारथ को कलि
राम को नाम-प्रताप बली है।

जहाँ गोरखनाथ ने भक्ति भगाकर वर्णाश्रम धर्म का खंडन करके जोगी मार्ग चलाया था, वहाँ अब जोगी रूढ़ियों में फँस गए थे। पहले ही तुलसी ने पुकार उठाई थी—यह मार्ग वेद-विरोधी है। इसको त्याग दो।

परंतु आज तुलसी को लोग महामुनि कहते थे—कवि को अपना बचपन याद आया और आज से तुलना की।

वह गा उठा—

जाति के, सुजाति के, कुजाति, पेटागि बस,
खाए टूट सबके बिदित बात दुनीसो।
मानस बचन काय किए पाप सति भाय,
राम को कहात दास दगाबाज पुनीसो।
राम नाम को प्रभाउ, पाउ महिमा प्रताप,
तुलसी से जग मनियत महामुनिसो।
अति ही अभागा अनुरागत न राम पद,
एतो बड़ो अचरज देखि सुनीसो।

---

1. छोड़कर।

जायो कुल मङ्गन बधावनो बजाओ सुनि—
भयो परिताप पाप जननी जनक को।
बारे में ललात बिललात द्वार द्वार दीन,
जानत हो चारि फल चारि ही चनक को।
तुलसी सो साहिब समर्थ को सुसेवक है,
सुनत सिहात सोच विधि हू गनक को।
नाम, राम ! रावरो समानो किधौं बावरो,
जो करत गिरी तें गरु तृन तें तनक को।

और वह उसी प्राचीन ब्राह्मण परंपरा में था, जो धनहीन रहने वाले समझे जाते थे, परंतु जिनको देखकर संसार सिर झुकाता था। परंतु आज सम्राट-मोगल-म्लेच्छ !! वह तो धर्म की वैदिक महिमा का विरोधी था।

× × ×

अंत में महाकवि काशी आ गए।

मीन की सनीचरी आई थी। हाहाकार मच रहा था। महामारी से लोग मर रहे थे। भीड़ें गरीब थीं, मौत सिर पर झूल रही थी। महाकवि जिधर देखते उधर ही श्मशान का-सा धुआँ उठता हुआ दिखाई देता। हा-हा करती, छाती पीटती नारियाँ, पथ पर अनाथ पड़े हुए बालक, और वृद्धों के झुके हुए सिर देखकर लगा कि अब सर्वनाश हो जाएगा। लाशें गंगा में फेंकी जा रही थीं।

और मुगल साम्राज्य का वैभव इन शवों के अंबार पर पल रहा था।

महाकवि ने रोते हुए राम के सामने पुकारा, "प्रभु, यह क्या हो रहा है ! किसान को खेती नहीं रही, व्यापारी का व्यापार नहीं रहा। कलि ने सब चौपट कर दिया है। म्लेच्छों का मदांध शासन अपने अत्याचार में मस्त हो रहा है। कौन करेगा इस देश की रक्षा ! धर्म का नाश कौन रोकेगा प्रभु ! आपने रावण को मारा था, इस कलि को नहीं मारेंगे ?"

तब कवि को लगा। फिर लगा।

यह सब क्यों है ? क्योंकि लोगों ने धर्म, वर्णाश्रम और वेद का मार्ग छोड़ दिया है।

कवि ने लिखा—

निपट बसेरे अघ, औगुन घनेरे नर,
नारिउ अनेरे जगदम्ब चेरी तेरे हैं।
दारिदी दुखारी देखि भूसुर भिखारी[1] भीरु
लोभ मोह काम कोह कलिमल घेरे हैं।

---

1. ब्राह्मण भिखारी और कायर हो गए हैं।

लोक रीति राखी, राम साखी वामदेव जान,
जन की बिनति मानि मातु कही—'मेरे हैं।'
महामारी महेशानि महिमा की खानि, मोद
मंगल की रासि, दास कासी-बासी तेरे हैं।

सब ही दुखी हैं। पापों का फल पा रहे हैं—

लोगन के पाप; किधों सिद्ध सुरसाय, कैधौं
काल के प्रताप कासी तिहूँ तापतई है।
ऊँचे, नीचे, बीच के; धनिक रंक राजा राम[1]
हठति बजाय करि डीठि पीठि दई है।
देवता निहोरे महामारिन्ह सो कर जोरे,
भोरानाथ जानि भोरे अपनी सो ठई है।
करुनानिधान हनुमान वीर बलवान,
जस रासि जहाँ तहाँ तैं ही लुट लई है।

उस हाहाकार में कवि का मन भगवान से देश में धर्म की विजय के लिए पुकार रहा था।

हे हनुमान ! तुम रक्षा करो। राम की बिगड़ी तुमने ही सुधारी थी। देवता दयालु नहीं हैं। राजा[2] कृपालु नहीं है। बनारस में अनीति बढ़ती चली जा रही है—

संकर-सहर सर, नरनारि बारिचर,
बिकल सकल महामारी माँजा भई है।
उछरत उतरात हहरात मरि जात,
भभरि भगत, जल थल मीचु मई है।
देव न दयालु महिपाल न कृपालुचित,
बारानसी बाढ़ति अनीति नित नई है।
पाहि रघुराज, पाहि कपिराज रामदूत,
राम हू की बिगरी तुही सुधारि लई है।

वेद धर्म दूर चले गए ! कहाँ से आ गए ये सामंत ! यह तो पुराने धर्म के रक्षक नहीं हैं ! यह तो भूमिचोर हैं। भूमिचोर ! किसानों से जमीन छीनने वाले !! म्लेच्छ और उनके दास हिंदू राजा सामंत !! भूमिचोर राजा बन गए हैं। जो कल तक भूमि के शासक नहीं थे, वे ही अत्याचार कर रहे हैं !!

1. तुलसी की वेदना सबके लिए है। यह प्रार्थना म्लेच्छों का परोक्ष विरोध है। सभी हिन्दू एक प्रकार से दुखी थे।
2. राजा !! कौन था ? मुगल सम्राट ! तुलसी के धर्म-विरोधी म्लेच्छ।

एक तो कराल कलि काल सूल मूल तामें,
कोढ़ में की खाजु सी सनीचरी है मीन की।
वेद धर्म दूरि गए, भूमि चोर भूप भए,
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप-पीन की।
दूबरे को दूसरो न द्वार, राम दया-धाम!
रावरी ही गति बल-विभव-विहीन की।
लागैगी पैं लाज वा विराजमान बिरूदहि,
महाराज आजु जौन देत दादि दीन की।

हे राम! वर्णाश्रम छोड़ देने के अपराध में शंकर ने प्रजा को दंड दिया था परंतु तुमने रक्षा कर दी—

आस्रम बरन कलि-दिवस विकल भए,
निज निज मरजाद मोटरी सी डार दी।
शंकर सरोष महामारि ही तैं जानियत,
साहिब सरोष दुनी दीन दीन दारदी।
नारि नर आरत पुकारत, सुनै न कोऊ,
काहू देवतिनी मिलि मोठी मूठि मार दी।
तुलसी सभीत-पाल सुमिरे कृपालु राम,
समय सुकरुना सराहि सनकार दी।

मीन की सनीचर घट चली, बीत चली। उजाड़ काशी में फिर लोग जागने लगे। तुलसी पुकारता था, "जागो। फिर वर्णाश्रम के पथ पर चलो। राजा राम की दया से बच गए हो। उठो! वेद के मार्ग पर चलो। कलि कुचाल का त्याग करो! अपनी सत्ता को पद-दलित देखकर अपने-आपको खोओ नहीं।"

और काशी में लोग —धनी-दरिद्र—उसके पीछे होने लगे। वह धनुष धारण करने वाले राम के पवित्र राज्य का स्वप्न जगाता हुआ पुराने धर्म की मर्यादा जगाने लगा। अवैदिक संप्रदाय सिकुड़कर चुप हो गए। उस समय मुगल वैभव के शोषण ने धनी, दरिद्र हिंदुओं को जगह-जगह एक हो जाने के लिए प्रेरणा दी थी।

गंगा तीर पर तुलसी घूम रहे थे, धीरे-धीरे।

हठात् एक भयानक रोदन गूँज उठा।

"कौन ?" वृद्ध कवि ने पूछा था।

"मैं हूँ।" ब्राह्मणी गौरा रो पड़ी। उसके पीछे उसके पति के शव को लिए कुछ उदास-से व्यक्ति खड़े थे।

"कौन, गौरा बेटी ? क्या हुआ ? यह कौन है ?"

शव नहीं बोला । केवल ब्राह्मणी रोई ।

"तेरा पति कल्याण !!" कवि ने काँपते कंठ से पूछा ।

विधवा चिल्लाई, "बाबा ! लोग कहते हैं तुम भगवान से बात करते हो । मेरे पति को जिला दो बाबा ! वह भूख से मर गया है ।"

तुलसी का हृदय फटने लगा ।

काशी में ब्राह्मण अपनी युवती स्त्री को विधवा बनाकर भूख से मर गया है । क्या धर्म निःशेष हो गया है !! क्या सुन रहे हैं वे !!

पूरा मानस लिखा ! जन-जन में प्रबोध हुआ परंतु कलि का प्रहार निरंतर बढ़ रहा है !!

वे स्तब्ध खड़े रहे । विधवा का हाहाकार गूँज रहा था ।

"बाबा ! दया करो ! मेरे पति को जिला दो ।

कैसी ममता का आवेश था !

तुलसी जिला दे !!

कैसे जिला दे !!!

किंतु जिलाना ही होगा !!!

कहा, "कल आना गौरा । कल तेरा पति जी उठेगा । लेकिन एक काम करना होगा !!"

"बाबा !!" स्त्री आनंद से चिल्ला उठी ।

तुलसी ने धीरे से कहा, "भगवान के काशी में जितने मंदिर हैं उन सब में से प्रसाद ले आ और फिर एक पीले रंग का कफन ले आ जिसे ऐसे घर से लेकर आना होगा जहाँ कभी मृत्यु नहीं हुई हो ।"

विधवा चली गई । लोग रो पड़े ।

रात को तुलसी राम की मूर्ति के सामने बैठकर रोने लगा । कितनी दारुण थी वह व्याकुलता !!

"प्रभु ! यह क्या है ?

यह कलि का तांडव क्यों हो रहा है ?"

अंधकार में फिर गौरा का स्वर गूँज उठा, "बाबा ! बाबा !!"

"कौन ? तू आ गई ?"

"आ गई हूँ बाबा !"

"ले आई ?"

"ले आई हूँ ।"

तुलसी का हाथ काँप उठा ।

"यह है प्रसाद, परंतु कफन नहीं मिला ।"

"नहीं मिला !!"

"मेरे पति जी गए बाबा ?"

"कहाँ हैं गौरा ?"

"वह रहे सामने।" गौरा ने राम की ओर उँगली उठा दी।

तुलसी हार गया था। गौरा हँसी। कहा, "बाबा! मेरे पति वही हैं। राम ही तो थे वे! तुम मेरे गुरु हो बाबा! मुझे चरन छूने दो।"

उसने तुलसी के चरण छुए।

"उठ," कवि ने कहा, "तू सौभाग्यवती हुई।"

"मुझे तुमने बचा लिया बाबा! तुमने मुझे भगवान बता दिए। मैं पागल हो गई थी।"

तुलसी ने कहा, "और अब मैं पागल हो गया हूँ गौरा!"

"क्यों बाबा ?"

"देखती है? भगवान बोल नहीं रहे हैं।"

"बोल तो रहे हैं वे।"

"तुझे कुछ सुनाई दे रहा है ?"

"हाँ बाबा!"

"क्या कहते हैं, बोल ?"

"वे कहते हैं, तुलसीदास विनय सीख! विश्वास कर।"

तुलसी ने मन-ही-मन गौरा को प्रणाम किया, जैसे विदेह ने मैथिली को सिर झुकाया हो, और तुलसी ने विह्वल स्वर से पुकारा, "मारुत! मुझे बल दो। भक्त की रक्षा करो। मैं नहीं हटूंगा, मैं नहीं हटूंगा। मुझे वचन दो। यह संसार सदा ही पाप से मलिन नहीं रहेगा। इस लोक का उद्धार करो प्रभु! तुम जगन्नियंता हो। म्लेच्छों से पददलित मानवता को फिर से उबारो स्वामी!"

तुलसी ने करुण स्वर से गाया :

"अति आरत, अति स्वारथी, अति दीन दुखारी,
इनको बिलगु न मानिए बोलहिं न विचारी।
लोक रीति देखी सुनी, व्याकुल नर नारी,
अहि बरषे अनबरषे हूँ देहिं दैवहिं गारी।
ना कहि आयो नाथ सों सांसति भय भारी,
कहि आयो, कीबी छमा निज ओर निहारी।
समय सांकरे सुमिरिए समरथ हितकारी,
सो सब विधि ऊपर करै अपराध बिसारी।
बिगरी सेवक की सदा साहबहिं सुधारी,
तुलसी पर तेरी कृपा निरुपाधि निरारी!"

गौरा चली गई थी और काशी में घूम-घूम कर कह रही थी, "बाबा

ने मेरे पति को जिला दिया, वे मरे नहीं हैं, मरे नहीं हैं…"

उधर तुलसी राम के चरणों पर पड़ा रो रहा था।

और कवि का व्याकुल मन राजा राम के दरबार में अपनी अर्जी पहुँचाने के लिए व्याकुल हो उठा। उसने समस्त देवी-देवताओं की प्रार्थना की, जो वेद की रक्षा में निरत थे। ध्वनि हृदय से उठने लगी। दरबार में वैभव था। तुलसी एक अकिंचन्! क्या वह रामराय तक नहीं पहुँचेगा? वह तो राम का दास था। व्यक्ति का दैन्य, संन्यासी की आत्मविरक्ति लिए हुए था, परन्तु लोकपक्ष में वह वर्णाश्रम धर्म की पुनः स्थापना के लिए कलि से घोर युद्ध था।

कवि ने प्रजा को विश्वास से सुनाया :

जो तेहि पंथ चलै मन लाई
तौ हरि काहे न होंहि सहाई॥
जो मारग स्रुति साधु बतावै
तेहि पथ चलत सबै सुख पावै॥
पावै सदा सुख हरि कृपा,
संसार आसा तजि रहै,
सपनेहुँ नहीं दुख देत दरसन,
बात कोटिक को कहै?
द्विज देव गुरु हरि संत बिनु
संसार पार न पावई,
यह जानि तुलसीदास त्रास हरन
रमापति गावई॥

लगा आचार्य शेष सनातन और नरहरि गुरु की आत्माएँ प्रसन्न हो उठीं।

वही राम चाहिए था जो दीनों की रक्षा कर सके। वही समाज चाहिए था जहाँ ब्राह्मण पूज्य हो, जहाँ पर वे लोलुप न हों, जो रूढ़ि में अपना अहंकार लिए न बैठे रहें, वरन् वेद, ब्राह्मण और पुराणों आदि की रक्षा के लिए निम्न वर्णों को सहूलियतें दें और निम्नवर्ण वेद और ब्राह्मण को पूज्य मानकर वर्णाश्रम को सिर झुका दें। वह समाज चाहिए था जहाँ वेद को पूज्य मानने वाले संप्रदाय परस्पर लड़ें नहीं।

आदर्श राजा तो राम थे। मुगल या म्लेच्छों का वैभव ही क्या था! भगवान के लिए सब वर्ण समान थे, सबकी मुक्ति हो सकती थी, परंतु समाज में अपना वर्णधर्म पालना ही श्रेष्ठ था।

और तुलसी का क्या था! वह अवधूत था। मस्त था। वह तो वर्णाश्रम से परे संन्यासी था। उसे तो राम नाम ने खर से गयंद पर चढ़ा दिया था। और वह कलि

कितना अत्याचारी था !

कवि ने गाया :

"दीन दयालु दुरित दारिद दुख
दुनी दुसह तिहुँ ताप तई है।
देवकुमार पुकारत आरत
सबकी सब सुख हानि भई है।"

तुम कहाँ इन म्लेच्छ और टुकड़खोर स्वार्थी सामन्तों के पास अर्जी लेकर जाते हो ? देखो अपने अतीत की ओर ! वह गौरव और वह वैभव देखो ! चलो राम के दरबार में अर्जी दें।

प्रभु ने ही तो कहा है कि ब्राह्मण ही पृथ्वी पर श्रेष्ठ है। प्रभु की पृथ्वी पर रहने वाली मूर्ति ब्राह्मण ही है—

प्रभु के वचन वेद बुध सम्मत
मम मूरति महिदेव[1] भई है।
तिन्ह की मति रिस, राग, मोह, मद,
लोग लालची लीलि लई है।

हाय ! उन पृथ्वी के देवताओं की मति को रोष, राग, मोह, लालच ने ग्रस लिया है। और राजसमाज के अनाचार की तो पूछो ही नहीं—

राजसमाज कुसाज कोटि कटु
कल्पत कलुश कुचाल नई हैं
नीति प्रतीति प्रीति परमिति पति
हेतुवाद हठि हेरि हई है।

लोक ने वर्णाश्रम की मर्यादा छोड़कर ही कष्ट उठाया है—

आस्रम-बरन धरम-बिरहित लग
लोक बेद मरजाद गई हैं,
प्रजा पतित पाखंड पापरत
अपने अपने रंग रई है।

कलि रूपी कसाई ने पृथ्वी रूपी गाय को विवश कर दिया है—

परमारथ स्वारथ साधन भए
अफल सकल, नहिं सिद्धि सई है,
कामधेनु-धरनी कलिगोमर—
बिबस बिकल, जामति न बई है,
कलि करनी बरनिए कहाँ लौं

1. ब्राह्मण : पृथ्वी का देवता

करत फिरत बिनु टहल टई है,
तापर दाँत पीसि कर मींजत,
को जानै चित कहा ठई है ?

कलि दाँत पीसता है। परंतु राम की दया देखो। वे कृपा कर रहे हैं—

दीजै दादि देखि नातो बलि[1]
मही-मोद-मंगल रितई है,
भरे भाग अनुराग लोग कहैं
राम अवध चितवनि चितई है।
बिनती सुनि सानन्द हेरि हँस
करुना वारि भूमि भिजई है,
रामराज भयो काज सगुन सुभ,
राजाराम जगत बिजई है।

राजाराम जगत के विजेता हैं।

समरथ बड़ो सुजान सुसाहिब
सुकृत-सेन हारत जितई है
सुजन सुभाव सराहत सादर
अनायास साँसति बितई हैं।
उथपे थपन, उजार बसावन,
गई—बहोर बिरद सदई है,
तुलसी प्रभु आरत-आरतिहर
अभय बाँह केहि केहि न दई है !

और यह करुणा के गीत उठते ही रहे।

ब्राह्मण जागने लगे। रामनाम के कारण ही तुलसी का जयजयकार होने लगा।

शुद्ध संस्कृत के श्लोक छोड़कर ब्राह्मण विनयपत्रिका की हिंदी-संस्कृत की स्तुतियाँ गाने लगे—

जयति मर्कटाधीस मृगराज बिक्रम
महादेव मुद मंगलालय कपाली।
मोह-मद कोह-कामादि-खल संकुल—
घोर संसार-निसि-किरनमाली॥
जयति लसदंजनादितिजकपि-केसरी—
कस्यप - प्रभव - जगदार्तिहर्त्ता।

1. बलि से दान लेने के बल।

लोक-लोकप-कोक-कोकनद-सोकहर—
हंस हनुमान कल्यान कर्त्ता ।।

वह हनुमान साधारण नहीं है । वह तो वेद-विरोधियों को मारता है । मंत्र-तंत्र अभिचार करने वाले तथा साकिनी, डाकिनी आदि को देखता है, दबाता है ।

जयति पर-जंत्रमंत्रिभिचारं-ग्रसन,
कारमनि-कूट कृत्यादि हंता ।
साकिनी-डाकिनी-पूतना-प्रेत-बैताल—
भूत-प्रथम-जूथ जंता ।।
जयति वेदांतविद, बिबिध विद्या-विशद—
वेद बेदांग-विद्, ब्रह्मवादी ।।
ज्ञान-वैराग्य-विज्ञान-भाजन बिभो
बिमल गुन गगन सुक सारदादी ।।

और इस प्रकार राजा राम की दुंदुभि बजने लगी । वर्णाश्रम की ओर लोग फिर झुकने लगे । पंडितों ने कहा—तुलसी ने ब्राह्मण धर्म का उद्धार किया । उसने ठीक ही कहा था कि वेद, वेदांग, पुराणों का सार निचोड़ कर मानस में रखा था, और विनय ने तो सब समस्याएँ हल कर दीं ।

पंडित बैठते । कहते, "लोक संस्कृति भूल गया था । तुलसी ने भाषा में ही इस सनातन धर्म और संस्कृति को निचोड़कर भर दिया ।"

किंतु लोक-कल्याण की कामना करने वाला तुलसी मन से दुखी था । व्यक्ति-पक्ष का मालिन्य आज भी दीन बना हुआ था ।

यह सब सत्य था, इसकी मर्यादा थी । परंतु यह सकल संसार शून्य ही था—

केसव कहि न जाइ का कहिए ?
देखत तब रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए ।।
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे ।
धोए मिटै न, मरै भीति दुख, पाइय यहि तनु हेरे ।।
रविकर नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माँही ।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं ।।
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कर मानै ।
तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै ।।

आपुन पहचानने के लिए ही तो यह सब हुआ था !

किसने दी यह प्रेरणा ?

रत्ना की बात ने ? रत्ना !

यदि वह न होती तो !

स्वप्न टूट गया।

"नारायण !" महाकवि पुकार उठे।

"नारायण भीतर आया।

"गुरुदेव !"

महाकवि ने कहा, "पुत्र ! बैठ जा। मलूक को भी बुला ले।"

दोनों आकर बैठ गए।

तुलसीदास ने कहा, "लिख तो वत्स ! आज आनंद का दिन है।"

"गुरुदेव !" मलूक ने उच्छ्वास भरा।

"सुन तो," कवि मुसकराए। कहा, "स्वप्न पूर्ण हुआ।"

वे गाने लगे—

पवन-सुवन, रिपुदवन, भरत लाल,
लखन दीन की।
निज-निज अवसर सुधि किए बलि जाऊँ,
दास आस पूजि है खास खीन की॥
राजद्वार भली सब कहैं
साधु समीचीन की।
सुकृत सुजस साहिब कृपा स्वारथ
परमारथ गति भए गति बिहीन की॥
समय संभारि सुधारिबी
तुलसी मलीन की।
प्रीति रीति समुझाइबी नतपाल
कृपालुहि परमित पराधीन की॥

मलूक ने लिखकर ऊपर देखा। कवि प्रसन्न थे। उनके हाथ जुड़े हुए थे। आँखें बंद थीं। वे तृप्त थे। वे कह उठे, "हस्ताक्षर करो प्रभु ! कलि से लोक की रक्षा के लिए अर्जी दी है, दास की याचना पर दस्तखत करो।"

और हठात वे पुकार उठे, "नारायण !"

"गुरुदेव !" नारायण का गला रुँध गया।

"राजा राम ने सही कर दी नारायण ! अब कलि का नाश अवश्य होगा। रामराज्य जागेगा। फिर धर्म-स्थापना होगी।"

और वे विभोर होकर कहने लगे, "दास की बात सुन ली गई है। मारुति की बात सुनकर भरत और लक्ष्मण ने भी सहायता दे दी है नारायण ! राम नाम ही कलि में सहायक है। सारी राम की सभा ने उचित मार्ग यही बताया है। अहा ! गरीब निवाज की कृपा तो देखो। उन्होंने मुझे हाथ से उठाया है। अरे अब मुझे किसका डर है ! मेरी बाँह तो राजा राम ने गही है। वे हँसे हैं। कह उठे हैं—ठीक

है, मैंने सुधि ले ली है। अनाथ तुलसी सनाथ हो गया। रघुनाथ ने हस्ताक्षर कर दिए हैं, राजा राम ने अर्जी प्रसन्न होकर सही कर दी है"[1]—

और महाकवि ने उन्मुक्त कंठ से गाया।

मारुति मन रुचि भरत की
लखि लखन कही है।
कलि कालहुं नाथ नाम सों प्रतीति
प्रीति एक किंकर की निबही है॥
सकल सभा सुनि लै उठी
जानी रीति रही है।
कृपा गरीब निवाज की,
देखत गरीब को साहिब बाँह गही है।
विहँसि राम कह्यो सत्य है,
सुधि मैं हूँ लही है।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की,
परी रघुनाथ सही है॥

और रघुनाथ ने सही कर दी। महाकवि ने अंतिम बार देखा, मुसकराए, और फिर धीरे से आँखें मींच लीं।

नारायण और मलूक जब रोते हुए द्वार पर दिखाई दिए तब अधीर हृदय से आकुल होकर बाहर हजारों नर-नारी हाहाकार कर उठे।

काशीराज उपस्थित थे। काशी के उच्चकुलीन व्यक्तियों की आँखों में पानी भर आया था।

पुजारी इस देश से स्वयं तो चला गया था, किंतु अतीत के गौरव के प्रतीक, राम राज्य के स्वप्न को छोड़ गया था।

□□

1. यह आगे के पद का अर्थ नहीं है, उसका पहला अस्पष्ट चिंतन है।